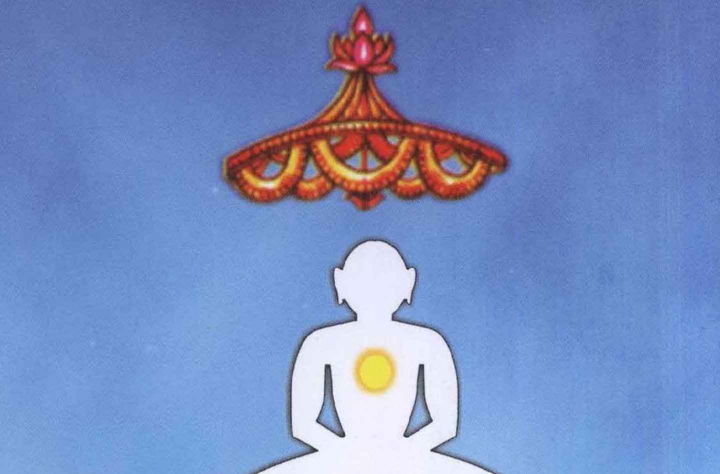
रत्नप्रभ सूरिकृत रत्नाकरावतारिका के सन्दर्भ में

बौद्ध दर्शन का समीक्षात्मक अध्ययन



लेखक
साध्वी ज्योत्सनाजी

सम्पादक एवं मार्गदर्शक
प्रो. सागरमल जैन

प्रकाशक : प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.) • श्वे. स्थानकवासी जैन संघ, शुजालपुर

प्रकाशन के सहयोगी




श्री शांतिलालजी एवं श्रीमती शांताबाई जैन
शुजालपुर



सौ. हेमलता चौधरी के वर्षी तप के उपलक्ष में
श्री राजेन्द्रकुमार–अश्विनीकुमार चौधरी, शुजालपुर




श्री राजेन्द्रकुमारजी एवं श्रीमती ज्योति बाला
शाजापुर



श्रीमती कलाबाई नेमीचंदजी जैन
शुजालपुर



श्री रविन्द्रकुमारजी जैन
शुजालपुर

रत्नप्रभ सूरिकृत रत्नाकरावतारिका के सन्दर्भ में, बौद्ध दर्शन का समीक्षात्मक अध्ययन

लेखिका

साध्वी ज्योत्सनाजी

सम्पादक एवं मार्गदर्शक

प्रो. सागरमल जैन

प्रकाशक

श्वे. स्थानकवासी जैन संघ, शुजालपुर

प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

रत्नप्रभ सूरिकृत रत्नाकरावतारिका के सन्दर्भ में बौद्ध दर्शन का समीक्षात्मक अध्ययन
(जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय द्वारा Ph.D. उपाधि हेतु स्वीकृत)

लेखिका
साध्वी ज्योत्सनाजी

सम्पादक एवं मार्गदर्शक
प्रो. सागरमल जैन

सन् 2010

प्रतियाँ 600

मूल्य : 350/–

मुद्रक
आकृति ऑफसेट
5, नईपेठ, उज्जैन (म.प्र.)
दूरभाष : 0734–2561720
मोबाइल : 9827242489, 9827677780
E mail : akratioffset@gmail.com

विषय–सूची
विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन

भारतीय–दर्शन में प्रमुख रूप से तीन विधाएं उपलब्ध होती हैं – (1) ज्ञान–मीमांसा (2) तत्त्व–मीमांसा और (3) आचार–मीमांसा। शोध के क्षेत्र में तत्त्व–मीमांसा और आचार–मीमांसा पर ही अधिक कार्य हुए हैं। ज्ञान–मीमांसा के क्षेत्र में यद्यपि कुछ कार्य तो हुए है, फिर भी शोध–दृष्टि से यह क्षेत्र प्रायः अस्पर्शित ही रहा है। उसमें भी जहाँ तक जैन–न्याय का प्रश्न है, सामान्यतया चार–पाँच शोधप्रबंध ही इस विधा पर लिखे गए हैं, किंतु उनके विषय के रूप में प्रमाणशास्त्र की सामान्य अवधांरणा ही रही है, जैसे ज्ञान–मीमांसा, जैनदर्शन में प्रत्यक्ष की अवधारणा, जैनदर्शन में अनुमान आदि। जैन–न्याय के मूल ग्रन्थों को लेकर इस दिशा में विशेष शोधकार्य नहीं हुए हैं, जबकि जैन–आचार्यों ने जैन–न्याय से संबंधित अनेक मौलिक ग्रंथों की रचना की है। प्रस्तुत शोधकार्य में जैन–न्याय के बारहवीं–शती में निर्मित प्रमाणनयतत्त्वालोक के रत्नप्रभसूरिकृत एक टीका ग्रन्थ 'रत्नाकरावतारिका' को शोध का विषय बनाया गया है। यह ग्रन्थ प्रमाणनयतत्त्वालोक पर ही एक टीका के रूप में लिखा गया है।

प्रस्तुत शोधकार्य की आवश्यकता – 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' पर स्वयं आचार्य वादिदेवसूरि ने स्याद्वादरत्नाकर नामक लगभग 84 हजार श्लोक परिमाण स्वोपज्ञ विस्तृत टीका लिखी थी, किंतु यह टीका अत्यंत जटिल और विस्तृत होने के कारण उनके ही शिष्य रत्नसिंहनंदीजी, जो बाद में रत्नप्रभसूरि कहलाए, ने मध्यम आकार की टीका के रूप में रत्नाकरावतारिका नामक टीका ग्रन्थ की रचना की। यद्यपि रत्नाकरावतारिका एक टीका ग्रन्थ है, किंतु यह अपने–आप में ही जैन–न्याय का एक मौलिक–ग्रन्थ बन गया है। यह ग्रन्थ तीन खण्डों में लालभाई दलपतभाई भारतीय विद्या–मंदिर, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है। मूल ग्रन्थ संस्कृत–भाषा में निबद्ध है और अभी तक इसका हिन्दी और अंग्रेजी–भाषा में कोई अनुवाद नहीं हुआ है। इस ग्रन्थ की यह विषेषता है कि इसमें जैन–न्याय के सामान्य सिद्धान्तों के विवेचन के साथ–साथ उन सिद्धांतों के संदर्भ में जैन–मान्यताओं से भिन्न मान्यता रखने वाले

अन्य–दार्शनिक–मतों की गहन तार्किक–समीक्षा की गई है। इस प्रकार,, यह ग्रन्थ जैन–न्याय का ग्रन्थ होते हुए भी भारतीय–दर्शन का भी एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जा सकता है, क्योंकि इस ग्रन्थ में पूर्वपक्ष के रूप में भारतीय–दर्शन की सभी शाखाओं की प्रमुख मान्यताओं को प्रस्तुत कर उनकी तार्किक–समीक्षा करने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार,, भारतीय–दर्शन की सभी प्रमुख शाखाओं यथा चार्वाक, बौद्ध, नैयायिक–वैशेषिक, सांख्य–योग, मीमांसा और वेदांत की समीक्षा इस ग्रंथ में उपलब्ध हो जाती है। यद्यपि योग और वेदांत के मतों की स्पष्ट समीक्षा का अभाव है, किंतु प्रकारान्तर से उनकी समीक्षा भी उपलब्ध हो जाती है, क्योंकि इससे वेदांत को मीमांसा में और योग को सांख्य में समाहित कर लिया गया है। यही कारण है कि मैंने अपने शोधकार्य के लिए **'रत्नाकरावतारिका में बौद्ध–दर्शन के विविध मंतव्यों का समीक्षात्मक अध्ययन'** इस विषय का निर्धारण किया।

जैन–दर्शन को ऐतिहासिक–दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया जाता है – 1. आगम–युग 2. अनेकान्तस्थापन–युग और 3. जैनन्याय–युग। जैन–आगमों में भी बीजरूप से जैन–न्याय की कुछ अवधारणाएं उपलब्ध होती हैं। विशेष रूप से, समवायांगसूत्र, अनुयोगद्वारसूत्र और नंदी–सूत्र में बीजरूप से ये अवधारणाएं प्रस्तुत की गई हैं, किंतु उनमें मुख्यतया जो विवेचन उपलब्ध हैं, उनका संबंध नय–निक्षेप, पंचज्ञान और प्रमाण से संबंधित है, साथ ही यह ज्ञातव्य है कि आगमों में इन अवधारणाओं का मात्र निर्देश ही उपलब्ध होता है, इनके संबंध में कोई विस्तृत विवेचन या अन्य–मतों की समीक्षा हमें उपलब्ध नहीं होती। जहाँ तक अन्य–दार्शनिक–मतों की समीक्षा का प्रश्न है, वह जैन–न्याय के ग्रन्थों का प्रमुख विषय है। आगमों में सूत्रकृतांग एवं राजप्रष्नीय में बौद्धादि अन्य–मतों का प्रस्तुतिकरण है और उनकी समीक्षा भी है, किंतु वह इतनी प्रौढ़ नहीं है, मात्र सांकेतिक–निर्देश ही है।

जहाँ तक अनेकान्तस्थापन–युग का प्रश्न है, इसका प्रारंभ **सिद्धसेन के सन्मतितर्क** नामक ग्रन्थ से होता है। इस युग का अन्य प्रौढ़–ग्रन्थ मल्लवादि का नयचक्र है। इस ग्रन्थ में पूर्वपक्ष के रूप में बौद्धादि विभिन्न दर्शनों की मूलभूत अवधारणा को रखा गया है और उनकी विरोधी अवधारणाओं के द्वारा ही उनकी समीक्षा प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार,, बौद्धादि अन्य भारतीय–दर्शनों की एकान्तिक–मान्यताओं की समीक्षा का यह प्रथम प्रौढ़–ग्रन्थ है, फिर भी जैन–न्याय के क्षेत्र में जिन ग्रन्थों की

रचना हुई उनमें दिगंबर–परंपरा में प्रमेयकमलमार्त्तण्ड और श्वेताम्बर–परंपरा में स्याद्वादरत्नाकर सबसे प्रौढ़–ग्रन्थ माने जाते हैं। जहाँ तक मेरे शोधग्रन्थ रत्नाकरावतारिका का प्रश्न है, यह ग्रन्थ यद्यपि स्याद्वादरत्नाकर की अपेक्षा आकार में छोटा है, फिर भी यह बौद्धादि भारतीय–दर्शनों की तत्त्वमीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय अवधारणाओं की जो समीक्षा प्रस्तुत करता है, वह अत्यंत प्रौढ़ है। बौद्धादि अन्य–दार्शनिक–मतों की प्रौढ़–समालोचना के कारण ही इस ग्रंथ का महत्व है और यही कारण है कि प्रस्तुत ग्रंथ को मैंने अपने शोध का विषय बनाया है।

इस क्षेत्र में अभी तक जो भी शोधकार्य हुए हैं, उनमें मात्र डॉ. धर्मचन्दजी जैन की बौद्धप्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा है, किंतु इस ग्रन्थ में रत्नाकरावतारिका का स्पर्श भी नहीं है, उनका मूल आधार विशेष रूप से दिगम्बर–परंपरा के ग्रन्थ रहे हैं– द्वादशारनयचक्र आदि, कुछ श्वेताम्बर–ग्रन्थों के नाम मात्र के निर्देश हैं। रत्नाकरावतारिका का उल्लेख न तो उनके संदर्भों में है और न संदर्भ–ग्रन्थ की सूची में है। दूसरे, उनका यह ग्रन्थ मूलतः प्रमाणमीमांसा को आधार बनाता है, जबकि हमारी शोध में प्रमाणमीमांसा के साथ–साथ तत्त्वमीमांसा भी समाहित है। जहाँ तक रत्नाकरावतारिका का प्रश्न है, उस पर तो आज तक कोई शोधकार्य नहीं हुआ है। भारतीय–न्याय के अध्येताओं की दृष्टि में भी यह ग्रन्थ उपेक्षित ही रहा है। इसका एक कारण यह भी रहा कि आज तक इस ग्रन्थ का हिन्दी या अंग्रेजी अनुवाद भी उपलब्ध नहीं था, आज तक इस ग्रन्थ की ओर विद्वानों का ध्यान ही नहीं गया।

इसी कारण, मैंने यह विषय चुना और अपने मार्गदर्शक के निर्देशानुसार इसे पूर्ण करने का प्रयत्न किया है।

कृतज्ञता–ज्ञापन

आज मुझे यह कहते हुए अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि– 'रत्नाकरावतारिका में बौद्ध–दर्शन की समीक्षा' नामक मेरे शोधग्रन्थ का लेखनकार्य निर्विघ्नतापूर्वक पूर्ण हो रहा है।

मैं सर्वप्रथम श्रद्धेय गुरुभगवन्त आचार्यसम्राट् पूज्यश्री आनन्दऋषिजी म.सा. एवं दाद–गुरुणी मालवसिंहनी, प्रवर्त्तिनी पूज्यश्री रतनकुँवरजी म.सा. के प्रति विनयांजली प्रस्तुत करती हूँ कि आपकी अदृष्ट कृपा से मेरा यह शोधकार्य सम्पन्न हुआ।

इसके साथ ही मेरी आस्था की केन्द्र पूज्या गुरुणी मैय्या बा.ब्र. श्री कुशलकुँवरजी म.सा. के पादपद्मों में हृदय से नमन करती हूँ कि आपकी सतत प्रेरणा से ही शोध–ग्रन्थ का लेखनकार्य पूर्ण हुआ है। शोध–प्रबन्ध की पूर्णता के इन क्षणों के कुछ मास (माह) पूर्व ही आपके वरदहस्त से हम सब वंचित हो गए, किन्तु आपकी अदृश्य प्रेरणा ही इसे पूर्णता तक पहुँचा सकी है। मुझे इस अध्ययन हेतु आपकी प्रेरणा सदैव ही मिलती रहती थी। आपकी उत्साह भरी प्रेरणा ने ही मेरी आंतरिक चेतना को जाग्रत किया और आपश्री के सान्निध्य में ग्यारहवीं कक्षा से लेकर पीएच. डी. तक की यह यात्रा पूर्ण हुई। मेरे अध्ययन का सारा श्रेय आपश्री को ही है। आज मैंने आपका ही सपना पूरा किया है। यद्यपि मुझे आपकी रिक्तता खलती रहती है, किन्तु फिर भी मैंने लगभग अपना यह लेखन–कार्य आपको अपने समक्ष मानकर ही पूर्ण किया है। मैं अपने इस शोधग्रन्थ को अंजलीबद्ध आपश्री के करकमलों में ही समर्पित करती हूँ। मैं सदैव आपकी अनन्त कृपा की ऋणी रहूँगी तथा यह चाहूँगी कि आपकी यह कृपा निरन्तर ही मुझ पर बरसती रहे और मैं आत्म–साधना के प्रगति–पथ पर बढ़ती रहूँ।

मैं मेरी गुरुणी–तुल्या जिनशासनचन्द्रिका पूज्या डॉ. प्रमोदकुँवरजी म.सा. की भी आभारी हूँ कि जिनसे भी मुझे अध्ययन हेतु प्रेरणा मिलती रही एवं उनकी स्नेहासिक्त कृपा से मेरा शोधकार्य पूर्ण हुआ, अतः, मैं उन्हें सादर वंदन करती हूँ।

मैं मेरी गुरुभगिनी पूज्य श्री पुष्पकुंवरजी म.सा. की भी बहुत–बहुत कृतज्ञ हूँ कि आपके सहयोग के बिना मेरा स्वप्न साकार नहीं हो पाता। गुरुणी मैय्या की रिक्तता में आप सदैव प्रेरित करती रहीं एवं मेरे अध्ययनकाल में सेवारत रही, अतः, मैं श्रद्धायुत आपश्री को नमन करती हूँ।

मैं अपने समस्त गुरुभगिनी मण्डल की भी बहुत आभारी हूँ, क्योंकि उनका भी मुझे सदैव सहयोग मिलता रहा है।

अन्त में, मेरे ज्ञान–गुरु, मार्गदर्शक, विद्वत्रत्न डॉ. सागरमल जैन के प्रति बहुत–बहुत कृतज्ञता–ज्ञापित करती हूँ। आपका प्रारम्भ से ही मेरे अध्ययन में सहयोग मिलता रहा है। बी.ए., एम.ए. (दर्शनशास्त्र) एवं आचार्य की परीक्षा के अध्ययन में भी आपका ही मार्गदर्शन मुझे प्राप्त होता रहा है।

जैन–सिद्धान्ताचार्य की परीक्षा में जब आपसे रत्नाकरावतारिका के अध्ययन का सुयोग मिला, तब से ही मुझे सदैव ही आपकी प्रेरणा रही थी कि मुझे इस पर शोधकार्य करना है। आपके ही मार्गदर्शन एवं सहयोग से यह कार्य पूर्णता पर पहुँचा है और मैं इस लेखन–कार्य को पूर्ण कर सकी हूँ। अन्त में, मैं आपसे सदैव यही अपेक्षा रखती हूँ कि अध्ययन के क्षेत्र में आपका मार्गदर्शन सदैव मिलता रहे। इस समय मैं आपके परिवार को भी विस्मृत नहीं कर सकती, क्योंकि ममतामयी मातृस्नेही श्रीमती कमला बहन एवं समस्त परिजनों का भी आत्मीयतापूर्ण मेरे इस कार्य में सहयोग रहा है।

इस शोधकार्य हेतु आर्थिक–सहयोग प्रदान करके श्रुतज्ञान की सेवा का लाभ लेने वाले– वात्सल्यमूर्ति सुश्राविका श्रीमती ज्योतिबाला जैन (धर्मपत्नी) उदारमना सेवाभावी श्री राजेन्द्रकुमारजी जैन एवं उनके परिवार को भी मैं, मेरी गुरुणी मैय्या की ओर से एवं समस्त साध्वीमण्डल की ओर से उनकी धर्मभावना को साधुवाद देती हूँ।

ऐसे समय में, मैं शाजापुर श्रीसंघ को भी कैसे भुला सकती हूँ, जिनकी मैं सदा–सर्वदा ही ऋणी हूँ, क्योंकि विगत पच्चीस वर्षो से मेरे ज्ञानार्जन में निरंतर ही सहयोग करता रहा है, अतः, श्रीसंघ की भी आभारी हूँ।

मेरे इस शोधकार्य को कम्प्यूटर पर मुद्रण हेतु श्री अनिलजी वर्मा एवं प्रुफ संशोधन में सहयोग हेतु श्री चैतन्यकुमारजी सोनी को भी साधुवाद देती हूँ, जिनके कारण यह शोध–प्रबन्ध यह आकार ले सका।

कुशल शिष्या

साध्वी – ज्योत्स्ना

अध्याय 1

जैनदर्शन एवं न्याय–शास्त्र की विकास–यात्रा

भारतीय–दर्शनों में जैन–दर्शन का स्थान या वैशिष्ट्य –

भारतीय–चिन्तन में वेदों और विशेष रूप से उपनिषदों के काल से ही विविध दार्शनिक–अवधारणाओं के बीज तो उपस्थित मिलते हैं, किन्तु उनमें दर्शनों के विभाजन की कोई चर्चा नहीं मिलती। सर्वप्रथम सांख्य–योग, न्याय–वैशेषिक तथा पूर्व–मीमांसा, उत्तर–मीमांसा के युग्मों के साथ पहले जैन फिर बौद्ध और चार्वाकों को सम्मिलित करके षट्दर्शनों की व्यवस्था हुई। उस काल तक सांख्य–योग, न्याय–वैशेषिक तथा पूर्व–मीमांसा, उत्तर–मीमांसा को तीन युग्मों के रूप में स्वीकार करके ही षट्दर्शन की अवधारणा बनी थी, किन्तु कालान्तर में आस्तिक और नास्तिक का भेद खड़ा करके छः आस्तिक–दर्शन और छः नास्तिक–दर्शन माने गए। जब षट्नास्तिक–दर्शनों की बात आई, तो बौद्धों के चार दार्शनिक–संप्रदायों– सौत्रान्तिक, वैभाषिक, विज्ञानवादी और शून्यवादी को अलग–अलग करके उनके साथ जैन और चार्वाक को जोड़कर छः नास्तिक–दर्शन माने गए, किन्तु दर्शन के क्षेत्र में नास्तिक और आस्तिक की यह अवधारणा समुचित नहीं थी, क्योंकि यदि हम ईश्वर को, सृष्टिकर्त्ता मानने वाले को आस्तिक कहते हैं, तो मीमांसा और सांख्य–दर्शन नास्तिक की कोटि में चले जाएंगे, क्योंकि ये दोनों स्पष्टतः, ईश्वर को सृष्टि–कर्त्ता नहीं मानते हैं। योग को चाहे सेश्वर माना भी जाए, किन्तु वहाँ भी ईश्वर के सृष्टि–कर्तृत्व का कोई उल्लेख नहीं है, अतः, ईश्वर के सृष्टि–कर्तृत्व की अवधारणा के आधार पर आस्तिक और नास्तिक का यह विभाजन सम्यक् रूप से स्थिर नहीं हो पाया। दूसरी ओर, यदि हम पाणिनीय–सूत्रों के आधार पर यह मानें कि जो परलोक और पुनर्जन्म में आस्था रखते हैं, वे आस्तिक हैं, तो ऐसी स्थिति में जैन और बौद्धों को भी हमें आस्तिक की कोटि में ही रखना होगा। डॉ. मंगलचंद शास्त्री ने डॉ. महेन्द्रकुमार की जैन–दर्शन नामक पुस्तक की भूमिका में आस्तिक और नास्तिक के इस

वर्गीकरण को अनुचित मानते हुए पाणिनीय–सूत्रों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि जैन और बौद्ध–दर्शन परलोक और पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं, अतः, उन्हें आस्तिक की कोटि में ही माना जाए।[1] कालान्तर में आस्तिक और नास्तिक का अर्थ बदला और यह कहा जाने लगा कि जो वेदों की निन्दा करते हैं, या उनके प्रामाण्य को अमान्य करते हैं, वे नास्तिक हैं (नास्तिको वेद निन्दकः)। इस आधार को लेकर जैन और बौद्धदर्शनों को नास्तिक की कोटि में डाला गया, किन्तु वैदिक–कर्मकाण्ड की समालोचना केवल जैन, बौद्ध और चार्वाकों ने ही की है, ऐसा नहीं है। उपनिषदों और गीता में भी इस वैदिक–कर्मकाण्ड की और यज्ञ–याग की समालोचना हमें मिलती है।[2] क्या हम उपनिषदों को और गीता को नास्तिकों का धर्मग्रन्थ मानेंगे ? ऐसा तो कथमपि संभव नहीं है, अतः, दर्शनों का आस्तिक और नास्तिक के बीच विभाजन समुचित नहीं माना जा सकता।

दूसरे, भारतीय–दर्शनों के इतिहास में जैन और बौद्ध–दर्शनों का अवदान कम नहीं है। दार्शनिक–चिन्तन के विकास में इन दोनों धाराओं का महत्वपूर्ण अवदान रहा है। जहाँ बौद्धों ने नैयायिकों और मीमांसकों के अनेक सिद्धान्तों की समीक्षा करके उनका खंडन किया है, वहीं जैन–दार्शनिकों ने परस्पर विरोधी अनेक दार्शनिक–अवधारणाओं में अपनी अनेकान्त–दृष्टि के आधार पर समन्वय का प्रयत्न किया है। इस प्रकार, भारतीय–दर्शन की यात्रा में पक्ष, प्रतिपक्ष और समन्वय की इस प्रक्रिया के द्वारा दार्शनिक–चिन्तन का जो विकास हुआ है, उसमें जैन और बौद्धों का महत्वपूर्ण अवदान है।

जहाँ तक दार्शनिक–विवादों के मध्य समन्वय के सूत्र प्रस्तुत कर उनका समाधान देने का प्रश्न है, भारतीय–दर्शन के इतिहास में जैन–दर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जिसने दर्शन के क्षेत्र में अनेक विरोधी–मान्यताओं के मध्य समन्वय के प्रयत्न किए हैं। बौद्धों ने यद्यपि विभिन्न–दार्शनिक एकांत मतों की समीक्षा तो की, किन्तु वे उन्हें केवल एकांगी कहकर रह गए। एकान्तवाद की समीक्षा में जैन और बौद्ध–दोनों

---

[1] जैन–दर्शन– पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, भूमिका – डॉ. मंगलचंद शास्त्री, पृ. 15

[2] (अ) प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा, अष्टादशोक्तमवरंयेषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्तिः।।मुण्डकोपनिषद1 / 2/7
(ब) श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थज्ञाने परिसमाप्यते।। 4 । 33 ।। गीता

ही सहगामी रहे हैं, किन्तु जहाँ बौद्ध एकान्तवाद की समीक्षा करके या उसमें दोषों का उद्भावन करके संतुष्ट हो गए, वहीं जैनों ने उन परस्पर विरोधी अवधारणाओं के मध्य समन्वय करने का भी प्रयास किया है। दार्शनिक–समीक्षाओं के क्षेत्र में जहाँ बौद्ध नकारात्मक–भाषा का ही प्रयोग करते रहे और सभी एकान्तदृष्टियों को मिथ्या कहकर नकारते रहे, वहीं जैनों ने उन दार्शनिक–मतवादों को एकान्तरूप से मिथ्या न कहकर उनकी सापेक्षिक–सत्यता को स्वीकार करने का प्रयत्न भी किया। जैन–दार्शनिकों ने अपने ग्रन्थों में अपने युग के सभी दार्शनिक–मतवादों को समाहित करके जहाँ एक ओर उनकी समीक्षा की है, वहीं दूसरी ओर उनमें निहित सत्यता को देखने का भी प्रयत्न किया है और सापेक्षिक रूप से उनकी सत्यता को स्वीकार भी किया है। जैन–दार्शनिक यशोविजयजी भी लिखते हैं –

> बौद्धानामृजु–सूत्रतोमतमभूद् वेदान्तिनां संग्रहात्,
> सांख्यानां तत् एवं नैगमनयाद् योगश्च वैशेषिकः।
> शब्द–ब्रह्म– विदोअपि–शब्द नयतः सर्वैर्नयैर्गुम्फिता,
> जैनीदृष्टिरितीह सारतरता प्रत्यक्षमुद्वीक्ष्यते।।[3]

अर्थात्, बौद्धमत का विकास ऋजुसूत्र–नय के आधार पर होता है, अतः, उस नय के आधार पर उनके मत की सत्यता को सापेक्ष रूप से स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार, वेदान्त–दर्शन का आधार संग्रह नय है और उसकी सत्यता इसी दृष्टिकोण से रही हुई है। अपेक्षा–भेद से सांख्य भी नैगमनय का सहारा लेते हैं, किन्तु फिर भी वे संग्रहनय को मुख्य आधार बनाते हुए अपने मत को प्रस्तुत करते हैं। नैयायिक और वैशेषिक–दर्शनों का आधार भी नैगमनय ही है, किन्तु वे व्यवहारनय की उपेक्षा नहीं करते हैं। इसी प्रकार, शब्दनय के आधार पर वैयाकरण–दर्शन खड़ा हुआ, किन्तु जैन–दर्शन की विशेषता यह है कि वह सभी नयों को स्वीकार करते हुए प्रसंगानुसार सारभूत तत्त्व को स्पष्ट कर देता है।

जैन–दार्शनिकों ने अनेकान्त और अहिंसा के जिन सिद्धांतों को प्रस्तुत किया और मानव–मानव के बीच ही नहीं, समस्त प्राणी–जगत् के बीच समता का जो शंखनाद किया, यह उनकी विशिष्ट देन है।

---

[3] उदधृत – आगमयुग का जैन–दर्शन, पं. दलसुखभाई मालवणिया, पृ. 292

भारतीय–दर्शन और उसके किसी भी पक्ष का अध्ययन जैन–दार्शनिकों और उनके दार्शनिक–ग्रन्थों की उपेक्षा करके संभव नहीं है। दर्शन के क्षेत्र में उनका परस्पर–विरोधी मतों के मध्य समन्वय का प्रयास महत्वपूर्ण है। पं. दलसुखभाई मालवणिया का कहना है कि 'चाहे दार्शनिक विवादों के अखाड़े में जैन–दार्शनिक बाद में ही उतरे हों, किन्तु एक समन्वय के रूप में उन्होंने परस्पर–विरोधी मत वालों के बीच जो समन्वय का प्रयत्न किया है, वह अद्भुत है। वैदिक और बौद्ध–परम्परा के दार्शनिक–साहित्य की अपेक्षा जैनों का दार्शनिक–साहित्य न तो सांख्यादि–दर्शनों की अपेक्षा से कम है और न ही अपनी गुणवत्ता में किसी से पीछे है।

2. जैन–दर्शन के विकास के तीन युग

पं. सुखलालजी ने जैन–दर्शन के विकास को निम्न तीन युगों में बाँटा है –

(अ) दर्शनों के सूत्र–ग्रन्थों का युग

(ब) अनेकान्तस्थापन–युग

(स) न्याय–युग।

पं. दलसुखलालमालवणिया ने जैन–दार्शनिक–साहित्य को उसके विकास की अपेक्षा से निम्न चार भागों में बाँटा है –

अ. आगम– युग।

ब. अनेकान्तव्यवस्था– युग

स. प्रमाणव्यवस्था–युग

द. नव्यन्याय–युग।[4]

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि पं. सुखलालजी जिसे दर्शन–युग कह रहे हैं, उसे ही पं. दलसुखलाल मालवणिया ने आगम–युग कहा है, क्योंकि जैन–दर्शन का प्रादुर्भाव आगम–युग में ही हो जाता है। पं. दलसुखभाई की विशेषता यह है कि उन्होंने न्याय–युग के दो विभाग किए हैं –

अ. प्रमाणव्यवस्था–युग

---

4 (अ) जैन–दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन, पृ. 1
(ब) आगमयुग का जैन–दर्शन पृ. 281

ब. नव्यन्याय–युग।

इस प्रकार,, उनकी दृष्टि में जैन–दर्शन के विकास का क्रम निम्न चार युगों में सम्पन्न हुआ है–

आगम–युग – आगमयुग वह काल है, जहाँ हम जैन–दर्शन की मूलभूत अवधारणाओं के बीज ही देखते हैं। आगमयुग को जैन–दर्शन का प्रारंभिक युग भी कहा जा सकता है। उस युग में दर्शन की क्या स्थिति थी, उसका विस्तृत विवेचन पं. दलसुखभाई मालवणिया ने अपने ग्रन्थ "आगमयुग का जैन–दर्शन" में विस्तार से किया है। आगमयुग में या प्रारंभिक दर्शनयुग में मुख्यतः तत्त्व–मीमांसा और आचार–मीमांसा को ही अधिक महत्व दिया गया है। अनेकान्त के बीज चाहे आगम ग्रन्थों में उपस्थित हों, किन्तु उस युग में अनेकान्तवाद की स्थापना और उसके आधार पर विभिन्न दर्शनों के बीच समन्वय का प्रयत्न नहीं देखा जाता है। यह प्रयत्न मूलतः दूसरे अनेकान्तस्थापनयुग से ही प्रारंभ होता है। आगमयुग की कालावधि ईसा पूर्व छठवीं शताब्दी से लेकर ईसा की चौथी शताब्दी तक एक व्यापक कालखण्ड को अपने में समाहित करती है।

अनेकान्तस्थापन युग – अनेकान्तव्यवस्था–युग का प्रारंभ सिद्धसेन के सन्मतितर्क और मल्लवादि के द्वादशारनयचक्र से हो जाता है। लगभग इसी काल में दिगम्बर–परंपरा में आचार्य समन्तभद्र ने आप्त–मीमांसा की रचना कर अनेकान्त के आधार पर दार्शनिक–मतवादों की समीक्षा कर उनके समन्वय के सूत्र भी खोजने के प्रयत्न किए हैं। अनेकान्त–व्यवस्थायुग की मुख्य विशेषता यह रही है कि उस युग में अन्य–दार्शनिक एकान्त मान्यताओं में दोषों का उद्भवन कर एक ओर उनकी समीक्षा की गई, वहीं दूसरी ओर अनेकान्त–दृष्टि से उनमें निहित सत्यता को उजागर करने का प्रयत्न भी किया गया है। इस युग में दार्शनिक–समीक्षाओं का आधार भी अनेकान्त–दृष्टि को ही बनाया गया है, अतः, जहाँ एक ओर एकान्तवादों की समीक्षा है, वहीं दूसरी ओर उनमें निहित सत्य का उद्घाटन भी किया गया है। अनेकान्तव्यवस्था–युग का प्रारंभ ईसा की चौथी शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी के मध्य तक माना जा सकता है। आचार्य हरिभद्र के अनेकान्तजयपताका, अनेकान्तप्रवेश, शास्त्रवार्त्तासमुच्चय, स्याद्वादकुचोद्यपरिहार आदि इस युग के अन्तिम चरण के प्रमुख ग्रन्थ माने जा सकते हैं। हरिभद्र के काल तक यद्यपि प्रमाण

संबंधी कुछ उल्लेख तो मिलते हैं, किन्तु जैनदर्शनसम्मत प्रमाण–व्यवस्था का सुनिश्चित स्वरूप उनके बाद उपलब्ध होता है।

3. प्रमाणव्यवस्था–युग –

दार्शनिक–समीक्षाओं की दृष्टि से यह युग अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जा सकता है। यद्यपि प्रमाण–चर्चा संबंधी कुछ सूत्र जैन–आगमों में उपलब्ध होते हैं, किन्तु वहाँ जैन–दार्शनिक मुख्यतः नैयायिक–दर्शन से ही प्रभावित प्रतीत होते हैं। आगमों में पंचज्ञान की चर्चा तो विस्तार से है, किन्तु प्रमाणों की कोई विशेष चर्चा नहीं है। प्रमाण–चर्चा की अपेक्षा से सिद्धसेन दिवाकर का न्यायावतार एक प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें बत्तीस श्लोकों में जैन प्रमाण–व्यवस्था की चर्चा की गई है, किन्तु यह ग्रन्थ भी मात्र प्रारंभिक स्थिति का ही है। प्रमाण संबंधी विशिष्ट चर्चा अकलंक, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, माणिक्यनन्दी, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि, सिद्धर्षि, हेमचंद्र आदि के ग्रन्थों में ही मिलती है। इस युग की विशेषता यही है कि इस युग के ग्रन्थों में अन्य दर्शनों के दार्शनिक–मतों की समीक्षा ही प्रमुख रूप से की जाती है। यह युग लगभग आठवीं शताब्दी से लेकर लगभग पन्द्रहवीं–सोलहवीं शताब्दी तक के व्यापक काल–खण्ड को अपने में समाहित करता है। इस युग में जैन–परम्परा में अनेक प्रौढ़ दार्शनिक–ग्रन्थों की रचना हुई। हमारा समीक्ष्य–ग्रन्थ रत्नाकरावतारिका भी इसी कालखण्ड का है।

4. नव्यन्याय–युग –

यद्यपि भारतीय–दर्शन के क्षेत्र में नव्यन्याय का प्रारंभ लगभग तेरहवीं शताब्दी से हुआ। आचार्य गंगेश ने इस शैली का विकास किया, किन्तु यशोविजयजी के पूर्व तक किसी भी जैन–दार्शनिक ने इस शैली का आधार लेकर अपने ग्रन्थों की रचना नहीं की। लगभग सतरहवीं शताब्दी में वाचक यशोविजयजी ने काशी में अध्ययन करके इस शैली को समझा और फिर नव्यन्याय की शैली में जैन–ग्रन्थों की रचना प्रारंभ की। उन्होंने इस शैली में अनेकान्त–व्यवस्था नामक ग्रन्थ लिखकर अनेकान्तवाद की पुनः प्रतिष्ठा की और साथ ही अष्टसहस्री तथा शास्त्रवार्त्तासमुच्चय आदि पर नवीन शैली में टीका लिखकर इन ग्रन्थों को युगानुरूप स्वरूप प्रदान किया। जैन–तर्कभाषा, नयप्रदीप, नयरहस्य आदि ग्रन्थों की रचना भी उन्होंने उसी शैली में की। इनके पश्चात्, दिगम्बर–परंपरा में विमलदास की सप्तभंगीतरंगिणी आदि भी इसी शैली में लिखी गई।

3. जैन–दर्शन की विकास यात्रा और बौद्ध–दार्शनिक–मतों की समीक्षा–

जैन–दर्शन की विकास–यात्रा आगमयुग से ही प्रारंभ हो जाती है। प्राचीन स्तर के अर्द्धमागधी आगमों में भी बौद्ध–दर्शन की मान्यताओं और उसकी समीक्षा के कुछ सूत्र उपलब्ध होते हैं। यद्यपि अर्द्धमागधी आगमों में आचारांगसूत्र का स्थान सर्वप्रथम आता है, किन्तु यह ग्रन्थ मुख्य रूप से जैन–आचार के सिद्धान्तों और नियमों की ही चर्चा करता है। मात्र इसके प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्याय के प्रथम उद्देशक में आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद– इन चार सिद्धातों का निर्देश मिलता है, जो मुख्य रूप से पुनर्जन्म की अवधारणा को प्रस्तुत करता है। चाहे आत्मा के स्वरूप को लेकर जैन और बौद्ध–दर्शन में मतभेद हों, लेकिन पुनर्जन्म की अवधारणा तो दोनों ही दर्शनों में उपलब्ध होती है, अतः, इस ग्रंथ में बौद्धदर्शन की समीक्षा की दृष्टि से हमें कोई संकेत नहीं मिलते हैं और न उसकी दार्शनिक–मान्यताओं का ही कोई निर्देश है। सर्वप्रथम बौद्ध–दर्शन की मान्यताओं का निर्देश और उनकी सामान्य समीक्षा हमें सूत्रकृतांगसूत्र में मिलती है। इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में ही बौद्धदर्शन के पंचस्कंधवाद और संततिवाद का उल्लेख प्राप्त होता है, किन्तु दार्शनिक–दृष्टि से इस ग्रंथ में इन मान्यताओं की गहन समीक्षा उपलब्ध नहीं होती है, मात्र इतना अवश्य कहा गया है कि यह मत उचित नहीं है।[5] अर्द्धमागधी आगम–साहित्य में बौद्ध–दर्शन से संबंधित एक अन्य उल्लेख हमें ऋषिभाषितसूत्र में मिलता है, जहाँ वज्जीयपुत्त (सारिपुत्त) और महाकश्यप के अध्यायों में बौद्धदर्शन के पंचस्कंधवाद और संततिवाद के निर्देश उपलब्ध हो जाते हैं,[6] किन्तु यहाँ पर उसकी कोई समीक्षा उपलब्ध नहीं होती। जैन–धर्म के रायपसेणीयसुत्त और बौद्ध–दर्शन के पयासीसुत्त में आत्मसत्ता या चित्तसत्ता के अस्तित्व के पोषण में अनेक तर्क दिए गए हैं। दोनों ही परंपराओं के ग्रन्थों में ये तर्क समान रूप से मिलते हैं, मात्र अंतर यह है कि जैन–परंपरा में इसे आत्मसिद्धि का आधार बताया गया है, वहीं बौद्ध–परम्परा में इन तर्कों द्वारा चित्त की सत्ता को सिद्ध किया गया है।[7] इसके अतिरिक्त, अर्द्धमागधी आगम–साहित्य के कुछ ग्रन्थों में शाक्यपुत्रीय

---

[5] सूत्रकृतांग 1/1/1/17 ? 4 तत्त्वार्थसूत्र 1/2–3

[6] इसीभासियाइं – अध्याय 2 एवं 7

[7] रायपसेनीय – पएसिकहाणक – 736–764

श्रमणों का उल्लेख तो मिलता है, किन्तु न तो वहाँ उनके मंतव्यों को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत किया गया है, न ही उनकी कोई समीक्षा की गई है।

जहाँ तक आगमयुग के जैनन्याय का प्रश्न है, उसमें हेतु या व्यवसाय के रूप में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान– ऐसे चार प्रमाणों की चर्चा मिलती है, किंतु उनमें मात्र इनका नाम उल्लेख मिलता है और ऐसा लगता है कि इस प्रमाण–चर्चा का अवतरण न्याय–दर्शन के आधार पर ही किया गया है। इस संबंध में विशेष रूप से ज्ञातव्य यह है कि बौद्ध–त्रिपिटकसाहित्य में भी नैयायिकों द्वारा मान्य इन प्रमाणों की ही चर्चा मिलती है। इसमें यह सिद्ध होता है कि प्रारंभिक युग में जैन और बौद्ध–दार्शनिक नैयायिकों के प्रमाणवाद को ही स्वीकार कर रहे थे। इस संबंध में जैन–परंपरा के आगमग्रंथों एवं बौद्ध–परंपरा के त्रिपिटक–साहित्य में कोई विशेष चर्चा भी उपलब्ध नहीं होती। तत्त्वार्थसूत्र के काल तक भी जैन–परंपरा में पंचज्ञानों को भी प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है,[8] अतः, स्वतंत्र रूप से प्रमाण–चर्चा और उसकी समीक्षा के कोई संदर्भ तत्त्वार्थसूत्र में भी नहीं मिलते हैं। प्राचीन स्तर के अर्द्धमागधी ग्रन्थों में मात्र बौद्धों के पंचस्कंधवाद और संततिवाद का ही उल्लेख हुआ है। संततिवाद, क्षणिकवाद या क्षणभंगवाद का ही तार्किक–प्रस्तुतिकरण है। इस युग में जैन और बौद्ध–मंतव्यों में तत्त्वमीमांसीय दृष्टि से यदि कोई अंतर देखा जा सकता है, तो वह मात्र इतना ही है कि जहाँ बौद्ध–दर्शन तत्त्व को उत्पाद–व्ययात्मक मान रहा था, वहीं जैन तत्त्व को उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यात्मक मान रहा था। यथार्थ में बौद्ध–दार्शनिक मन्तव्यों की समीक्षा जैन–दार्शनिक–ग्रन्थों में और जैन–न्याय संबंधी ग्रन्थों में ही मिलती है। अनेकान्तस्थापन–युग का प्रारंभ मुख्यतः सिद्धसेनदिवाकर के सन्मतितर्कप्रकरण से और जैनन्याय का प्रारंभ सिद्धसेन के न्यायावतार–सूत्र से होता है। इसके पश्चात्, मल्लवादि के द्वादशारनयचक्र, समन्तभद्र की आप्त–मीमांसा आदि ग्रन्थ आते हैं, जिनमें बौद्ध–दर्शन की समीक्षा की गई है। तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि, राजवार्त्तिक, श्लोकवार्त्तिक आदि टीकाओं में बौद्धदर्शन की विस्तृत समीक्षा नहीं है। अकलंक के लघीयस्त्रय एवं न्यायविनिश्चय, विद्यानंद की अष्टसहस्री, वादीराजसूरिकृत न्यायविनिश्चयनिर्णय, प्रभाचंद्रकृत प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, वादिदेवसूरिकृत प्रमाणनयतत्त्वालोक, हेमचंद्र की अन्ययोगव्यवच्छेदिका एवं प्रमाणमीमांसा,

---

[8] तत्त्वार्थसूत्र 1/2–3

मल्लिषेणकृत स्याद्वादमंजरी नामक टीका, गुणरत्नकृत षट्दर्शनसमुच्चय की टीका आदि ग्रन्थों में हमें बौद्धदर्शन की मान्यताओं की विस्तृत समीक्षा उपलब्ध होती है। इस प्रकार,, हम देखते हैं कि जैन–ग्रन्थों में बौद्ध–दार्शनिक–मान्यताओं का पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुतिकरण और जैन–दृष्टि से उनकी समीक्षा मुख्यतया अनेकान्तस्थापन–युग और प्रमाण–व्यवस्था–युग से ही मिलने लगती है। अग्रिम पंक्तियों में हम अनेकान्तस्थापन और प्रमाणव्यवस्था–युग के पूर्व निर्देशित कुछ ग्रन्थों को आधार बनाकर यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि उनमें बौद्ध--दार्शनिक–मान्यताओं की समीक्षा किस रूप में उपलब्ध होती है ?

1. सिद्धसेनकृत सन्मतितर्क और न्यायावतार में बौद्ध–दर्शन की समीक्षा –

सिद्धसेनदिवाकर को अनेकान्तवाद की स्थापना और जैन–प्रमाणचर्चा का आद्य दार्शनिक माना जा सकता है। इन्होंने अपने ग्रन्थ सन्मतितर्कप्रकरण, न्यायावतार और कुछ द्वात्रिंशिकाओं में बौद्ध–मंतव्यों की समीक्षा की है। जहाँ तक सन्मतितर्क का प्रश्न है, जैसा कि हम जानते हैं, यह ग्रन्थ अनेकान्तवाद की स्थापना से संबंधित है। इस ग्रंथ में यद्यपि स्पष्ट रूप से बौद्धों का नाम लेकर किसी मंतव्य की समीक्षा नहीं की गई है, किन्तु सत् के स्वरूप–लक्षण को लेकर बौद्धों के क्षणिकवाद की समीक्षा उपलब्ध हो जाती है। जहाँ बौद्ध–दर्शन सत् को मात्र उत्पाद--व्ययात्मक मानता है और इस प्रकार, से उसे क्षणिक सिद्ध करता है, वहाँ जैन--दार्शनिक या विशेष रूप से सिद्धसेनदिवाकर ध्रौव्यता के लक्षण को जोड़कर सत् को नित्यानित्य या परिणामी–नित्यरूप में स्थापित करते हैं, जबकि बौद्धदर्शन सत् को मात्र परिणामी ही मानता है।

सिद्धसेन ने सन्मतितर्क में सामान्य रूप से तो सभी एकान्त–दृष्टियों का खंडन किया है, किन्तु सन्मतितर्क के तृतीय कांड की पचासवीं गाथा में "सक्कोलया" के रूप में स्पष्ट रूप से बौद्धदर्शन एवं वैशेषिक–दर्शन की समीक्षा प्रस्तुत की है। यद्यपि इस समीक्षा में वे सत्कार्यवाद को मानने वाले सांख्यों द्वारा बौद्ध और वैशेषिक के असत्–कार्यवाद की समीक्षा में जो दोष उद्भावित किए गए हैं, उन्हें सत्य कहकर बौद्ध एवं न्याय–वैशेषिक–दर्शन के असत्कार्यवाद की समीक्षा करते हैं। यद्यपि इस प्रसंग में उन्होंने सांख्यों के सत्कार्यवाद और बौद्ध तथा वैशेषिकों के असत्कार्यवाद– दोनों को ही एकान्तवाद बताकर उनकी

समीक्षा की और जैन–दर्शन के अनेकान्त–दृष्टि से युक्त सत्–असत् कार्यवाद की सिद्धि की है।[9]

सिद्धसेन के दूसरे ग्रन्थ–न्यायावतार की मूल–कारिकाओं में बौद्धों की मान्यताओं को लेकर कोई समीक्षा तो नहीं की गई है, किन्तु प्रमाण को स्वपर–व्यवसायात्मक मानकर यह कहा गया है कि प्रमाण या ज्ञान स्वयं को और अपने विषय को, अर्थात् पदार्थ को– दोनों को जानता है। इस प्रकार, से, इस ग्रन्थ में बौद्ध–विज्ञानवाद से जैन–दर्शन की भिन्नता को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। न्यायावतार के टीकाकार सिद्धर्षि ने यहाँ विस्तार से 'प्रमाण केवल अपने को ही जानता है'– बौद्धों के इस मत की विस्तार से समीक्षा की है।[10] इससे यह भी सिद्ध होता है कि सिद्धसेन के काल तक बौद्ध–विज्ञानवाद अस्तित्व में आ गया था, यद्यपि यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि सिद्धसेन ने बौद्धों के समान ही प्रमाण को ज्ञान के करण के रूप में स्वीकार न करके प्रमाण को ज्ञानरूप में ही स्वीकार किया है। तत्त्वार्थसूत्र में भी पंचज्ञानों को प्रमाण माना गया है।[11] इससे यह सिद्ध होता है कि प्रमाण–ज्ञानात्मक होता है– इस बात को लेकर जैन और बौद्ध–दार्शनिक एकमत थे। वे इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को या इन्द्रिय–वृत्ति को प्रमाणरूप में स्वीकार नहीं कर रहे थे। इस प्रकार, न्यायावतारसूत्र की प्रथम तालिका से ही यह सिद्ध हो जाता है कि सिद्धसेन प्रमाण–लक्षण की चर्चा में प्रमाण की ज्ञानरूपता को लेकर बौद्धों से सहमति व्यक्त करते हैं, किन्तु प्रमाण–लक्षण को लेकर बौद्धों से उनका मतभेद भी है, क्योंकि जहाँ बौद्ध–विज्ञानवाद प्रमाण का विषय केवल स्व को ही मानता है, वहाँ जैन–दार्शनिक सिद्धसेन प्रमाण का विषय स्व और पर– दोनों को ही, अर्थात् ज्ञान और पदार्थ– दोनों को ही मान रहे हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि सिद्धसेन प्रमाण–लक्षण में अनधिगत–अर्थ को बोधक या अपूर्व लक्षण नहीं मानते हैं।[12]

इसी प्रकार, हेतु–लक्षण को लेकर भी सिद्धसेन और बौद्ध–दार्शनिकों में स्पष्ट मतभेद देखा जाता है। जहाँ जैन–दार्शनिक अन्यथानुपपत्ति को एकमात्र हेतु का लक्षण मान रहे थे, वहीं बौद्ध–दार्शनिक

---

9 सन्मतितर्क 3/50–52

10 न्यायावतार, कारिका 1 की सिद्धर्षि की टीका

11 तत्त्वार्थसूत्र 1/9–10

12 न्यायावतार, कारिका 1

हेतु के त्रिलक्षण मान रहे थे।[13] इस प्रकार,, दोनों के मंतव्यों में मतभेद था। यद्यपि न्यायावतार में मूल–कारिकाओं में सिद्धसेन ने बौद्धों का स्पष्ट नाम लेकर कोई खण्डन नहीं किया है, किन्तु उनकी स्थापनाएँ इतना तो अवश्य ही सिद्ध करती हैं कि न्याय के क्षेत्र में उनका कुछ बातों को लेकर बौद्धों से मतभेद था।

सिद्धसेनदिवाकर ने बौद्धों का स्पष्ट रूप से खंडन अपनी द्वात्रिंशिकाओं में किया है। आगे हम इसी पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे –

सिद्धसेन की प्रथम और द्वितीय–द्वात्रिंशिका में मुख्य रूप से जैन–तत्त्व–ज्ञान और जैन–आचार का वर्णन है, किन्तु इनमें ब्रह्मा, महेश्वर (शिव) और पुरुषोत्तम (विष्णु)– इन तीन नामों को वस्तुतः जैन–तीर्थंकर में घटित होने का प्रतिपादन किया गया है। यही बात हमें बौद्ध–ग्रन्थ सद्धर्मपुण्डरीक में भी उपलब्ध होती है। बौद्ध–विद्वानों ने इस ग्रन्थ में बुद्ध को ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर एवं स्वयंभू– इन नामों से संबोधित किया है। तीसरी बत्तीसी से लेकर सातवीं बत्तीसी तक की बत्तीसियाँ बत्तीसी–पंचक के नाम से जानी जाती हैं। इनमें छठवीं बत्तीसी में बौद्धसम्मत बुद्ध (सुगत) के आप्तत्व का उनके मंतव्यों में विरोध दिखाकर खंडन किया गया है। सातवीं बत्तीसी मुख्य रूप से औपनिषदिक–मान्यताओं को प्रस्तुत करती है। इसी प्रकार, नौवीं वेदवाद नामक बत्तीसी में सिद्धसेन ने वैदिक–मान्यताओं का प्रस्तुतिकरण किया है। बत्तीसियों के इस क्रम में बारहवीं बत्तीसी में न्यायदर्शन का, तेरहवीं बत्तीसी में सांख्यदर्शन का, चौदहवीं बत्तीसी में वैशेषिक–दर्शन का और पन्द्रहवीं बत्तीसी में बौद्धदर्शन के शून्यवाद आदि का वर्णन कर उसकी समीक्षा प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार,, हम देखते हैं कि सिद्धसेन की बत्तीसियों में पन्द्रहवीं बत्तीसी बौद्धदर्शन और उसकी शाखाओं की समीक्षा से संबंधित है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सिद्धसेन के काल तक बौद्ध–परंपरा में विज्ञानवाद और शून्यवाद का विकास हो चुका था और सिद्धसेन ने इनकी समीक्षा भी प्रस्तुत की थी। पं. दलसुखभाई मालवणिया ने न्यायावतारवार्त्तिकवृत्ति के सिंघी सिरीज़ से प्रकाशित संस्करण में 'न्यायावतार की तुलना' शीर्षक के अन्तर्गत प्रथम–परिशिष्ट में न्यायावतार की अनेक बौद्ध–मन्तव्यों के साथ विस्तृत एवं मार्मिक तुलना की है। उस तुलना पर यदि हम गम्भीर रूप से विचार

---

[13] प्रमाणवार्त्तिक, 3/14 (जैन–दर्शन – (महेन्द्र.) पृ 242)

करते हैं, तो सिद्धसेन के न्यायावतार का दिङ्नाग के प्रमाण ग्रन्थों के साथ आन्तरिक संबंध विदित हुए बिना नहीं रहता। सिद्धसेन–दिवाकर ने 'बाधविवर्जितम्' जो लक्षण दिया है, वह लक्षण भी बौद्धों के समरूप ही है।[14]

2. मल्लवादि–कृत द्वादशार–नयचक्र और बौद्ध–दार्शनिक–मतों की समीक्षा –

अनेकान्तवाद की स्थापना की दृष्टि से मल्लवादि का द्वादशारनयचक्र एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। दुर्भाग्य से इस ग्रन्थ की टीका तो उपलब्ध हो रही थी, किन्तु मूल ग्रन्थ का अधिकांश अंश प्रायः लुप्त ही था। यह मुनि श्री जंबुविजयजी के अथक प्रयत्नों और पुरुषार्थ का ही परिणाम है कि उन्होंने भोटभाषा में उपलब्ध बौद्ध–न्याय के ग्रन्थों और उनकी टीकाओं का आधार लेकर इस ग्रन्थ का पुनरुद्धार किया। यह ग्रन्थ बारह आरों या विभागों में बंटा हुआ है। इसमें क्रमशः भिन्न–भिन्न दार्शनिक–मतों की उनके विरोधी मतों से समीक्षा करवाकर अनेकांतदृष्टि का परिचय दिया गया है। इस ग्रंथ में बौद्ध–मत की समीक्षा निम्न रूप में उपलब्ध होती है –

द्वादशारनयचक्र में सातवें अर(आरे) में वैशेषिक–दर्शन की मान्यताओं का खण्डन ऋजुसूत्रनय का आश्रय लेकर बौद्ध–दृष्टिकोण से किया गया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ऋजुसूत्रनय मुख्य रूप से बौद्ध–दार्शनिक–दृष्टि से संबंधित है। इस प्रकार,, सातवाँ अर वैशेषिकों के खंडन के साथ बौद्धों के मत की स्थापना भी करता है। इस अर के अंत में बौद्धों के अपोहवाद की स्थापना भी की गई है[15], फिर, द्वादशारनयचक्र में मल्लवादि ने आठवें अर में बौद्धों के अपोहवाद की समीक्षा करते हुए भर्तृहरि के व्याकरण–दर्शन के शब्दाद्वैतवाद की स्थापना की है, यद्यपि इसी अर के अंत में भर्तृहरि और उनके गुरु वसुरात का भी खण्डन किया गया है।[16] फिर, अपोहवाद के विरुद्ध स्थापनानिक्षेप के आधार पर जातिवाद की स्थापना की गई है और इसी क्रम में सामान्य–एकान्त और विशेष–एकान्त– दोनों मतों की समीक्षा करते हुए अवक्तव्यवाद की स्थापना की गई है। अवक्तव्यवाद एकान्तदृष्टि का खण्डन करने वाला होने के

---

14 न्यायावतार, कारिका 1

15 द्वादशारनयचक्र, द्वितीय विभाग, अर 7, पृ. 547

16 द्वादशारनयचक्र, द्वितीय विभाग, अर 8, पृ. 581

कारण किसी सीमा तक बौद्धों को भी मान्य रहा है, किन्तु द्वादशारनयचक्र में इन सामान्य–एकान्त और विशेष–एकान्त का खण्डन कर किसी अपेक्षा से अनेकान्तदृष्टि की स्थापना करने का प्रयत्न भी किया है, किन्तु मल्लवादि ने इस अवक्तव्यवाद के विपक्ष में समभिरूढ़नय का आश्रय लेकर बौद्धों की उस दृष्टि का पोषण किया है, जो यह मानती है कि द्रव्य वस्तुतः गुण–पर्यायरूप है, अन्य कुछ नहीं है। यह बात बौद्ध–मान्यता के मिलिन्द–प्रश्न से भी सिद्ध होती है। इसी प्रसंग में गुण समभिरूढ़ के विधि आदि बारह भेद भी किए गए हैं। चूँकि समभिरूढ़नय का मंतव्य गुण–उत्पत्ति से था, अतः, मल्लवादि ने ग्यारहवें अर में भूतनय का आधार लेकर यह बताने का प्रयास किया है कि वस्तु मात्र क्षणिक है। इस प्रसंग में बौद्धसम्मत निर्हेतुक विनाशवाद की स्थापना कर वस्तु की क्षणिकता को सिद्ध किया गया है और बौद्धों के समान ही प्रदीपशिखा के दृष्टांत से उस क्षणिकता का समर्थन भी किया गया है। इस प्रकार,, द्वादशारनयचक्र का ग्यारहवां अर पुनः बौद्ध–क्षणिकवाद का समर्थन करता हुआ प्रतीत होता है, अतः, द्वादशारनयचक्र के बारहवें अर में क्षणिकवाद की समीक्षा की गई है और क्षणिकवाद के विरुद्ध स्थितिवाद का समर्थन किया गया है। चूँकि स्थितिवाद के विरुद्ध क्षणिकवाद खड़ा हुआ है, अतः, उसे उत्पत्ति और स्थिति, कुछ न कहकर शून्यवाद का आश्रय लिया गया है। इस प्रकार,, बारहवें अर में नागार्जुन के शून्यवाद का उत्थान है। ज्ञातव्य है कि नागार्जुन के शून्यवाद के विरुद्ध विज्ञानवादी–बौद्धों ने अपना पक्ष रखकर विज्ञानवाद की स्थापना की थी। इस प्रकार,, इस अर में शून्यवाद एवं विज्ञानवाद का खंडन करके यह बतलाया गया है कि वादों का यह चक्र चलता ही रहता है। इस प्रकार,, हम देखते हैं कि मल्लवादि का द्वादशार का नयचक्र बौद्धों के क्षणिकवाद, अपोहवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि दार्शनिक–मतों की समीक्षा प्रस्तुत करता है। यद्यपि यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि द्वादशारनयचक्र में बौद्धों के जिन मंतव्यों की समीक्षा है, वे विज्ञानवाद और शून्यवाद के प्रारंभिक ग्रन्थों पर ही आधारित हैं। परवर्ती बौद्ध–दार्शनिकों द्वारा अपने पक्ष के समर्थन में जो तर्क दिए गए हैं, उनकी समग्र समीक्षा तो हमें रत्नाकरावतारिका जैसे परवर्ती प्रौढ़–ग्रन्थों में ही मिलती है।

3. तत्त्वार्थ–सूत्र की टीकाओं में बौद्धद□र्न की समीक्षा –

उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्र (लगभग ईसा की तीसरी शताब्दी) एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसे जैन–धर्म की सभी परंपराओं में मान्यता प्राप्त है। यह

ग्रन्थ सूत्र–युग का प्रथम जैन–ग्रन्थ है और संस्कृत भाषा में निबद्ध है। यह ग्रन्थ दस अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में पंचज्ञानों, चार निक्षेपों, सप्त नयों और आठ अनुयोगद्वारों की चर्चा है। द्वितीय अध्याय मुख्यतः जीव के उपयोग–लक्षण की और जीव प्रकारों की चर्चा करता है। तीसरा और चौथा अध्याय क्रमशः स्वर्ग और नरक संबंधी जैन–अवधारणाओं को प्रस्तुत करता है। पाँचवें अध्याय में मुख्य रूप से अजीव तत्त्व की तथा सत् के स्वरूप की चर्चा उपलब्ध होती है। इसके पश्चात्, अध्याय छह से लेकर दस तक क्रमशः आश्रव, संवर, बंध, निर्जरा और मोक्ष–तत्त्वों का विवेचन किया गया है। मूलसूत्रों की अपेक्षा तो इसमें हमें कहीं भी बौद्धदर्शन की मान्यताओं और उनकी समीक्षाओं का निर्देश उपलब्ध नहीं होता है। मात्र, पंचम अध्ययन में सत् के स्वरूप की जो व्याख्या है, वह बौद्ध–परंपरा से अपनी स्पष्ट भिन्नता को लक्षित करती है, किन्तु कालान्तर में लगभग पाँचवीं शताब्दी से लेकर इस पर श्वेताम्बर और दिगम्बर–परंपराओं में जो टीकाएं लिखी गईं, उनमें हमें स्पष्ट रूप से बौद्ध–मंतव्यों की समीक्षा उपलब्ध हो जाती है। तत्त्वार्थसूत्र की टीकाओं में पूज्यपाद–देवनंदी की सवार्थसिद्धि, सिद्धसेनगणि की तत्त्वार्थवृत्ति, अकलंक का तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, विद्यानंद का तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक आदि प्रसिद्ध और प्रमुख हैं। इन टीकाओं में प्रसंगानुसार कहीं–कहीं अन्य मंतव्यों की समीक्षा उपलब्ध हो जाती है, फिर भी तत्त्वार्थ की टीकाओं में प्रायः बौद्धदर्शन या अन्य दर्शनों की समीक्षा का अभाव ही देखा जाता है। इन टीकाओं में कहीं भी बौद्धदर्शन या अन्य दर्शनों की विस्तृत समीक्षा नहीं मिलती है, जैसी कि इसी कालखण्ड के अन्य दार्शनिक–ग्रन्थों में मिलती है। मूलतः, ये टीकाएं जैन–दार्शनिक–मान्यताओं के प्रस्तुतिकरण तक ही सीमित हैं।

4. समन्तभद्र की आप्त-मीमांसा और बौद्ध–दार्शनिक–मतों की समीक्षा–

अनेकान्तवाद की स्थापना की दृष्टि से दिगम्बर–परंपरा के आचार्यों में समन्तभद्र का नाम सर्वोपरि है। इन्होंने अपने ग्रन्थ आप्त-मीमांसा में बौद्ध–मंतव्यों की विस्तार से समीक्षा प्रस्तुत की है। इन्होंने आप्त-मीमांसा के अतिरिक्त युक्त्यानुशासन, जीवसिद्धि, स्वयंभूस्तोत्र, स्तुतिविद्या, तत्त्वानुशासन आदि ग्रन्थों की रचना की थी, यद्यपि वर्त्तमान में जीवसिद्धि और तत्त्वानुशासन अनुपलब्ध हैं। रत्नकरण्डकश्रावकाचार के इनके कर्त्तृत्व के संदर्भ में भी अनेक प्रश्नचिह्न खड़े किए गए हैं। एक मान्यता ऐसी भी

है कि इन्होंने तत्त्वार्थसूत्र पर गन्धहस्ती महाभाष्य भी लिखा था, यद्यपि यह ग्रंथ भी आज अनुपलब्ध है। अतः,, समन्तभद्र की रचनाओं में आप्त-मीमांसा ही एक ऐसा ग्रन्थ है, जो आज उपलब्ध भी है और उसके कर्त्तृत्व के सम्बन्ध में कोई विवाद भी नहीं है। आप्त-मीमांसा में अभावेकांत की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। मूलकारिका में आचार्य ने यद्यपि स्पष्ट रूप से बौद्धों का कोई निर्देश नहीं किया है, किन्तु इसकी टीका में ज्ञानाद्वैतवादी, अर्थात् विज्ञानवादी तथा शून्यवादी बौद्धों की समीक्षा उपलब्ध होती है।[17] इसके एक श्लोक की टीका में विज्ञानवादी–बौद्धों के विज्ञानाद्वैत एवं शून्यवादी–बौद्धों के शून्यवाद तथा नैरात्म्यवाद की भी समीक्षा उपलब्ध होती है।[18] इसके अतिरिक्त, टीका में बौद्धदर्शन के एकान्त–अवाच्यता के सिद्धान्त की भी समीक्षा की गई है।[19] इस प्रकार,, आप्त–मीमांसा की मूल कारिका में चाहे सामान्य रूप से अभाव एकांत को प्रस्तुत कर उसकी समीक्षा की गई है, किन्तु आप्त–मीमांसा की टीकाओं में इन कारिकाओं का आधार लेकर टीकाकारों ने बौद्धों के अनेक सिद्धान्तों की समीक्षा कर दी है। यहाँ तक कि इसमें बौद्धों के निर्विकल्प–प्रत्यक्ष या 'कल्पना अपोढ़ं ज्ञानं प्रत्यक्षम्' की भी समीक्षा की गई है।[20] ऐसा लगता है कि मूल ग्रन्थकार के समक्ष तो मात्र बौद्धों के विज्ञानवाद और शून्यवाद के सिद्धान्त ही थे, किन्तु कालांतर में टीकाकारों ने आप्त–मीमांसा की दसवीं से लेकर बारहवीं कारिका तक के श्लोकों को आधार बनाकर बौद्ध–मंतव्यों की विस्तृत समीक्षा की है। इसी प्रकार, आप्त–मीमांसा की सातवीं कारिका मुख्य रूप से विज्ञानाद्वैत और शून्याद्वैत की समीक्षा का अवसर प्रदान कर देती है। आप्त–मीमांसा की कारिका इकतीस में बौद्धों की इस मान्यता की भी समीक्षा मिल जाती है कि शब्द केवल सामान्य को ही विषय करते हैं, विशेष या स्वलक्षण को वाच्य नहीं बना सकते। इस आधार को लेकर बौद्धों के अपोहवाद की समीक्षा भी आप्त–मीमांसा की टीकाओं में उपलब्ध हो जाती है। इसी प्रकार, आप्त–मीमांसा की कारिका तेंतालीस में क्षणिक–एकान्तवाद और सन्तानवाद की सामान्य समीक्षा भी उपलब्ध होती है।[21] इसी प्रकार, कारिका इक्यावन में भी बौद्धों के नैरात्म्यवाद और

---

17 देखें – आप्तमीमांसा, समन्तभद्र, कारिका 7
18 आप्तमीमांसा, कारिका 3 टीका, पृ. 46, कारिका 69
19 आप्तमीमांसा, कारिका 70 टीका
20 आप्तमीमांसा, कारिका 70
21 आप्तमीमांसा, कारिका 43

क्षणिकवाद की समीक्षा उपलब्ध होती है।[22] यद्यपि मूल कारिकाओं में आचार्य समन्तभद्र ने स्पष्ट रूप से बौद्धों का नाम नहीं लिया है, किन्तु उनके अनेक मंतव्यों को एकान्तवाद की कोटि में रखकर उनकी सामान्य रूप से समीक्षा की गई है, जैसे तिहत्तरवीं कारिका में प्रत्यक्ष की निर्विकल्पता, संतानकारिता में अवाच्य–एकान्त आदि की समीक्षा की है। जैसा कि हम जानते हैं, आप्त–मीमांसा मूलतः अनेकान्तवाद की स्थापना का प्रयत्न करता है, किन्तु अनेकान्तवाद की स्थापना के इस प्रयत्न में वह विभिन्न एकान्तवादों की समीक्षा करता है। यह स्पष्ट है कि एकान्तवाद के रूप में आप्त–मीमांसा में अनेक बौद्ध–मंतव्यों की संक्षिप्त एवं सामान्य समीक्षा उपलब्ध हो जाती है, किन्तु यह बात विचारणीय है कि क्या बौद्धदर्शन मूलतः एकान्तवादी है ? पं. दलसुखभाई मालवणिया का स्पष्ट रूप से यह कथन है कि एकान्तवाद के खंडन में बौद्ध और जैन–दोनों ही सहमति रखते थे। बौद्धों और जैनों में मूल अंतर इस बात को लेकर है कि बौद्धों ने एकान्तवाद को निषेध मुख से स्वीकार किया, जबकि जैनों ने उन एकान्तवादों की समीक्षा करते हुए अपनी अनेकान्त–दृष्टि से उन्हें समन्वित करने का प्रयत्न भी किया। आप्त–मीमांसा में समन्तभद्र ने बौद्धों के जिन–जिन मंतव्यों की समीक्षा की है, उन्हें एकान्त मानकर ही की है। आप्त–मीमांसा की टीकाओं में अकलंक की अष्टशती और विद्यानंद की अष्टसहस्री प्रसिद्ध है। इन ग्रन्थों में बौद्ध–दर्शन की मान्यताओं की विस्तृत समीक्षा उपलब्ध होती है। अष्टशती और अष्टसहस्री में तार्किक रूप से बौद्धदर्शन के नैरात्म्यवाद, संततिवाद, क्षणिकवाद, विज्ञानाद्वैतवाद, शून्याद्वैतवाद, एकान्तअवक्तव्यता एवं प्रमाणशास्त्रीय कुछ मान्यताओं, जैसे–प्रत्यक्ष की निर्विकल्पता, प्रमाण एवं प्रमाणफल का अद्वैत आदि की विस्तृत समीक्षा उपलब्ध हो जाती है, किन्तु मेरे शोध का विषय रत्नाकरावतारिका होने से अष्टशती और अष्टसहस्री में किस रूप में बौद्ध–मंतव्यों की समीक्षा है, इसकी विस्तृत चर्चा को यहाँ विषयान्तर ही माना जाएगा। मैंने यहाँ संकेत मात्र कर दिया है, जिससे यह ज्ञात हो सकेगा कि रत्नाकरावतारिका की रचना के पूर्व भी जैन–दार्शनिक, बौद्ध–मंतव्यों की समीक्षा करते रहे हैं और हमें यह मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है कि आचार्य रत्नप्रभसूरि ने बौद्धदर्शन की अपनी समीक्षा में जैन–पूर्वाचार्यों के तर्कों का पूरा लाभ उठाया है।

---

22 आप्तमीमांसा, कारिका 51

5. हरिभद्रकृत दार्शनिक–ग्रन्थों में बौद्धदर्शन –

जैन–दार्शनिक–साहित्य की विकास–यात्रा में हरिभद्र का महत्वपूर्ण स्थान है। हरिभद्र के काल तक बौद्ध–दर्शन भी अपनी पूर्ण विकसित अवस्था में आ चुका था। हरिभद्र का काल पंरपरागत–दृष्टि से छठवीं शताब्दी और विद्वानों की दृष्टि से आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है। आचार्य हरिभद्र के संदर्भ में यह कथा प्रसिद्ध है कि इन्होंने अपने दो शिष्यों को बौद्ध–दर्शन के अध्ययन के लिए भेजा था, साथ ही यह भी माना जाता है कि, वे जैन हैं– ऐसा ज्ञात होने पर उन दोनों शिष्यों की हत्या कर दी गई। परिणामस्वरूप, हरिभद्र का मन आक्रोश से भर गया, फिर भी एक जैन–आचार्य के रूप में उन्होंने प्रतिहिंसा का मार्ग न अपनाकर अपने ग्रन्थों के माध्यम से बौद्धदर्शन की समीक्षा को महत्व दिया। आचार्य हरिभद्र के दर्शन संबंधी ग्रन्थों में षड्दर्शनसमुच्चय और शास्त्रवार्त्तासमुच्चय– ऐसे दो आदर्श ग्रन्थ हैं। षड्दर्शनसमुच्चय की मूल कारिकाओं में उन्होंने बौद्धमत को अत्यन्त शालीनता के साथ प्रस्तुत किया है, उसमें कहीं भी खंडन–मंडन का भाव नहीं है। यह हरिभद्र की समदर्शी दृष्टि का ही परिचायक है। संभवतः, दर्शन–संग्राहक ग्रंथों में अपनी प्रामाणिकता की अपेक्षा से हरिभद्र का षड्दर्शनसमुच्चय एक प्रमुख ग्रंथ है। इस ग्रंथ में बौद्ध–दर्शन के सामान्य सिद्धान्तों के साथ–साथ विज्ञानवाद और शून्यवाद का भी प्रस्तुतिकरण उपलब्ध होता है। षड्दर्शनसमुच्चय के पश्चात् हरिभद्र के ग्रन्थों में शास्त्रवार्त्तासमुच्चय का स्थान आता है। यद्यपि शास्त्रवार्त्तासमुच्चय में बौद्धों के क्षणिकवाद, संततिवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद का प्रस्तुतिकरण एवं उनकी मृदु समीक्षा भी उपलब्ध होती है, किन्तु इस ग्रंथ में भी हरिभद्र का दृष्टिकोण अत्यन्त उदार रहा है। उन्होंने बुद्ध के प्रति विनय भाव प्रकट करते हुए स्पष्ट शब्दों में यह कहा है कि सुगत ने अपने शिष्यों की योग्यता के आधार पर ही इन विभिन्न वादों का प्रतिपादन किया है। क्षणिकवाद की समीक्षा में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि सांसारिक–पदार्थों के प्रति आसक्ति का प्राहाण (समाप्त) करने के लिए ही बुद्ध ने अनात्मवाद और क्षणिकवाद जैसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। इस प्रकार,, हम देखते हैं कि हरिभद्र का बौद्ध–दर्शन के सिद्धान्तों का प्रस्तुतिकरण और उनकी समीक्षा–दोनों ही एक उदार दृष्टिकोण के परिचायक हैं। हरिभद्र के दर्शन संबंधी अन्य ग्रंथों में अनेकान्तजयपताका, अनेकान्तप्रवेश, अनेकान्तप्रघट, स्याद्वादकुचोद्य–परिहार आदि ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों में भी हमें बौद्ध–दर्शन की समीक्षा उपलब्ध हो जाती

है। हरिभद्र के प्रायः समकालिक मल्लवादि नाम के एक अन्य जैन आचार्य भी हुए हैं। ज्ञातव्य है कि ये मल्लवादि द्वादशारनयचक्र के कर्त्ता मल्लवादि से भिन्न हैं। इन्होंने धर्मकीर्त्ति के न्याय–बिन्दु पर तथा धर्मोत्तर की उसकी टीका पर टिप्पणक लिखे थे। आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने जैन–न्याय के विकास नामक ग्रन्थ के परिशिष्ट क्रमांक तीन में इनका उल्लेख किया है और इनका काल 700 से 750 माना है,[23] किन्तु मुझे लगता है कि ये मल्लवादि इससे भी परवर्ती होना चाहिए, क्योंकि धर्मोत्तर लगभग नौवीं सदी के पूर्व नहीं हैं। मेरी दृष्टि में धर्मोत्तर का जैन–परंपरा में खंडन रत्नाकरावतारिका में भी मिलता है, जो लगभग बारहवीं शताब्दी का ग्रन्थ है।

6. अकलंक के जैन–दर्शन संबंधी ग्रन्थ और उनमें बौद्ध–दार्शनिक–मतों की समीक्षा –

आचार्य अकलंकदेव दिगम्बर–परंपरा के जैन–दार्शनिक–आचार्यों में एक प्रतिभासंपन्न आचार्य माने जाते हैं। तत्त्वार्थसूत्र की उनकी राजवार्त्तिक नामक टीका सुप्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त, उन्होंने लघीयस्त्रयी (स्ववृत्ति सहित), न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह, सिद्धिविनिश्चय तथा आप्त–मीमांसा की टीकारूप अष्टशती नामक ग्रन्थों की रचना की थी। इनके संबंध में भी यह प्रवाद प्रचलित है कि अकलंक अपने भाई निष्कलंक के साथ बौद्ध–तर्कशास्त्र का अभ्यास करने के लिए बौद्ध–मठ में रहने लगे थे। वहीं इनके जैन होने का पता चलने पर निष्कलंक तो मारे गए थे, किन्तु अकलंक किसी प्रकार बच निकले। कथानकों से यह भी ज्ञात होता है कि इन्होंने अनेक बार बौद्ध–आचार्यों से वाद–विवाद किया था। यह भी सुस्पष्ट है कि अकलंक के पूर्व तक जैन–परंपरा में न्यायावतार ही एकमात्र जैन–न्याय का ग्रन्थ माना जाता है, किन्तु अकलंक ने जैन–न्याय के अनेक ग्रन्थों की रचना कर उसे व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया। वर्त्तमान में जैन–न्याय में प्रत्यक्ष, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क (ऊह), अनुमान और आगम या शब्दप्रमाण– ऐसे जो छह प्रमाण माने जाते हैं, वे आचार्य अकलंक की ही देन हैं। श्वेताम्बर–परंपरा में हरिभद्र तक इन छह प्रमाणों की चर्चा अनुपलब्ध है। सर्वप्रथम सिद्धसेन के न्यायावतार की टीका में ही सिद्धर्षि ने इन छह प्रमाणों की चर्चा की है। सिद्धर्षि का काल नौवीं शताब्दी माना जाता है। यह भी स्पष्ट है कि अकलंक के काल तक बौद्ध–न्याय सुस्थापित हो चुका था। फलतः, अकलंक ने जैन–न्याय को सुव्यवस्थित

---

23 जैनन्याय का विकास (श्री महाप्रज्ञ), पृ. 154

करने में कहीं बौद्ध–पक्ष को स्वीकार किया और कहीं उसका निषेध और खंडन भी किया। प्रमाण की परिभाषा के संदर्भ में उन्होंने सिद्धसेन के वाद विवर्जित शब्द के स्थान पर अष्टशती में एक नवीन परिभाषा दी, जिसमें प्रमाण के लिए अविसंवादी तथा अनधिगत अर्थ अर्थात् अपूर्व अर्थ– इन दो विशेषणों का प्रयोग किया। ज्ञातव्य है कि प्रमाण को अविसंवादी और अपूर्व अर्थ का प्रतिपादक मानने की परंपरा बौद्धों की थी। बौद्ध–न्याय में स्पष्ट रूप से प्रमाण–लक्षण के अविसंवादी तथा अनधिगत अर्थ अधिगम– ऐसे विशेषण मिलते हैं। अकलंक ने उन्हीं का अनुसरण किया है। अष्टशती में 'प्रमाणविसंवादीज्ञानमनअधिगतमर्थलक्षणत्वा' कहकर प्रमाण की जो यह परिभाषा दी है, वह स्पष्ट रूप से बौद्धों के प्रमाण–लक्षण का अनुसरण करती हुई प्रतीत होती है, साथ ही अकलंक ने यह भी बताया है कि बौद्धों के द्वारा स्मृति के प्रामाण्य का जो खंडन किया गया है, वह उचित नहीं है। इस प्रकार,, एक ओर अकलंक के ग्रन्थों पर बौद्ध–न्याय का प्रभाव परिलक्षित होता है, तो दूसरी ओर उन्होंने बौद्ध–न्याय की अनेक मान्यताओं की समीक्षा भी की है।

प्रमाण–लक्षण, प्रमाण के प्रकार और प्रमेय को लेकर जैन और बौद्ध–परंपरा में जो अंतर रहा है, वह यहाँ विशेष रूप से ज्ञातव्य है। सर्वप्रथम, जहाँ बौद्धों ने प्रमाण को ज्ञानरूप माना था, वहीं जैनों ने भी प्रमाण को ज्ञानरूप में ही स्वीकार किया है। जैन–दार्शनिक बौद्धों के समान ही नैयायिकों के इन्द्रिय–सन्निकर्ष और सांख्य के इन्द्रिय–वृत्ति आदि को प्रमाण नहीं मानते रहे हैं। दूसरे, बौद्ध–परंपरा में प्रमाण के लिए अविसंवादी नामक लक्षण कहा गया है, उसे सिद्धसेन ने तो वाद–विवर्जित कहकर स्वीकार किया था, किन्तु अकलंक ने उसे बौद्धों के समान अविसंवादी कहकर ही स्वीकार किया। यद्यपि प्रमाण अनधिकृत अर्थ का या अपूर्व अर्थ का बोधक है, यह बात सिद्धसेन ने न्यायावतार में स्वीकार नहीं की थी, किन्तु बाद में बौद्धों के प्रभाव से अकलंक ने और उनके पश्चात् माणिक्यनंदी ने अपूर्व विशेषण देकर उसे भी स्वीकार कर लिया था, किन्तु बाद में जैन–दार्शनिकों ने इस अपूर्व विशेषण को आवश्यक नहीं समझा और उसकी समीक्षा भी की। यहाँ तक कि हेमचन्द्र ने तो 'सम्यक्–ज्ञानं–प्रमाणम्' कहकर प्रमाण की एक नई परिभाषा प्रस्तुत कर दी। अतः,, यह कहा जा सकता है कि प्रमाण–लक्षण के संदर्भ में प्रारंभ में जैनों पर बौद्धों का प्रभाव आया, किन्तु बाद में उन्होंने उसे आवश्यक नहीं समझा। जैन और बौद्ध–दोनों ही प्रमाण के प्रकारों के संदर्भ में उसके दो

ही प्रकार मानते हैं, किन्तु जहाँ जैन–दार्शनिक उसे प्रत्यक्ष और परोक्ष नाम देते हैं, वहीं बौद्ध–दार्शनिक प्रत्यक्ष और अनुमान– ऐसे दो प्रमाण मानते हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैनों में परोक्ष के अंतर्गत अनुमान के साथ–साथ स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, ऊह (तर्क) और आगम को भी प्रमाण माना था, जिन्हें बौद्धों ने स्वीकार नहीं किया। इसी प्रकार, प्रमेय को लेकर भी जैन–दर्शन का बौद्धों से मतभेद रहा है। बौद्ध स्वलक्षण (विशेष) और अन्यापोह (सामान्य)– ऐसे दो प्रमेय मानते हैं, किन्तु जैन–दार्शनिक वस्तु को सामान्य–विशेषात्मक मानकर दो प्रमेयों की बात नहीं करते हैं। इसी प्रकार, जहाँ बौद्धों ने सामान्य को प्रत्यक्ष का प्रमेय माना था और विशेष को अनुमान का प्रमेय माना था, वहीं जैन–दार्शनिकों ने वस्तु को सामान्य–विशेषात्मक कहकर दोनों को ही प्रमेय माना। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि जहाँ बौद्ध–दार्शनिक प्रत्यक्ष–प्रमाण को निर्विकल्प तथा सामान्य रूप मानते हैं, वहीं जैन–दार्शनिक उस निर्विकल्प–प्रत्यक्ष को दर्शन के अंतर्गत रखते हैं और उसे अर्थ का निश्चायक नहीं होने से प्रमाण भी नहीं मानते हैं। इसी प्रकार, प्रमाण–व्यवस्था के संदर्भ में हेतु–लक्षण की चर्चा के प्रसंग में जहाँ जैन–दार्शनिक अन्यथानुपपत्ति नामक एक ही हेतु का लक्षण स्वीकार करते हैं, वहीं बौद्ध–दार्शनिक हेतु को त्रिलक्षणात्मक मानते हैं। जैन–दार्शनिक पात्रकेसरी ने 'त्रिलक्षण–कदर्थन' नामक ग्रन्थ लिखकर हेतु के त्रिलक्षण की अवधारणा का खण्डन किया था।[24]

7. विद्यानंदी के जैन–दर्शन संबंधी ग्रन्थों में बौद्ध–मंतव्यों की समीक्षा–

जैन–तार्किकों में विद्यानंदी का स्थान भी महत्वपूर्ण माना जा सकता है। विद्यानंदी ने तत्त्वार्थसूत्र की श्लोकवार्त्तिक नामक टीका में तथा आप्त–मीमांसा की अष्टसहस्री नामक टीका में बौद्ध–मंतव्यों की दार्शनिक दृष्टि से गहन समीक्षा की है, जिसका निर्देश हम पूर्व में कर चुके हैं। प्रस्तुत प्रसंग में उनके एक अन्य ग्रंथ 'आप्तपरीक्षा' की चर्चा करना चाहूँगी। यद्यपि आप्तपरीक्षा एक लघुकाय ग्रंथ है, इसमें मात्र 124 श्लोक हैं, किन्तु इस पर विद्यानंदी ने स्वयं भी विस्तृत टीका लिखी है। आप्तपरीक्षा का मुख्य विषय दर्शनों के प्रणेताओं के सिद्धान्तों के आधार पर कपिल, सुगत अर्थात् बुद्ध एवं परम पुरुष अर्थात् ईश्वर या ब्रह्म के आप्तत्व की समीक्षा की गई है तथा अर्हत् के आप्तत्व की सिद्धि की गई है। इस ग्रन्थ में

---

24 जैनदर्शन, डॉ. महेन्द्रकुमार जैन, पृ. 436

ईश्वर के आप्तत्व एवं कपिल के आप्तत्व की समीक्षा के उपरांत कारिका क्रमांक चौरासी में सुगत के आप्तत्व की समीक्षा की गई है। आचार्य विद्यानंदी ने इसमें बौद्धों के विज्ञानाद्वैत की विशेष रूप से समीक्षा प्रस्तुत की है। इसके अतिरिक्त जैसा हम पूर्व में निर्देश कर चुके हैं, विद्यानंदी ने अष्टसहस्री में भी बौद्धों की विस्तृत समीक्षा की है।

8. वादिराजसूरि एवं उनका न्यायविनिश्चय–विवरण –

दिगम्बर–परंपरा के जैन–आचार्यों में जैन–न्याय के समर्थ लेखकों में वादिराजसूरि भी प्रमुख हैं। ज्ञातव्य है कि वादिराज का श्वेताम्बर आचार्य वादिदेवसूरि से सिद्धसेन की सभा में वाद हुआ था। इस आधार पर इनका काल विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग माना जा सकता है। वादिराज ने पार्श्वनाथ चरित्र की रचना शक्–संवत् 947 में की थी, तदनुसार वे विक्रम–संवत् 1081 में जीवित थे। वादिराज का सिद्धराज के पूर्व चालुक्य नरेश जयसिंहदेव की राजसभा में बड़ा सम्मान था। यह ज्ञातव्य है कि रत्नाकरावतारिका के रचयिता रत्नप्रभसूरि के गुरु श्वेताम्बर आचार्य वादिदेवसूरि दिगम्बर आचार्य वादिराजसूरि के समकालीन ही थे, साथ ही दोनों जैन–न्याय के उद्भट विद्वान् भी थे। वादिराजसूरि ने अकलंक के 'न्यायविनिश्चय' पर एक विस्तृत विवरण लिखा था। उनकी यह विशेषता है कि वे अकलंक के एक–एक श्लोक के चार–पाँच अर्थ भी सरल रूप से निकाल लेते थे। वादिराज का 'न्यायविनिश्चय–विवरण' बीस हजार श्लोक–परिमाण है। बौद्ध–दर्शन की समीक्षा की दृष्टि से इसमें सर्वाधिक समीक्षा धर्मकीर्त्ति के प्रमाणवार्त्तिक और प्रज्ञाकर–गुप्त के प्रमाणवार्त्तिकालंकार की है। वादिराज के न्यायविनिश्चयविवरण के अतिरिक्त उनका जैन–न्याय का प्रमाण–निर्णय भी मिलता है। यह एक लघुकाय और स्वतंत्र रचना है। इसमें चार परिच्छेद हैं– 1. प्रमाणलक्षण–निर्णय, 2. प्रत्यक्ष–निर्णय, 3. परोक्ष प्रमाण–निर्णय और 4. आगम–निर्णय। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि वादिराज ने अपने इस ग्रन्थ को अकलंक के प्रमाणवार्त्तिक के आधार पर ही बनाया था, अतः, तदनुसार ही उन्होंने मूल में तीन प्रमाणों की चर्चा करके अनुमान के भेद के रूप में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क का प्रतिपादन किया है। यद्यपि हमारी दृष्टि में ये तीनों अनुमान से भिन्न हैं, क्योंकि अनुमान जिस व्याप्ति–संबंध के आधार पर खड़ा होता है, उसकी स्थापना तो इन तीनों प्रमाणों द्वारा ही होती है।

9. प्रभाचंद्रकृत प्रमेयकमलमार्त्तण्ड में बौद्धदर्शन की समीक्षा –

जैन–दर्शन के प्रौढ़–ग्रन्थों में प्रभाचंद का प्रमेयकमलमार्त्तण्ड एक प्रमुख ग्रन्थ है। प्रमेयकमलमार्त्तण्ड मूलतः प्रमेय के स्वरूप को लेकर चर्चा करता है, किन्तु इस ग्रंथ में प्रमेय के संदर्भ में, अर्थात् ज्ञान के विषय के संदर्भ में बौद्धों की मान्यताओं की समीक्षा की गई है। इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से बौद्धों के क्षणिकवाद, शून्यवाद, अन्याअपोहवाद तथा विज्ञानवाद– इन सभी मतों की समीक्षा उपलब्ध हो जाती है। जैसा कि हमने प्रारंभ में कहा है, यह ग्रंथ जैन–दर्शन का प्रौढ़ ग्रंथ है, अतः, मूल ग्रंथ में ही बौद्धों के पूर्व–पक्ष के प्रतिपादन के साथ उसकी विस्तृत समीक्षा इस ग्रंथ में उपलब्ध थी आप्त–मीमांसा की टीकाओं के अतिरिक्त यदि किसी ग्रंथ में बौद्धदर्शन की विस्तृत समीक्षा उपलब्ध है, तो उनमें प्रमेयकमलमार्त्तण्ड का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। इस ग्रंथ का रचनाकाल लगभग ग्यारहवीं शताब्दी है, इसलिए इसमें बौद्धदर्शन और बौद्ध–न्याय के संदर्भ में धर्मकीर्त्ति और धर्मोत्तर अर्चट आदि के मतों की विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है।

10. हेमचंद्रकृत अन्ययोगव्यवच्छेदिका तथा प्रमाण–मीमांसा में बौद्ध–मतों की समीक्षा –

आचार्य हेमचंद्र जैनधर्म–दर्शन के श्वेताम्बर–परंपरा में हुए प्रमुख विद्वानों में गिने जाते हैं। इनका काल लगभग ईसा की बारहवीं शताब्दी है। वैसे तो हेमचंद्र ने प्राकृत और संस्कृत–व्याकरण के संदर्भ में विशेष रूप से लिखा है, किंतु दर्शन के क्षेत्र में उनके दो ग्रन्थ मुख्य हैं – 1. अन्ययोगव्यवच्छेदिका और 2. प्रमाणमीमांसा। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जहाँ अन्ययोगव्यवच्छेदिका मूलतः एक संक्षिप्त ग्रंथ है। इसमें मात्र 32 कारिकायें हैं, किंतु संक्षिप्त ग्रंथ होते हुए भी इसमें बौद्धदर्शन के एकान्त क्षणिकवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि की संक्षिप्त किंतु गंभीर समीक्षा की गई है। अन्ययोगव्यवच्छेदिका में बौद्धों के क्षणिकवाद की समीक्षा में कहा गया है कि यदि वस्तु या सत्ता क्षणिक है, तो फिर उसमें कृतप्रणाश, अकृत–भोग, स्मृति–भंग, भव–भंग और मोक्ष–भंग– ऐसे पाँच दोष बताए गए हैं। मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी नामक टीका में इन पाँच दोषों पर विस्तार से टीका लिखी है।

हेमचंद्र की प्रमाणमीमांसा जैन–न्याय का एक प्रमुख ग्रंथ हैं। यद्यपि हेमचंद्र इस ग्रंथ को और उसकी स्वोपज्ञ टीका को पूर्ण नहीं कर सके,

फिर भी इसमें प्रमाण–स्वरूप तथा प्रत्यक्ष और अनुमान–प्रमाण की विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है। हेमचंद्र ने प्रमाण की परिभाषा देते हुए 'सम्यक् ज्ञानं प्रमाणं' कहकर यद्यपि बौद्धों के समान ही ज्ञान को ही प्रमाण रूप माना है, किंतु उन्होंने यह भी बताया है कि बौद्धों का प्रत्यक्ष निर्विकल्प होने से निश्चायक नहीं होता, अतः, वह प्रमाणरूप नहीं हो सकता है। दूसरे, ज्ञान बिना ज्ञेय संभव नहीं है, अतः, बौद्धों का विज्ञानवाद ही एक समुचित सिद्धांत नहीं माना जा सकता। अनुमान–प्रमाण की चर्चा के प्रसंग में उन्होंने बौद्धों के त्रिलक्षण–हेतु का भी खंडन किया है। इस प्रकार,, हेमचंद्र के इन दोनों ग्रन्थों में हमें बौद्धदर्शन की समीक्षा उपलब्ध हो जाती है। हेमचंद्र के ये दोनों ग्रन्थ रत्नाकरावतारिका के समकालिक हैं, फिर भी हेमचन्द्र ने रत्नाकरावतारिका का कहीं अनुसरण किया हो– ऐसा स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं होता है।

11. मल्लिषेणकृत स्याद्वादमंजरी नामक टीका में बौद्धदर्शन की समीक्षा–

जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं कि आचार्य हेमचंद्रकृत अन्ययोगव्यवच्छेदिका नामक द्वात्रिंशिका में बौद्धों के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद एवं प्रमाण और प्रमाणफल की एकात्मकता आदि की समालोचना उपलब्ध होती है। मल्लिषेण ने इसी अन्ययोगव्यवच्छेदिका के ऊपर स्याद्वादमंजरी नामक टीका लिखी है। यद्यपि स्याद्वादमंजरी मूलतः तो एक टीका ग्रंथ है, किन्तु जैन–परंपरा में इसकी महत्ता एक स्वतंत्र ग्रंथ से कम नहीं मानी जाती है। आचार्य मल्लिषेण ने अन्ययोगव्यवच्छेदिका में बौद्धों के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि जिन–जिन दार्शनिक–मान्यताओं की समीक्षा की थी, उन्हीं पर पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष– दोनों को प्रस्तुत करते हुए विस्तृत समीक्षा लिखी है। इसमें बौद्धों के मूल ग्रन्थों के अनेक सन्दर्भ भी दिए गए हैं और बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर के नाम का भी उल्लेख है। यह टीका ही स्याद्वादमंजरी के नाम से जानी जाती है। चूँकि अन्ययोगव्यवच्छेदिका में बौद्धों के क्षणिकवाद की समीक्षा की गई है और उसके विरुद्ध पाँच हेतु प्रस्तुत किए गए हैं, जिनका उल्लेख हम पूर्व में कर चुके हैं, अतः, मल्लिषेण ने इन्हीं पाँच दोषों को लेकर बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद और संततिवाद की समीक्षा प्रस्तुत की है। बौद्ध–दार्शनिक क्षणिकवाद पर आने वाले दोषों के निराकरण के रूप में संततिवाद को प्रस्तुत करते हैं, अतः, मल्लिषेण के लिए यह आवश्यक था कि वे क्षणिकवाद के साथ–साथ संततिवाद की भी समालोचना प्रस्तुत करें। इसी

प्रकार, मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी नामक टीका–ग्रंथ में न केवल बौद्ध–दर्शन के क्षणिकवाद और उसके आनुषांगिक संततिवाद की समीक्षा की है, अपितु उसके विज्ञानवाद और शून्यवाद की भी समीक्षा की है। यद्यपि यहाँ यह ज्ञातव्य है कि बौद्धों का क्षणिकवाद एकान्त–क्षणिकवाद नहीं है, जैसा कि उसे मान लिया गया। यह सत्य है कि बौद्धों ने वस्तु की परिवर्तनशीलता के सिद्धांत को अधिक बल दिया है, उनका क्षणभंगवाद केवल वस्तु की प्रतिक्षण होने वाली परिवर्तनशीलता को द्योतित करता है, वास्तविकता यह है कि चाहे एकान्त–क्षणिकवाद हो या एकान्त–ध्रौव्यवाद– दोनों में ही कहीं न कहीं दूषण तो आता ही है। एकान्त–नित्यवाद में भी संसार के बंधन और मुक्ति की अवधारणाएं सिद्ध नहीं होती, इसलिए बौद्ध–दर्शन में सत्ता की परिवर्तनशीलता को स्वीकार करके बंधन और निर्वाण को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है तथा संततिवाद के माध्यम से पूर्वजन्म की अवधारणा को प्रस्तुत भी किया गया है। फिर भी, मल्लिषेण ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि आत्मा नामक कोई नित्य तत्त्व नहीं होगा, तो फिर पुनर्जन्म किसका माना जाएगा और इसी प्रसंग में मल्लिषेण ने अनात्मवाद की भी समीक्षा की। इस प्रकार,, मल्लिषेण की स्याद्वादमंजरी में बौद्धों के क्षणिकवाद, संततिवाद और अनात्मवाद के साथ–साथ विज्ञानवाद, शून्यवाद, सामान्य काल्पनिकता आदि सिद्धांतों की समीक्षा उपलब्ध होती है। इस टीका ग्रंथ में अनेक स्थानों पर रत्नाकरावतारिका का अनुसरण देखा जाता है। अन्ययोगव्यवच्छेदिका के श्लोक क्रमांक 16 से 19 तक चार श्लोकों में बौद्धों के मंतव्यों की समीक्षा की गई थी। स्याद्वादमंजरी के इन्हीं चार श्लोकों की टीका में अति विस्तार से बौद्धमत के प्रायः सभी प्रमुख पक्षों की समीक्षा की गई है।

12. गुणरत्नकृत षड्दर्शनसमुच्चय की टीका में बौद्धदर्शन की समीक्षा–

आचार्य हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय नामक मूल ग्रन्थ में बौद्ध–दर्शन के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि सिद्धांतों की समीक्षा उपलब्ध थी, किन्तु हरिभद्र की समीक्षा अत्यन्त ही उदारवादी थी। उन्होंने बौद्धों के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद– इन तीनों पक्षों की समादरभाव के साथ समीक्षा की थी और यह बताया था कि भगवान् बुद्ध ने शिष्यों की योग्यता और तृष्णा–प्राहाण की आवश्यकता– इन दो आधारों पर इन विविध सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया था। इस प्रकार, उन्होंने बौद्ध–दर्शन के इन सिद्धान्तों की कटु समीक्षा द्वारा मात्र यह दिखाने का

प्रयत्न किया था, इनमें क्या कठिनाइयाँ आती हैं ? किन्तु उनके इस ग्रन्थ पर गुणरत्न ने जो विस्तृत टीका लिखी थी, उस टीका में सामान्य रूप से बौद्धों के क्षणिकवाद, अनात्मवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद, प्रमाण–सिद्धांत आदि सभी पक्षों की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की थी। इस समीक्षा में गुणरत्न ने बौद्धों के पूर्वपक्ष का प्रतिपादन न्यायपूर्ण ढंग से किया है, किन्तु समीक्षा के क्षेत्र में वे मूल ग्रंथकार के समान उदारवादी नहीं रहे। उन्होंने बौद्धों के क्षणिकवाद, संततिवाद को एकान्त–क्षणिकवाद के रूप में तथा अनात्मवाद को आत्म–निषेधवाद के रूप में ग्रहण किया है। इसी प्रकार, विज्ञान को बाह्यार्थ–निषेधवाद के रूप में और क्षणिकवाद को सर्वोच्छवाद के रूप में गृहीत किया है। यद्यपि यह दृष्टिकोण बौद्ध–दर्शन के साथ पूर्ण न्याय नहीं करता है, फिर भी टीकाकार का मुख्य लक्ष्य तो अन्य दर्शनों की समीक्षा करके जैन–दर्शन की मान्यताओं को पुष्ट करना था और इसी दृष्टिकोण को लेकर गुणरत्न ने षड्दर्शनसमुच्चय पर अपनी विस्तृत टीका लिखी थी।

उपसंहार –

इस प्रकार,, इस प्रथम अध्याय में मैंने सर्वप्रथम जैन–न्याय की विकास–यात्रा के विभिन्न चरणों की चर्चा करते हुए यह दिखाने का प्रयास किया है कि आगमयुग, जो जैन–न्याय के विकास का प्रथम चरण था, में सूत्रकृतांग में बौद्धों के क्षणिकवाद, पंचस्कन्धवाद आदि प्रारम्भिक सिद्धान्तों की ही चर्चा मिलती है, उनमें न तो बौद्धों के प्रमाणशास्त्र की कोई चर्चा है और न बौद्धों के विज्ञानवाद की ही कोई चर्चा है। ऋषिभाषित में बौद्धों के तीन ऋषियों यथा– वज्जीपुत्त, सातिपुत्त और महाकश्यप से सम्बन्धित तीन अध्यायों में भी बौद्धों के संततिवाद के अतिरिक्त किसी विशेष दार्शनिक–मत की चर्चा नहीं है। सूत्रकृतांग बौद्धों को सुखवादी और कर्म के मात्र मानसिक–पक्ष पर बल देने वाला बताता है; किन्तु उसके दार्शनिक–मतों की विशेष समीक्षा भी इस ग्रन्थ में नहीं है। बौद्ध–तत्त्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा की विशेष चर्चा हमें अनेकांतस्थापना–युग और प्रमाण–व्यवस्था–युग से मिलने लगती है। इन युगों में बौद्धों के विज्ञानवाद और शून्यवाद की विस्तृत समीक्षा तो मिलती ही है, साथ ही बौद्ध–प्रमाणशास्त्र सम्बन्धी मान्यताओं की भी विस्तृत समीक्षा मिलती है। इस युग के जैन–दार्शनिकों, यथा– सिद्धसेन, समंतभद्र, मल्लवादी, जिनभद्र, हरिभद्र, सिद्धर्षि, अकलंक, विद्यानन्दी, प्रभाचन्द, हेमचन्द्र, रत्नप्रभ, मल्लिषेण आदि ने बौद्ध–मन्तव्यों की विस्तृत समीक्षा की है। आगे, रत्नप्रभकृत रत्नाकरावतारिका को आधार बनाकर हमने बौद्धों के

तत्त्वमीमांसा एवं ज्ञानमीमांसा सम्बन्धी इन विभिन्न मंतव्यों की समीक्षा की है।

अध्याय 2

रत्नाकरावतारिका और उसके कर्त्ता रत्नप्रभसूरि : एक परिचय

1. जैन–दर्शन एवं न्याय के ग्रन्थों में रत्नाकरावतारिका का स्थान –

प्रथम अध्याय में हमने यह देखा था कि जैन–दर्शन एवं जैन–न्याय की विकास–यात्रा आगमयुग से प्रारंभ होकर अनेकान्तस्थापन–युग तथा न्याय एवं तर्क–ग्रन्थों के रचना–युग से क्रमशः आगे बढ़ते हुए नव्यन्याय–युग में अपनी पूर्णता प्राप्त करती है। इस विकास–यात्रा के कालक्रम में हम यह देखते हैं कि आगमयुग में बौद्धदर्शन की मान्यताओं के सम्बन्ध में विशेष रूप से क्षणिकवाद, संततिवाद और अनात्मवाद के निर्देश तो उपलब्ध हो जाते हैं, किन्तु उनकी विस्तृत चर्चा अर्द्धमागधी आगमों में उपलब्ध नहीं होती है। अनेकान्तस्थापन–युग में बौद्ध–दर्शन को और विशेष रूप से उसके क्षणिकवाद को एकान्त पक्ष बताकर उसकी समीक्षा की गई है। आचार्य हरिभद्र के काल तक भी बौद्ध–दर्शन की मान्यताओं की गम्भीर एवं विस्तृत समीक्षा अति मुखर नहीं हो पायी थी। बौद्ध–दर्शन की एवं अन्य–दार्शनिक–मतों की समीक्षा का प्रौढ़ स्वरूप हमें न्याय एवं तर्क–युग से ही प्राप्त होता है। इस युग का प्रारंभ लगभग ईस्वी सन् की आठवीं–नौवीं शताब्दी से होता है और लगभग बारहवीं, तेरहवीं शताब्दी तक यह अपने प्रौढ़ स्वरूप को ग्रहण कर लेता है। हरिभद्र, अकलंक, विद्यानंदी, वादिराजसूरि, वादिदेवसूरि, प्रभाचंद्र, रत्नप्रभ, हेमचंद्र, मल्लिषेण, गुणरत्न आदि जैन–आचार्यों के ग्रन्थों में अन्य–दार्शनिक–मतों की गहन समीक्षा उपलब्ध होती है। जैन–न्याय एवं तर्क के प्रौढ़ ग्रंथ इसी कालखण्ड में लिखे गए हैं। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि रत्नाकरावतारिका भी जैन–दर्शन और अन्य–दार्शनिक–मतों की समीक्षा संबंधी प्रौढ़–ग्रन्थों के रचना–युग की ही एक रचना है। अष्टसहस्री, न्यायविनिश्चय, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, प्रमाणनयतत्त्वालोक, स्याद्वादरत्नाकर और

उसकी स्वोपज्ञ–टीका आदि सभी प्रौढ़–ग्रन्थ इसी काल की रचनाएं हैं। आचार्य रत्नप्रभसूरि की समीक्ष्य कृति रत्नाकरावतारिका भी इसी कालखण्ड में निर्मित हुई है। आचार्य रत्नप्रभसूरि ने अपनी इसी कृति की रचना में जहाँ एक ओर अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की ही कृतियों का भरपूर उपयोग किया है, वहीं दूसरी ओर उनके परवर्ती जैनाचार्य जैसे– मल्लिषेण, गुणरत्न आदि उनकी इस कृति से प्रभावित ही रहे हैं।

रत्नाकरावतारिका मूलतः तो वादिदेवसूरिकृत प्रमाणनयतत्त्वालोक की एक टीका है। इस ग्रंथ में प्रमाणनयतत्त्वालोक के सूत्रों के आधार पर अन्य दार्शनिक–मतों की प्रौढ़ समीक्षा की गई है। यह सत्य है कि प्रमाणनयतत्त्वालोक मूलतः जैन–न्याय का एक सूत्रग्रंथ है। इसमें हमें जैन–न्याय का लगभग ग्यारहवीं शताब्दी तक का विकसित स्वरूप देखने को मिलता है, किन्तु मूल ग्रंथ में अन्य मतों की समीक्षा का प्रयत्न न होकर मात्र स्वमत, अर्थात् जैन–मत के प्रस्तुतिकरण का ही प्रयत्न किया गया है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्रमाणनयतत्त्वालोक पर वादिदेवसूरि ने स्वयं ही स्वोपज्ञ–टीका के रूप में स्याद्वादरत्नाकर जैसे विशाल एवं प्रौढ़ टीका–ग्रंथ की रचना की थी, किन्तु यह ग्रंथ विद्यानंदी की अष्टसहस्री, प्रभाचंद्र के प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, कुमुदचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र आदि जैन–दर्शन के प्रौढ़ ग्रंथों के समान ही अत्यन्त जटिल था। आचार्य रत्नप्रभ चूँकि वादिदेवसूरि के ही शिष्य थे, अतः, उन्होंने अपने गुरु की कृति 'स्याद्वादरत्नाकर' को विद्वत् योग्य बनाने की दृष्टि से इस रत्नाकरावतारिका की रचना की। उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना स्याद्वादरत्नाकर रूप महासमुद्र में प्रवेश करने हेतु एक नौका के रूप में की है। यद्यपि यह ग्रंथ स्याद्वादरत्नाकर, प्रमेयकमलमार्तण्ड या अष्टसहस्री जैसा अति जटिल तो नही है, किन्तु यह अति सरल भी नहीं कहा जा सकता। आचार्य रत्नप्रभ ने भाषा, विषय–प्रतिपादन और समीक्षा–तीनों ही दृष्टि से मध्यम–मार्ग अपनाने का प्रयत्न किया है। यद्यपि उनकी दृष्टि में यह ग्रंथ स्याद्वादरत्नाकर की अपेक्षा सरल और सुबोध है, किन्तु यह इतना सरल और सुबोध नहीं है, जितना उन्होंने समझा था। रत्नाकरावतारिका जैन–दर्शन एवं जैन–न्याय का एक उत्कृष्ट कोटि का ग्रंथ है, अतः, हम यह कह सकते हैं कि जैन–दर्शन एवं जैन–न्याय के ग्रन्थों में रत्नाकरावतारिका एक प्रौढ़ ग्रंथ है। इसमें लगभग दसवीं–ग्यारहवीं शताब्दी तक के प्रायः सभी भारतीय–दार्शनिक–मतों का पूर्व–पक्ष के रूप में प्रस्तुतिकरण एवं उत्तर–पक्ष के रूप में उनकी प्रौढ़ समीक्षा उपलब्ध हो

जाती है। यद्यपि रत्नाकरावतारिका में रत्नप्रभ ने अपने गुरु के स्वोपज्ञ टीका–ग्रंथ स्याद्वादरत्नाकर को आधार बनाया है, किन्तु उन्होंने इसकी भाषा और प्रस्तुतिकरण की शैली में जिस स्पष्टता एवं सरलता को ग्रहण किया है, उसका परिणाम यह हुआ कि कालांतर में लोग स्याद्वादरत्नाकर को भूलकर रत्नाकरावतारिका को ही प्राथमिकता देने लगे। दिगम्बर–परंपरा में जैन–दर्शन के प्रौढ़–ग्रन्थों में जो स्थान अष्टसहस्री, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, न्यायविनिश्चय आदि का है, वही स्थान श्वेताम्बर–परंपरा में स्याद्वादरत्नाकर, रत्नाकरावतारिका आदि का माना जा सकता है। यद्यपि रत्नप्रभ के पश्चात् श्वेताम्बर–परंपरा में मल्लिषेण की स्याद्वादमंजरी नामक टीका और गुणरत्न की षड्दर्शनसमुच्चय नामक टीका–ग्रंथ उपलब्ध होते हैं, किन्तु यदि हम गम्भीरता से इन ग्रंथों का अध्ययन करके देखें, तो प्रथमतः तो गुणरत्न की षड्दर्शनसमुच्चय की टीका और मल्लिषेण की स्याद्वादमंजरी में अनेक अंश प्रायः समान ही हैं। पुनः, इन दोनों ग्रन्थों में भी अन्य दार्शनिक–मतों के दर्शन और न्याय संबंधी सभी पक्षों का समावेश भी पूर्णतः नहीं हुआ है। इस दृष्टि से यदि कहा जाए, तो जैन–दर्शन एवं जैन–न्याय के गंथों में रत्नाकरावतारिका का एक महत्वपूर्ण स्थान सिद्ध होता है। इसके परवर्तीकाल में, यहाँ तक कि जैन–दर्शन में नव्यन्याय के प्रवर्त्तक यशोविजय जी के काल तक भी ऐसा कोई जैन–न्याय या जैन–दर्शन का प्रौढ़ ग्रंथ हमारी दृष्टि में नहीं है। यद्यपि अकलंक के लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चय, विद्यानंदी की अष्टसहस्री तथा स्वयं वादिदेवसूरि का स्याद्वादरत्नाकर जैसे प्रौढ़ ग्रंथ रहे हैं, किन्तु उनकी जटिलता और दुर्बोधता को देखते हुए यह कहना पड़ेगा कि रत्नाकरावतारिका जैन–न्याय और जैन–दर्शन का एक उपयोगी ग्रंथ है। वह न तो अति जटिल है और न ही अति सरल।

2. रत्नाकरावतारिका के कर्त्ता और उनका काल[25] –

जैसा कि हम पूर्व में निर्देश कर चुके हैं, रत्नाकरावतारिका के कर्त्ता रत्नप्रभसूरि हैं। उन्होंने इस ग्रंथ की अन्तिम प्रशस्ति में अपना और अपने गुरु वादिदेवसूरि का परिचय दिया है। यद्यपि ग्रंथ में विस्तृत परिचय तो नहीं मिलता, किन्तु उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये वादिदेवसूरि के शिष्य थे, साथ ही वादिदेवसूरि की प्रशंसा में इन्होंने जो श्लोक दिए हैं, उसमें स्पष्ट रूप से यह कहा है– "दिगम्बरों के सिद्धान्तरूपी लकड़ियों के

---

25 (ब) देखें – रत्नाकरावतारिका की अन्तिम प्रशस्ति

ईंधन से वृद्धि को प्राप्त अग्नि के समक्ष सिद्धराजरूपी पुरोहित द्वारा विजयश्री का वरण करने वाले, अर्थात् उनका खंडन करने वाले और 'स्त्रियों को अवश्य ही निर्वाणपद प्राप्त होता है' इस बात को सिद्ध करके महाराजा सिद्धराज की सभा में विजयलक्ष्मी को प्राप्त करने वाले वादिदेवसूरि जयवंत हों।" इस श्लोक से यह स्पष्ट हो जाता है कि वादिदेवसूरि श्वेतांबर–परंपरा में हुए थे और वे सिद्धराज जयसिंह के समकालीन थे। चूँकि रत्नप्रभ वादिदेव–सूरि के हस्तदीक्षित शिष्य थे, अतः, उनसे लघुवयस्क होते हुए भी समकालीन तो माने ही जा सकते हैं। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि इनका काल सिद्धराज जयसिंह के राज्यकाल के समान ही ईसा की ग्यारहवीं–बारहवीं शताब्दी का रहा है। यह भी स्पष्ट है कि सिद्धराज जयसिंह की सभा में आचार्य हेमचंद्र का बहुत मान था, अतः, रत्नप्रभसूरि आचार्य हेमचंद्र के भी समकालीन रहे हैं। इस ग्रंथ की प्रशस्ति के आधार पर इनकी गुरु–परंपरा, सम्प्रदाय और इनका काल– तीनों ही सुस्पष्ट हो जाते हैं। इसमें किसी प्रकार की भ्रांति नहीं रहती है। मात्र यही नहीं, इन्होंने अपने ग्रंथ रत्नाकरावतारिका के परिमाण का भी उल्लेख इस ग्रंथ–प्रशस्ति में कर दिया है। ग्रंथ–प्रशस्ति में रत्नाकरावतारिका में पाँच हजार श्लोक–परिमाण बताया गया है, अतः, रत्नाकरावतारिका के कर्त्ता, उनकी परंपरा, काल और ग्रंथ–परिमाण, ये सब ग्रंथ–प्रशस्ति से स्पष्ट हो जाते हैं, फिर भी यह ग्रंथ–प्रशस्ति मात्र पाँच श्लोकों में वर्णित है, इसलिए इसमें रत्नप्रभसूरि के गृहस्थ–जीवन, उनकी कृतियों आदि का विस्तृत विवेचन उपलब्ध नहीं है। इस संबंध में हमें अन्य स्रोतों से जो सूचनाएं मिली हैं, उनके आधार पर हम अग्रिम पंक्तियों में विस्तारपूर्वक चर्चा करना चाहेंगे।

जहाँ तक रत्नप्रभसूरि के पूर्व गृही–जीवन का प्रश्न है, अन्य स्रोतों से भी हमें इस संबंध में कोई विशेष सूचना नहीं मिलती है। जैसा कि हमने पूर्व में कहा है, वे वादिदेवसूरि के हस्तदीक्षित शिष्य थे। वादिदेवसूरि श्वेतांबर–परंपरा के आचार्य थे, यह बात पूर्व में ही हम रत्नाकरावतारिका की अन्तिम ग्रंथ–प्रशस्ति में बता चुके हैं। ग्रंथ–प्रशस्ति में यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वादिदेवसूरि न केवल जैन–दर्शन के उद्भट विद्वान् थे, अपितु वे व्याकरणदर्शन, न्यायदर्शन, बौद्धदर्शन आदि अन्य दर्शनों के भी जानकार थे। यही कारण है कि उन्होंने अपने ग्रंथ प्रमाणनयतत्त्वालोक की स्वोपज्ञ–टीका में लगभग सभी भारतीय–दर्शन की समीक्षा प्रस्तुत की है। आचार्य रत्नप्रभसूरि ऐसे ही विद्वद्वर्य आचार्य के शिष्य थे और उनके महान्

ग्रन्थ स्याद्वादरत्नाकर की रचना में उनके सहयोगी भी रहे थे। यह बात स्वयं वादिदेवसूरि ने स्वीकार की है। रत्नाकरावतारिका के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसे विद्वान् गुरु के सान्निध्य में ही रत्नप्रभ की शिक्षा–दीक्षा हुई होगी। रत्नाकरावतारिका में अन्य दर्शनों की जो विस्तृत समीक्षा उपलब्ध होती है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रत्नप्रभ ने भी सभी भारतीय–दार्शनिक–परंपराओं का अध्ययन किया होगा, अतः, यह स्पष्ट है कि रत्नप्रभ अपने युवावस्था के प्रारंभ में ही दीक्षित हो गए होंगे। विभिन्न दार्शनिक–परंपराओं के मूल ग्रंथों के अध्ययन का जो अवसर उन्हें मिला, वह यही सूचित करता है कि वे अपने युवाकाल में ही दीक्षित हुए होंगे और सभी भारतीय–दर्शनों के पारंगत विद्वान् गुरु वादिदेवसूरि से ही समस्त शास्त्रों का अध्ययन किया होगा, अतः, उनकी शिक्षा–दीक्षा वादिदेवसूरि के सान्निध्य में ही हुई, यह निश्चित रूप से माना जा सकता है। चूँकि वादिदेवसूरि ने सिद्धराज की सभा में ही दिगम्बर–आचार्यों से वाद किया था, अतः, रत्नप्रभ भी उन्हीं के लघुवयस्क समकालीन माने जा सकते हैं। सिद्धराज जयसिंह का शासनकाल ईस्वी–सन् 1094 से ईस्वी–सन् 1143 तक रहा है। यह संभव है कि उन्होंने रत्नाकरावतारिका की रचना उसके पश्चात् अपनी परिपक्व अवस्था में ही की होगी। चूंकि ग्रंथ–प्रशस्ति[26] में ही उन्होंने स्पष्ट रूप से यह लिखा है कि मैंने रत्नाकरावतारिका की रचना स्याद्वादरत्नाकर जैसे ज्ञान के महासागर में प्रवेश करने के लिए एक नौका के रूप में की है, अतः, रत्नाकरावतारिका का रचनाकाल स्याद्वादरत्नाकर के पच्चीस–तीस वर्ष बाद का ही होगा। यह स्पष्ट है कि रत्नाकरावतारिका का रचनाकाल स्याद्वादरत्नाकर से

---

26 प्रमाणे च प्रमेये च, बालानां बुद्धि सिद्धये।
किंचिद् वचन चातुर्यचापलायेयमादधे।। 1।।
न्यायमार्गादतिक्रान्तं, किंचिद्त्रमतिभ्रमात्।
यदुक्तं तार्किकैःशोध्यं तत् कुर्वाणैः कृपां मयि।। 2।।
आशावासः समय समिधां संचयैश्चीयमाने,
स्त्री निर्वाणोचित शुचि वचश्चातुरीचित्रभानौ
प्राजापत्यं प्रथयति तथा सिद्धराजे जयश्रीः,
य स्योद्वाहं व्यधित स सदा नन्दताद् देवसूरिः।। 3।।
प्रज्ञातः पदवेदिभिः स्फुटदृशा संभाविस्तार्किकैः,
कुर्वाणः प्रमदाद् महाकविकथां सिद्धान्तमार्गाध्वगः।
दुर्वाद्यङ्कुशदेवसूरिचरणाम्भोजद्वयीषट्पदः,
श्रीरत्नप्रभसूरिरल्पतरधीरेतां व्यधाद् वृत्तिकाम्।। 4।।
वृत्तिः पंचसहस्त्राणि, येनेयं परिपठ्यते।
भारती भारती चास्य, प्रसर्पन्ति प्रजल्पतः।।5।। रत्नाकरावतारिका, भाग3, अन्तिम प्रशस्ति

परवर्ती है। आचार्य वादिदेवसूरि ने सर्वप्रथम प्रमाणनयतत्त्वालोक की रचना की और उसके पश्चात् ही उसी की स्वोपज्ञ–टीका के रूप में स्याद्वादरत्नाकर जैसे विशाल ग्रंथ की रचना की थी। यह उनकी वृद्धावस्था की रचना होगी, जिसमें उन्होंने रत्नप्रभ का सहयोग भी लिया था। इससे यह भी फलित होता है कि रत्नप्रभसूरि की यह रचना भी उनकी प्रौढ़ अवस्था की ही प्रतीत होती है, क्योंकि प्रारंभिक अवस्था में ऐसी प्रौढ़ रचना कर पाना सम्भव नहीं है। यद्यपि ग्रंथ–प्रशस्ति में रत्नप्रभ ने कहीं भी ग्रंथ के रचनाकाल का निर्देश नहीं किया है, फिर भी इतना अवश्य माना जा सकता है कि इस ग्रंथ की रचना लगभग बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही की होगी। ग्रंथ–प्रशस्ति के अंत में रत्नप्रभसूरि ने अपनी विनम्रता को प्रदर्शित करते हुए यह कहा है कि इस ग्रंथ की रचना में यदि उन्होंने मतिभ्रम के वशीभूत होकर न्यायमार्ग का अतिक्रम किया हो, तो तार्किकों से यह निवेदन है कि वे उन पर कृपा करके आवश्यक संशोधन कर दें। इससे उनकी विद्वत्ता और विनम्रता– दोनों ही गुणों की सिद्धि हो जाती है, साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि रत्नाकरावतारिका की रचना के समय उनके गुरु वादिदेवसूरि का स्वर्गवास हो चुका था, अन्यथा वे उनसे संशोधन करवाकर कृति को निर्दोष बना सकते थे। सामान्यतः, यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि भारत में प्रायः प्रबुद्ध व्यक्ति अपने संबंध में अधिक कुछ नहीं कहते हैं। यही कारण है कि हमें भी रत्नाकरावतारिका जैसे गंभीर ग्रंथ के रचयिता रत्नप्रभसूरि के गृहस्थ–जीवन एवं शिक्षा–दीक्षा के संदर्भ में विशेष कुछ ज्ञात नहीं होता है और यहाँ इसी संक्षिप्त परिचय के साथ विराम लेना पड़ रहा है।

3. रत्नाकरावतारिका के कर्त्ता के गुरु वादिदेवसूरि का काल –

रत्नप्रभसूरि के गुरु वादिदेवसूरि के काल के संदर्भ में रत्नाकरावतारिका के प्रथम भाग के सम्पादकीय में लिखा है कि वादिदेवसूरि गुजरात के सिद्धराज की सभा के पंडित थे। इनका जन्म विक्रम–संवत् 1143, तदनुसार ईस्वी–सन् 1086 में हुआ था। इन्होंने विक्रम–संवत् 1152, तदनुसार ईस्वी–सन् 1095 में नौ वर्ष की अल्प वय में ही चन्द्रकुल से निकले बृहद्गच्छ के मुनि चन्द्रसूरि के पास दीक्षा ग्रहण की थी। इनका दीक्षा–पूर्व नाम रामचन्द्र था। विक्रम–संवत् 1174, अर्थात् ईस्वी–सन् 1117 में मात्र 31 वर्ष की वय में इन्हें आचार्य पद प्रदान किया गया था और इनका नाम देवसूरि रखा गया था। चूँकि ये वाद–विद्या में अत्यंत पारंगत थे, इसलिए ये आगे चलकर वादिदेवसूरि के नाम से प्रसिद्ध

हुए। रत्नप्रभसूरि के गुरु वादिदेवसूरि का स्वर्गवास विक्रम–संवत् 1221 अर्थात् ईस्वी–सन् 1169 में लगभग 88 वर्ष की अवस्था में हुआ। इस आधार पर हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि वादिदेवसूरि के स्वर्गवास के समय रत्नप्रभसूरि कम से कम 40 वर्ष पूर्व दीक्षित हो चुके थे, क्योंकि रत्नप्रभसूरि का जो विभिन्न दर्शन–परंपराओं का व्यापक अध्ययन हुआ, वह एक दीर्घकालीन अवधि की अपेक्षा रखता है, साथ ही ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि इन्होंने वादिदेवसूरि के स्याद्वादरत्नाकर की रचना में भी अपना सहयोग प्रदान किया था, अतः, यह स्पष्ट है कि स्याद्वादरत्नाकर के रचनाकाल तक ये एक प्रौढ़ विद्वान् के रूप में स्थापित हो चुके थे।

रत्नाकरावतारिका की पंजिका आचार्य राजशिखर ने लिखी थी। ये मलधारी अभयदेवसूरि के संतानीय तिलकदेवसूरि के शिष्य थे। चूँकि इन्होंने विक्रम–संवत् 1405, तदनुसार ईस्वी–सन् 1349 में प्रबंध–कोश की रचना की थी, अतः, रत्नाकरावतारिका की पंजिका की रचना भी इसी काल के आस–पास हुई थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि रत्नाकरावतारिका की रचना उसके लगभग 100–150 वर्ष पूर्व हो चुकी थी।

रत्नाकरावतारिका में बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर एवं अर्चट् के नाम आते हैं। धर्मोत्तर धर्मकीर्त्ति के शिष्य थे। इनका काल लगभग विक्रम की आठवीं शताब्दी माना जाता है। अर्चट् धर्मोत्तर के भी पश्चात् हुए हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रत्नाकरावतारिका बारहवीं शताब्दी के बाद और तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध ही रची गई है। उसका रचनाकाल ईसा की बारहवीं शती का उत्तरार्द्ध होगा। इसके पूर्व वे ईस्वी–सन् 1176 में 'नेमीनाहचरिय' और ईस्वी–सन् 1182 में 'दोघट्टीवृत्ति' की रचना कर चुके थे। इन दोनों कृतियों की रचना के पूर्व वादिदेवसूरि स्याद्वादरत्नाकर की रचना कर ईस्वी–सन् 1169 में स्वर्गस्थ हो चुके थे। यह भी स्पष्ट है कि रत्नाकरावतारिका उनकी वृद्धावस्था की रचना है तथा यह ईस्वी–सन् 1182 के बाद और ईस्वी–सन् 1199 के पूर्व कभी रची गई होगी और लगभग यही समय उनके स्वर्गवास का रहा होगा।

4. रत्नाकरावतारिका के कर्त्ता रत्नप्रभसूरि की कृतियाँ –

1. नेमिनाहचरिय (नेमिनाथ–चरित्र) – जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह ग्रन्थ बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के चरित्र से संबंधित है। यह महाराष्ट्रीय–भाषा में लिखा गया है और उसका रचनाकाल विक्रम–संवत् 1232 तदनुसार ईस्वी–सन् 1176 है। इस ग्रन्थ की रचना रत्नप्रभसूरि ने

प्राकृत–भाषा में की, इससे यह पता चलता है कि उन्हें प्राकृत–भाषा का भी अच्छा ज्ञान था।

2. दोघट्टीवृत्ति – रत्नप्रभसूरि ने धर्मदासकृत उपदेश–माला पर 11150 श्लोक– परिमाण दोघट्टीवृत्ति लिखी है। इसका रचनाकाल उन्होंने विक्रम–संवत् 1238 बताया, तदनुसार यह ईस्वी–सन् 1182 की रचना है। इस वृत्ति के निर्माण में उन्हें अपने गुरु–भ्राता विजयसेनसूरि की प्रेरणा मिलती रही है। विजयसेनसूरि रत्नप्रभसूरि के गुरु आचार्य वादिदेवसूरि के अनुज थे और एक अपेक्षा से इनके गुरु–भ्राता भी थे। इनकी इस कृति का संशोधन भद्रेश्वरसूरि ने किया था। वे भी आचार्य वादिदेवसूरि के शिष्य थे। इससे यह भी सिद्ध होता है कि रत्नप्रभसूरि को अपने गुरु–भ्राताओं से भी पर्याप्त सहयोग मिला है। स्याद्वादरत्नाकर की रचना में वादिदेवसूरि को रत्नप्रभसूरि के अतिरिक्त जिनका सर्वाधिक सहयोग मिला था, वे भद्रेश्वरसूरि ही थे। आचार्य वादिदेवसूरि ने स्याद्वादरत्नाकर की प्रशस्ति में जिनके सहयोग का उल्लेख किया है, उनमें भद्रेश्वरसूरि एवं रत्नप्रभसूरि का ही नाम आता है।

3. रत्नाकरावतारिका – जैसा कि हमने पूर्व में ही स्पष्ट किया है कि दार्शनिक–दृष्टि से रत्नप्रभसूरि की रचनाओं में रत्नाकरावतारिका का महत्वपूर्ण स्थान है। यह ग्रन्थ उन्होंने अपने गुरु वादिदेवसूरि के प्रमाणनयतत्त्वालोक की बृहत् एवं क्लिष्ट टीका स्याद्वादरत्नाकर में प्रवेश करने के लिए ही बनाया था। इसके अतिरिक्त, रत्नप्रभसूरि की रचनाओं में परीक्षा, पंचाशत अंतरंग सन्धि, अपभ्रंशकूलक आदि रचनाएँ भी रही हैं।

5. रत्नप्रभसूरि की गुरु–परंपरा एवं गुरु–भ्राता –

रत्नप्रभसूरि के गुरु वादिदेवसूरि थे। वादिदेवसूरि बृहद्गच्छ के मुनि चंद्रसूरि के शिष्य थे। वादिदेवसूरि के शिष्य–परिवार में भद्रेश्वरसूरि, विजयचंदसूरि, रत्नप्रभसूरि, परमानन्दसूरि और माणिक्यनन्दसूरि प्रमुख थे। इससे यह ज्ञात होता है कि रत्नप्रभ के गुरु और गुरुभ्राता, सभी उच्चकोटि के विद्वान् थे और यही कारण है कि रत्नप्रभसूरि को विद्वत्–गुरु एवं गुरु–भ्राताओं का ऐसा परिकर प्राप्त हुआ, जिसके कारण वे रत्नाकरावतारिका जैसी महान् कृति के लेखन में समर्थ हुए।

6. रत्नाकरावतारिका के लेखन का प्रयोजन –

रत्नाकरावतारिका के लेखन के प्रयोजन को अशक्य बताते हुए प्रतिपक्ष का कहना है कि चाहे शेषनाग के मस्तक पर रखी हुई मणि बढ़ते हुए ज्वर को रोकती हो, किन्तु उस मणि का प्राप्त होना ही असंभव है, उसी प्रकार इस रत्नाकरावतारिका नामक ग्रन्थ में प्रतिपादित प्रमाण और नय के द्वारा वस्तुतत्त्व का ज्ञान होना भी अशक्य है। जिस प्रकार मणि की प्राप्ति अशक्य है, उसी प्रकार प्रमाण एवं नय के स्वरूप का ज्ञान भी शब्दों के माध्यम से अशक्य होने से प्रथम, प्रयोजन निरर्थक है। दूसरे, माता के साथ जिस प्रकार विवाह करना अनुचित या अनिष्टकारक है, उसी प्रकार इस ग्रन्थ का प्रयोजन भी अनिष्टकारक है। जिस प्रकार दस और अनार– ये दोनों शब्द परस्पर असंबद्ध हैं, उसी प्रकार शब्द और अर्थ में कोई यथार्थ संबंध नहीं होने से ग्रन्थकार का प्रयोजन सार्थक नहीं है।

अतः, प्रतिपक्ष का कहना है कि उपर्युक्त इन तीनों दृष्टियों से ग्रन्थ–लेखन का प्रयोजन उपयुक्त न होने के कारण बुद्धिमान् पुरुषों की प्रवृत्ति रत्नाकरावतारिका नामक ग्रन्थ में कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती है,[27] किन्तु इसके विपरीत, ग्रन्थकर्त्ता आचार्य रत्नप्रभसूरि ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्रस्तुत कृति में विद्वान् पुरुषों की प्रवृत्ति संभव है, क्योंकि प्रस्तुत कृति का प्रयोजन 1. शक्य 2. इष्ट और 3. सुसंबद्ध है।

शक्य, इष्ट और सुसम्बद्ध प्रयोजन में बुद्धिमान् पुरुषों की प्रवृत्ति अवश्य होती है, मात्र अशक्य, अनिष्ट और असम्बद्ध प्रयोजनों में उनकी प्रवृत्ति नहीं होती है। शक्य, इष्ट और सुसम्बद्ध प्रयोजन ही वस्तु–स्वरूप का निश्चय करना है। इस संबंध में प्रतिवादी की शंका का निराकरण करते हुए ग्रन्थकर्त्ता रत्नप्रभसूरि लिखते हैं कि प्रमाण और नय के स्वरूप का निश्चय करने के लिए ही रत्नाकरावतारिका नामक इस ग्रन्थ का प्रारंभ किया जाता है।[28]

प्रमाण और नय का स्वरूप

प्रमाण और नय का स्वरूप कैसा होना चाहिए, इसे स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकर्त्ता बताते हैं कि संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित जो

---

27 रत्नाकरावतारिका, भाग 1, रत्नप्रभसूरि, पृ. 13

28 रत्नाकरावतारिका, भाग 1, रत्नप्रभसूरि, पृ. 13

ज्ञान वस्तु को समग्ररूपेण ग्रहण करता है, वही प्रमाण है[29] तथा जिसमें वस्तु का आंशिक या एकदेशीय ज्ञान होता है, वह नय है।

शंका – यहाँ प्रतिवादी की शंका यह है कि द्वन्द्व–समास का यह नियम होता है कि अल्प स्वर वाले पद पहले होते हैं तथा अधिक स्वर वाले बाद में, इस अपेक्षा से यहाँ प्रमाण के पूर्व नय शब्द को रखना था ?

समाधान – इसका समाधान करते हुए ग्रन्थकर्त्ता लिखते हैं कि सामान्यतया लक्षण को प्रथम तथा हेतु को बाद में स्थान दिया जाता है, अतः, यहाँ हेतु अल्प स्वर वाला होने पर भी तथा लक्षण अधिक स्वर वाला होने पर भी लक्षण को ही प्रथम स्थान दिया गया है, क्योंकि नियम यही है कि हेतु लक्षण के बाद ही आता है, साथ ही प्रमाण को समग्र वस्तु के ज्ञान का ग्राहक होने से प्रमाण को प्रथम स्थान दिया गया है। नय आंशिक ज्ञान का ग्राहक है, अतः, उसे बाद में रखा गया है। जब किसी वस्तु का आंशिक रूप से ज्ञान या कथन करना हो, तो उसे नय के द्वारा कहा जाता है। जिस प्रकार पिता के अभाव में पुत्र अर्थात् उसका अंश नहीं होता है, उसी प्रकार बिना प्रमाण के नय का भी अस्तित्व नहीं है। प्रमाण में नय समाविष्ट है, अतः, नय को प्रमाण के पश्चात् रखा गया है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्रमाण अनुभूति का विषय है और नय अभिव्यक्ति का। बिना अनुभूति के अभिव्यक्ति संभव नहीं है।[30]

इस ग्रन्थ के लेखन का मुख्य प्रयोजन प्रमाण और नय के स्वरूप का निश्चय करना है। इसी प्रयोजन के लिए ग्रन्थकर्त्ता द्वारा इस ग्रन्थ के लेखन का प्रयत्न किया गया है– 'प्रमाणनयतत्त्व–व्यवस्थापनार्थमिदमुपक्रम्यते।' यहाँ इस आदिवाक्य में प्रमाणनयतत्त्वव्यवस्थापनार्थं यह वाक्यांश लेखनरूप की जाने वाली क्रिया 'उपक्रम्यते' का विशेषण है। इस प्रकार,, प्रस्तुत सूत्र में 'इदम्' शब्द द्वारा 'उपक्रम्यते' जो निर्देश किया गया है, वह ग्रन्थ का विशेषण न होकर आचार्य द्वारा प्रमाण–नय की व्यवस्था हेतु जो ग्रन्थ–लेखन की प्रयत्नरूप क्रिया है, उस प्रयत्नरूप क्रिया का विशेषण है। इसी प्रकार, 'इदम्' शब्द भी आचार्य का विशेषण न होकर उनके ग्रन्थ–लेखनरूप प्रयत्न को ही सूचित करता है। ग्रन्थकर्त्ता का उद्देश्य तो प्रमाण–नय का निश्चय करना या उसका स्वरूप बताना है और इसीलिए रत्नाकरावतारिका नामक इस

29 रत्नाकरावतारिका, भाग 1, रत्नप्रभसूरि, पृ. 13
30 रत्नाकरावतारिका, भाग 1, रत्नप्रभसूरि, पृ. 14

टीका–ग्रन्थ की रचना की जा रही है। शब्दरूप ग्रन्थ के माध्यम से ही प्रमाण और नय का स्वरूप समझा जा सकता है, अतः, ग्रन्थ का जो प्रयोजन प्रमाण और नय के स्वरूप का निश्चय करना है, वह प्रयोजन सार्थक होने से यह 'शक्य' अनुष्ठान है।[31]

शंका – यहाँ प्रतिपक्ष यह शंका प्रस्तुत करता है कि जब शास्त्र ही सूत्र एवं अर्थ की व्यवस्था करता है, तो फिर शास्त्र सूत्र एवं अर्थ का करण अर्थात् हेतु होगा, साध्य नहीं, किन्तु ज्ञान को हेतु कैसे कहा जा सकता है, क्योंकि ज्ञान तो साध्य होता है ?

समाधान – यहाँ हेतु तो मुख्य रूप से ग्रन्थकर्त्ता आचार्य रत्नप्रभसूरि ही हैं, शास्त्र तो स्वयं अपना कर्त्ता नहीं हो सकता। दूसरे, औपचारिक रूप से शास्त्र को भी ज्ञान का कर्त्ता तो कह सकते हैं और शास्त्र ग्रन्थकर्त्ता का ही कार्य है, अतः, उपचार से शास्त्र को भी हेतु या करण (ज्ञान का साधन) माना जा सकता है। इस प्रकार,, 'प्रमाणनयतत्त्वव्यवस्थापनार्थमिदमुपक्रम्यते'– इस सूत्र का मुख्य प्रयोजन तो ग्रन्थ–लेखन के प्रयोजन का ही प्रतिपादन करना है, जिससे इसमें बुद्धिमानों की प्रवृत्ति हो।[32]

इस ग्रन्थ में जो प्रतिपादित विषय हैं, उनका बोध शब्द एवं अर्थ में संबंध होने से हो जाता है। इस प्रकार,, इस ग्रन्थ का आदिवाक्यरूप प्रथम सूत्र लेखन के प्रयोजन को इन शब्दों के वाच्यार्थ द्वारा स्पष्ट कर देता है।

यहाँ पर ग्रन्थकार पहली शंका का निराकरण करते हुए लिखते हैं कि 'प्रमाणनयतत्त्वव्यवस्थापनार्थमिदमुपक्रम्यते'– इस सूत्र से प्रमाण और नय के स्वरूप के बोध का प्रयोजन स्पष्ट हो जाता है, अर्थात् इन दोनों के ज्ञान की प्राप्तिरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है, अतः, प्रमाण और नय का ज्ञान शक्यानुष्ठान है। इस प्रकार,, पहली शंका का समाधान हो जाता है।[33]

दूसरी शंका का निराकरण करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि प्रयोजन दो प्रकार का होता है – 1. कर्त्ता का प्रयोजन और 2. श्रोता का प्रयोजन। इस ग्रन्थ में कर्त्ता का प्रयोजन तो श्रोता को प्रमाण और नय के

---

31 रत्नाकरावतारिका, भाग 1, रत्नप्रभसूरि, पृ. 14
32 रत्नाकरावतारिका, भाग 1, रत्नप्रभसूरि, पृ. 14
33 रत्नाकरावतारिका, भाग 1, रत्नप्रभसूरि, पृ. 15

स्वरूप का निश्चयात्मक–ज्ञान कराना है और श्रोता का प्रयोजन सबसे पहले उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए ग्रन्थ–अध्ययन में प्रवृत्ति करना है। इस प्रकार,, प्रमाण और नय द्वारा वस्तुतत्त्व का ज्ञान कराना और उस ज्ञान को प्राप्त करना क्रमशः कर्त्ता और श्रोता– इन दोनों का प्रयोजन है। यह प्रयोजन इष्ट है। प्रयोजन इष्ट होने से अनिष्ट प्रयोजनरूपी दूसरी शंका का भी समाधान हो जाता है।[34]

प्रतिपक्ष की तीसरी शंका यह है कि असम्बद्ध प्रयोजन में बुद्धिमानों की प्रवृत्ति नहीं होती है। इसका समाधान करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि आदिवाक्य का प्रयोजन शब्द और अर्थ के संबंध को स्पष्ट कर शब्दों के माध्यम से वस्तुतत्त्व का बोध कराना है और यह प्रयोजन सुसंबद्ध है। यद्यपि यहाँ शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचकभावरूप जो संबंध माना गया है, उसे 'प्रमाणनयतत्त्वव्यवस्थापनार्थमिदमुपक्रम्यते'– इस सूत्र में स्पष्ट रूप से उल्लिखित नहीं किया गया है, फिर भी ग्रन्थ–लेखनरूप इस प्रयत्न में अर्थापत्तिप्रमाण द्वारा शब्द और अर्थ में रहे हुए वाच्य–वाचक–संबंध को जाना जा सकता है, अतः, आदिवाक्य का प्रयोजन, शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचक–संबंध के आधार पर सुसम्बद्ध होने से तीसरी शंका का भी निराकरण हो जाता है।[35]

6. रत्नाकरावतारिका की विषयवस्तु –

आचार्य वादिदेवसूरि ने 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' नामक सूत्र–ग्रन्थ की रचना की थी और उन्होंने स्वयं ने ही उसकी 'स्याद्वादरत्नाकर' नामक विस्तृत टीका भी लिखी थी, किन्तु स्याद्वादरत्नाकर टीका–ग्रन्थ होकर भी अति क्लिष्ट है, अतः, वादिदेवसूरि के शिष्य आचार्य रत्नप्रभसूरि ने यह रत्नाकरावतारिका नामक प्रस्तुत मध्यम आकार की टीका लिखी है, जिसमें अन्य दार्शनिकों द्वारा उठाई गई शंकाओं का समाधान भी आचार्य रत्नप्रभसूरि द्वारा किया गया है। यहाँ हम रत्नाकरावतारिका की विषयवस्तु का विवरण उसके परिच्छेदों के क्रम से करेंगे –

1. प्रस्तुत ग्रन्थ रत्नाकरावतारिका का प्रथम सूत्र 'प्रमाणनयतत्त्व व्यवस्थापनार्थमिदमुपक्रम्यते' है। यह आदिवाक्य ग्रन्थ के मुख्य प्रयोजन को स्पष्ट करता है, किन्तु आदिवाक्य का यह प्रयोजन शब्दार्थ–संबंध के

---

34 रत्नाकरावतारिका, भाग 1, रत्नप्रभसूरि, पृ. 15

35 रत्नाकरावतारिका, भाग 1, रत्नप्रभसूरि, पृ. 15

आधार पर ही सिद्ध होगा, अतः, प्रस्तुत कृति में सर्वप्रथम शब्दार्थ–संबंध को लेकर विभिन्न–दार्शनिकों द्वारा जो विभिन्न प्रकार की शंकाएं प्रस्तुत की गई हैं, उनके समाधान का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार,, रत्नाकरावतारिका के प्रथम परिच्छेद में शब्दार्थ–संबंध के आधार पर आदिवाक्य का प्रयोजन सिद्ध किया गया है। शब्द और अर्थ के संबंध को लेकर विभिन्न भारतीय–दार्शनिकों के विचार अलग–अलग हैं, जैसे – मीमांसक शब्द और अर्थ में तादात्म्य–संबंध मानते हैं, तो नैयायिक उनमें तदुत्पत्ति–संबंध मानते हैं, वहीं बौद्ध–दार्शनिक शब्द और अर्थ (वस्तु) में कोई संबंध ही नहीं मानते हैं, जबकि जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचक–संबंध मानते हैं। इस प्रकार,, इस ग्रंथ के प्रारंभ में शब्द और अर्थ के संबंध को लेकर चार प्रकार की मान्यताओं का उल्लेख किया गया है। मात्र इतना ही नहीं, यहाँ वाच्य–वाचक–संबंध को छोड़कर शेष तीन मतों की समीक्षा भी की गई है। इसके अतिरिक्त, प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारंभ में ज्ञान के साधनों को प्रमाण मानने वाले नैयायिकों के, निर्विकल्प को प्रमाण मानने वाले बौद्धों के मन्तव्यों की समीक्षा भी है। इसके साथ ही, प्रमाण को पर–प्रकाशक मानने वाले नैयायिकों एवं मीमांसकों का तथा प्रमाण को स्वप्रकाशक मानने वाले बौद्धों और अद्वैतवादियों का रत्नप्रभसूरि ने निरसन करते हुए यह मत प्रस्तुत किया है कि प्रमाण स्व और पर–प्रकाशक होता है। इस संदर्भ में चर्चा करते हुए वे लिखते हैं कि न्याय–दर्शन के सन्निकर्ष आदि भी प्रमाण नहीं हो सकते। आचार्य रत्नप्रभसूरि ने बौद्धों के निर्विकल्प–प्रत्यक्ष का खण्डन करते हुए यह चर्चा की है कि प्रमाण निश्चयात्मक होता है, क्योंकि वह समारोप का विरोधी होता है, अतः, निर्विकल्प–प्रत्यक्ष अनिश्चयात्मक होने से प्रमाणरूप नहीं हो सकता है। इसी प्रसंग में रत्नप्रभसूरि ने बौद्धों के शून्यवादी–सिद्धान्त का भी निरसन किया। चूंकि बौद्ध–दार्शनिक जगत् को शून्यरूप मानते हैं, अतः, रत्नप्रभ ने बौद्ध–दार्शनिकों के समक्ष चार प्रश्न उठाए हैं– आप जिसे पर कहते हो, वह 1. अणुरूप है ? या 2. स्थूलरूप है ? या 3. उभयरूप है या 4. अनुभयरूप है ? यदि वह अणुरूप है, तो उसका प्रत्यक्ष संभव नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष से परमाणु की सिद्धि नहीं होती। अनुमान से भी परमाणु की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि अनुमान व्याप्ति–संबंध पर आधारित होता है। यदि व्याप्ति–संबंध का प्रत्यक्ष से निश्चय न हो, तो अनुमान भी संभव नहीं है। यदि वह स्थूलरूप है, तो स्थूलरूप होने से उसका प्रत्यक्ष होता ही है, अतः, उसे शून्यरूप नहीं कहा जा सकता। दूसरे

यह कि यदि शून्यवादी–दार्शनिक पदार्थ को एकान्तरूप से अनित्य मानते हैं, तो अनित्य–पदार्थ में अर्थक्रिया संभव नहीं होती है। इसी प्रकार, पदार्थ को कूटस्थ–नित्य माना जाए, तो भी उसमें अर्थक्रिया संभव नहीं होगी, इसलिए जैन–दार्शनिकों का कहना है कि अर्थक्रिया न तो एकांत–नित्य–पदार्थ में संभव है, न ही एकान्त–अनित्य–पदार्थ में। वस्तुतः, तो वह नित्यानित्य–पदार्थ में ही संभव हो सकती है, अतः, प्रमाण का विषय पदार्थ शून्यरूप नहीं हो सकता। इसी प्रकार, प्रमाण भी शून्यरूप नहीं माना जा सकता। यदि प्रमाण शून्यरूप है, तो शून्यता की सिद्धि भी शून्यरूप ही होगी, अतः, प्रमाण को शून्यरूप नहीं माना जा सकता। इसके विपरीत, यदि शून्यवादी प्रमाण को अशून्य मानते हैं, तो फिर उनका शून्यवाद भी खण्डित हो जाता है। इस प्रकार,, यहाँ रत्नप्रभसूरि ने विस्तार से शून्यवाद का खंडन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि प्रमाण न तो मात्र स्व का निर्णायक है, न मात्र पर का, न वह शून्यता की सिद्धि ही करता है, वस्तुतः तो वह स्वपर–व्यवसायी ही है। इस प्रकार,, प्रथम–परिच्छेद में प्रमाण को स्वपर–व्यवसायात्मक सिद्ध करने के लिए शून्यवाद की समीक्षा की गई है। इसी क्रम में, ब्रह्माद्वैतवाद का भी खंडन किया गया है, क्योंकि ब्रह्माद्वैतवाद में जगत् को मिथ्या कहा गया है और जो मिथ्या है, वह प्रमाण का विषय हो ही नहीं सकता। इस प्रकार,, रत्नप्रभसूरि ने प्रथम परिच्छेद में शून्याद्वैतवाद और ब्रह्माद्वैतवाद– दोनों की ही समीक्षा की है, साथ ही यह बताया है कि प्रमाण स्वसंवेदनरूप और पर–संवेदनरूप– दोनों ही है, क्योंकि यदि प्रमाण को स्वसंवेदनरूप नहीं माना जाएगा तो वह अन्य का या पर का प्रकाशक भी नहीं हो सकता, क्योंकि पर का प्रकाशक वही हो सकता है, जो स्व का प्रकाशक हो। दीपक यदि स्वयं प्रकाशित नहीं हो, तो वह अन्य को भी प्रकाशित नहीं कर सकता। इस प्रकार,, इस प्रथम परिच्छेद में रत्नप्रभसूरि ने प्रमाण को स्व–पर–व्यवसायात्मक सिद्ध करने के लिए, जहाँ एक ओर बौद्धों के विज्ञानवाद और शून्यवाद का खण्डन किया है, वहीं दूसरी ओर उन्होंने वेदान्त के ब्रह्मवाद का भी खंडन किया है, क्योंकि इन सभी ने बाह्यार्थ की सत्ता का निषेध किया है, या उसे मिथ्या बताया है। इसी प्रकार इस प्रथम परिच्छेद में नैयायिकों और मीमांसकों के मत की भी समीक्षा की गई है, क्योंकि वे प्रमाण को मात्र करणरूप मानते हैं और उसे पर–प्रकाशक ही मानते हैं; किन्तु रत्नप्रभसूरि का कहना है कि जो स्व–प्रकाशक न हो, वह पर–प्रकाशक हो ही नहीं सकता, जैसे– जो

दीपक स्वयं प्रकाशित नहीं होता है, वह अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित नहीं कर पाता है।

इसी प्रकार, इस प्रथम परिच्छेद में प्रमाण को एकान्तरूप से ज्ञान का साधन मानने वाले और एकान्तरूप से ज्ञानरूप मानने वाले की समीक्षा करते हुए यह बताया गया है कि प्रमाण ज्ञान का साधन न होकर ज्ञानरूप ही होता है; किन्तु यह ज्ञान, स्व और पर– दोनों का प्रकाशक होकर निश्चयात्मक होता है। इस प्रकार,, प्रथम परिच्छेद में रत्नप्रभसूरि ने आदिवाक्य की आवश्यकता को स्थापित करते हुए प्रथमतः शब्द और अर्थ के संबंध को लेकर एक ओर मीमांसकों के तादात्म्यवाद की समीक्षा की है, तो दूसरी ओर, शब्द और अर्थ में संबंध नहीं है– बौद्धों के ऐसे सिद्धान्त का भी निरसन किया है। इसी क्रम में आगे, प्रमाण–लक्षण की चर्चा करते हुए उन्होंने ज्ञान के साधनों की अपेक्षा ज्ञान को ही प्रमाण स्थापित किया है तथा सन्निकर्ष, इन्द्रियवृत्ति आदि के प्रमाणत्व का भी खण्डन किया है। प्रमाण को निश्चयात्मक सिद्ध करने के प्रसंग में उन्होंने उसे संशय, समारोप और विपर्यय से रहित बताकर बौद्धों के निर्विकल्प–प्रत्यक्ष की प्रमाणता का खंडन किया है, वहीं दूसरी ओर, बाह्यार्थ का निषेध करने वाले शून्यवाद और ब्रह्मवाद की भी समीक्षा की है और इसी क्रम में यह सिद्ध किया है कि प्रमाण स्व–पर–व्यवसायात्मक होता है। आगे, प्रामाण्यता और अप्रामाण्यता के स्वरूप की चर्चा करते हुए उनकी उत्पत्ति और ज्ञप्ति के संबंध में विचार किया गया है तथा इस संबंध में जैन–दर्शन से विरोधी मतों की भी समीक्षा की गई है।

2. रत्नाकरावतारिका के दूसरे परिच्छेद में सर्वप्रथम प्रमाण दो प्रकार के बताए गए हैं – 1. प्रत्यक्ष और 2. परोक्ष। फिर यह कहा गया है कि प्रत्यक्ष–प्रमाण दो प्रकार का होता है – 1. सांव्यवहारिक–प्रत्यक्ष और 2. पारमार्थिक–प्रत्यक्ष। सांव्यवहारिक–प्रत्यक्ष पुनः दो प्रकार का होता है – 1. इन्द्रिय–बन्धन और 2. अनिन्द्रिय–बन्धन। यहाँ यह प्रश्न उठाया गया है कि सभी इन्द्रियाँ अपने–अपने विषय को संस्पर्श करके ज्ञान उत्पन्न करती है, या अपने विषय को संस्पर्श किए बिना ही ज्ञान उत्पन्न करती हैं ? इस प्रश्न को लेकर विभिन्न दार्शनिकों में मतभेद हैं। बौद्ध–दार्शनिक चक्षु और श्रोत्र– इन दो इन्द्रियों के अतिरिक्त शेष तीन इन्द्रियों, अर्थात् रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय को प्राप्यकारी अर्थात् अपने विषय का स्पर्श कर जानने वाली बताते हुए शेष दो, अर्थात् चक्षु और श्रोत्र को अप्राप्यकारी मानते हैं, जबकि नैयायिक चक्षु सहित पाँचों इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते

हैं, वहीं रत्नप्रभसूरि जैन–दर्शन के अनुसार चक्षु को अप्राप्यकारी मानकर शेष चारों इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं और इस संबंध में बौद्ध–मत की विस्तार से समीक्षा भी करते हैं। इसके पश्चात्, रत्नप्रभसूरि ने प्रत्यक्ष के भेदों की चर्चा की है। वे लिखते हैं कि किसी भी पदार्थ का सांव्यवहारिक–प्रत्यक्षरूप–ज्ञान क्रमशः अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा होता है, जबकि पारमार्थिक–प्रत्यक्षरूप–ज्ञान दो प्रकार का होता है – 1. विकल–पारमार्थिक–प्रत्यक्ष और 2. सकल–पारमार्थिक–प्रत्यक्ष। विकल–पारमार्थिक–प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का होता है– 1. अवधिज्ञान 2. मनःपर्यवज्ञान। अवधिज्ञान का विषय रूपी–द्रव्य, जैसे– पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, अन्धकार, प्रकाश, छाया, आतप आदि हैं। इस सामान्य चर्चा के उपरान्त रत्नाकरावतारिका में रत्नप्रभसूरि लिखते हैं कि नैयायिक एवं वैशेषिक अंधकार और छाया को द्रव्यरूप नहीं मानते, अपितु इन दोनों को प्रकाश का अभावरूप मानते हैं, जबकि यहाँ जैन–दर्शन के अनुसार, रत्नप्रभसूरि अंधकार और छाया को भी प्रकाश और ताप (आतप) के समान ही रूपी–द्रव्य मानते हैं। इस प्रसंग में रत्नप्रभसूरि नैयायिकों से प्रश्न करते हैं कि आप हमारे द्वारा प्रस्तुत निम्न आठ तर्कों के आधार पर अन्धकार को अभावरूप सिद्ध नहीं कर सकते हैं। तत्पश्चात्, वे रत्नाकरावतारिका में अन्धकार की भावरूपता के लिए आठ तर्क प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि जिस प्रकार आप प्रकाश को सत्तारूप मानते हो, वैसे ही आपको अंधकार और छाया को भी सत्तारूप और द्रव्यरूप मान लेना चाहिए। इस संबंध में रत्नप्रभ ने नैयायिकों के पूर्वपक्ष और जैनों के उत्तरपक्ष को लेकर विस्तार से चर्चा की है। इस चर्चा के उपरान्त रत्नप्रभसूरि ने मनःपर्यवज्ञान के स्वरूप की चर्चा करते हुए यह बताया है कि मनःपर्यवज्ञानी दूसरों के मनोभावों को जानता है। इस चर्चा के उपरान्त रत्नप्रभसूरि ने रत्नाकरावतारिका में केवलज्ञान का प्रतिपादन किया है। वे लिखते हैं कि सम्यक्दर्शन आदि आंतरिक–भाव–विशुद्धि से एवं तपश्चर्या आदि बाह्य–हेतुओं से समस्त घातीकर्मों का क्षय होने पर उत्पन्न होने वाला केवलज्ञान है। वह केवलज्ञान समस्त द्रव्यों और उनकी समस्त पर्यायों का ज्ञान होता है। केवलज्ञान के स्वरूप एवं संभावना को लेकर मीमांसकों, चार्वाकों और बौद्धों के भिन्न–भिन्न मत हैं। मीमांसकों की मान्यता है कि केवलज्ञान संभव नहीं है। वर्द्धमान में सर्वज्ञ का अभाव है, क्योंकि उनमें सर्वज्ञत्व अनुपलब्ध है। चार्वाक भी यही कहते हैं कि केवलज्ञान नाम की कोई वस्तु नहीं है। बौद्ध सर्वज्ञ को मानते तो हैं; किन्तु सर्वज्ञ को धर्मज्ञान

बताते हैं। जिसने धर्म–अधर्म के सम्यक्–स्वरूप को समझ लिया है, वही धर्मज्ञ है। रत्नप्रभसूरि ने रत्नाकरावतारिका में इन सभी दार्शनिकों के मतभेदों को प्रस्तुत कर उनकी महान् समीक्षा की है। न्याय–वैशेषिक सर्वज्ञ को मानते तो हैं, किन्तु वे केवल ईश्वर को सर्वज्ञ मानते हैं, अर्थात् ईश्वर ही सर्वज्ञ है और वही जगत् का कर्त्ता भी है। संसार की जो रचना हम देखते हैं, वह सब ईश्वर की ही सुव्यवस्थित रचना है, अतः, इसका निमित्त–कारण ईश्वर ही हैं। रत्नप्रभ न्याय–वैशेषिक (नैयायिक) का खण्डन करते हुए कहते हैं कि ईश्वर कोई निमित्त–कारण नहीं होता। समस्त पदार्थ अपने–अपने कारणों से ही उत्पन्न होते हैं।

आचार्य रत्नप्रभ ने इसी प्रसंग में केवलज्ञानी के कवलाहार की चर्चा को उठाकर केवली का कवलाहार नहीं मानने वाले दिगम्बर–मत का खण्डन किया है। इस संबंध में उन्होंने सर्वप्रथम दिगम्बरों का पूर्वपक्ष प्रस्तुत कर, फिर उसकी समीक्षा की है। दिगम्बर की मान्यता है कि सर्वज्ञ निर्विकल्प होता है, इच्छारहित होता है, अतः, उसे आहार की इच्छा नहीं होती है, इसलिए वह आहार भी नहीं करता है। इस पर रत्नप्रभ का कहना है कि आहार और केवलज्ञान में कोई विरोध नहीं है, अतः, आहार और ज्ञान साथ–साथ रह सकते हैं, केवली में उनकी सहानवस्था है।

3. रत्नाकरावतारिका के तृतीय परिच्छेद में सर्वप्रथम परोक्ष–प्रमाण के पाँच प्रकार– 1. स्मरण 2. प्रत्यभिज्ञा 3. तर्क 4. अनुमान और 5. आगम बताते हुए इनके लक्षण वर्णित किए गए हैं। नैयायिक सादृश्य को जानने वाले उपमान–प्रमाण को अलग मानते हैं। इनके द्वारा प्रत्यभिज्ञान–प्रमाण को स्वतंत्र–प्रमाण नहीं मानने की चर्चा की गई है। बौद्ध–दार्शनिक क्षणिकवादी होने के कारण प्रत्यभिज्ञान को प्रमाण नहीं मानकर, भ्रांतिरूप मानते हैं। इनका सिद्धांत है कि जब वस्तु का लक्षण प्रतिक्षण बदलने का है, तो बदलने वाले को प्रत्यभिज्ञान कैसे मान सकते हैं ? प्रत्यक्ष को ही प्रत्यभिज्ञान मानना चाहिए। इनकी समीक्षा करते हुए रत्नप्रभ लिखते हैं कि प्रत्यक्ष में तो सिर्फ वर्त्तमान की वस्तु का ही बोध होता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञान में भूत एवं वर्त्तमान– दोनों का ही बोध होता है। तर्क–प्रमाण के संबंध में बौद्ध–दार्शनिक के तर्क (ऊह) को प्रमाण नहीं मानने की चर्चा की है, तो रत्नप्रभ ने इनकी समीक्षा में लिखा है कि यदि आप तर्क को प्रमाण नहीं मानेंगे, तो आपका अनुमान–प्रमाण भी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि व्याप्ति त्रैकालिक–संबंध का ज्ञान कराती है, जबकि प्रत्यक्ष से तो केवल वर्त्तमान का ही ज्ञान होता है, व्याप्ति का ज्ञान तो तर्क से होता है। इसमें

यह भी चर्चा की गई है कि बौद्ध विशेष को ही मानते हैं, सामान्य को नहीं। इसके पश्चात्, रत्नाकरावतारिका में अनुमान–प्रमाण के दो प्रकार बताए गए हैं– 1. स्वार्थानुमान और 2. परार्थानुमान। अनुमान–प्रमाण की चर्चा में चार्वाक अनुमान को प्रमाण नहीं मानते हैं। उनकी मान्यता है कि अनुमान स्वतंत्र–प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि एकमात्र प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। इसकी समीक्षा करते हुए रत्नप्रभ ने अनुमान–प्रमाण की सिद्धि में हेतु और अनुमान– इन दोनों को प्रमुख बताया है। इसके आगे, हेतु के लक्षण के संबंध में रत्नाकरावतारिका में रत्नप्रभ लिखते हैं– साध्य के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित हो, अर्थात् जो साध्य के बिना कदापि संभव न हो, वह हेतु कहलाता है, जैसे– अग्नि (साध्य) के बिना धूम कदापि संभव नहीं है, अतएव धूम हेतु है। हेतु कहीं अतिव्याप्त होता है, कहीं अल्पव्याप्त। जिसका अन्यथानुपपत्ति निश्चित हो, अर्थात् और कहीं होता ही नहीं, वह निश्चितान्यथानुपपत्ति है। यही एकमात्र हेतु का लक्षण है। इसके आगे के सूत्र में बौद्ध–दार्शनिकों के पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षासत्व– इन तीन लक्षणों के मानने की चर्चा है तथा नैयायिकों के इन तीन लक्षणों के साथ असत्–प्रतिपक्षता और अबाधितविषयता– इन दो लक्षणों सहित पाँच लक्षणों के मानने की चर्चा की गई है, किन्तु रत्नप्रभ ने इन दोनों दार्शनिक–मतों के खण्डन में यह समीक्षा प्रस्तुत की है कि बौद्धों और नैयायिकों के तीन और पाँच लक्षणों वाला हेतु नहीं हो सकता, वह तो हेत्वाभास होता है। हेत्वाभास में ही ये लक्षण संभव हो सकते हैं। इसके आगे, रत्नप्रभ साध्य के स्वरूप की चर्चा में लिखते हैं कि अप्रतीत, अनिराकृत और अभीप्सित– ये तीनों जहां हों, वहीं साध्य होता है। रत्नप्रभ ने यह भी लिखा है कि जब व्याप्ति का प्रयोग करना हो, तो जहाँ–जहाँ धूम होता है, वहाँ–वहाँ अग्नि होती है, इस प्रकार,, अग्निधर्म को ही साध्य बनना चाहिए, साथ ही, धर्मी की प्रसिद्धि तीन प्रकार से होती है, उसकी चर्चा उदाहरण सहित की गई है। रत्नाकरावतारिका में हम देखते हैं कि पूर्वपक्ष के रूप में जहाँ बौद्ध–दार्शनिक धर्मी की सिद्धि विकल्प से मानते हैं, वही रत्नप्रभ ने उत्तरपक्ष के रूप में बौद्ध–मत की समीक्षा भी प्रस्तुत की है। इसके पश्चात्, रत्नप्रभ ने परार्थानुमान की चर्चा में लिखा है कि यद्यपि प्रत्येक प्रमाण–ज्ञानस्वरूप होता है, परन्तु परार्थानुमान शब्दस्वरूप होता है, क्योंकि शब्द जड़ है और जड़रूप होने से प्रमाण नहीं हो सकता। परार्थानुमान स्वार्थानुमान का कारण है। कारण को उपचार से कार्य मानकर परार्थानुमान को भी अनुमान मान लिया गया है। इसके पश्चात्, पक्ष–प्रयोग

के संबंध में रत्नाकरावतारिका में चर्चा की गई है कि बौद्ध–दार्शनिक पक्ष का प्रयोग आवश्यक नहीं मानते हैं। उनके इस विरोध में रत्नप्रभ लिखते हैं कि यदि पक्ष का प्रयोग नहीं किया जाएगा, तो साध्य कहाँ सिद्ध किया जा रहा है, यह ज्ञात नहीं हो पाएगा। साध्य का नियत–पक्ष के साथ संबंध बताने के लिए पक्ष का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। इसी के अगले सूत्र में बौद्धों के स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि– इन तीन प्रकार के हेतु मानने की चर्चा की गई है। इसके पश्चात्, रत्नप्रभ ने यह उल्लिखित किया है कि जिस प्रकार अनुमान द्वारा जानी हुई बात को शब्दों द्वारा कहना परार्थानुमान है, उसी प्रकार प्रत्यक्ष द्वारा भी जानी हुई बात को शब्दों द्वारा कहना परार्थानुमान है। यह परार्थ–प्रत्यक्ष भी शब्दात्मक होने के कारण उपचार से प्रमाण है। इसके पश्चात्, परार्थानुमान के अवयवों के संबंध में विभिन्न दार्शनिक–मतभेद हैं, जैसे कि सांख्य पक्ष, हेतु और दृष्टांत– ये तीन अवयव मानते हैं। मीमांसक उपनय के साथ चार अवयव मानते हैं और योग निगमन को मिलाकर कुल पाँच अवयव मानते हैं। रत्नप्रभ इन सबकी समीक्षा करते हुए पक्ष और हेतु– इन दो अवयवों का समर्थन करते हैं। इसके उपरान्त, रत्नाकरावतारिका में हेतु दो प्रकार के बताए गए हैं – 1. तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति। दृष्टांत को अनुमान का अवयव नहीं बताया गया है। तत्पश्चात्, व्याप्ति को दो प्रकार की बताते हुए 1. अन्तर्व्याप्ति और 2. बहिर्व्याप्ति– इनके स्वरूप की भी चर्चा की गई है। जैन–दर्शन के अनुसार, इसमें यह भी चर्चा की गई है कि किसी को बोध कराने के लिए दृष्टांत, उपनय और निगमन की आवश्यकता नहीं होती, अपितु पक्ष और हेतु, इन दोनों से ही पदार्थ का यथार्थ–बोध हो सकता है, साथ ही, यह भी स्पष्ट किया गया है कि मन्दबुद्धि वाले के लिए तो फिर भी दृष्टांत, उपनय और निगमन की आवश्यकता हो सकती है, लेकिन बुद्धिमान् के लिए तो हेतु और पक्ष से काम चल सकता है। इसके पश्चात्, दृष्टांत के दो भेद किए गए हैं– 1. साधर्म्य–दृष्टांत और 2. वैधर्म्य–दृष्टांत। इन दोनों को उदाहरण द्वारा समझाया गया है और उपनय तथा निगमन की भी चर्चा की गई है। तात्पर्य यह है कि अनुमान के पाँचों अवयव पक्ष, हेतु, दृष्टांत, उपनय और निगमन– इनकी व्याख्या की गई है। इसके उपरान्त, आगे के सूत्र में रत्नप्रभ ने रत्नाकरावतारिका में अन्यथानुपपत्तिरूप हेतु के दो प्रकार बताए हैं– 1. उपलब्धिरूप और अनुपलब्धिरूप तथा इन दोनों से विधि और निषेधरूप– दोनों की ही सिद्धि होनी बताई गई है और इन दोनों की व्याख्या भी की गई है। इसके

पश्चात्, रत्नप्रभ ने प्रतिषेध (अभाव) के चार प्रकार– 1. प्रागभाव 2. प्रध्वंसाभाव 3. इतरेतराभाव और 4. अत्यन्ताभाव बताते हुए इनकी व्याख्या भी प्रस्तुत की है। तत्पश्चात्, रत्नप्रभ ने उपलब्धि हेतु के दो भेद किए हैं– 1. अविरुद्धोपलब्धि और 2. विरुद्धोपलब्धि। पुनः, अविरुद्धोपलब्धि के छह भेद किए गए हैं– 1. साध्याविरुद्ध–व्याप्योपलब्धि, 2. साध्याविरुद्ध–कार्योपलब्धि 3. साध्याविरुद्ध–कारणोपलब्धि, 4. साध्याविरुद्ध–पूर्वचरोपलब्धि, 5. साध्याविरुद्ध–उत्तरचरोपलब्धि 6. साध्याविरुद्ध–सहचरोपलब्धि। बौद्ध–दार्शनिक अविरुद्धोपलब्धि के व्याप्य और कार्यहेतु– ये दो ही भेद मानते हैं, जबकि शेष 1. कारण 2. पूर्वचर 3. उत्तरचर और 4. सहचर आदि चारों को हेतु नहीं मानते हैं। आचार्य रत्नप्रभ ने विविध उदाहरणों के माध्यम से तार्किक–रूप से बौद्ध–दार्शनिक–मत की समीक्षा की है तथा अविरुद्ध–कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर–उपलब्धि– इन पाँचों को अपना समर्थन प्रस्तुत किया है। तत्पश्चात्, विरुद्धोपलब्धि के 7 भेद बताए गए हैं– 1. स्वभावविरुद्धोपलब्धि 2. विरुद्धव्याप्तोपलब्धि 3. विरुद्धकार्योपलब्धि 4. विरुद्ध–कारणोपलब्धि 5. विरुद्ध–पूर्वचरोपलब्धि 6. विरुद्ध–उत्तरचरोपलब्धि 7. विरुद्ध–सहचरोपलब्धि, इसके साथ ही उत्तरपक्ष के रूप में उन्होंने अपना मत भी प्रस्तुत किया है। उपलब्धि के समान ही अनुपलब्धि के भी दो भेद बताए गए हैं– 1. अविरुद्धानुपलब्धि और 2. विरुद्धानुपलब्धि। पुनः, अविरुद्धानुपलब्धि सात प्रकार की बताई गई है – 1. अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि 2. अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि 3. अविरुद्धकार्यानुपलब्धि 4. अविरुद्धकारणानुपलब्धि 5. अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि 6. अविरुद्धउत्तरचरानुपलब्धि, 7. अविरुद्धसहचरानुपलब्धि एवं प्रत्येक की व्याख्या की चर्चा भी की गई है। इसके उपरान्त, अविरुद्धानुपलब्धि के समान विधि को सिद्ध करने वाली विरुद्धानुपलब्धि के पाँच भेद प्रस्तुत किए गए हैं– 1. विरुद्धकार्यानुपलब्धि 2. विरुद्धकारणानुपलब्धि 3. विरुद्धस्वभावानुपलब्धि 4. विरुद्धव्यापकानुपलब्धि 5. विरुद्धसहचरानुपलब्धि एवं इनकी उदाहरणों द्वारा चर्चा भी की गई है। इस प्रकार,, प्रमाणनयतत्त्वालोक नामक पुस्तक पर श्री रत्नप्रभसूरि द्वारा विरचित रत्नाकरावतारिका नामक लघु टीका में स्मरण, प्रत्यभिज्ञा, तर्क (ऊह) और अनुमान, इस प्रकार, परोक्ष–प्रमाण के पाँच भेदों में से प्रथम चार भेदों के स्वरूप का वर्णन इस तृतीय परिच्छेद में किया गया है। आगम–प्रमाण की चर्चा इस तृतीय परिच्छेद में नहीं की गई है।

4. रत्नाकरावतारिका के तृतीय परिच्छेद में परोक्ष–प्रमाण के पाँच भेद बताकर सिर्फ प्रथम चार भेद– स्मृति (स्मरण), प्रत्यभिज्ञान, तर्क (ऊह) और अनुमान–प्रमाण तक की चर्चा की गई है, किन्तु परोक्ष–प्रमाण के पाँचवें भेद आगम–प्रमाण का कोई भी उल्लेख तृतीय परिच्छेद में नहीं किया गया है, अपितु आगम–प्रमाण का विस्तृत वर्णन चतुर्थ परिच्छेद में प्रथम–सूत्र से ही प्रारंभ किया गया है, जिसमें यह बताया गया है कि आगम–प्रमाण क्या है? सर्वप्रथम, ग्रंथकर्त्ता रत्नप्रभ की ओर से यह प्रस्तुत किया गया है कि आप्तपुरुष के वचनों से जो विषय–बोध का ज्ञान होता है, उसे आगम–प्रमाण कहते हैं, क्योंकि आप्त–पुरुष के वचन ही प्रामाणिक होते हैं। यहाँ पर यह जिज्ञासा भी उठाई गई है कि यदि श्रोता के हृदय में उत्पन्न हुए अर्थ के बोध को ही आगम कहा जाए, तो फिर आप्त–पुरुष के वचन को भी आगम–प्रमाण कहा जाता है– ऐसी सिद्धान्तकारों की धारणा है, वह सिद्ध कैसे होगी, ऐसा प्रश्न कोई भी उठा सकता है ? अतः,, ग्रन्थकर्त्ता द्वारा पुनः ही समाधान करने की चर्चा की गई है। जैन–दार्शनिक आगम–प्रमाण को अनुमान–प्रमाण के अंतर्गत न मानकर स्वतंत्र–प्रमाण स्वीकार करते हैं, किन्तु वैशेषिक–दार्शनिक कणाद आगम–प्रमाण को अनुमान–प्रमाण के अंतर्गत ही स्वीकार करते हैं, अर्थात् आगम (शब्द)– प्रमाण को स्वतंत्र–प्रमाण नहीं मानते हैं, अतः, रत्नाकरावतारिका के चतुर्थ परिच्छेद में आगम–प्रमाण को लेकर वैशेषिक–मत की विस्तृत चर्चा मिलती है, तो साथ ही, रत्नप्रभ द्वारा वैशेषिक–मत के विरोध में विस्तृत रूप में समीक्षा प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकर्त्ता रत्नप्रभसूरि सूत्र की व्याख्या के अंत में वैशेषिक से कहते हैं कि शब्द–बोध के लिए सर्वप्रथम 1. अर्थविवक्षा 2. पश्चात् शब्दोच्चारण 3. तत्पश्चात् शब्दश्रवण 4. तत्पश्चात् वक्ता की विवक्षा की विचारणा 5. तत्पश्चात् आप्तवचन है या अनाप्तवचन– इसका स्पष्टीकरण और अंत में 6. अर्थप्रतीती– इस प्रकार, की प्रतीति किसी को भी नहीं होती, अपितु बिना प्रतीति के ही शब्द–श्रवण होते ही तुरंत अर्थबोध हो जाता है। छठवें एवं सातवें सूत्र में आप्तपुरुष को दो प्रकार का बताते हुए कहा गया है कि वे लौकिक और लोकोत्तर– दो प्रकार के होते हैं। इसे उदाहरण के माध्यम से समझाया गया है कि इस प्रदेश (स्थान) में रत्नों का ख़जाना है, ऐसे लौकिक वाक्य या अनुभूत कथन माता–पिता आदि के द्वारा कहे जाते हैं और इस संसार में मेरुपर्वत आदि हैं– ऐसे लोकोत्तर वाक्य तीर्थंकर, गणधर आदि के द्वारा प्रयुक्त होते हैं। तात्पर्य यह है कि दोनों प्रकार के

आप्तवचनों का उच्चरित शब्द से ही अर्थबोध हो जाना वास्तविक रूप में 'आगम' है। इसी को आगम–प्रमाण कहने की चर्चा की गई है तथा जो वस्तु जैसी है, वैसी ही जानना तथा जैसा जाना है, वैसा ही कथन करना आप्तपुरुष का स्वरूप है, यह स्पष्ट करते हुए आप्तपुरुष की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इसके पश्चात्, श्रुति अपौरूषेय है– ऐसा मानने वाले मीमांसक के साथ ग्रन्थकर्त्ता रत्नप्रभसूरि की चर्चा का वर्णन है। रत्नाकरावतारिका में मीमांसक–मत को प्रस्तुत करते हुए यह उल्लेख किया गया है कि मीमांसक सर्वज्ञ को नहीं मानते हैं। उनके अनुसार, कोई भी पुरुष सर्वज्ञ नहीं होता है। वेद अनादिकाल से हैं, ऋषि–मुनि भी वेद के दृष्टा हैं, किन्तु रचयिता नहीं हैं। वेद अपौरुषेय होने के कारण ज्ञानरूप हैं और इसलिए वेद प्रमाण हैं। मीमांसक के मत का विरोध करते हुए जैन–दार्शनिकों ने मीमांसकों के समक्ष यह प्रश्न उठाया है कि यदि वेद शब्दरूप हैं, ग्रन्थ हैं, कार्य हैं तथा नित्य हैं, तो फिर आपके ग्रन्थ में तो मंत्रों के कर्त्ता के नाम भी तो हैं, तो फिर वेद अपौरुषेय कैसे हुआ ? आपके पास क्या प्रमाण है कि वेद अपौरुषेय हैं? क्योंकि वेदों को न तो प्रत्यक्ष–प्रमाण से जाना जा सकता है और न अनुमान से। कोई भी प्रमाण ऐसा नहीं है, जो सिद्ध कर सके कि वेद अपौरुषेय हैं, जबकि वेद में हिंसा का भी कथन है। इस प्रकार,, रत्नप्रभ द्वारा वेद के नित्यत्व का एवं अपौरुषेयत्व का खण्डन करने की विस्तृत चर्चा की गई है। इसके उपरान्त, आप्तपुरुष के स्वरूप का निरूपण करने के पश्चात् आप्तपुरुष के वचन का निरूपण करते हुए यह चर्चा की गई है कि वर्णात्मक, पदात्मक और वाक्यात्मक जो शब्द–रचना होती है, उसे वचन कहा जाता है। वचन को वर्ण, पद, वाक्य आदि पाँच प्रकार के भिन्न–भिन्न रूपों में प्रस्तुत करते हुए आगे कहा गया है कि जैन–दार्शनिक शब्द को पौद्गलिक मानते हैं। शब्द भाषा–वर्गणा के पुद्गलों से बनते हैं, अतः, शब्द पुद्गल की पर्याय हैं, इसलिए शब्द पौद्गलिक होते हैं। शब्द को नित्य मानने वाले मीमांसक के साथ सर्वप्रथम चर्चा में मीमांसक अपना मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि शब्द पौद्गलिक नहीं हो सकते, क्योंकि शब्द तो नित्य होते हैं। वर्णों का नित्यत्व सिद्ध करने के लिए मीमांसक तीन मत (प्रमाण) प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि प्रत्यभिज्ञा–प्रमाण, अनुमान–प्रमाण और अर्थापत्ति–प्रमाण– इन तीनों से शब्द की अनित्यता सिद्ध नहीं हो सकती। जैन–दार्शनिक रत्नप्रभ मीमांसकों की समीक्षा में कहते हैं कि व्याप्ति नहीं होती है। प्रत्यभिज्ञा तो अनित्य वस्तु की भी होती है। व्याप्ति भी अनुमान के आधार से सिद्ध होती

है। शब्द की नित्यता न तो प्रत्यभिज्ञा से, न अनुमान से और न ही अर्थापत्ति–प्रमाण से सिद्ध होती है, अतः, आपका मत खंडित हो जाता है। पुनः, रत्नप्रभ कहते हैं कि आप मीमांसक शब्द को नित्य–प्रत्यक्ष के आधार से मानते हो, किन्तु प्रत्यक्ष से तो नित्य और अनित्य का भी बोध होता है। रत्नप्रभ शब्द की अनित्यता को पुद्गल की पर्याय समझकर सिद्ध करते हैं, तो मीमांसक शब्द को ज्ञानरूप मानकर शब्द की नित्यता सिद्ध करते हैं। इस प्रकार,, मीमांसकों ने वर्णादि की नित्यता के पक्ष में अपना मत विस्तार से प्रस्तुत किया है। इस पर जैन–दार्शनिक रत्नप्रभ ने भी विस्तार से अपनी समीक्षा प्रस्तुत की है। तत्पश्चात्, रत्नप्रभ नैयायिक की समीक्षा करते हैं, क्योंकि नैयायिक शब्द को अनित्य भले ही मानते हैं, किन्तु वे शब्द को पौद्गलिक न मानकर अपौद्गलिक मानते हैं। विशेष रूप से, नैयायिक शब्द को आकाश का गुण मानते हैं। इनकी समीक्षा में रत्नप्रभ कहते हैं कि आप नैयायिक हमारे द्वारा प्रस्तुत पाँच अनुमान या पाँच हेतुओं में से शब्द को अपौद्गलिक सिद्ध करने के लिए कौनसा अनुमान प्रस्तुत करेंगे ? रत्नप्रभ नैयायिक की समीक्षा के अन्त में कहते हैं कि शब्द को अपौद्गलिक सिद्ध करने के लिए जो पाँच हेतु प्रतिपादित किए हैं, वे हेतु न होकर हेत्वाभास हैं, अतः, अपने पक्ष के समर्थन में, अन्त में रत्नप्रभ नैयायिकों से कहते हैं कि शब्द (पक्ष), पौद्गलिक (साध्य) इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय होने से (हेतु), रूप–रसादि के जैसे ही (उदाहरण), जो–जो इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय होते हैं, वे–वे पौद्गलिक ही होते हैं, जैसे कि रूप–रस–गंध–स्पर्श आदि गुण, ये गुण जैसे पौद्गलिक होते हैं, वैसे ही शब्द भी श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का विषय होने से पौद्गलिक ही हैं, इसलिए शब्द जो हैं, वे भाषा–वर्गणा के पुद्गलों से बनते हैं। इस प्रकार,, रत्नाकरावतारिका के चौथे परिच्छेद के नौवें सूत्र में रत्नप्रभ द्वारा मीमांसक और नैयायिक की विस्तृत चर्चा मिलती है। तत्पश्चात्, पद और वाक्य की संक्षिप्त व्याख्या के उपरान्त यह चर्चा प्रस्तुत की गई है कि स्वाभाविक–शक्ति और संकेत द्वारा शब्द पदार्थ का बोधक होता है। नैयायिक जाति–संबंध से वाच्य–वाचकभाव की नियामकता स्वीकार करते हैं। अतीन्द्रिय–शक्ति को भी स्वीकार न करने पर रत्नप्रभ ने नैयायिकों के विरोध में लिखा है कि अतीन्द्रिय–शक्ति को मानें बिना वाच्य वाचकभाव के नियमन का हेतु नहीं बन सकता, इसीलिए शब्द में रहे हुए अर्थबोध में कारणभूत ऐसी अतीन्द्रिय–शक्ति को स्वीकारना ही उत्तम होता है। ऐसा कहकर रत्नप्रभ ने अति विस्तार से नैयायिकों की समीक्षा की है। पुनः,

रत्नप्रभ ने नैयायिकों द्वारा मान्य अभाव की समीक्षा में चर्चा की है कि भाव और अभाव– दोनों सापेक्ष हैं। अभाव कोई पदार्थ नहीं है, अभाव की सत्ता सिर्फ भाव–सापेक्ष है। इस तरह, नैयायिकों ने अपना मत विस्तार से प्रस्तुत किया है, तो रत्नप्रभ ने भी विस्तार से खंडन किया है। नैयायिक के साथ शब्द–संबंधी चर्चा के उपरान्त रत्नाकरावतारिका में बौद्ध–दार्शनिक एवं जैन–दार्शनिक के मध्य चर्चा होती है, जिसमें बौद्ध अपने मत का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि शब्द सामान्य का वाचक नहीं हो सकता। शब्द में वाचक का सामर्थ्य होते हुए भी वह वस्तुतः अन्य का अपोह कर देता है। केवल सामान्य हमारे मन की कल्पना है। जो भी है, वह विशेष है, जो विशेष है, वह भी क्षणिक है, तो वह किसको वाच्य बनाएगा। वाच्यत्व तो केवल अन्य का अपोह कर देता है। बौद्ध अपनी चर्चा में आगे कहते हैं कि किसको सामान्य और विशेष का वाचक बनाएँ ? गाय शब्द बोलने मात्र से हमारे मस्तिष्क में उसका एक आकार बनता है, वह भी अन्य को अपोह कर देता है। सामान्य और विशेष परस्पर विरोधी हैं, इसलिए शब्द न सामान्य का वाचक हो सकता है, न ही विशेष का। बौद्धों का मत तो यही है कि अन्य विकल्पों का निषेध करके किसी एक विकल्प पर स्थिर हो जाना– यही अपोहवाद है, अर्थात् शब्द का अर्थ के साथ कोई संबंध नहीं है तथा शब्द और अर्थ में न तो कार्य–कारण सम्बन्ध और न वाच्य–वाचक का संबंध। इस प्रकार,, बौद्धों ने अपने मत की पुष्टि की है, तो रत्नप्रभ भी विस्तार से बौद्धमत की समीक्षा करते हुए अपना मत प्रस्तुत किया है कि प्रत्येक वस्तु सामान्य–विशेषात्मक होती है, क्योंकि शब्द सामान्य को विशेष बना लेता है तथा विशेष को सामान्य बना लेता है। बौद्धों की समीक्षा में रत्नप्रभ ने यह भी चर्चा की है कि विकल्प को भी उत्पन्न करने की शक्ति तो शब्द में ही रही हुई है, अतः, रत्नप्रभ द्वारा बौद्धों के प्रमुख सिद्धान्त अपोहवाद की समीक्षा की चर्चा मिलती है। इसके पश्चात्, शब्द में ही अर्थ–बोध कराने की शक्ति रही हुई है– ऐसा मानने वाले मीमांसक–मत की समीक्षा में रत्नप्रभ ने लिखा है कि शब्द में अर्थ–बोध कराने की शक्ति रही हो, वह व्यक्ति के गुण–दोष पर निर्भर है, ऐसी संक्षिप्त चर्चा की गई है। तत्पश्चात्, शब्द विधि और निषेध द्वारा अपने वाच्यार्थ का प्रतिपादन करता हुआ किस प्रकार सप्तभंगी के रूप में प्रवृत्त होता है, इसकी विस्तृत चर्चा की गई है। सप्तभंगी से यह ज्ञात होता है कि पदार्थ में कोई भी धर्म किस प्रकार से रहा हुआ है। सप्तभंगी इस प्रकार, से बनती है– 1. स्यात् अस्ति घटः–घट कथंचित् है, अर्थात् स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव

की अपेक्षा से घट है। 2. स्यात् नास्ति घट—घट कथंचित् नहीं है, अर्थात् घट में स्वद्रव्यादि से नास्तित्व है। यहाँ निषेध की विवक्षा की गई है। द्वितीय भंग में अद्वैतवादी की ओर से शंका उठाकर उसकी समीक्षा रत्नप्रभ द्वारा की जाने की चर्चा की गई है। 3. स्यात् अस्ति नास्ति घट—घट स्वद्रव्य की अपेक्षा से भी घट है तथा परद्रव्य की अपेक्षा से भी घट है। 4. स्यात् अवक्तव्यो घट—घट कथंचित् अवक्तव्य है— घट के बारे में विधि और निषेध को एक साथ बताने के लिए कोई शब्द न होने से घट को अवक्तव्य कहा जाता है। 5. केवल विधि और निषेध, एक साथ विधि—निषेध की विवक्षा करने से घट है और अवक्तव्य है, यह पाँचवाँ भंग बनता है। 6. केवल निषेध और एक साथ विधि—निषेध, दोनों की विवक्षा से घट नहीं है और अवक्तव्य है, यह छठवां भंग है और 7. दोनों की एक साथ विधि—निषेध तथा दोनों की विवक्षा से घट नहीं हैं और अवक्तव्य है, यह सातवाँ भंग है। इस प्रकार,, सर्वप्रथम सप्तभंगी के स्वरूप की संक्षिप्त चर्चा करने के पश्चात् सप्तभंगी के एकान्तवादियों का निरसन करने की चर्चा के पश्चात् यह भी वर्णन किया गया है कि शिष्य के हृदय में सात प्रकार की ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है, अतः, भंग भी सात होते हैं तथा यह सप्तभंगी प्रत्येक भंग में दो प्रकार की होती है— 1. सकलादेश स्वभाववाली और 2. विकलादेश स्वभाववाली। सकलादेश के अंतर्गत काल आदि आठ भेद बताए गए हैं— 1. काल 2. आत्मरूप 3. अर्थ 4. संबंध 5. उपकार 6. गुणीदेश 7. संसर्ग और 8. शब्द। सकलादेश और विकलादेश की चर्चा में यह उल्लेख किया गया है कि सकलादेश वस्तु के अनन्तधर्मात्मक—पक्ष को ग्रहण करता है, जबकि अनन्तधर्मात्मक—पक्ष में से किसी एक पक्ष को ग्रहण करना, अर्थात् एक पक्ष की चर्चा करना विकलादेश है। सकलादेश में द्रव्यार्थिक—नय की प्रधानता रहती है और विकलादेश में पर्यायार्थिक—नय की प्रधानता रहती है। इस प्रकार,, इसकी विस्तृत चर्चा के उपरान्त चतुर्थ परिच्छेद के अन्तिम दो सूत्रों में प्रमाण के प्रतिनियत विषय की चर्चा करते हुए लिखा है कि प्रत्यक्ष और परोक्ष— दोनों प्रकार का प्रमाण अपना—अपना आवरण करने वाले कर्मों के क्षयोपशमरूप शक्ति से नियत—नियत पदार्थ को प्रकाशित करता है। प्रमाण वस्तु को दो के माध्यम से जानता है— 1. तदुत्पत्ति और 2. तदाकारता।[36] रत्नप्रभसूरि द्वारा तदुत्पत्ति और तदाकारता के संबंध में अन्य दार्शनिक—मतों की समीक्षा की जाने की चर्चा की गई है।

---

36 देखें – प्रमाणनयतत्त्वालोक, चतुर्थ परिच्छेद

5. चतुर्थ परिच्छेद में प्रमाण का स्वरूप, प्रमाण की संख्या तथा तत्संबंधी प्रसंगानुसार अन्य दार्शनिक–मतों के अन्यान्य–संबंध की समीक्षा की विस्तृत चर्चा करने के उपरान्त प्रमाण से जानने योग्य जो ज्ञेय पदार्थ है, उस प्रमेय विषय की चर्चा पंचम परिच्छेद में रत्नप्रभ द्वारा की गई है। प्रथम सूत्र की व्याख्या में सर्वप्रथम यह चर्चा की गई है कि ज्ञेय–पदार्थ विषय कहलाता है और उस पदार्थ को बताने वाला जो ज्ञान है, वह विषयी कहलाता है। यहाँ यह प्रश्न उठाया गया है कि प्रमाणात्मक–ज्ञान का जो विषय है, वह विषय कैसा है ? कितने धर्मवाला है ? कौन–कौनसे धर्म वाला है ? वह धर्म परस्पर कैसा है ? इसके समाधान की चर्चा में यह प्रतिपादित किया गया है कि प्रथम सूत्र में जो 'आदि' शब्द है, उस आदि शब्द से अस्ति–नास्ति, नित्य–अनित्य, भिन्न–अभिन्न, वाच्य–अवाच्य, अभिलाप्य–अनभिलाप्य, एक–अनेक, सत्–असत्, सामान्य–विशेष– इस प्रकार, से वस्तु अनन्त–धर्मात्मक होती है और वह अनन्त–धर्मात्मक वस्तु (पदार्थ) ही ज्ञान का विषय (प्रमेय) बनता है। तत्पश्चात्, ग्रन्थकर्त्ता सामान्य और विशेष–ऐसी उभयधर्मात्मक वस्तु को ज्ञान का विषय (प्रमेय) बताकर, केवल सामान्य धर्मवाली वस्तु ही प्रमेय है– ऐसा मानने वाले वेदान्त और मीमांसक–दर्शन (अद्वैतवाद) के खण्डन होने की चर्चा, मात्र विशेष धर्मवाली वस्तु ही प्रमेय है– ऐसा मानने वाले बौद्ध–दर्शन (क्षणिकवाद) के खण्डन की चर्चा तथा स्वतंत्र रूप से (एकान्त–भिन्नत्व) रहे हुए सामान्य और विशेष को मानने वाले नैयायिक और वैशेषिक (स्वतंत्र सामान्य–विशेषादिक) के भी खंडन की चर्चा है। ज्ञान का विषयभूत प्रत्येक पदार्थ सामान्य और विशेष– ऐसा उभयात्मक ही है, जिससे केवल–सामान्य, केवल–विशेष अथवा स्वतंत्र–उभयधर्म में प्रमाण का विषय भी स्वतः खण्डित हो जाने की चर्चा की गई है। नैयायिकों ने अपनी–अपनी विस्तृत व्याख्या में जैनदर्शन की समालोचना में यह चर्चा की है कि सामान्य और विशेष–सबकी अलग–अलग स्वतंत्र–सत्ता है। सामान्य सर्वगत है और विशेष व्यक्तिगत। सामान्य समष्टि में है तथा विशेष व्यष्टि में है। नैयायिक–मत की समीक्षा करते हुए रत्नप्रभ द्वारा यह चर्चा की गई है कि वस्तु सामान्य और विशेषात्मक– दोनों ही है। जो सामान्य है, वही विशेष है, जो विशेष है, वही सामान्य है। सामान्य और विशेष– दोनों ही वस्तु के गुण–धर्म हैं, अर्थात् वस्तु में परस्पर विरोधी गुणधर्म रहे हुए हैं, इसलिए वस्तु को अनेक धर्मों का समूह कहा गया है। जैसे आत्मा (नित्य) और शरीर (अनित्य)– ये परस्पर विरोधी होते हुए भी साथ–साथ रह सकते हैं, उसी प्रकार के

आधार पर रत्नप्रभ ने विविध तर्कों के माध्यम से नैयायिक मत की विस्तृत रूप में चर्चा की है। जैन–दर्शन के अनुसार, वस्तु सामान्य, विशेष आदि अनेक धर्मों का समूह मानने की चर्चा के साथ ही रत्नप्रभ द्वारा सामान्य और विशेष– दोनों को स्वीकारने की चर्चा की गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ में सामान्य को दो प्रकार से प्ररूपित किया गया है – 1. तिर्यक्– सामान्य और 2. ऊर्ध्वता–सामान्य, अर्थात् अनुवृत्ताकार–तिर्यक्–सामान्य और अनुगताकार–ऊर्ध्वतासामान्य। तत्पश्चात्, पूर्वपक्ष के रूप में बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर रत्नप्रभ के समक्ष अपने मत की चर्चा में कहते हैं कि अनुगताकार (सदृशाकार) का जो बोध होता है, वह बोध सामान्य का बोध नहीं, अपितु अन्यव्यावृत्ति मानने की चर्चा है। सदृश–परिणाम को दर्शानेवाली सामान्य नाम की कोई वस्तु नहीं हैं। अन्य की व्यावृत्ति करना ही सामान्य है। पुनः, बौद्ध–दार्शनिक अनुगताकारता का बोध अन्य–व्यावृत्ति आदि किसी भी कारण से न होकर मात्र वासना (संस्कार) से, अर्थात् मानसिक–संकल्पना से हो जाने की चर्चा के साथ बाह्यार्थ की सत्ता को भी नहीं मानते हैं। तथाभूत–प्रत्यय वासना का ज्ञान कराता है। निमित्त–कारण के द्वारा वासना तथाभूत–प्रत्यय को उत्पन्न करती है। पुनः, बौद्धों द्वारा यह भी चर्चा मिलती है कि चाहे समान–आकार वाले हों, चाहे असमान आकार वाले, सभी पदार्थों में प्रत्यासत्ति–संबंध होने के कारण सदृश–परिणामता का बोध होता है। उसी प्रत्यासत्ति–संबंध से विसदृशता का भी बोध होता है। रत्नप्रभ द्वारा बौद्धों पर आक्षेप उठाते हुए यह चर्चा की गई है यदि आप सामान्य को नहीं मानेंगे, तो सामान्य की व्यावृत्ति कैसे करेंगे ? अन्य की व्यावृत्ति तो हम जैन भी करते हैं। यदि आप व्यक्ति–विशेष में भिन्न–भिन्न व्यावृत्ति करेंगे, तो क्या वे व्यावृत्तियाँ एक हैं ? या अनेक हैं ? सबकी व्यावृत्तियाँ भिन्न–भिन्न होंगी? या अभिन्न होंगी ? आप बौद्ध तो व्यावृत्ति को अन्तरात्मक–व्यावृत्ति अन्तर्गत भी नहीं मानते हैं और बाह्यात्मक–व्यावृत्ति भी नहीं मानते हैं। पुनः, रत्नप्रभ द्वारा बौद्धों के विरुद्ध यह प्रश्न उठाया गया कि आप वस्तु के स्वरूप को निश्चित करने के लिए अन्य की व्यावृत्ति करते हैं, तो वह अन्य की व्यावृत्ति क्या है ? उसका आधार क्या है ? क्या वह वस्तु है ? या अवस्तु है ? इनकी समीक्षा में रत्नप्रभ कहते हैं– आपने तो सामान्य की सत्ता को स्वीकार कर लिया है, क्योंकि वस्तु के स्वरूप में कथंचित्–विधान भी है तथा कथंचित्–निषेध भी है। पुनः, रत्नप्रभ समीक्षा करते हुए कहते हैं कि यदि आप अनुगताकारता के बोध को अन्य–व्यावृत्ति मानकर उसे मानसिक–संकल्पना (वासना) ही मानते हैं, किन्तु हमारी

मानसिक–संकल्पना का आधार तो सत्तात्मक–पदार्थ ही है। यहाँ रत्नप्रभ द्वारा बाह्यार्थ को स्वीकार किए जाने की चर्चा है। वासनाजन्य–ज्ञान में भी कहीं न कहीं बाह्यार्थ का यथार्थ–बोध होता है। तत्पश्चात्, यदि अनुगताकारता (सामान्य) का बोध वासनाजन्य ही है, तो रत्नप्रभ द्वारा खण्डन किया गया है कि क्या यह वासना किसी पदार्थ को विषय बनाकर तथाभूत–प्रत्यय को उत्पन्न करती है ? किंवा निमित्तकारण से तथाभूत–प्रत्यय को उत्पन्न करती है ? रत्नप्रभ द्वारा की गई समीक्षा में यह चर्चा है कि वासना और सामान्य में कोई अन्तर नहीं है। चूंकि पदार्थ में रहा हुआ सामान्य ही तथाभूत–ज्ञान को उत्पन्न करता है, अतः, बाह्यार्थ को स्वीकार किए बिना कोई भी पदार्थ वासनाजन्य नहीं हो सकता, इसलिए वासना सामान्य से पृथक् नहीं होने से आप बौद्धों को सामान्य की सत्ता स्वीकार किए जाने की चर्चा की गई है। पुनः, निमित्त–कारण से भी तथाभूत–प्रत्यय उत्पन्न नहीं होने की चर्चा की गई है। पुनः, रत्नप्रभ द्वारा बौद्धमत के अनुसार अन्य की व्यावृत्ति असमान आकार वाले पदार्थ में होने से विशेष बन जाएगी तथा समान आकार वाले में होने से सामान्य हो जाएगी, अतः, सदृशपरिणामत्वरूप सामान्य को तो स्वीकार करना ही होगा, इसकी चर्चा की गई है। पुनः, रत्नप्रभ द्वारा प्रत्यासत्ति–संबंध की समीक्षा में उल्लेख किया गया है कि आप बौद्धों का जो मंतव्य है कि जिस प्रत्यासत्ति–संबंध से सदृश–परिणाम का बोध होता है, उसी प्रकार विसदृशता का भी बोध होता है, चाहे समान आकार वाले हों या असमान–आकार वाले, सभी पदार्थों में सदृशपरिणामता का बोध होता है। फलतः, बौद्धों द्वारा संसार की प्रत्येक वस्तु, चाहे वह जड़ हो, चाहे वह चेतन, सभी में एकरूपता मानें जाने की चर्चा की गई है। रत्नप्रभ बौद्धों के विरोध में समीक्षा करते हैं कि प्रत्यासत्ति–संबंध में तो सदृशता एवं विसदृशता– दोनों धर्म माने जाने की चर्चा की गई है, वरना न तो आपके मत की सिद्धि होती है, न ही जैनमत की, अपितु एक तीसरे ही मत अद्वैतवाद की पुष्टि होती है, क्योंकि अद्वैतवाद के अनुसार संसार की प्रत्येक वस्तु, चाहे वह जड़ हो, चाहे चेतन, सबको ब्रह्मस्वरूप माने जाने की चर्चा की गई है, उनके अनुसार ब्रह्म ही सत् है, ब्रह्म के अतिरिक्त पदार्थ नाम की कोई वस्तु नहीं है, अतः, रत्नप्रभ द्वारा बौद्धों की यह मान्यता ब्रह्माद्वैतवादियों के पक्ष को ही सिद्ध करती है। रत्नप्रभ द्वारा बौद्धों को अद्वैतवादियों के समान बताए जाने पर बौद्ध–दार्शनिक द्वारा रत्नप्रभ पर यह आक्रोश व्यक्त किए जाने की चर्चा है कि आपके द्वारा हमारे मत

को ब्रह्माद्वैतवादियों के समान बताना समुचित नहीं है, क्योंकि जब जड़–चेतन रूप पदार्थों से भिन्न 'ब्रह्म' नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है, तब ऐसा कैसे कहा जा सकता है कि सभी पदार्थ वास्तविक नहीं हैं ? विशेष के पक्षधर बौद्ध–मत का खण्डन करते हुए रत्नप्रभ द्वारा यह चर्चा की गई है कि जिस प्रकार ब्रह्माद्वैतवाद के खण्डन में आप बौद्धों ने जो यह तर्क दिया कि ब्रह्म नाम की कोई वस्तु नहीं हैं, उसी प्रकार आपके विरोध में सदृशपरिणामरूप–सामान्य के बिना भी संसार में स्वलक्षण नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है। पुनः, पदार्थ सर्वप्रथम सामान्य रूप में ही जाना जाता है, तथा संसार के प्रत्येक पदार्थ को शून्यरूप मानने पर तो विशेष को भी शून्यरूप ही मानना होगा, अतः, विशेष की स्वतंत्र सत्ता कैसे सिद्ध होगी, ऐसी बौद्ध–मत की समीक्षा रत्नप्रभ द्वारा की जाने की चर्चा मिलती है। बौद्धमत द्वारा पुनः प्रत्येक पदार्थ को प्रतिक्षण परिवर्तनशील माने जाने की चर्चा है, प्रतिक्षण बदलती नई पर्याय विशेष रूप में ही लक्षित होने की चर्चा है, अतः, विसदृशाकारता ही पदार्थ का यथार्थ–लक्षण माने जाने की चर्चा और अत्यन्त भिन्न पदार्थों में 'सदृशपरिणामता' (सामान्य) को नहीं माने जाने की बौद्ध–मत की चर्चा की गई है। पुनः, बौद्धमत की समीक्षा में रत्नप्रभ द्वारा पदार्थ की सामान्य–विशेषात्मक अर्थात् उभयात्मक माने जाने की चर्चा है। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ में कथंचित्–भिन्नता भी है तथा कथंचित्– समानता भी, फलतः रत्नप्रभ द्वारा प्रत्येक पदार्थ में सामान्य (सदृशपरिणामता) और विशेष (विसदृशपरिणामता)– दोनों ही संभव होने की चर्चा के साथ ही रत्नप्रभ द्वारा बौद्धों को सामान्य और बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार किए जाने की चर्चा की गई है।

रत्नाकरावतारिका के पंचम परिच्छेद में सामान्य के दो भेदों की चर्चा है– तिर्यक्–सामान्य और ऊर्ध्वता–सामान्य। तिर्यक्–सामान्य की चर्चा पूर्व में की जा चुकी है। पूर्व–पर्याय और उत्तरपर्याय में, अर्थात् तीनों काल में द्रव्य के एक ही अवस्था में अपने स्थायित्व–गुण में रहने को ऊर्ध्वता–सामान्य कहे जाने की चर्चा है। ज्ञातव्य है कि रत्नाकरावतारिका में जैन–दर्शन एवं बौद्धदर्शन में द्रव्य और पर्याय को लेकर जो मतभेद हैं, उसकी समीक्षा की जाने की चर्चा है। सर्वप्रथम, जैन–दर्शन द्वारा प्रत्येक पदार्थ में द्रव्य और पर्याय– दोनों तत्त्वों के रहने की चर्चा है। प्रत्येक पदार्थ में द्रव्य की ध्रौव्यता है, तो पर्यायों का परिवर्तन–गुण भी रहा हुआ है, अर्थात् पर्याय के कारण उत्पाद–व्यय–धर्म को भी माने जाने की चर्चा है, किन्तु बौद्ध–दार्शनिक द्वारा द्रव्य की ध्रौव्यता को नहीं माने जाने की भी

चर्चा है, क्योंकि उनके द्वारा उत्पाद और व्यय को ही माने जाने की चर्चा की गई है। तात्पर्य यह है कि बौद्धों द्वारा पदार्थ में स्थायित्व–गुण (द्रव्य) को स्वीकार नहीं किए जाने की चर्चा है, अतः, ऊर्ध्वतासामान्य बौद्धदर्शन द्वारा स्वीकार्य नहीं है। पूर्वपक्ष के रूप में बौद्ध–दार्शनिक द्वारा रत्नप्रभ के समक्ष अपने पक्ष की पुष्टि किए जाने की चर्चा है कि प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है तथा क्षणिक पदार्थ सत् भी होते हैं और उनमें अर्थक्रियाकारित्व का गुण भी माने जाने की चर्चा के साथ ही बौद्धों द्वारा शब्द को भी क्षणिक माने जाने की चर्चा की गई है। पुनः, बौद्ध अपने मत की पुष्टि में यह चर्चा करते हैं कि अर्थक्रिया का होना ही सत्ता का स्वलक्षण है और वही पदार्थ की सत्ता है। रत्नप्रभ द्वारा बौद्धों की समीक्षा में यह चर्चा की गई है कि आप बौद्धों का अर्थक्रियाकारित्वरूप जो हेतु है, वह तो अनेकान्तिक–हेत्वाभास से युक्त है, क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व तो नित्य–पदार्थों में एवं अनित्य–पदार्थों में (क्षणिक) भी होता है। पुनः, बौद्धों से रत्नप्रभ द्वारा यह प्रश्न उठाए जाने की चर्चा है कि जिसे आप बौद्ध अर्थक्रिया कहते हैं, वह अर्थक्रिया क्रम से होती है ? या अक्रम से होती है ? या क्रमाक्रम से होती है ? इसकी संक्षिप्त व्याख्या करते हुए रत्नप्रभ द्वारा यह चर्चा है कि तीनों कालों में क्षणिक पदार्थ अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं होता है। नित्य–पदार्थ ही तीनों कालों में अर्थक्रिया करने में समर्थ होता है। जैनमत का खण्डन करते हुए बौद्धों द्वारा रत्नप्रभ के समक्ष यह प्रश्न उठाए जाने का उल्लेख है कि पदार्थ अपेक्षित सहकारी–कारणों के होने पर ही अर्थक्रिया करता है ? या अपेक्षित सहकारी–कारणों के न होने पर अर्थक्रिया नहीं करता है ? पुनः, बौद्धों द्वारा प्रश्न उठाए जाने की चर्चा की है कि क्या आप जैन 1. पदार्थ को स्वयं के स्वरूप की प्राप्ति करने के लिए सहकारी–कारणों के सहयोग की अपेक्षा मानते हैं? या 2. कोई उपकार करने के लिए सहकारी–कारणों की अपेक्षा मानते हैं ? या 3. कार्य करने के लिए सहकारी–कारणों के सहयोग की अपेक्षा मानते हैं ? इस प्रकार,, बौद्ध अपने मत की पुष्टि में रत्नप्रभ के समक्ष यह चर्चा करते हैं कि पदार्थ चाहे कार्य करने में समर्थ हो या न भी हो– दोनों अवस्थाओं में सहकारी–कारणों की आवश्यकता नहीं रहती है। पुनः, बौद्धों द्वारा जैन–मत के विरोध में रत्नप्रभ के समक्ष यह चर्चा की गई है कि पदार्थ को अर्थक्रिया में निमित्तकारण या उपादानकारणरूप सहकारी–कारणों को मानने की आवश्यकता नहीं है। पदार्थ से उत्पन्न होने वाला कार्य तो परतंत्र है, स्वतंत्र नहीं है। इसके उपरान्त पुनः, बौद्ध–दार्शनिक द्वारा रत्नप्रभ के समक्ष

जैन–मत की समीक्षा में अपने पक्ष के समर्थन में, नित्य–पदार्थ न तो क्रम से, न अक्रम से, न युगपत् से अर्थक्रिया करने में समर्थ है, अतः, पदार्थ सत्व–लक्षण से युक्त होने से वे क्षणिक अर्थात् परिवर्तनशील माने जाने की चर्चा की गई है। अंत में, बौद्ध–दार्शनिक रत्नप्रभ के समक्ष अपने पक्ष के समर्थन में अपने मत को मानने के पक्ष में आग्रह किए जाने की चर्चा की गई है। बौद्धों द्वारा उठाए गए समस्त तर्कों का खण्डन करते हुए रत्नप्रभ द्वारा चर्चा की गई है कि प्रतिक्षण नष्ट होने वाला पदार्थ प्रत्यक्ष–प्रमाण का विषय नहीं बन सकता, क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व का यथार्थ–बोध कारण और कार्य– दोनों से न होकर उभयग्राही ज्ञान से ही माना जाए। बौद्धों द्वारा पुनः कारण या कार्य में से किसी भी एक की सिद्धि से दोनों की सिद्धि हो जाने की चर्चा की गई है। रत्नप्रभ द्वारा कारण या कार्य में से किसी एक के प्रत्यक्ष–ज्ञान से ही सत् के अर्थक्रियाकारित्व का ज्ञान संभव नहीं माने जाने की चर्चा की गई है, साथ ही कारण–कार्य का युगपत् ज्ञान भी बौद्धों द्वारा क्षणिक होने से प्रत्यक्ष का विषय नहीं माने जाने की चर्चा की गई है। बौद्ध स्वपक्ष के संबंध में, कारण या कार्य, किसी भी एक प्रकार के प्रत्यक्ष से मानसिक–विकल्प के उत्पन्न होने से अर्थक्रियाकारित्व के निर्णय हो जाने की चर्चा की है, अर्थात् पूर्वकाल के प्रत्यक्ष के उत्तरकाल के उसी प्रत्यक्ष से (विचार–विशेष से) अर्थक्रियाकारित्व के निर्णय की चर्चा की है। इस पर, रत्नप्रभसूरि बौद्धमत की समीक्षा में– पदार्थ का जो प्रत्यक्ष–ज्ञान हुआ, वह कारण का, या कार्य का, या कारण और कार्य– दोनों का हुआ ? इस प्रकार, प्रश्न उठाए जाने की चर्चा के उपरान्त रत्नप्रभ द्वारा अपने मत की पुष्टि में न तो कार्य या कारण में से किसी एक के ग्राही विकल्प से ही अर्थक्रियाकारित्व का निश्चय होता है, न किसी एक ग्राही विकल्प से ही अर्थक्रियाकारित्व का निश्चय होता है, अपितु उभयग्राही प्रत्यक्ष से ही अर्थक्रियाकारित्व के निश्चय हो जाने की चर्चा की गई है। बौद्धों द्वारा अनेकान्तिक–हेत्वाभास के दो भेद बताए जाने की चर्चा है। ये भेद हैं– 1. संदिग्धानेकान्तिक–हेत्वाभास और 2. निश्चितानेकान्तिक–हेत्वाभास। इस हेत्वाभास की सिद्धि के लिए बौद्धों द्वारा यह प्रश्न उठाए जाने की चर्चा रत्नप्रभ ने की है, साथ ही क्षणिक वस्तु में क्रमाक्रम नामक उपालंभ की चर्चा की गई है। रत्नप्रभ द्वारा बौद्धों की समीक्षा में यह चर्चा की गई है कि एक कार्य सम्पन्न करके दूसरा कार्य करना ही क्रम है। एकान्त–क्षणिकवाद में तो क्रम नहीं बनने की चर्चा है, किन्तु क्षणिकाक्षणिक में तो क्रम के बनने की चर्चा की है। पुनः, रत्नप्रभ द्वारा बौद्धों को तो

पदार्थ के क्रमाक्रम से अर्थक्रिया करने वाला तथा नित्यानित्य ही माने जाने की चर्चा के साथ ही एकान्तरूप से पदार्थ को क्षणिक माने जाने की बौद्धों की अवधारणा की समीक्षा किए जाने की चर्चा की गई है। इसके विपक्ष में बौद्धों द्वारा जब सम्पूर्णरूपेण कारण के समर्थ होते हुए भी, अर्थात् जब कारण से कार्य उत्पन्न होता है, तो फिर कार्य के उत्पन्न होने में विलम्ब क्यों बनता है, जैसे– अंकुर के उत्पन्न होने में विलम्ब क्यों होता है ? इस पर जैनों के समक्ष तर्क उठाए जाने की चर्चा की गई है। रत्नप्रभ द्वारा इस समाधान के रूप में कोई भी पदार्थ बिना विलंब के तत्काल ही कार्य के रूप में उत्पन्न हो जाए– ऐसा एकान्त–सिद्धान्त जैनों द्वारा नहीं माने जाने की चर्चा की गई है। प्रत्येक पदार्थ में द्रव्य और पर्याय–उभयात्मक–धर्म रहे हुए हैं, अतः, नवीन पर्याय के उत्पन्न होने में सहकारी–निमित्त–कारणों के होने से ही पर्याय नवीन रूप में प्रकट होने की स्थिति बनने की चर्चा की गई है। जिस पदार्थ में उत्पन्न होने (उगने) की शक्ति नष्ट हो चुकी हो, उसे सहकारी–कारणों के मिलने पर भी उत्पन्न नहीं होने की चर्चा की गई है, साथ ही द्रव्य में उत्पन्न होने और नहीं होने, अर्थात् अक्षेपक्रिया, क्षेपक्रिया (विलंब, अविलंब) उभयात्मक स्वभाव वाला बताए जाने की चर्चा की गई है। इसके पश्चात्, बौद्धों द्वारा जैनों के समक्ष यह प्रश्न उठाए जाने की चर्चा है– आपके अनुसार क्या द्रव्य में रही हुई पर्याय–शक्ति द्रव्य से 1. भिन्न है ? या 2. अभिन्न है ? या 3. भिन्नाभिन्न है ? पुनः, जब सहकारी–कारण से ही द्रव्य का उत्पन्न होना माना जाए, तो पर्याय–शक्ति को मानने की क्या आवश्यकता है तथा सहकारी–कारणों को ही कार्य का हेतु मानने में क्या आपत्ति है ? ऐसी चर्चा के उपरान्त पुनः, यदि सहकारी–कारण द्रव्य से भिन्न हो, तो सहकारी–कारण के मानने से कोई विशेष लाभ भी नहीं माने जाने की चर्चा है। अन्त में, बौद्ध चर्चा में लिखते हैं कि सहकारी–कारणों के बिना भी द्रव्य (बीज) उत्पन्न हो सकता (उग सकता) हो, तीनों लोकों के समस्त पदार्थों को भी सहकारी–कारण बन जाना चाहिए और इसके साथ ही सहकारी–कारण से द्रव्य (बीज) के उगने की शक्ति को माने जाने की चर्चा की गई है। जैनों ने बौद्धों के विषय में यह चर्चा की है कि विशेष–सहकारी–कारण के होने पर ही द्रव्य (बीज) उत्पन्न हो सकता है, दूसरे, विशेष–सहकारी–कारण भी विशेषता के अभाव में सहयोगी कैसे बनेगा ? अर्थात्, नहीं बनेगा। इस पर, बौद्ध–दार्शनिक जैनमत की समीक्षा करते हुए उल्लेख करते हैं कि पर्याय–शक्ति को द्रव्य से भिन्न मानने पर उसमें दोष उत्पन्न होगा। दूसरे, अभिन्न मानने पर तो

द्रव्य में ही पर्याय को मानना होगा, अर्थात् द्रव्य को कृतक मानना होगा, अतः, द्रव्य (पदार्थ) कृतक होने के कारण द्रव्य या पदार्थ के क्षणिक माने जाने की चर्चा की गई है। तीसरे, पर्याय–शक्ति को द्रव्य से 'भिन्नाभिन्न' माने तो यह भी उचित नहीं है, ऐसी भी चर्चा बौद्धों द्वारा की गई है तथा यह प्रश्न उठाए जाने की भी चर्चा है कि वस्तुतः आपके (जैन–मत के) सिद्धान्तानुसार पर्याय–शक्ति क्या है ? बौद्धों द्वारा रत्नप्रभ के समक्ष विरोध में तीन प्रश्न उठाए जाने पर कि 1. पर्याय–शक्ति द्रव्य से भिन्न है ? या 2. अभिन्न है ? या 3. भिन्नाभिन्न है ? इसकी समीक्षा में रत्नप्रभ द्वारा अन्तिम भिन्नाभिन्न पक्ष को स्वीकारने की चर्चा है, जिसमें किसी भी प्रकार के दोष की संभावना नहीं है। रत्नप्रभ ने पुनः यह चर्चा भी की है कि हम तो द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से पदार्थ को नित्य भी मानते हैं तथा पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से अनित्य भी मानते हैं। यहाँ पर बौद्धों के एकान्त–क्षणिकवाद के खण्डन की चर्चा मिलती है। रत्नप्रभ कथंचित्–क्षणिकत्व को तो मानते ही हैं, इस पर बौद्धों द्वारा यह चर्चा की गई है कि प्रतिक्षण बदलने वाली पर्याय तो क्षणिक ही होगी। इस प्रकार,, कथंचित्–क्षणिक नहीं माने जाने की चर्चा की गई है और द्रव्य तथा पर्याय में विरोध होने से तो एक ही स्थान में एक साथ नहीं रह सकने की भी चर्चा की गई है। जैन–दार्शनिक रत्नप्रभ द्वारा पर्याय को भी द्रव्य से कथंचित्–भिन्न और कथंचित्–अभिन्न, अर्थात् उभयात्मक माने जाने की चर्चा की गई है। रत्नप्रभ द्वारा बौद्धों की समीक्षा करते हुए, प्रत्येक द्रव्य को पर्याय की अपेक्षा से भेदरूप और द्रव्य की अपेक्षा से अभेदरूप माने जाने की तथा अपेक्षा–भेद से विधि और निषेध (प्रयोग–अप्रयोग) करने पर कोई विरोध उत्पन्न नहीं होने की चर्चा को एक उदाहरण के माध्यम से समझाया गया है। इसके पश्चात्, भेद का कथन किस प्रकार किया जाता है और अभेद का कथन किस प्रकार किया जाता है, इसकी चर्चा की गई है। रत्नप्रभ द्वारा बौद्धों पर आक्षेप लगाए जाने की चर्चा में, यह उल्लेख करते हुए कि बौद्ध–दार्शनिकों द्वारा एक ही विज्ञानक्षण को सविकल्पक और निर्विकल्पक, भ्रान्त और अभ्रान्त, पूर्वक्षण की अपेक्षा से कार्यरूप और उत्तरक्षण की अपेक्षा से कारणरूप मानकर, परस्पर–विरोधी उभयात्मक स्वरूप को स्वयं बौद्धों द्वारा स्वीकार किए जाने की चर्चा की गई है, किन्तु बौद्धों द्वारा माने गए भेदाभेद में परस्पर विरोध कहकर दोष दिखाए जाने की चर्चा भी की गई है। इसके साथ ही, रत्नप्रभ द्वारा बौद्धों के अर्थक्रियाकारी–सिद्धांत में संदिग्धानेकान्तिक–दोष सिद्ध होने की चर्चा की

गई है। पुनः, रत्नप्रभ द्वारा क्रम–अक्रम और क्रमाक्रम किसे कहा जाता है, इसकी चर्चा के उपरांत बौद्ध–मत की समीक्षा में बौद्धों के एकांत–क्षणिकवाद में न तो देशक्रम और न ही कालक्रम संभव हो सकने की चर्चा की गई है तथा साथ ही रत्नप्रभ द्वारा यह प्रश्न उठाए जाने की चर्चा की गई है कि किसी एक देश अथवा काल में रहा हुआ पदार्थ एक क्रिया करके नष्ट हो गया हो, तो पुनः उसी देश और काल में कौनसी क्रिया करेगा ? अर्थात् बौद्धों के एकांत–क्षणिकवाद में क्रम नहीं बनता तथा अक्रम भी नहीं बनता एवं योगपद अर्थात् क्रमाक्रम भी संभव नहीं माना गया है। इसके पश्चात्, रत्नप्रभ द्वारा बौद्धों से यह प्रश्न उठाए जाने की चर्चा है कि पदार्थ, पदार्थ का आकार और उसका ज्ञान– ये तीनों एक ही समय में कैसे संभव होंगे ? अर्थात् 'रूपक्षण' और 'ज्ञानक्षण' का स्वभाव एक ही है या भिन्न–भिन्न है ? रत्नप्रभ द्वारा बौद्धों के विरोध में यह भी चर्चा की गई है कि पदार्थ क्षणिक और अनंश–स्वरूप वाला नहीं हो सकता। इस पर बौद्धों द्वारा यह चर्चा की गई है कि निमित्तकारणभूत सामग्री से भी भिन्न–भिन्न अर्थक्रिया के कार्य होते हैं, अर्थात् निमित्त–भेद से अनेक कार्य होते हैं, अतः, ऐसा भिन्न–भिन्न कथन करने में कौन–सी बाधा उत्पन्न होती है ? बौद्धों के विपक्ष में रत्नप्रभसूरि द्वारा पदार्थ को सापेक्षिक रूप से अक्षणिक (नित्य) एवं एक–स्वभाव वाला माने जाने की चर्चा करते हुए बौद्धों पर यह आक्षेप लगाया गया है कि उन्होंने पदार्थ को नित्य मानने वाले सांख्य–मत को भी सदोष बता दिया है, जबकि सांख्य भी प्रकृति को एकनित्य एवं परिणामी मानते हैं एवं एक ही प्रकृति को सामग्री–भेद से भिन्न कार्य करने वाली मानते हैं, अतः, बौद्धों के क्षणिकवाद में क्रम या अक्रम से होने वाली अर्थक्रिया संभव नहीं होने से आपका 'सत्व–हेतु' विरुद्धहेत्वाभास से युक्त सिद्ध होता है। पुनः, रत्नप्रभ द्वारा पदार्थ को सर्वथा निरपेक्ष होकर उत्पन्न नहीं होने की चर्चा की है। उसमें कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में सापेक्षता माने जाने की चर्चा की है। इसके विरोध में बौद्धों द्वारा पुनः क्षणक्षयी–पदार्थ निरपेक्ष ही होने की चर्चा की है। उनके द्वारा किसी भी विनाशक–सामग्री की अपेक्षा नहीं माने जाने की चर्चा की है। पुनः, बौद्धों पर रत्नप्रभ ने आपत्ति उठाते हुए उनके मत की समीक्षा करते हुए यह चर्चा प्रस्तुत की है कि बौद्धों का हेतु–पक्ष में, अर्थात् वस्तु के विनाशशील स्वभाव या क्षणिक–एकांत में नहीं हो सकता, अतः, बौद्धों का हेतु असिद्धहेत्वाभास नामक दोष से ग्रसित हैं। अपने मत की पुष्टि करते हुए बौद्ध–दार्शनिक उनके द्वारा दिए गए हेतु को असिद्धहेत्वाभास न

बताकर साध्य की सिद्धि करने में निर्दोष माने जाने की चर्चा की है। पुनः, बौद्धों द्वारा शास्त्रों के उल्लेख की चर्चा करते हुए जैनों से यह प्रश्न पूछे जाने की चर्चा है कि वे पदार्थ के विनश्वर स्वभाव को मानेंगे ? या अविनश्वर स्वभाव को मानेंगे ? क्योंकि बौद्धों द्वारा पदार्थ का उत्पाद सहेतुक हैं तथा उनके नाश को निर्हेतुक माने जाने की चर्चा है।

इसके पश्चात्, बौद्धों द्वारा यह प्रश्न भी पूछे जाने की चर्चा है कि– नाश के कारणभूत–सामग्री आदि घटादि पदार्थ से पृथक्–भूत (भिन्न) है ? या अपृथक्–भूत है ? बौद्ध के मत को खण्डित करते हुए रत्नप्रभ चर्चा में लिखते हैं कि घट की उत्पत्ति के लिए तो कारण–सामग्री अपेक्षित है, किन्तु विनाश के लिए नहीं, जबकि विनाश वस्तु का सहज स्वभाव है। पुनः, बौद्ध–दार्शनिक रत्नप्रभ के समक्ष यह चर्चा करते हुए प्रश्न उठाते हैं कि यदि आप जैन नाश के कारणभूत मुद्गर आदि सामग्री को घटादि पदार्थ से पृथक्भूत (भिन्न) मानते हो, तो यह बताइए कि वह सामग्री घटादि पदार्थ के समकालीन हैं ? या उत्तरकालीन है ? अन्ततः तो बौद्धों द्वारा जैनों के पृथक्भूत को उचित नहीं माने जाने की चर्चा की है। बौद्धों द्वारा पुनः जैनों पर यह आक्षेप लगाए जाने की चर्चा है कि जब घट और घटाभाव में परस्पर–विरोध है, तो 'विरोधी' का तात्पर्य क्या है ? 1. क्या घटाभाव घट का नाशक है– ऐसा अर्थ है, अथवा 2. यह घटाभाव घट का नाश है ? क्या ऐसा अर्थ है ? आप विरोधी होने का क्या अर्थ मानते हो ? नाशक या नाश ? इस प्रकार,, बौद्धों द्वारा विस्तृत व्याख्या में अपने मत की पुष्टि एवं जैनमत की समीक्षा की चर्चा के उपरान्त पुनः जैनों से यह प्रश्न पूछे जाने की चर्चा है कि घट और नाश– इन दोनों में किस प्रकार का संबंध है– क्या उनमें कार्य–कारण–भाव का संबंध है ? या 2. संयोग–संबंध है या 3. विशेष्य–रूप संबंध है या 4. अविष्वक्भाव, अर्थात् अभेदरूप–संबंध है ? चौथे अभेदरूप संबंध में फिर बौद्धों द्वारा यह चर्चा उठाई गई है कि आप जैन कदाचित् अभेद–संबंध मानो, तो कौनसा अभेद–संबंध मानोगे ? अन्ततः, बौद्धों ने अपने मत की पुष्टि में अपने सिद्धांत को ही उपयुक्त बताकर विस्तृत व्याख्या करते हुए अपने पूर्वपक्ष के उत्तरपक्ष के समान होने की चर्चा मिलती है। **बौद्धों के पूर्वपक्ष की विस्तृत समीक्षा की चर्चा** के उपरान्त जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि जैनों के उत्तर–पक्ष के रूप में रत्नाकरावतारिका के पंचम परिच्छेद में बौद्धों की समीक्षा में चर्चा की है कि जब पदार्थ की उत्पत्ति सहकारी–कारणों से होती है, तो विनाश भी किन्हीं सहकारी–कारणों से ही होगा, अतः, यहाँ पर

बौद्धों के एकान्तरूप से मात्र विनाश के ही पक्षधर होने का रत्नप्रभ द्वारा खण्डन की चर्चा की गई है। पुनः, रत्नप्रभ द्वारा बौद्धों से यह प्रश्न उठाया गया है कि– यदि आप पदार्थ की उत्पत्ति को सहेतुक मानते हो, तो बौद्धों से यह बताने का आग्रह किए जाने की चर्चा है कि हेतुभूत कारणों से मिट्टी में से उत्पन्न होने वाला घट क्या सत्स्वभाव वाला है ? क्या मिट्टी आदि उपादान–कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान घटादि पदार्थों की उत्पत्ति में सहकारी–कारण–सामग्री उत्पादक बनती है ? या मिट्टी आदि उपादान–कारण–सामग्री में अविद्यमान (अव्यक्त) स्वभाव वाले घटादि पदार्थों की उत्पत्ति में निमित्तभूत–कारण–सामग्री उत्पादक बनती है ? असत्कार्य की उत्पत्ति को सम्भव नहीं मानने वाले बौद्धों के समक्ष जैनों द्वारा यह चर्चा की गई है कि – आप बौद्धों को तो नैयायिकों और वैशेषिकों का असत्कार्यवाद मान्य नहीं है, क्योंकि आप बौद्ध तो सत्कार्यवादी हो, अतः, आप बौद्धों द्वारा असत्स्वभाव को स्वीकार किए जाने पर तो आप बौद्धों का ही शून्यवाद में विरोध उत्पन्न हो जाएगा तथा स्वयं के कथन से स्वयं का सिद्धान्त ही खण्डित हो जाएगा, ऐसी रत्नप्रभ द्वारा चर्चा की गई है। एकान्त–नश्वर–स्वभाव वाले और एकान्त–अनश्वर–स्वभाव वाले– दोनों पदार्थों में ही अपेक्षा–भेद से नाश (व्यय) माने जाने की, अर्थात् उत्पाद और नाश– दोनों– में कारण–सामग्री माने जाने की चर्चा रत्नप्रभ द्वारा की गई है, किन्तु नाशवान पदार्थ के नाश हेतु कारणभूत–सामग्री के आवश्यक नहीं माने जाने की चर्चा की गई है। इस प्रकार,, जैन–दार्शनिक रत्नप्रभ द्वारा पदार्थ में एकान्त–अनित्यता एवं एकान्त–नित्यता को नहीं माने जाने की चर्चा की गई है। इस पर, बौद्धों द्वारा नाश में सत् असत्– दोनों पक्ष को माने जाने की चर्चा की गई है। बौद्धों द्वारा जैनों पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि आप जैन हम बौद्धों पर एकान्त–क्षणिकवादी होने का दोषारोपण करते हैं, किन्तु हम बौद्ध भी आप जैनों पर उत्पाद के संबंध में अहेतुकवादी होने का ऐसा ही दोष लगा सकते हैं, जबकि आप जैन तो उत्पत्ति और नाश– दोनों को ही सहेतुक ही मानते हैं। इस पर, रत्नप्रभ बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि जब आप उत्पाद को सहेतुक मानते हो, तो यह उत्पाद अपने घटादि कार्य से भिन्न है ? या अभिन्न है ? रत्नप्रभ का कहना है कि प्रक्रिया और परिणाम को एकान्तरूप से न तो भिन्न कहा जा सकता है और न अभिन्न कहा जा सकता है। पुनः, रत्नप्रभ ने कार्य और कारण में एकान्त–अपृथक्भूत–पक्ष या अभेदपक्ष को भी उचित नहीं मानें जाने की चर्चा की है। इस प्रकार,,

विस्तृत चर्चा करने के उपरान्त रत्नप्रभ द्वारा बौद्धो के समक्ष यह आपत्ति उठाई गई है कि जिस प्रकार आप बौद्धों ने हम जैनों पर नाश के संबंध में चार प्रश्न उपस्थित किए थे, उसी प्रकार हम जैनों द्वारा भी उत्पाद को सहेतुक मानने के संबंध में वही उपर्युक्त चार प्रश्न पूछे जा सकते हैं कि– उत्पाद और घट में आप बौद्ध कौनसा संबंध मानेंगे ?

1. क्या कार्य–कारण–संबंध मानेंगे ? 2. संयोग–सम्बन्ध मानेंगे ? 3. विशेष्य–विशेषण–संबंध मानेंगे ? अथवा 4. अविष्वक्भाव–संबंध मानेंगे ? अन्त में, रत्नप्रभ द्वारा क्षणिकवाद का उपसंहार करते हुए दोनों पक्षों के समक्ष पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का वर्णन किए जाने की चर्चा में लिखा गया है कि पदार्थ में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अपेक्षा–भेद से किस प्रकार से रहे हुए हैं, यह स्पष्ट हो जाने की चर्चा की गई है।

उपरोक्त चर्चा के सार को निम्न प्रकार से स्पष्ट किए जाने की चर्चा में रत्नप्रभ द्वारा पदार्थ की उत्पत्ति और नाश को निमित्तभूत–कारण–सामग्री भिन्न–भिन्न माने जाने की चर्चा की गई है। रत्नप्रभ द्वारा द्रव्य और पर्याय में एकान्त–भिन्नता या एकान्त–अभिन्नता न मानते हुए कथंचित्–भिन्नता एवं कथंचित्–अभिन्नता, इस प्रकार, तादात्म्य माने जाने की चर्चा की गई है। पुनः, बौद्धों द्वारा किए गए तर्कों की समीक्षा करते हुए रत्नप्रभ द्वारा मिट्टी की पिंडरूप पर्याय में, घट–पर्याय में एवं घट के नाशरूप कपाल के पर्याय में, अर्थात् तीनों ही पर्याय मृत्तिका–द्रव्य की ध्रौव्यता निश्चित रूप से रह जाने की चर्चा की गई है, अर्थात् घट और घट के नाश में भी द्रव्य की तादात्म्यता के कारण कथंचित्–भेद ही माने जाने की चर्चा, किन्तु एकान्तभेद नहीं माने जाने की चर्चा की गई है। पुनः, रत्नप्रभ द्वारा घट के अस्तित्व और घट के विनाश में द्रव्य की अपेक्षा से कथंचित्–अभेद भी है और पर्याय की अपेक्षा से कथंचित्–भेद भी है, इस प्रकार,, महत्वपूर्ण मान्यता की चर्चा की गई है और इसमें किसी भी प्रकार का विरोध बौद्धों द्वारा उठाया जाना उचित नहीं है, ऐसी चर्चा भी रत्नप्रभ द्वारा की गई है। अन्त में, उपसंहार करते हुए रत्नप्रभ द्वारा संसार के समस्त पदार्थों को पूर्व और उत्तरकाल में क्रमवर्ती–पर्यायों से युक्त रहने के कारण उसमें उत्पाद–व्यय और ध्रौव्यत्व–तीनों ही धर्म को माने जाने की चर्चा की गई है, अतः, पदार्थ को सामान्य–रूप और विशेष–रूप– दोनों ही माने जाने की चर्चा की गई है।

तिर्यक्–सामान्य और ऊर्ध्वता–सामान्य– इन दो प्रकार के सामान्य की चर्चा के उपरान्त ग्रंथकर्त्ता श्री रत्नप्रभसूरि विशेष के दो प्रकार गुण और पर्याय की चर्चा प्रारंभ करते है। पर्याय शब्द को कहीं पर सर्वविशेष का वाचक माना जाता है, फिर भी यहाँ पर पर्याय शब्द के साथ गुण शब्द का विधान किए जाने पर मात्र क्रमवर्ती–विशेष–पर्याय को ही वाचक के समान ग्रहण किए जाने की चर्चा है। गुण और पर्याय, विशेष के इन दो भेदों में से सर्वप्रथम गुण को ही समझाने की चर्चा की है। यहाँ पर आत्मा में रही हुई विज्ञान–व्यक्ति और विज्ञान–शक्ति को गुण कहे जाने की चर्चा की गई है। यहाँ पर यह प्रश्न उठाए जाने की चर्चा है कि सुख–दुःख परिस्पन्दन सदाकाल सहभावी न होने के कारण इन तीनों को गुण कैसे कहा जा सकता है ? की चर्चा की गई है। इसके उपरान्त, आठवें सूत्र की व्याख्या में आत्मा के साथ सहभावी–रूप से रहे हुए धर्म को गुण कहे जाने की तथा क्रमभावी–रूप से रहे हुए धर्म को पर्याय कहे जाने की चर्चा की गई है। तत्पश्चात्, प्रश्नकर्त्ता द्वारा प्रश्न उठाए जाने की चर्चा है कि जो गुण है, वही पर्याय है तथा जो पर्याय है, वही गुण है, तो गुण और पर्याय की भिन्नता को किस प्रकार से समझे जाने की चर्चा की गई है ? समाधान के रूप में रत्नप्रभ द्वारा ज्ञान–त्रैकालिक होने से गुण और उसकी मात्रा एककालीन होने से पर्याय हाने की चर्चा की गई है तथा धर्मी की अपेक्षा से अभेदरूप और स्वरूप की अपेक्षा से भेदरूप की चर्चा की गई है।

प्रस्तुत–ग्रन्थ के पंचम परिच्छेद में सर्वप्रथम तो विशेष के प्रकारों की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि विशेष दो प्रकार का होता है– गुणरूप और पर्यायरूप। इसमें वस्तु के जो सहभावी धर्म होते हैं, उनको गुण कहा जाता है और जो क्रमभावी धर्म होते हैं, उनको पर्याय कहा जाता है। इसी प्रसंग में जहाँ न्याय–वैशेषिकदर्शन गुण को द्रव्य से सर्वथा भेद मानता है, वहीं बौद्धदर्शन गुण और पर्याय को पदार्थ से अभिन्न मानता है, अतः, इस प्रकरण में जैनाचार्यों ने न्याय–वैशेषिक–दर्शन और बौद्धदर्शन की समीक्षा करते हुए यह बताया है कि गुण और पर्याय का पदार्थ से न तो सर्वथा–भेद है और न सर्वथा–अभेद है, अपितु वे न तो एकान्तरूप से भिन्न हैं और न अभिन्न हैं। अतः,, रत्नप्रभसूरि ने इस प्रसंग में नैयायिकों और बौद्धों– दोनों की समीक्षा की है। नैयायिकों की समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं कि धर्म और धर्मी न तो एकान्तरूप से भिन्न हो सकते हैं और न अभिन्न हो सकते हैं। पदार्थों की पर्यायें ही भूतकाल की पर्यायों की अपेक्षा से पदार्थ से भिन्न होती हैं। जैसे घट काल में पूर्वकाल की

मृत्तिका–पिंड–रूप–पर्याय भिन्न होती है, किन्तु वर्त्तमानकालीन घटरूप–पर्याय अभिन्न भी होती है। धर्मी जो नित्य–पदार्थ है, वह अपने सहकारी–कारणों के साथ मिलकर ही कार्य करता है। ये सहकारी गुण पदार्थ के स्वभावरूप ही होते हैं और पदार्थ का स्वभाव पदार्थ से भिन्न होता हैं, अतः, स्वभाव–धर्म की अपेक्षा से धर्म और धर्मी अभिन्न होते हैं, तो कालक्रम में होने वाले विविध पर्यायों की अपेक्षा से वे कंथचित्–भिन्न और कंथचित्–अभिन्न भी होते हैं। अतः,, पदार्थ का गुण और पर्यायों से एकान्त–भिन्नता का नैयायिकों का सिद्धांत समुचित नहीं है। इस तथ्य की सिद्धि रत्नाकरावतारिका के प्रस्तुत पंचम परिच्छेद में की गई है। इसके आगे रत्नप्रभसूरि ने अपनी टीका में बौद्धों के गुण और पर्याय के एकान्त–अभिन्नता के सिद्धांत की समीक्षा की है और यह बताया है कि यदि पदार्थ क्षणिक है, तो प्रत्येक काल में चाहे उसकी गुण और पर्याय अभिन्न हो, किन्तु ऐसे क्षणिक पदार्थ में पदार्थ के भिन्न–भिन्न कालों में गुण–धर्म भी भिन्न–भिन्न होंगे और ऐसी स्थिति में पदार्थ में विभिन्न कालों में एकत्व की कल्पना निरर्थक होगी। इसी आधार पर रत्नप्रभसूरि ने आगे बौद्धों के सिद्धांत की समीक्षा की है और यह बताया है कि बौद्धों का यह सिद्धांत समुचित नहीं है। उन्होंने विस्तार से इसकी समीक्षा निम्न रूप से की है।

रत्नाकरावतारिका के पंचम परिच्छेद में विशेष के दो प्रकार की चर्चा में गुण को द्रव्य का सहभावी–धर्म तथा पर्याय को द्रव्य का क्रमभावी धर्म माने जाने की चर्चा की गई है। नैयायिकों की चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। प्रस्तुत में हम बौद्ध–मंतव्य की समीक्षा की चर्चा करेंगे। बौद्ध–दार्शनिक द्वारा रत्नप्रभ की मान्यता की समीक्षा में सर्वप्रथम सामान्यतया द्रव्य को सहकारी–कारणों की उपस्थिति में ही कार्य किए जाने की चर्चा की गई है। दूसरे, बौद्धों द्वारा काल–भेद के आधार पर सहकारी–कारणों के सहित और रहित होने से पदार्थ को अनित्य ही माने जाने की चर्चा की गई है। रत्नप्रभ द्वारा अपने सहकारी–कारणों को मजबूती से पकड़े रखने की चर्चा की गई है, क्योंकि यदि पदार्थ अपने सहकारी–कारणों को छोड़ दे, तो स्वभाव–हानि का प्रसंग उपस्थित हो सकता है और स्वभाव का नाश होने पर तो उसके अनित्य होने की चर्चा की गई है, किन्तु जैन द्वारा तो स्वभाव–नाश को नहीं माने जाने की चर्चा की गई है। पुनः, रत्नप्रभ द्वारा धर्मी–द्रव्य में सहकारी–कारणों का संयोग–वियोग मानने पर धर्मी–द्रव्य को एक स्वभाव वाला नहीं रहने की,

अर्थात् अनित्य ही सिद्ध होने की चर्चा की गई है। इसके प्रत्युत्तर में, बौद्धों द्वारा धर्मों के बदलते रहने पर भी धर्मी–द्रव्य को नहीं बदले जाने की चर्चा करके बौद्धों द्वारा रत्नप्रभ से यह कहे जाने की चर्चा है कि धर्मी–द्रव्य में भेद बताकर आप हम पर एकान्त–अनित्यता का दोष लगाते हो। तत्पश्चात् रत्नप्रभ द्वारा अपने अर्थक्रियाकारित्वरूप स्वभाव की अपेक्षा से धर्मी–द्रव्य अभेदरूप होने से नित्य माने जाने की चर्चा और सहकारी–कारणसाकल्य की उपस्थिति या अनुपस्थिति की अपेक्षा से वह भिन्न–भिन्न होने से कथंचित्–भेदरूप वाला होने से, अनित्य भी माने जाने की चर्चा की गई है। इसके प्रत्युत्तर में, बौद्धों द्वारा सहकारी–कारणसाकल्य और सहकारी–कारणवैकल्य– इन दो परस्पर विरुद्ध धर्मों का योग होने से धर्मी को एकान्तनित्य नहीं रह सकने की चर्चा की है, क्योंकि ऐसे में तो धर्मी में भेद मानें जाने का प्रसंग उपस्थित होगा। इसके पश्चात्, रत्नप्रभ द्वारा द्रव्य में उत्पाद–व्ययरूप स्वभाव के कारण कथंचित्–अनित्यता और ध्रौव्यता–स्वभाव के कारण कथंचित्–नित्यता भी माने जाने की, इस प्रकार, अपेक्षा भेद से कथंचित्–नित्यता और कथंचित्–अनित्यता में कोई विरोध भी नहीं माने जाने की चर्चा की है। पुनः, रत्नप्रभ द्वारा वस्तु को सद्असदात्मक माने जाने की चर्चा की गई है। स्वचतुष्ट्य का सद्भाव और परचतुष्ट्य के अभाव से ही वस्तु–स्वरूप के निश्चित हो जाने की चर्चा की गई है। अतः,, रत्नप्रभ द्वारा वस्तु को बौद्धों के समान एकान्त–क्षणिक माने जाने की चर्चा की है, न वेदान्तियों के समान एकान्त–नित्य माने जाने की चर्चा की है, अतः, रत्नप्रभ द्वारा किसी भी द्रव्य को अपनी पर्यायों के रूप में ही उत्पन्न होने की और नष्ट होने की चर्चा की है, किन्तु द्रव्य के रूप में न तो उत्पन्न होने की और न ही नष्ट होने की चर्चा की है। जैनसिद्धांत की समीक्षा में बौद्धों द्वारा भिन्न–भिन्न पर्यायों में जो अन्वय है, उसको भ्रान्त मानकर वास्तविक नहीं माने जाने की चर्चा की है। उनके अनुसार, प्रत्येक पर्याय को एक–दूसरे से भिन्न माने जाने की चर्चा की गई है और यह पर्याय ही द्रव्य है, पर्याय से पृथक् द्रव्य को नहीं माने जाने की चर्चा की गई है। बौद्धों द्वारा उत्पाद–व्यय और ध्रौव्य को परस्पर–विरोधी मानें जाने की चर्चा की गई है। इसके प्रत्युत्तर में, रत्नप्रभ द्वारा असत् से किसी भी द्रव्य की उत्पत्ति संभव नहीं तथा बिना उत्पत्ति के विनाश भी संभव नहीं है, ऐसा माना गया है। अतः,, उत्पत्ति के पूर्व, उत्पत्ति के समय तथा नाश में भी द्रव्य को तो वैसे ही

रहने की चर्चा की गई है, अर्थात् वस्तु को त्रयधर्मात्मक मानना ही उचित है, रत्नप्रभ द्वारा ऐसी चर्चा की गई है।

बौद्धों के पूर्वपक्ष में रत्नाकरावतारिका के पंचम परिच्छेद के आठवें सूत्र की टीका में रत्नप्रभ ने कहा है कि बौद्धों को वस्तु स्वद्रव्य की अपेक्षा से अस्ति–रूप है, यह बात तो स्वीकार्य है, किन्तु परद्रव्य की अपेक्षा से वस्तु नास्तिरूप है, यह बात बौद्धों को स्वीकार्य नहीं है, बौद्धों की इस मान्यता पर, रत्नप्रभ द्वारा यह चर्चा उठाई गई है कि यदि वस्तु में परद्रव्य का असत्व स्वीकार नहीं किया जाएगा, तो फिर वस्तु को सर्वात्मक और सर्वमय होने का प्रसंग उपस्थित होगा, किन्तु बौद्धों द्वारा जो स्वसत्व है, वही पर की अपेक्षा असत्व है, क्योंकि स्वसत्व से पृथक् पर असत्व जैसी किसी वस्तु को नहीं माना जा सकता है। अन्त में, रत्नप्रभ द्वारा बौद्धों के द्वारा यह बात स्वीकार किए जाने का उल्लेख है कि वस्तु एक–दूसरे की अपेक्षा से ही सत्–असत्रूप होती है, एकान्त–सत्व या एकान्त असत्वरूप नहीं है। जो स्वसत्व है, वहीं पर असत्व है– ऐसा नहीं है, अपितु स्व भी सत्व–असत्वरूप है और पर भी सत्व–असत्वरूप है। अन्त में, रत्नप्रभ द्वारा अनेकान्त–दृष्टि को एकान्तभेद और एकान्त–अभेद का तिरस्कार किए जाकर सापेक्ष रूप से भेद और अभेद– दोनों को स्वीकार किए जाने की चर्चा की गई है।

बौद्धमत की समीक्षा के उपरान्त नैयायिक द्वारा 'अभाव' नामक एक स्वतंत्र पदार्थ को माने जाने की चर्चा की गई है। अभाव के चार भेद किए गए, जिसमें परस्पराभाव अर्थात् अन्योन्याभाव नामक जो अभाव है, उसके द्वारा ही पदार्थ प्रतिनियत स्वरूप वाला होता है, ऐसा सिद्ध हो जाने की चर्चा की गई है। इसकी समीक्षा में रत्नप्रभ द्वारा घटपटादि से अत्यन्त भिन्न माने हुए ऐसे अलग पदार्थस्वरूप ऐसे अभाव के लिए जो घटपटादि का भेद होता है, वे घट–पटादि पदार्थ स्वयं भिन्न हैं और भेद कराते हैं ? या स्वयं अभिन्न हैं और भेद कराते हैं ? इन दोनों पक्षों में से नैयायिक कौनसे पक्ष को मानते हैं, इसकी चर्चा की गई है।

यहाँ रत्नप्रभसूरि ने बौद्धों के मंतव्य की समीक्षा नैयायिकों का पूर्वपक्ष प्रस्तुत करके की है। दो पदार्थों में भिन्नता का आधार एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ के कुछ गुण–धर्म का अभाव माने बिना नहीं होता। भेद के लिए अभाव की स्वीकृति आवश्यक है, जैसे– मनुष्य को मनुष्य होने के लिए उसमें पशुत्व का अभाव मानना होगा। पशुत्व का अभाव माने बिना

मनुष्य और पशु में कोई भेद ही नहीं रहेगा। इसी प्रकार, यहाँ रत्नप्रभसूरि ने नैयायिकों द्वारा प्रस्तुत अभाव की भी सापेक्षिक–रूप से आवश्यकता स्वीकार की है। यही कारण है कि जैन–दार्शनिकों ने पदार्थों को स्वगुण–धर्मों की अपेक्षा से सद्भावरूप और परगुणधर्मों की अपेक्षा से अभावरूप माना है।

6. रत्नाकरावतारिका के प्रथम परिच्छेद में प्रमाण–लक्षण का दूसरे, तीसरे और चौथे परिच्छेद में प्रमाणों के प्रकारों एवं उनकी संख्या के विषय में चर्चा करने के पश्चात् पाँचवें परिच्छेद में प्रमाण के विषय का उल्लेख किया है, साथ ही इस सम्बन्ध से इतर दर्शनों की मान्यताओं की समीक्षा की गई है। छठवें परिच्छेद में प्रमाणफल के सम्बन्ध में विचार किया गया है। यहाँ यह बताया गया है कि प्रमाण का कार्य अज्ञान की निवृत्तिरूप होता है। पुनः, यह भी दो प्रकार का होता है– अनन्तर और परम्परा–अज्ञानता का नाश एवं यथार्थ–बोध की उत्पत्तिरूप मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल– ये पाँचों ज्ञान प्रमाण होते हैं। इनमें से कोई–सा भी ज्ञान होने पर तत्सम्बन्धी अज्ञान चला जाता है और जो वस्तुतत्त्व का यथार्थ–बोध होता है, उसी को प्रमाण का 'अनन्तर' फल कहा गया है। अज्ञानता की निवृत्ति ही प्रमाण का अनन्तर–फल है। उसी प्रकार, तीनों काल के समस्त पदार्थों को प्रत्यक्षरूप से जानने रूप केवलज्ञान को प्रमाण का पारंपरीय–फल मानें, तो सम्पूर्ण अज्ञान के निवृतिरूप केवलज्ञान को और उसके परिणामस्वरूप होने वाली उदासीनता या तटस्थ–वृत्ति को भी प्रमाण का पारम्परीय–फल माना जा सकता है। केवलज्ञान के अतिरिक्त अन्य ज्ञानों से होने वाले प्रमाण के फल को औत्पातिक–बुद्धि, हीन–बुद्धि और उपेक्षा–बुद्धि बताया गया है। दूसरे शब्दों में, इसे हम उपादेय, हेय और ज्ञेय–रूप बुद्धि भी कह सकते हैं, अर्थात् कौन–सी वस्तु स्वीकार करने योग्य है, कौन–सी वस्तु त्यागने योग्य है और कौन–सी वस्तु के प्रति तटस्थता–बुद्धि रखना चाहिए, यह बतलाया गया है। इसी क्रम में आगे, रत्नप्रभसूरि ने इसकी चर्चा करते हुए यह कहा है कि यदि इससे भिन्न प्रमाणफल की यदि कोई चर्चा की जाती है, तो वह उचित नहीं है। उन्होंने इस सम्बन्ध में यह बताया है कि प्रमाण और प्रमाणफल कथंचित्–अभिन्न हैं और कथंचित्–भिन्न हैं। इसी प्रसंग में, उन्होंने प्रमाण और प्रमाणफल को एकान्तरूप से भिन्न मानने वाले नैयायिकों की और एकान्तरूप से अभिन्न मानने वाले बौद्धों की समीक्षा की है। बौद्धों का कहना है कि यदि अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमाण–फल प्रमाण के साथ ही प्रकट होता है, तो वह

अभिन्न है, उसे किसी भी प्रकार से भिन्न नहीं माना जा सकता। इसी प्रसंग में, रत्नप्रभसूरि का कहना है कि यदि आप प्रमाण और प्रमाणफल में कथंचित्–भेद नहीं मानेंगे, तो फिर प्रमाण और प्रमाणफल की व्यवस्था ही नहीं रहेगी। इस प्रसंग में, रत्नप्रभसूरि ने बौद्धों के पूर्व–पक्ष को अनेक प्रकार से उठाकर उसकी समीक्षा की है। रत्नप्रभसूरि का कहना है कि प्रमाण से प्रमाणफल कथंचित्–भिन्न और कथंचित्–अभिन्न ही होता है, एकांत–भिन्न और एकान्त–अभिन्न नहीं माना जा सकता। इसके पश्चात्, उन्होंने नैयायिकों के प्रमाण और प्रमाणफल के एकान्त–अभिन्नता के सिद्धांत की समीक्षा की है तथा यह बताया है कि प्रमाता–आत्मा के स्व–पर–व्यवसायी–क्रियारूप प्रमाण का जो फल है, वह कथंचित्–भिन्न है, पूर्णतया भिन्न नहीं है, क्योंकि क्रिया और कर्त्ता– दोनों परस्पर–सापेक्ष होते हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि इसी प्रसंग में रत्नप्रभसूरि ने बौद्धों के विज्ञानवाद और शून्यवाद की भी समीक्षा करते हुए यह सिद्ध किया है कि प्रमाण और प्रमाणफल कथंचित्–भिन्न और कथंचित्–अभिन्न होते हैं। ऐसा नहीं है कि प्रमाण और प्रमाणफल का भेद केवल व्यवहार के स्तर पर है, वे प्रमाण और प्रमाणफल में पारमार्थिक और व्यावहारिक– दोनों ही दृष्टियों से विचार कर अपने पूर्व निर्दिष्ट प्रमाण और प्रमाणफल के भेदाभेदवाद की पुष्टि करते हैं।

इसके पश्चात्, रत्नाकरावतारिका में आभास की चर्चा करते हुए सर्वप्रथम प्रत्यक्षाभास की चर्चा की गई है। इस चर्चा में रत्नप्रभसूरि ने व्यवहारिक–प्रत्यक्षाभास और पारमार्थिक–प्रत्यक्षाभास– ऐसे प्रत्यक्षाभास के दो रूपों की चर्चा की है और यह बताया है कि जो पारमार्थिक–प्रत्यक्ष जैसा दिखाई देता है वह पारमार्थिक–प्रत्यक्षाभास है। इसमें विभंगज्ञान को पारमार्थिक–प्रत्यक्षाभास का ही एक रूप बताया है। पारमार्थिक–प्रत्यक्षाभास के उदाहरण के रूप में शिवराजर्षि की सप्तद्वीप समुद्घात का उदाहरण दिया गया है। यहाँ यह भी बताया गया है पारमार्थिक–प्रत्यक्षाभास केवल अवधिज्ञान के संदर्भ में ही होता है, किन्तु मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान में पारमार्थिक–प्रत्यक्षाभास नहीं होता है।

इसके पश्चात्, रत्नाकरावतारिका में प्रमाण के अन्य प्रकारों, यथा– स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क (ऊह), अनुमान–संबंधी आभासों की चर्चा की गई है। इस चर्चा में मुख्य रूप से रत्नप्रभसूरि ने अनुमानाभास की विस्तृत चर्चा की है और उसमें षष्ठ परिच्छेद के सूत्र अड़तीस से लेकर छियालीस तक पक्षाभास की, सूत्र सैंतालीस से लेकर सत्तावन तक में हेत्वाभास की,

अट्ठावन से अठहत्तर तक के सूत्रों में दृष्टांताभासों की विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है। उसके पश्चात्, सूत्र क्रमांक इक्यासी में उपनयाभास की और बयासी में निगमनाभास की चर्चा की गई है। इस प्रकार,, हम देखते हैं कि रत्नाकरावतारिका के षष्ठ परिच्छेद में आभास की चर्चा ही मुख्य रूप से हुई है और इसके अन्त में यह बताया है कि प्रमाण से प्रमाण का फल भिन्न है, अथवा प्रमाण से प्रमाण का फल अभिन्न है– ये दोनों ही प्रमाण–फलाभास हैं। इस प्रकार,, हम देखते हैं कि षष्ठ परिच्छेद की टीका में रत्नप्रभसूरि ने एक ओर प्रमाण और प्रमाणफल की भिन्नाभिन्नता की तथा दूसरी ओर आभासों के विभिन्न रूपों की चर्चा की है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि इस षष्ठ प्रकरण में आभासों की जो चर्चा हुई है, उसमें रत्नप्रभसूरि ने हेत्वाभास की चर्चा अधिक विस्तार से की है तथा हेत्वाभास के संदर्भों में जैन–दर्शन का न्याय–वैशेषिक एवं बौद्धदर्शन से किस प्रकार से मतभेद है, इसकी भी विस्तार से चर्चा की है।

7. रत्नाकरावतारिका नामक टीका के सप्तम परिच्छेद में आचार्य रत्नप्रभसूरि ने मूल ग्रन्थ–प्रमाणनयतत्त्वालोक के आधार पर ही नयों के स्वरूप की विस्तृत विवेचना की है। जहाँ प्रारंभ के छह परिच्छेद प्रमाण संबंधी चर्चा से संबंधित रहे हैं, वहाँ यह सप्तम परिच्छेद नय की चर्चा से संबंधित है। इसमें सर्वप्रथम, नय और प्रमाण का अंतर स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि नय भी प्रमाण के समान स्व–पर–व्यवसायात्मक ही है। केवल दोनों में अंतर यह है कि प्रमाण समग्र रूप से वस्तु के स्वरूप का निश्चय करता है और नय वस्तु के एक अंश के स्वरूप का निश्चय करता है अतः, नय भी प्रमाणरूप ही है, वह अप्रमाण नहीं है। जिस प्रकार समुद्र का एक छोर भी समुद्ररूप ही है, उसी प्रकार से प्रमाण के अंश नय भी प्रमाणरूप ही हैं। इसी प्रसंग में आगे, रत्नप्रभसूरि ने नयाभास की चर्चा करते हुए यह कहा है कि स्वयं के द्वारा स्वीकृत अंश से भिन्न अन्य अंश का जो अपलाप करने वाला नय है, वह दुर्नय है और वह प्रमाणरूप नहीं है।

नयाभास की चर्चा के पश्चात् रत्नप्रभसूरि ने मूल ग्रन्थ के आधार पर ही नय के प्रकारों की चर्चा की है। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि नय के प्रकारों की चर्चा दो प्रकार से की जा सकती है– एक, संक्षिप्त रूप से और दूसरी, विस्तृत रूप से। संक्षिप्त रूप में नय के दो प्रकारों की चर्चा है– द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय। आगे, उन्होंने द्रव्यार्थिकनय के तीन भेदों की विस्तार से चर्चा की है। ये तीन भेद हैं– नैगम, संग्रह और

व्यवहार। इन तीनों ही नयों का स्वरूप भी रत्नाकरावतारिका में विस्तारपूर्वक विश्लेषित किया गया है। इसी चर्चा में सामान्य और विशेष की चर्चा करते हुए उन्होंने सामान्य के भी दो भेद किए हैं– महासामान्य और अवान्तरसामान्य। इसमें भी, जो अवान्तर–सामान्य है, वह सामान्य–विशेषात्मक ही होता है। वह एक दृष्टि से सामान्य और दूसरी दृष्टि से विशेष कहा जा सकता है और इसी आधार पर उन्होंने यह भी बताया है कि संग्रहनय भी दो प्रकार का होता है– 1. अपर–संग्रहनय और 2. पर–संग्रहनय। इसके पश्चात्, इस कृति में यह बताया गया है कि अद्वैतवाद आदि संग्रहनय के आभासरूप दर्शन हैं। इसके पश्चात्, व्यवहारनय की चर्चा करते हुए व्यवहारनय के आभासरूप सांख्यदर्शन का ग्रहण किया गया है।

तदनन्तर, प्रस्तुत–कृति में पर्यायार्थिकनय के ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत– ऐसे चार प्रकारों की चर्चा हुई है। इसी प्रसंग में, ऋजुसूत्रनय के आभास के रूप में बौद्धदर्शन का उल्लेख किया गया है। फिर; शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूतनय के स्वरूप की चर्चा करते हुए इन नयों के आभासों की भी चर्चा की गई है। विस्तारभय से यहाँ इस समग्र चर्चा में जाना हमें उचित नहीं लगता है। मात्र यह कह देना पर्याप्त होगा कि रत्नप्रभसूरि ने इस बात को मूल–सूत्रों के आधार पर बड़ी स्पष्टता से चित्रित किया है कि इन नयों के आभास अर्थात् इन नयों के संबंध में भ्रांतियाँ किस प्रकार से होती हैं।

आगे नय–वाक्य एवं प्रमाण–वाक्य की चर्चा करते हुए नय–वाक्य के रूप में सप्तभंगी–नय की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है, जिसमें विधि, प्रतिषेध और अवक्तव्य के आधार पर उनके सांयोगिक–सप्तभंगी की चर्चा की है। अन्त में, प्रमाण के फल के समान ही नय के फल के साथ भी अनन्तर और परंपर शब्द आएगा या नहीं ? इसे व्याख्यायित किया गया है और इसके भिन्नाभिन्नत्व की चर्चा की गई है।

कृति के अन्त में, प्रमाता के रूप में आत्मा के स्वरूप की चर्चा मिलती है। इस चर्चा में आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए यह बताया गया है कि आत्मा चैतन्यस्वरूप कर्त्ता, भोक्ता, स्वदेह–परिमाण और प्रतिक्षेत्र भिन्न–भिन्न है। इस समग्र चर्चा में प्रस्तुत टीका में आत्मा के संबंध में चार्वाक–दर्शन की विस्तृत समीक्षा की गई है। चार्वाक के पूर्वपक्ष के स्थापन पर विस्तार से उन सभी पूर्वपक्षों का निरसन किया गया है, उसके

पश्चात्, बौद्धों के क्षणिक्–आत्मवाद की समीक्षा करते हुए आत्मा की नित्यता को सिद्ध किया गया है। तदनन्तर, आत्मा के गुणों का आत्मा के साथ तादात्म्य–संबंध बताते हुए नैयायिकों के इस मत का खंडन किया गया है कि चेतना आत्मा का स्वरूप–लक्षण न होकर एक आगन्तुक गुण है और इसी आधार पर आगे नैयायिकों की मुक्ति की अवधारणा की भी समीक्षा की गई है। आत्मा के चैतन्यस्वरूप की इस चर्चा के पश्चात्, आत्मा परिणामी है, इस लक्षण की चर्चा करते हुए नैयायिक, वैशेषिक तथा सांख्यों की आत्मा की कूटस्थ–नित्यता की अवधारणा की समीक्षा करते हुए यह बताया है कि आत्मा नित्य न होकर परिणामी–नित्य है। इस संदर्भ में, सांख्यों के पूर्वपक्ष की विस्तार से समीक्षा करते हुए चर्चा की गई है और आत्मा में कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व–गुण की पुष्टि की गई है। उसके पश्चात् नैयायिकों द्वारा मान्य आत्मा आकाश के समान सर्वव्यापी है, इस मत का खंडन करते हुए आत्मा को स्वदेह–परिणाम बताया गया है। अन्त में, प्रत्येक शरीर में भिन्न–भिन्न आत्मा है, इस मत की सिद्धि करते हुए आत्मा की अनेकता की स्थापना की गई है तथा नास्तिकों के मत का खण्डन करते हुए कर्मवाद की स्थापना की गई है। इस प्रकार,, प्रस्तुत कृति में जैन–दर्शनसम्मत आत्मवाद की स्थापना करते हुए उनके विरोधी विविध दर्शनों की समीक्षा की गई है।

इस प्रकरण के अन्त में, मोक्ष के स्वरूप की चर्चा करते हुए श्वेताम्बर–परंपरासम्मत स्त्री–मुक्ति की सिद्धि की गई है और इस संबंध में दिगम्बर–परंपरा के पूर्वपक्ष की विस्तार से समीक्षा की गई है।

8. ग्रन्थ के अष्टम परिच्छेद में न्याय–दर्शन के वाद और वादी के स्वरूप की चर्चा की गई है और इसी प्रसंग में यह बताया गया है कि वादी दो प्रकार के होते हैं– एक, विजय की इच्छा वाले और दूसरे, तत्त्व का निर्णय करने की इच्छा वाले। इसमें विजय की इच्छा करने वाले वादी को निम्न कोटि वाला बतलाया गया है। पुनः, यह भी बताया है कि तत्त्व–निर्णय के इच्छुक वादी भी दो प्रकार के होते हैं। एक, स्वयं के ज्ञान के लिए और दूसरे, दूसरों को विषय की स्पष्टता कराने के लिए। पुनः, दूसरों को तत्त्व का निर्णय कराने की दृष्टि से गुरु आदि वादी कहे गए हैं, वे भी दो प्रकार के कहे गए हैं– क्षायोपशमिक–ज्ञान वाले और केवली। इसी प्रसंग में यह भी बताया गया है कि केवली विजय की इच्छा से, अर्थात् अपने लिए तत्त्व के स्वरूप के निर्णय हेतु वाद नहीं करते हैं, क्योंकि न तो उन्हें बाद में विजय की अपेक्षा होती है और न ही वे तत्त्व के

यथार्थ–स्वरूप से अज्ञात होते हैं। अन्त में, यह भी बताया गया है कि जब वादी और प्रतिवादी विजय की इच्छा वाला हो, तब कितनी सीमा तक वाद करना चाहिए। ग्रन्थ के अन्त में प्रशस्ति के रूप में रत्नप्रभसूरि ने अपने गुरु की प्रशंसा करते हुए अपने को वादिदेवसूरि के शिष्य के रूप में प्रस्तुत किया है और ग्रन्थ के परिमाण को बताते हुए यह कहा है कि यह ग्रन्थ पाँच हजार श्लोक–परिमाण है तथा जो कोई भी इस ग्रन्थ का पठन–पाठन करेगा, वह बुद्धि की तेजस्विता को प्राप्त करेगा, ऐसा निर्देश किया है।

उपसंहार–

इस प्रकार,, हम देखते हैं कि प्रस्तुत–कृति में विभिन्न भारतीय–दर्शनों की दार्शनिक–अवधारणाओं का जहाँ भी जैन–दर्शन से मतभेद रहा है, वहाँ उनके पूर्वपक्ष को विस्तार के साथ उपस्थित करके उसकी समीक्षा की गई है। इस प्रकार,, यह ग्रन्थ न केवल जैन–दर्शन के संबंध में हमें जानकारी प्रदान करता है, अपितु विविध भारतीय–दार्शनिक–अवधारणाओं और दार्शनिक–मतों की भी समीक्षा करता है। प्रस्तुत कृति की यह विशेषता है कि इसमें अन्य दर्शनों के पूर्वपक्ष को स्थापित करते हुए पूरी प्रामाणिकता का ध्यान रखा गया है और उनके पूर्वपक्ष की स्थापना में संभावित और भी क्या तर्क हो सकते हैं, उन्हें भी विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार,, यह ग्रन्थ न केवल जैन–न्याय–शास्त्र का, अपितु समग्र भारतीय–न्याय–शास्त्र का एक ग्रन्थ बन गया है।

अध्याय 3

बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद की समीक्षा

बौद्धों के 'सर्वक्षणिकम्' के सिद्धान्त की समीक्षा

बौद्ध–पूर्वपक्ष – बौद्ध–दर्शन क्षणिकवादी या अनित्यवादी है। वह यह मानता है कि जगत् में कुछ भी नित्य या शाश्वत नहीं है। सत्ता प्रति समय परिवर्तनशील है। जिस तरह नदी की धारा सतत परिवर्तनशील है उसी तरह सत्ता भी सतत परिवर्तनशील है। महापरिनिर्वाणसूत्र में कहा गया है कि जो वस्तुनित्य या स्थायी जान पड़ती है, उसी तरह सत्ता भी सतत परिवर्तनशील है। महापरिनिर्वाणसूत्र में कहा गया है कि जो वस्तु नित्य या स्थायी जान पड़ती है, वह भी नश्वर है। जहाँ संयोग है, वहाँ वियोग है, जहाँ जन्म है, वहाँ मृत्यु भी है।[37] क्षणिकवाद के अनुसार, वस्तु दो क्षण भी एक जैसी नहीं होती है। वस्तु प्रतिक्षण बदलती रहती है। सत्ता का स्वभाव ही परिवर्तनशीलता है। बिना परिवर्तनशीलता को स्वीकार किए अर्थक्रियाकारित्व सिद्ध नहीं होता है और बिना अर्थक्रियाकारित्व के सत्ता नहीं है। यही क्षणिकवाद है।[38]

रत्नाकरावतारिका के सातवें परिच्छेद में नय का वर्णन किया गया हैं। इसमें नय के सात प्रकार बताए गए हैं। नय के उन सात प्रकारों में से नैगम, संग्रह और व्यवहार– ये तीनों नय द्रव्यार्थिकनय के ही भेद हैं तथा ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत– ये चार नय पर्यायार्थिकनय के भेद हैं।

बौद्ध–दर्शन ऋजुसूत्र–नयाभास है

प्रस्तुत प्रसंग में बौद्धदर्शन को चतुर्थ ऋजुसूत्रनय पर आश्रित न कहकर ऋजुसूत्र–नयाभास बताया गया है। ऋजुसूत्रनय त्रिकालवर्ती–द्रव्य का एकान्ततः निषेध नहीं करता है। वह तो भूत, भविष्य और वर्त्तमान– ऐसे

---

[37] भारतीय दर्शन, – पारसनाथद्विवेदी, पृ. 81
[38] वही, पृ. 81

त्रिकालवर्ती–द्रव्य को गौण करके मात्र पर्याय को ही प्रमुख मानता है, जबकि बौद्धदर्शन तो त्रैकालिक–सत्ता वाले द्रव्य का निषेध कर मात्र वर्त्तमानकालिक पर्याय, अर्थात् प्रतिक्षण विनाशशील सत्ता को मानता है, अतः, वह ऋजुसूत्र–नयाभास कहलाता है। बौद्ध–दार्शनिक गौणभाव और प्रधानभाव का अभाव करके एकान्त–वर्त्तमानकाल की पर्याय को ही मान्यता देकर त्रैकालिक–द्रव्य का एकान्त–निषेध (अपलाप) करते हैं, इसके कारण ये ऋजुसूत्र–नयाभास कहे जाते हैं।[39]

जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों की मान्यता का कथन करते हुए कहते हैं कि बौद्ध–दार्शनिक संसार की प्रत्येक वस्तु को क्षणिक मानते हैं। प्रत्येक वस्तु क्षण–क्षण परिवर्तनशील है। प्रत्येक पदार्थ पर्यायरूप में परिवर्तित होता रहता है, किन्तु त्रिकालवर्ती स्थिर–ध्रुव द्रव्य नाम का कोई तत्त्व ही नहीं है, पर्याय ही एकमात्र पारमार्थिक–तत्त्व है। वस्तुतः देखा जाए, तो द्रव्य प्रत्यभिज्ञा आदि प्रमाणों से ही प्रसिद्ध है। यदि नित्य–द्रव्यतत्त्व को न माना जाए, तो सोऽयं पुरुषः, अर्थात् यह वही पुरुष है, इत्यादि पूर्वापर–संकलना वाली प्रत्यभिज्ञा कैसे होगी ? भूतकाल की विषय–वस्तु का स्मरण भी कैसे होगा ? स्मरण के बिना अनुमान भी कैसे संभव होगा ? इत्यादि दोषों के कारण त्रैकालिक नित्य–द्रव्यतत्त्व को तो मानना होगा, किन्तु बौद्धदर्शन तो त्रिकालवर्ती नित्य–द्रव्यतत्त्व का पूर्णतया तिरस्कार करने के कारण ऋजुसूत्र–नयाभास ही है।[40]

जो–जो दार्शनिक एकान्तवादी हैं, वे सभी एकान्त से विलक्षण अनेकान्तरूप अन्य पक्ष की अपेक्षा नहीं रखने के कारण और उसका अपलाप करने के कारण वे सभी नयाभास हैं, दुर्नय हैं, सुनय नहीं हैं, अतः, क्षणिकवादी बौद्ध भी ऋजुसूत्र–नयाभासरूप ही हैं।[41]

बौद्धों के क्षणिकवाद की समीक्षा

रत्नाकरावतारिका में सामान्य के दो भेद किए गए हैं – 1. तिर्यक्–सामान्य और 2. ऊर्ध्वता–सामान्य। तिर्यक्–सामान्य का विश्लेषण हम पूर्व में कर चुके हैं। प्रति व्यक्ति में जो तुल्य परिणति होती है, उसे तिर्यक्–सामान्य कहते हैं। पूर्व–पर्याय और उत्तरपर्याय में समान रूप से

---

[39] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 183; 184

[40] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 184

[41] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 184

रहने वाले द्रव्य को ऊर्ध्वता–सामान्य कहते हैं। कोई भी द्रव्य प्रतिक्षण पूर्वपर्याय से उत्तरपर्याय में परिवर्तित होता रहता है, किन्तु द्रव्य तीनों काल में अपने स्थायित्व गुण का त्याग नहीं करता है। तीनों काल में द्रव्य एकरूप में ही रहता है, उसको भी ऊर्ध्वता–सामान्य कहते हैं। उदाहरणस्वरूप, स्वर्ण–द्रव्य से कड़ा बना, कड़ा तुड़वाकर हार बनवाया, हार से कंगन और अंगूठी बनवाई गई, इन भिन्न–भिन्न पर्यायरूप नए–नए आभूषणों के बनने के बाद भी स्वर्ण अपने मूल रूप में वही बना रहता है, अर्थात् स्वर्ण भिन्न–भिन्न पर्यायों में बदलते हुए भी सब आभूषणों में बना रहता है, यही ध्रुवता (नित्यता) ऊर्ध्वता–सामान्य कहलाती है। एक व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति के साथ जो सदृशता है, वह तिर्यक्–सामान्य है। एक ही व्यक्ति में क्षण–क्षण बदलती हुई अवस्थाओं में भी व्यक्ति वही रहता है। इन परिवर्तन के बीच यह जो **'वही'** बना रहता है, उसे ही ऊर्ध्वता–सामान्य कहते हैं।[42]

ज्ञातव्य है कि रत्नाकरावतारिका में, जैनदर्शन एवं बौद्धदर्शन में द्रव्य और पर्याय को लेकर जो मतभेद हैं, उनकी समीक्षा की गई है। जैन–दर्शन के अनुसार पर्यायों का क्रमशः धारा के रूप में नित्य प्रवाह चलता रहता है, यही सभी पदार्थों में द्रव्य की ध्रौव्यता है, क्योंकि द्रव्य के आधार पर ही पर्यायों में कोई एक सत्ता है, जिसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। पूर्व–पूर्व पर्यायों का नाश तथा नए–नए पर्यायों का उत्पाद होता ही रहता है, इसे ही द्रव्य की ध्रौव्यता कहते हैं, किन्तु यदि द्रव्य की ध्रौव्यता ही न हो, तो उसमें पर्यायों का उत्पाद और व्यय भी संभव नहीं होगा। बिना द्रव्य के पर्याय किसकी बनेगी और किसमें बनेगी ? चूंकि बिना द्रव्य के पर्याय नहीं बनती, तो बिना पर्याय के द्रव्य भी नहीं रहता। द्रव्य और पर्याय एक–दूसरे के पूरक हैं। यदि द्रव्य ही नष्ट हो जाए, तो पर्याय संभव नहीं होगी, अर्थात् पर्याय बनेगी ही नहीं।

द्रव्य और पर्याय एक–दूसरे से भिन्न तत्त्व नहीं हैं, अतः, प्रत्येक पदार्थ में द्रव्य के कारण ध्रौव्यता (नित्यता) का गुण रहा हुआ है और पर्याय के कारण उत्पाद–व्यय है, किन्तु इसके विपरीत, बौद्ध–दार्शनिक द्रव्य की ध्रौव्यता को नहीं मानते हैं। वे प्रतिक्षण उत्पाद और व्यय को ही

---

[42] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 700, 701

मानते हैं, पदार्थ में स्थायित्व–गुण (द्रव्य) को स्वीकार नहीं करते हैं, अतः, ऊर्ध्वता–सामान्य बौद्धदर्शन को स्वीकार नहीं है।[43]

बौद्ध– इस संबंध में बौद्ध–दार्शनिक जैनों के समक्ष यह आपत्ति उठाते हैं कि एक ही पदार्थ में त्रैकालिक–ध्रुवता मानने के सन्दर्भ में जन्म से बौद्ध–दार्शनिक जैनों से प्रश्न करते हैं– कोई भी एक पदार्थ दीर्घकाल पर्यन्त नित्य नहीं रहता है। प्रत्येक पदार्थ क्षणभंगुर है, अर्थात् क्षणिक है। उत्पाद और व्यय के स्वभाव वाले पदार्थ में नित्यता (ध्रौव्यता) नाम का कोई लक्षण नहीं है। बदलती पर्याय में केवल द्रव्य का आभास होता है, उस आभास को ही आप (जैन) नित्यता मान लेते हैं, किन्तु आपकी यह मान्यता प्रमाणयुक्त नहीं है। प्रत्येक पदार्थ विनश्वर स्वभाव वाला, अर्थात् प्रतिक्षण नष्ट होने से क्षणिक है। जो भी घट–पट आदि पदार्थ सत्–रूप होते हैं, वे पदार्थ नियम से क्षणिक ही होते हैं तथा जो पदार्थ क्षणिक नहीं होते हैं, वे आकाश–पुष्प के समान सत् भी नहीं होते हैं। सत्–पदार्थ में अर्थक्रियाकारित्व–गुण रहा हुआ है। जिसमें अर्थक्रिया करने का सामर्थ्य हो, वही सत् है। अर्थक्रियाकारित्व, अर्थात् सार्थक क्रिया का होना ही सत्ता का लक्षण है। शब्दादि धर्मी (पक्ष) में अर्थक्रियाकारित्व प्रत्यक्ष–प्रमाण से भी सिद्ध होता है। घट–पट आदि पदार्थ अपनी–अपनी क्रिया करने में समर्थ होते हैं, शब्द भी स्वतः ही अपनी ज्ञान–प्राप्ति की क्रिया में समर्थ होते हैं अर्थात् शब्द स्वयं ही अपने वाच्यार्थ का बोध कराने में समर्थ होते हैं। घट जलधारण की क्रिया में समर्थ होता है। पट शरीराच्छादन की क्रिया में समर्थ होता है। इन्हीं अर्थक्रियाओं के कारण ये सभी पदार्थ सत् और क्षणिक होते हैं। शब्द क्षणिक हैं – यह साध्य है, क्योंकि सत् है, यह उसका हेतु है। बौद्ध शब्दों को क्षणिक मानते हैं। उनके अनुसार, शब्द क्षणिक हैं (साध्य), क्योंकि वे सत् (हेतु) हैं। जो–जो सत् होता है, वह क्षणिक (व्याप्ति या दृष्टांत) होता है। चूँकि शब्द सत् हैं, इसलिए शब्द क्षणिक हैं (निगमन)। इस प्रकार,, बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि जो सत् होता है, वह क्षणिक होता है। यहाँ जैन–दार्शनिक बौद्धों से यह प्रश्न करते हैं कि आपने इस अनुमान में सत्वात्–यह हेतु दिया है। आपके अनुसार, सत्व उसे कहते हैं, जिसमें अर्थक्रियाकारित्व है, किन्तु अर्थक्रियाकारित्व तो नित्य में भी होता है और क्षणिक में भी है।[44]

---

[43] रत्नाकरावतारिका भाग, II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 701

[44] रत्नाकरावतारिका भाग, II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 701, 702

बौद्ध – इस पर बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि जो भी घट–पट आदि पदार्थ सत्–रूप कहे जाते हैं, वे सभी पदार्थ नियम से क्षणिक ही होते हैं तथा जो पदार्थ क्षणिक नहीं होते हैं, वे सत् भी नहीं होते, जैसे– आकाशपुष्प का दूसरे सत् पदार्थों में ही अर्थक्रियाकारित्व–गुण रहा हुआ है। जिस पदार्थ में अर्थक्रिया करने की सामर्थ्य हो, वही पदार्थ सत् रूप होता है। दूसरे शब्दों में, सार्थक क्रिया अर्थात् अर्थक्रिया का होना ही सत्ता का स्वलक्षण है और वही पदार्थ की सत्ता है। ऐसा अर्थक्रियाकारित्व शब्दादि धर्मी (पक्ष) में प्रत्यक्षरूप से रहा हुआ है। शब्द, घट, पट आदि पदार्थ अर्थक्रिया करने में समर्थ हैं, जैसे– शब्द स्वयं ही अपने वाच्य–विषय का ज्ञान कराने की क्रिया करने में, घट जल–धारण की क्रिया करने में, पट शरीराच्छादन की क्रिया करने में समर्थ होते हैं। इसी अर्थक्रियाकारित्व के कारण ही ये सभी पदार्थ सत् और क्षणिक होते हैं।[45]

जैन – इस पर जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि आपका (बौद्धों का) यह हेतु अनेकान्तिक हुआ। दूसरे शब्दों में, आपका यह हेतु अनेकान्तिक–हेत्वाभास से युक्त है, क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व नित्य–पदार्थों और अनित्य–पदार्थों– दोनों में होता है।[46]

बौद्ध – इस पर बौद्ध–दार्शनिक यह प्रश्न करते हैं कि हमारे हेतु को आपने जो विपक्ष में व्यावृत्त या अनेकान्तिक बताया, उसका क्या प्रमाण है?[47]

जैन – इसके उत्तर में, जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि बौद्धों से कहते हैं कि आप जिसे अर्थक्रिया कहते हैं, वह अर्थक्रिया क्रम से होती है ? या अक्रम से होती है ? अथवा क्रमाक्रम से होती है ? यदि आप सत् (सत्ता) को क्षणिक मानते हैं, तो उसमें क्रम से अर्थक्रिया भी नहीं हो सकती। इसी प्रकार, अक्रम से नहीं होती। चूंकि क्षणिक में क्रम संभव नहीं है, अतः, अर्थक्रिया भी नहीं हो सकती। इसी प्रकार, अक्रम से भी अर्थक्रिया संभव नहीं है, क्योंकि एक ही समय में उत्पाद, व्यय और अर्थक्रिया का करना– ये तीनों कार्य संभव नहीं हैं। इसी प्रकार, क्रमाक्रम से अर्थक्रिया मानने में भी परस्पर–विरोध आता है, जिससे आपके क्षणिक सत् के क्रियाकारित्व का

---

45 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 702

46 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 702

47 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 702

लक्षण भी दूषित हो जाता है, अतः, आपका यह अनुमान पूर्वोक्त अनुमान के समान ही निर्दोष नहीं हो सकता। जो पदार्थ वर्त्तमानकाल में अर्थक्रिया करने में समर्थ होता है, वह अतीत और भविष्य में भी अर्थक्रिया करने में समर्थ होना चाहिए। क्षायिक–पदार्थ तीनों कालों में अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं होता है। नित्य–पदार्थ ही वर्त्तमान, अतीत और भविष्यकाल में अर्थक्रिया करने में समर्थ होता है।[48]

बौद्ध – इस पर बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि जो वर्त्तमानकाल में क्रिया करता है, उसे उसी समय भूत–भविष्य में भी अर्थक्रिया करना चाहिए, यह मानना उचित नहीं है। युवावस्था में रहने वाला देवदत्त युवावस्था की क्रिया करते समय बाल्यावस्था और वृद्धावस्था की क्रिया करने वाला नहीं होता है। अतः, नित्य–पदार्थ अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं है। यदि आप (जैन) नित्य–पदार्थ को अर्थक्रिया करने में समर्थ मानेंगे, तो नित्य–पदार्थ एक समान स्थिर स्वभाव वाला होने से न तो पूर्वकाल में और न उत्तरकाल में कोई अर्थक्रिया कर सकेगा। अर्थक्रिया तो परिवर्तन या परिणमन की सूचक है। वह स्थिर स्वभाव की विरोधी है, अतः, नित्य–पदार्थ तीनों कालों में अर्थक्रिया करने में असमर्थ होता है। चूंकि स्थिर स्वभाव वाले नित्य–पदार्थ में कोई भी अर्थक्रिया (परिर्वतन) सम्भव ही नहीं है, इसलिए यदि नित्य–पदार्थ अर्थक्रिया करने में समर्थ हो, तो तीनों काल की क्रिया में एक ही समान होने का प्रसंग आएगा, अर्थात् तीनों कालों में कोई भी परिणमन या परिवर्तन नहीं होगा और यदि वह अर्थक्रिया करने में असमर्थ होगा, तो उन–उन काल में वह–वह अर्थक्रिया भी नहीं करने का दोष आएगा।[49]

नित्य–पदार्थ अर्थक्रिया करने में समर्थ हो या असमर्थ, फिर भी उसमें क्रम से या एक ही साथ अर्थात् अक्रम से अर्थक्रिया मानने में दोष होने के कारण नित्य–पदार्थ के अर्थक्रिया (कार्य) करने की संभावना नहीं रहती।

पुनः, बौद्ध जैनों से कहते हैं कि यदि आप (जैन) अपना बचाव करने हेतु ऐसा कहते हैं कि पदार्थ स्वयं ही अपनी अर्थक्रिया करने में समर्थ होते हैं, तो हम बौद्धों का प्रश्न है कि क्यों वह अपेक्षणीय

---

[48] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 702

[49] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 703

सहकारी–कारणों के होने पर ही अर्थक्रिया करता है और अपेक्षणीय सहकारी–कारणों के न होने पर, अर्थात् उनके अभाव में अर्थक्रिया नहीं करता है ? यदि पदार्थ स्वभावतः अर्थक्रिया करने में समर्थ होते हैं, तो उन्हें वर्त्तमानकाल की तरह भूत और भविष्य–काल में भी अर्थक्रिया करना चाहिए।[50]

जैन – इसके उत्तर में जैन–दार्शनिक कहते हैं कि अर्थक्रिया करने में समर्थ होते हुए भी भूत और भविष्य में वैसा ही कार्य करने में जिन–जिन अपेक्षणीय सहकारी–कारणों का सान्निध्य नहीं मिल पाने से वे पदार्थ भूत और भविष्य में वैसा ही कार्य करने में समर्थ नहीं होते है– ऐसा हम जैनों का मंतव्य है,[51] तो खण्डन करते हुए बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि अर्थक्रिया करने में जब पदार्थ स्वयं ही समर्थ हैं, तो फिर उन पदार्थों को सहकारी–कारणों की अपेक्षा क्यों चाहिए ?

1. क्या पदार्थ को स्वयं के स्वरूप की प्राप्ति करने के लिए सहकारी–कारणों के सहयोग की अपेक्षा होती है ? या 2. कोई उपकार करने के लिए सहकारी–कारणों के सहयोग की अपेक्षा रहती है ? या 3. वह कार्य करने के लिए सहकारी–कारणों के सहयोग की अपेक्षा रहती है? इन तीनों में से आप कौनसे पक्ष को मान्य करेंगे ? जिस किसी भी पक्ष को आप (जैन) स्वीकार करेंगे, वह दोषपूर्ण ही होगा।[52]

बौद्ध – बौद्ध कहते हैं कि यदि आप प्रथम–पक्ष को मान्य करते हैं कि पदार्थ को स्वयं के स्वरूप की प्राप्ति में सहकारी–कारणों के सहयोग की अपेक्षा है, तो स्वयं के स्वरूप की उत्पत्ति में भी सहकारी–कारणों के अधीन होने से नित्य–पदार्थ नित्य–स्वरूप वाला न होकर अनित्य–स्वरूप वाला हो जाएगा, क्योंकि नित्य–पदार्थ तो जैसा होता है, वह वैसा ही प्रारंभ से ही रहता है। ऐसे नित्य–पदार्थ को सहकारी–कारणों के सहयोग से कौनसे स्वरूप का लाभ होगा ? यदि इन सहकारी–कारणों से नए–नए स्वरूपों का लाभ होता हो, तो वे पदार्थ नित्य–स्वरूप वाले तो रहेंगे ही नहीं, इसलिए जो नित्य–पदार्थ हैं, वे जिस स्वरूप में हैं, वे प्रारंभ से अन्त तक उसी स्वरूप में रहेंगे, उनको सहकारी–कारणों से कोई विशेष

---

[50] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 703

[51] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 704

[52] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 704

स्वरूप–लाभ तो होने वाला नहीं है। तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ प्रारंभ से ही अपने स्वरूप में स्थित हैं, उन्हें किसी अन्य सहकारी–कारणों की आवश्यकता ही नहीं होती। 2. अब यदि दूसरे पक्ष पर विचार करें कि पदार्थ स्वयं ही अर्थक्रिया करने में समर्थ हैं, तो फिर उनको सहकारी–कारणों की ओर से सहकार (उपकार) की क्या आवश्यकता है ? पुनः, यदि पदार्थ स्वयं ही अर्थक्रिया करने में असमर्थ हैं, तो असमर्थ पदार्थ को भी सहकारी–कारणों के सहयोग की अपेक्षा क्यों रहेगी ? क्योंकि असमर्थ पदार्थ को हजार सहकारी–कारण मिलकर भी कार्य करने में समर्थ नहीं बना सकते। उदाहरणस्वरूप– यदि रेत में तेल नहीं है, तो बाह्य सहकारी–कारण घाणी आदि रेती में से तेल की प्राप्ति कैसे करा पाएंगे ? अतः, पदार्थ अर्थक्रिया करने में स्वयं समर्थ हो या असमर्थ– दोनों स्थितियों में सहकारी–कारणों की आवश्यकता नहीं रहती है। तात्पर्य यह है कि पदार्थ जब स्वयं ही कार्य करने में समर्थ हैं, तो उनको सहकारी–कारणों से होने वाले उपकार अर्थात् सहयोग से क्या प्रयोजन ? अर्थात् अर्थक्रिया करने में समर्थ पदार्थ को उपकारी (सहयोगी) की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। जो पदार्थ अर्थक्रिया करने में असमर्थ हैं, उनको भी सहकारी–कारणों के सहयोग या उपकार की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। पुनः, बौद्ध कहते हैं कि यदि आप जैन तीसरा विकल्प यह मानते हैं कि कार्य करने के लिए सहयोग की अपेक्षा होती है, तो यह तीसरा पक्ष भी उचित नहीं है। जिस प्रकार पदार्थ को अर्थक्रिया करने में समर्थ होने या असमर्थ होने में सहकारी (उपकारी) कारणों की अपेक्षा नहीं रहती है, उसी प्रकार पदार्थ को अपना कार्य करने के लिए भी सहकारी–कारणों की कोई आवश्यकता नहीं रहती है, क्योंकि जो पदार्थ स्वयं ही कार्य करने में समर्थ हैं, उनको सहकारी–कारणों की अपेक्षा नहीं रहती है और जो पदार्थ कार्य करने में असमर्थ हैं, उनको भी सहकारी–कारणों की अपेक्षा नहीं रहती है, अर्थात् दोनों को सहकारी–कारणों की कोई आवश्यकता ही नहीं है।[53]

पुनः, बौद्ध–दार्शनिक जैनों से कहते हैं कि यदि कदाचित् आप (जैन) यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि पदार्थ तो स्वयं ही सम्पूर्ण रूप से कार्य करने में समर्थ हैं, परन्तु कार्य (अर्थक्रिया) के अनेक कारणों के अधीन होने से सहकारी–कारणों की अपेक्षा रहती है, अर्थात् कार्य को उत्पन्न करने वाले अर्थक्रियाकारी पदार्थ को तो निमित्त (सहकारी) कारणों की अपेक्षा

---

[53] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 704, 705

नहीं है, किन्तु पदार्थ में से उत्पन्न होने वाले कार्य को तो सहकारी–कारणों की अपेक्षा रहती है।[54]

बौद्ध पुनश्च जैनों से कहते हैं कि आपका (जैनों का) इस प्रकार, का कथन भी उचित नहीं है। चूँकि पदार्थ से उत्पन्न होने वाला कार्य तो परतंत्र है, क्योंकि पदार्थ सहकारी–कारणों के अधीन होकर ही किसी कार्य को उत्पन्न करता है, इसलिए कार्य परतंत्र है, इसी प्रकार कार्य को उत्पन्न करने वाला पदार्थ (उपादान–कारण) भी कार्य करने में पूर्णरूपेण समर्थ होता हो, ऐसा भी नहीं है। कार्य उत्पन्न होने में और उपादानकारणरूप पदार्थ उत्पन्न करने में चाहे स्वतंत्र नहीं भी हो, फिर भी कार्य उत्पन्न तो होता ही है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि कार्य को उत्पन्न होने में किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं रहती है। यदि कार्य की उत्पत्ति को कदाच् स्वतंत्र मान भी लिया जाए, तो फिर तो कार्य में कार्यता का व्याघात (दोष) उत्पन्न होगा। क्योंकि उत्पन्न होने वाला कोई कार्य यदि अपने कारणों से स्वतंत्र हो, तो कार्य को उत्पन्न करने वाले उपादान–कारण (पदार्थ) और निमित्त–कारणरूप सहकारी–कारणों के रहते हुए भी, कार्य के स्वयं स्वतंत्र होने से उसे उत्पन्न होना होगा, तो वह उत्पन्न होगा और यदि नहीं होना होगा, तो वह उत्पन्न नहीं होगा, ऐसा होना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं हैं, इसलिए कार्य अपने कारणों से स्वतंत्र नहीं है, कार्य को अपने उपादान और निमित्त–कारणरूप सहकारी–कारणों की अपेक्षा रहती है, अतः, यह मानना उचित नहीं है कि पदार्थ समर्थ हो, तो भी अर्थक्रियाकारित्व घटित नहीं होता है और पदार्थ असमर्थ हो, तो भी अर्थक्रियाकारित्व घटित नहीं होता है।[55]

अपने पक्ष के समर्थन में बौद्ध–दार्शनिक जैनों से कहते हैं कि आप (जैन) पदार्थ में नित्यता (ध्रौव्यता) का जो गुण (धर्म) मानते हैं, आपके द्वारा मान्य वह नित्य–पदार्थ न तो क्रम से अर्थक्रिया करने में समर्थ है और न अक्रम से तथा पदार्थ युगपत्–रूप से, अर्थात् क्रम और अक्रम– दोनों से एक साथ अर्थक्रिया कर सकता है। युगपत् रूप से अर्थक्रिया करने वाला पदार्थ तो संसार में है ही नहीं, वह तो आकाश–पुष्प के समान असत् है, इसलिए अक्षणिक अर्थात् नित्य–पदार्थ क्रम से, अक्रम से और युगपत्–रूप से, अर्थात् क्रम और अक्रम से एक ही साथ अर्थक्रिया करने वाला नहीं

---

[54] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 705

[55] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 705

होने से व्यापक की अनुपलब्धि वाला, अर्थात् अभावरूप ही है, अतः, बौद्ध–दार्शनिकों का जैनों से कहना है कि नित्य–पदार्थ में क्रम से भी और अक्रम से भी अर्थक्रिया नहीं होती तथा क्रमाक्रम से अर्थात् युगपत्–रूप से भी अर्थक्रिया नहीं होती है और अर्थक्रिया करने में असमर्थ पदार्थ असत् ही होता है। इस प्रकार,, नित्य–पदार्थ में 'सत्व' (अस्तित्व) रूप लक्षण (गुणधर्म) का अभाव होने से नित्य–पदार्थ को अर्थक्रियाकारित्व में सक्षम होने के लिए तो क्षणिक–पदार्थ में ही विश्राम लेना होता है, अर्थात् क्षणिकता (परिवर्तन्शीलता) के गुण–धर्म को स्वीकार करना ही होता है। इस प्रकार,, यहाँ बौद्ध–दार्शनिक जैनों से कहते हैं कि नित्य–पदार्थ तो स्थिर लक्षण वाला होने से उसमें अर्थक्रिया, चाहे क्रम से हो, या अक्रम से, या क्रमाक्रम से, संभव ही नहीं है, क्योंकि आपके नित्य–पदार्थ में 'सत्व' इस लक्षण का अभाव है। जो पदार्थ सत्व–लक्षण से युक्त होते हैं, वे तो क्षणिक अर्थात् परिवर्तनशील ही होते हैं और ऐसे क्षणिक अर्थात् परिवर्तनशील पदार्थ ही अर्थक्रिया करने में समर्थ होते हैं और जो अर्थक्रिया करने में समर्थ होते हैं, वे ही सत्व–लक्षण वाले होते है, अतः, क्षणिक–लक्षण वाले पदार्थ ही सत् होते हैं, यही व्याप्ति उचित हैं, इसलिए आपको हमारे सत्ता की परिवर्तनशीलता के बौद्ध–सिद्धांत को मानने में कोई बाधा नहीं होना चाहिए।[56]

बौद्ध–मंतव्य की रत्नप्रभसूरि द्वारा की गई समीक्षा

जैन – बौद्धों के उपर्युक्त समस्त तर्कों का खण्डन करते हुए जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्ध–दार्शनिकों से प्रश्न करते हैं कि यह ठीक है कि आप (बौद्ध) प्रत्येक पदार्थ को विनश्वर स्वभाव वाला मानते हैं, तो क्या आप यह बता सकते हैं कि प्रतिक्षण नष्ट होने वाला आपका वह पदार्थ क्या प्रत्यक्ष–प्रमाण का विषय बन सकता है ? प्रथम तो, वह क्षणिक पदार्थ प्रत्यक्ष का विषय होता ही नहीं है। कदाचित् आप यह भी कह दें कि क्षणिक पदार्थ प्रत्यक्ष का विषय बन सकता है, तो आप यह बताइए कि क्षणिक पदार्थ में प्रत्यक्ष–प्रमाण से किस प्रकार से अर्थक्रियाकारित्व की सिद्धि करेंगे ? 1. क्या मात्र कारणरूप पदार्थ को प्रत्यक्ष से ग्रहण करने पर अर्थक्रियाकारित्व का बोध होगा ? या 2. क्या मात्र कार्यरूप पदार्थ को प्रत्यक्ष से ग्रहण करने पर अर्थक्रियाकारित्व का बोध होगा ? या 3. क्या कार्य और कारण– ऐसे उभयग्राही प्रत्यक्ष से अर्थक्रियाकारित्व का बोध

---

[56] रत्नाकरांवतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 705, 706

होगा? ऐसे, इन तीनों प्रकार के प्रत्यक्षों में से कौन से प्रत्यक्ष–प्रमाण से अर्थक्रियाकारित्व का बोध होगा ? आप बौद्धों ने पूर्व में जो कथन किया था कि सत् वही होता है, जो क्षणिक (प्रतिक्षण परिवर्तनशील) होता है और सत–धर्मी प्रत्यक्ष–प्रमाण से प्रसिद्ध ही है, तो यहाँ हम जैनों का आप बौद्धों से यही प्रश्न है कि आपका उपर्युक्त कथन तीनों प्रकार के प्रमाणों में से कौन–से प्रत्यक्ष–प्रमाण से सिद्ध होता है ?[57]

पुनः, जैन कहते हैं कि यदि आप बौद्ध–दार्शनिक प्रथम तर्क के आधार पर यह कहते हैं कि अकेला कारण ही प्रत्यक्ष–प्रमाण का विषय बनता है, तो मात्र कारण के प्रत्यक्ष से उसके अर्थक्रियाकारित्व का बोध होना संभव नहीं है। आपके अनुसार, प्रत्यक्षप्रमाण कार्य को तो प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनाता है, मात्र कारण को ही प्रत्यक्ष का विषय बनाता है, इसलिए मात्र कारण के प्रत्यक्ष से उसके अर्थक्रियाकारित्व का बोध नहीं होगा। यदि आप बौद्ध दूसरे पक्ष के समर्थन में यह कहते हैं कि प्रत्यक्ष–प्रमाण तो मात्र कार्य को ही अपना विषय बनाता है, वह कारण को अपना विषय बनाने में समर्थ नहीं है, तो बिना कारण के मात्र कार्य से भी उसके अर्थक्रियाकारित्व का बोध संभव नहीं है। इस प्रकार,, प्रथम दोनों पक्षों में से किसी को भी स्वीकार करने पर अर्थक्रियाकारित्व का बोध संभव नहीं है। अर्थक्रियाकारित्व का यथार्थ–बोध तो कारण और कार्य– दोनों, अर्थात् उभयग्राही–ज्ञान से ही संभव है, क्योंकि घट, पट आदि कारणों से घट का जलधारण करने के कार्य का और पट के शरीराच्छादन के कार्य का बोध होता है। इस प्रकार, 'यह इसका कारण है और यह इसका कार्य है'– ऐसा उभयग्राही–प्रतिभास होने पर सत् के अर्थक्रियाकारित्व का बोध होता है, अतः, कारण और कार्य– दोनों, अर्थात् उभयग्राही–ज्ञान से ही 'अर्थक्रियाकारित्व' का निर्णय एवं यथार्थ–बोध होता है।'[58]

बौद्ध–दार्शनिकों का प्रतिप्रश्न

बौद्ध – इसके प्रत्युत्तर में बौद्ध–दार्शनिक जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि से कहते हैं कि कारणत्व और कार्यत्व– ये दोनों ही पदार्थ के स्वरूप हैं। पदार्थ के इन दोनों स्वरूपों में से किसी भी एक के स्वरूप का ज्ञान हो जाए, तो एक के ज्ञान से दूसरे का भी ज्ञान स्वतः हो जाता है, अर्थात्

---

[57] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 707

[58] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 707

कारण या कार्य में से किसी भी एक की सिद्धि से दोनों की भी सिद्धि हो जाती है। बौद्ध कहते हैं कि आप जैनों ने तो यह अवधारणा प्रस्तुत की है कि कारण का ज्ञान कार्य को नहीं बताता है और कार्य का ज्ञान कारण को नहीं बताता है। यह आपका कथन उचित नहीं है। उन दोनों में किसी एक के ज्ञान से उभय अर्थात् कार्य और कारण– दोनों का ज्ञान हो जाता है और फिर इन दोनों से अर्थक्रियाकारित्व का निश्चय हो जाता है।[59]

जैनों का समाधान – इसका खण्डन करते हुए जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि यदि आप बौद्धों के अनुसार कारण या कार्य में से किसी एक का ज्ञान होने से दोनों का ज्ञान हो जाता है, फिर तो नारियल द्वीपवासी अज्ञानी मनुष्य को भी अग्नि को देखने मात्र से यह बोध हो जाना चाहिए कि अग्नि से धूम की उत्पत्ति होती है, अर्थात् अग्नि–रूपी कारण से धूम–रूपी कार्य उत्पन्न हो जाता है, किन्तु ऐसा बोध तो होता नहीं है। इसी प्रकार, मात्र धुएँ को देखने के साथ ही यह भी बोध हो जाना चाहिए कि यह धुआँ अग्नि–रूपी कारण से उत्पन्न हुआ है, किन्तु मात्र कारण या कार्य में से किसी एक के प्रत्यक्ष–ज्ञान से ही सत् के अर्थक्रियाकारित्व का ज्ञान सम्भव नहीं है। इसके पश्चात्, अब यदि आप तीसरे पक्ष के संबंध में यह कहते हो कि उभयग्राही प्रत्यक्ष–ज्ञान से अर्थक्रियाकारित्व का बोध हो जाता है, तो आप बौद्धों का यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि कारण और कार्य– ये दोनों क्रमभावी पर्यायें हैं। एक ही क्षण में कारण और कार्य की पर्यायें कैसे संभव होंगी ? दूसरे, आपके मत में तो सभी पर्यायें क्षणिक हैं, अतः, क्रमभावी कारण और कार्य का ज्ञान भी सम्भव होगा, क्योंकि आपके क्षणिकता के सिद्धांत के अनुसार कारण के नष्ट होने पर ही कार्य होता है। कार्य–कारण सहभावी नहीं हैं, अतः, कारण–कार्य का युगपत्–ज्ञान भी उनके क्षणिक होने से प्रत्यक्ष का विषय नहीं बन सकता है। आपके बौद्धदर्शन में तो सत्ता क्षणमात्र ही रहती है, अतः, क्षणमात्र रहने वाली सत्ता का प्रत्यक्ष, कार्य के रूप में, या कारण के रूप में, या उभयरूप में सम्भव नहीं है। कदाचित् आपका प्रत्यक्ष–ज्ञान कार्य, कारण या उभय का ग्राहक बन भी जाए, तो वह ज्ञान क्षणिक के स्थान पर अक्षणिक बन जाएगा, क्योंकि सत्ता का क्षण और उसके ज्ञान का क्षण अलग–अलग होंगे

---

[59] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 707

और यदि ऐसा नहीं मानेंगे, तो प्रत्यक्ष के 'सत्व' हेतु में व्यभिचार–दोष उत्पन्न हो जाएगा।[60]

बौद्धों द्वारा स्वपक्ष का मण्डन – इस पर बौद्ध–दार्शनिक जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि के प्रत्युत्तर में कहते हैं कि कारणग्राही या कार्यग्राही– दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष में से किसी भी एक प्रकार के प्रत्यक्ष से मानसिक–विकल्प अर्थात् विचार–विशेष उत्पन्न होता है और इसी विचार–विशेष से अर्थक्रियाकारित्व का निर्णय हो जाता है।[61]

रत्नप्रभ की समीक्षा – इसके प्रत्युत्तर में रत्नप्रभसूरि का यह कहना है कि यदि आप विचार–विशेष (विकल्प) से ही अर्थक्रियाकारित्व का निर्णय हो जाना मानेंगे, तो फिर आप प्रत्यक्ष से अर्थक्रियाकारित्व का निर्णय हुआ, ऐसा नहीं कह सकते हैं।[62]

बौद्धों द्वारा स्वपक्ष का समर्थन –

बौद्ध – इस पर बौद्ध कहते हैं कि प्रत्यक्ष से उत्पन्न होने वाला विकल्प–विशेष (विचार–विशेष) पूर्वकाल में हुए प्रत्यक्ष का ही विषय होता है। इस प्रकार,, प्रत्यक्षजन्य विकल्प–विशेष ही वस्तु के अर्थक्रियाकारित्व का निश्चय करता है। तात्पर्य यह है कि पूर्वकाल में जिस विषय का प्रत्यक्ष हुआ है और उत्तरकाल में पुनश्च जब उसी विषय का प्रत्यक्ष होता है, तो दोनों के प्रत्यक्ष से, विकल्प–विशेष उत्पन्न होता है। इस प्रकार,, इन दोनों के मध्य रहे हुए विकल्प–विशेष द्वारा प्रत्यक्ष से ही अर्थक्रियाकारित्व का निर्णय होता है।[63]

रत्नप्रभसूरि द्वारा बौद्धों की समीक्षा –

जैन – बौद्ध–दार्शनिकों के उक्त कथन की समीक्षा करते हुए जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि पूर्वकाल में जिस किसी भी पदार्थ का प्रत्यक्ष हुआ है, वह प्रत्यक्ष क्या कारण का हुआ था ? या कार्य का ? या फिर कारण और कार्य– दोनों का हुआ था ? यह बताया जाए कि इनमें से किसका प्रत्यक्ष हुआ ? पूर्वकाल में जिसका प्रत्यक्ष हुआ, पुनः उसी विषय

---

[60] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 707, 708

[61] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 708

[62] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 708

[63] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 708

का प्रत्यक्ष उत्तरकाल में भी हुआ– ऐसा कथन तो कर दिया, किन्तु यह स्पष्टीकरण तो किया ही नहीं कि वह प्रत्यक्ष किसका हुआ था, क्योंकि यह तो निश्चित है कि कारण या कार्य, या उभय, इनमें से किसी न किसी का तो वह प्रत्यक्ष हुआ होगा। कदाचित् आप (बौद्ध) यह कह दें कि प्रत्यक्ष तो मात्र कारण का ही ज्ञान करता है, अर्थात् ज्ञान कारण को ही प्रत्यक्ष का विषय बनाता है, कार्य को प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनाता है, या फिर आप यह कहें कि प्रत्यक्ष तो मात्र कार्य का ही ज्ञान करता है, अर्थात् कार्य को प्रत्यक्ष का विषय बनाता है, कारण को नहीं, वह तो एक का ही प्रत्यक्ष करेगा, लेकिन दूसरे का प्रत्यक्ष कैसे करेगा ? किन्तु एक का ज्ञान करे, और दूसरे का ज्ञान नहीं करे, तो यह तो उचित नहीं है। कार्य–कारणभाव तो उभय–विषयक हैं। इस उभय–विषयक का प्रत्यक्ष–ज्ञान कैसे करेगा, अर्थात् अर्थक्रियाकारित्व का प्रत्यक्ष–ज्ञान कैसे करेगा ? उदाहरणस्वरूप– मिट्टी से घट की उत्पत्ति होती है। वस्तुतः, मिट्टी और घट– दोनों में द्रव्यत्व तो एक ही रहा हुआ है। अब जब मिट्टी से घट की पर्याय बनी, तो हमने मिट्टीरूप कारण का भी और घटरूपी कार्य का भी, अर्थात् दोनों पर्यायों का प्रत्यक्षीकरण किया। इसी प्रकार, बाल्यावस्था से यौवनावस्था की प्राप्ति होती है, तो बाल्यावस्था और यौवनावस्था– दोनों का प्रत्यक्ष होता है, किंतु दोनों के बीच जो परिवर्तन की प्रक्रिया होती है, उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि पदार्थ, कारणावस्था और कार्यावस्था– दोनों अवस्थाओं में मौजूद रहता है और दोनों (कार्य–कारणभाव)का ही प्रत्यक्ष–ज्ञान होता है। दूसरे, आपने (बौद्ध ने) प्रत्यक्ष से उत्पन्न होने वाले विकल्प–विशेष को कार्य और कारण–दोनों का ग्राहक अर्थात् उभयग्राही माना है,तो उस विकल्प–विशेष से प्रत्यक्षीकरण का निश्चय कैसे होगा ? क्योंकि आपने तो प्रत्यक्ष को या तो मात्र कारणग्राही माना है, या फिर मात्र कार्यग्राही, ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष का जो व्यापार (क्रिया) है, वह भी विकल्प से ही निश्चित हुआ, ऐसा मानना होगा, या फिर विकल्प को भी मात्र किसी एक का ग्राही मानना होगा। यदि विकल्प भी मात्र कारण का अथवा मात्र कार्य का ग्राही होगा, तो किसी एक का ग्राही होने से भी अर्थक्रियाकारित्व का निश्चय कैसे होगा ? तात्पर्य यह है कि न तो कार्य या कारण में से किसी एक के ग्राही प्रत्यक्ष से अर्थक्रियाकारित्व का निश्चय होता है, न किसी एक ग्राही विकल्प से ही अर्थक्रियाकारित्व का निश्चय होता है। उभयग्राही–प्रत्यक्ष से ही अर्थक्रियाकारित्व का निश्चय होता है, जबकि आप बौद्धों ने तो प्रत्यक्ष को नहीं, अपितु विकल्प को उभयग्राही

माना है, तो उभयग्राही-विकल्प से मात्र एकग्राही-प्रत्यक्ष के व्यापार का, अर्थात् प्रत्यक्ष के विषय का बोध कैसे होगा? अर्थात् नहीं होगा। इस प्रकार, से, शब्दादि धर्मी में अर्थक्रियाकारित्वरूप सत्व (हेतु) प्रत्यक्ष-प्रमाण से प्रतीत होता है- ऐसा आप बौद्धों का कथन युक्ति-युक्त नहीं है, इसलिए आप क्षणिकवादियों को तो किसी भी प्रकार से अर्थक्रिया की प्रतीति होती नहीं है, अतः, वादी बौद्धों द्वारा सत्व की सिद्धि हेतु अर्थक्रियाकारित्वरूप जो हेतु दिया गया है, वह हेतु असिद्ध है, अर्थात् 'असिद्ध' हेत्वाभासरूप है।[64]

पुनः, जैनाचार्य बौद्धों से कहते हैं कि अनेकान्तिक-हेत्वाभास के भी दो रूप होते हैं- 1. संदिग्धानेकान्तिक-हेत्वाभास 2. निश्चितानेकान्तिक-हेत्वाभास। यदि हेतु साध्य के अभाव में, अर्थात् विपक्ष में निश्चित रूप से होता ही हो, तो वह निश्चित-अनेकान्तिकहेत्वाभास कहलाता है। इसी प्रकार, यदि उसके साध्य के विपक्ष में होने पर किसी प्रकार की शंका हो, तो वह हेतु संदिग्धानेकान्तिक-हेत्वाभास कहलाता है। आपने शब्द (पक्ष) की क्षणिकता (साध्य) के लिए सत्व-हेतु दिया था। आप बौद्ध-दार्शनिक वस्तु को एकान्तरूप से क्षणिक मानते हो, इसलिए आपकी क्षणिकता की अवधारणा एकान्तिक है, जबकि आपका साध्य अर्थात् सत्व, क्षणिक एवं अक्षणिक अर्थात् नित्यानित्य- ऐसे उभय-स्वभाववाला है। यदि वस्तु नित्यानित्य या क्षणिकाक्षणिक- ऐसी उभय-स्वरूपवाली है, तो वह साध्याभाव-रूप विपक्ष हुई। इस प्रकार,, एकान्त-क्षणिक नामक साध्य का क्षणिकाक्षणिक- यह विपक्ष हुआ। क्षणिकाक्षणिक वस्तु में अर्थक्रियाकारित्व क्रम से तो घटित हो सकता है, परन्तु युगपत्-रूप से घटित होता नहीं है, अतः, क्षणिकाक्षणिक नामक विपक्ष में सत्व नामक साध्य अनिर्णय की स्थिति में ही रहता है। उसमें भी क्रमाक्रम-रूप से अर्थक्रियाकारित्व संभव हो सकता है। इस प्रकार,, सत्व-हेतु विपक्ष में भी संभव है। इस आधार पर, आपका यह अनुमान कि 'शब्द क्षणिक' है, क्योंकि वह सत् है,' संदिग्धानेकान्तिक-हेत्वाभास से भी युक्त हुआ।[65]

बौद्ध- इस हेत्वाभास की सिद्धि के लिए जैनों से आग्रह करते हुए बौद्ध कहते हैं कि क्षणिकाक्षणिक वस्तु में क्रमाक्रम नामक उपलंभ रहता है। इसे आप स्पष्ट कीजिए ? इसके प्रत्युत्तर में जैनों का कथन यह है कि

---

[64] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 708, 709

[65] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 709, 710

कोई भी एक कार्य सम्पन्न करके दूसरा कार्य करना– यह क्रम है। उदाहरणस्वरूप–घट है, घट में जलधारण करना– यह अर्थक्रिया है। पानी से भरा हुआ घट तो एक है, किन्तु उस घट को क्रमशः (बारी–बारी से) अनेक स्त्रियाँ उठाती हैं। घट को मस्तक पर उठाने में उत्साह, उठाने की शक्ति, आयु, शरीर–सौष्ठव, द्रव्यलाभ आदि ये सभी सहकारी–कारण कहलाते हैं। वे सभी स्त्रियाँ उस जल से भरे घट को बारी–बारी से मस्तक पर उठाती हैं। यद्यपि उनको घट उठाने में श्रम जरूर होता है, किन्तु चाहे उपादान–कारणरूप पदार्थ हो, चाहे सहकारी–कारणरूप कोई भी कार्य हो, कार्य तो क्रमपूर्वक ही होता है, अक्रम से कार्य नहीं होता। एकान्त–क्षणिकवाद में तो क्रम बनता नहीं है, क्षणिकाक्षणिक में ही क्रम बनता है, अतः, सत्व क्षणिकाक्षणिक या नित्यानित्य है, यही मानना होगा।[66]

पुनः, जैन बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि आप (बौद्ध) कदाचित् यह तर्क दें कि बीज में उगने की शक्ति रही हुई है। बीज में उगने की वह शक्ति तो उगते समय भी है और उगने से पहले भी थी। बीज में से अंकुर उत्पन्न होता है। बीज में से अंकुर के निकलते समय से बीज की उस शक्ति की अभिव्यक्ति होती है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से तो बीज क्रम से ही उगेगा। उगने की स्थिति में अक्रम संभव नहीं। सत्ता में उगने की पर्याय तो अवश्य रहती है, किन्तु वह पर्याय भी क्रम से ही अभिव्यक्त होती है। जब आप बौद्ध–दार्शनिक यह कहते हैं कि बीज में उगने की शक्ति तो दीर्घकाल से, अर्थात् उसके अस्तित्व में आने के समय से रही हुई है, तो फिर आप भला पदार्थ को क्षणिक कैसे मान सकते हो। इससे आपका क्षणिकवाद तो खंडित हो गया, अतः, आपको पदार्थ को क्रमाक्रम से अर्थक्रिया करने वाला तथा नित्यानित्य ही मानना होगा। एकान्तरूप से पदार्थ को क्षणिक मानने की आपकी अवधारणा उचित नहीं है।[67]

बौद्ध – इस पर, बौद्ध जैनों से प्रश्न करते हैं कि यदि आप यह कहते हैं कि बीज में उगने की शक्ति है और बीज से ही अंकुर उत्पन्न होता है, अर्थात् कारण से कार्य उत्पन्न होता है, बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति में समय लग सकता है, किन्तु सम्पूर्णरूपेण समर्थ कारण के होते हुए कार्य के उत्पन्न होने में समय क्यों लगता है ? तात्पर्य यह है कि जब

---

66 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि पृ. 710

67 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि पृ. 710

बीज में उगने की शक्ति है, तो फिर तत्काल ही अंकुर उत्पन्न हो जाना चाहिए, अंकुर के उत्पन्न होने में विलम्ब क्यों होता है ?[68]

जैन – जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि रत्नाकरावतारिका में इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहते हैं कि कोई भी पदार्थ बिना विलंब के तत्काल ही कार्य करने में समर्थ होता है– ऐसा एकान्त–सिद्धांत हम नहीं मानते हैं। प्रत्येक पदार्थ में द्रव्य और पर्याय उभयात्मक–धर्म रहे हुए हैं। द्रव्यरूप से, अर्थात् उपादान–कारण के रूप में जो शक्ति पदार्थ में है, उस अपेक्षा से पदार्थ कार्य करने में समर्थ कहलाता है (द्रव्य की अपेक्षा से पदार्थ कार्य करने में समर्थ होता है), किन्तु सहकारी–निमित्त–कारणों के अभाव में कार्य नहीं होता है, अर्थात् नवीनपर्याय प्रकट नहीं होती है, अतः, पर्याय की अपेक्षा से वही पदार्थ कार्य करने में असमर्थ भी कहा जाता है।[69]

पुनः, जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि अनाज की कोठी के तल में जो बीज है, वह बीज भी मिट्टी, पानी, हवा एवं प्रकाश– इन सहकारी–कारणों के मिलने पर ही अंकुरित हो पाता है। चूँकि कोठी के बीज में प्रथमतः उगने की शक्ति थी (उपादान–कारण स्वयं में उपस्थित था), किन्तु सहकारी (निमित्त) कारणों के मिलने पर ही वह अंकुरित हो पाता है, लेकिन कुछ बीज ऐसे भी होते हैं, जिनमें उगने की शक्ति ही नहीं है, अर्थात् उनकी उगने की शक्ति नष्ट हो चुकी है, उनको चाहे कितने ही सहकारी–कारण मिल जाएं, किन्तु उग नहीं सकते हैं, अतः, जिस बीज में उगने की शक्तिरूप पर्याय नष्ट हो गई है, वह उगने में असमर्थ है। पदार्थ द्रव्य की अपेक्षा से सामर्थ्य वाला हो सकता है, किन्तु पर्याय की अपेक्षा से सामर्थ्यरहित हो सकता है। यदि हम यह मान लें कि बीज में उगने की शक्ति तो है, किन्तु यदि उसे वैसे सहकारी–कारण नहीं मिलते हैं, तो वह उग भी नहीं सकता है, इसलिए हम जैनों का कथन है कि बीजरूप वह द्रव्य समर्थ और असमर्थ, अक्षेपक्रिया–क्षेपक्रिया (विलंब–अविलंब) उभयात्मक स्वभाव वाला है, जिसमें किसी प्रकार की कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती।

बौद्ध – बौद्ध–दार्शनिक जैनों के समक्ष यह आपत्ति प्रस्तुत करते हैं कि यह ठीक है कि आप (जैन) जो यह कहते हैं कि कोठी के बीज–द्रव्य में पर्याय–शक्ति अनभिव्यक्त रहती है, क्योंकि बिना

---

68 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 711

69 रत्नाकरावतारिका, भाग II रत्नप्रभसूरि, पृ. 711, 712

सहकारी–कारणों के कोठी में रहा हुआ कोई बीज उगता नहीं है, किन्तु भूमि में रहा हुआ वही बीज सहकारी–कारणों के मिलने पर अपनी पर्याय–शक्ति को अभिव्यक्त कर अंकुरित हो जाता है, तो हम बौद्ध आप जैन–दार्शनिकों से यह प्रश्न करते हैं कि बीज–द्रव्य में रही हुई वह पर्याय–शक्ति, अर्थात् उगने की शक्ति 'बीज' द्रव्य से 1. भिन्न है ? या 2. अभिन्न है ? या 3. भिन्नाभिन्न है ? यदि आप पर्याय–शक्ति को बीज–द्रव्य से भिन्न कहते हो, तो भला उस पर्याय–शक्ति से बीज–द्रव्य को क्या लाभ है ? यथा– अन्धे की आँख में अंजन लगाने से क्या फायदा ? अंजन से सुन्दरता में कोई विशेष वृद्धि तो होने वाली नहीं है। इसी प्रकार जब पर्याय बीज–द्रव्य से भिन्न ही है, तो पर्याय से द्रव्य को क्या लाभ होने वाला है ? अर्थात् कुछ भी नहीं, अतः, भूमि में पड़े हुए उस बीज को भी कोठी के बीज के समान ही मानना पड़ेगा। बीज–द्रव्य से हवा, पानी, मिट्टी, प्रकाश (आतप) आदि सहकारी–कारण अत्यन्त भिन्न होते हुए भी उनकी सन्निधि (समीपता) से बीज–द्रव्य अंकुरित हो सकता है, अतः, द्रव्य से द्रव्य की पर्याय तो भिन्न ही प्रतीत होती है। चाहे वह पर्याय–शक्ति बीजरूप में द्रव्य में ही क्यों न निहित हो, किन्तु वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनती है। हवा, पानी, मिट्टी, आतप आदि सहकारी–कारण बीज–द्रव्य से भिन्न होते हुए भी बीज–द्रव्य को उनका सान्निध्य मिलने पर बीज उग सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जब सहकारी–कारण ही बीज–द्रव्य को अंकुर के रूप में उत्पन्न करते हैं, तो फिर द्रव्य में पयार्यशक्ति को मानने की भी क्या आवश्यकता है। दूसरे, यदि पर्याय–शक्ति और सहकारी–कारण– दोनों ही बीज–द्रव्य से भिन्न ही हैं, तो फिर सहकारी–कारणों को ही क्यों न बीज–द्रव्य के उगने का हेतु मान लिया जाए ? सहकारी–कारण तो हमारे प्रत्यक्ष का भी विषय बनते हैं। यदि आप पर्याय–शक्ति को मान भी लेंगे, तो बीज–द्रव्य को तो कोई लाभ नहीं है, अतः, सहकारी–कारणों को ही कार्य का हेतु मानने में क्या आपत्ति है ?[70]

पुनः, बौद्ध–दार्शनिक जैनों से कहते हैं कि यह ठीक है कि बीज–द्रव्य को उगने में सहकारी–कारणों की अहम् भूमिका हो, किन्तु सहकारी–कारण भी बीज–द्रव्य से तो अत्यन्त भिन्न ही हैं, तो फिर सहकारी–कारणों के मानने से भी बीज–द्रव्य को कुछ विशेष लाभ तो होने वाला नहीं है, फिर बीज किससे उगेगा ? क्या बीज में जो उगने की

---

[70] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 712

शक्ति है, उससे उगेगा या फिर सहकारी–कारणों से उगेगा ? बीज सहकारी–कारणों के अभाव में स्वयं की शक्ति से तो उग नहीं सकता है ? दूसरे, यदि बीज अत्यन्त भिन्न सहकारी–कारणों से ही उगेगा, तो सहकारी–कारणों में भी बीज के योग्य अनुकूल सहकारी–कारण होंगे, तो ही उगेगा, अर्थात् मिट्टी, पानी, हवा, प्रकाश आदि में भी बीज को उगने की वैसी योग्यता हो, तो ही सहकारी–कारणों से बीज उगेगा। अकेले पानी से बीज उग नहीं सकता। अकेली मिट्टी से भी बीज उग नहीं सकता। अकेली हवा से भी बीज उग नहीं सकता। मिट्टी के साथ पानी का संयोग हो, अर्थात् गीली मिट्टी हो, हवा में नमी हो तथा आतप, अर्थात् सूर्य की ऊर्जा हो इन सभी अनुकूल संयोगों के मिलने पर ही तो बीज में उगने की शक्ति पैदा होती है। यदि बीज में ही उगने की शक्ति हो, तो फिर कोठी के तल भाग में रहा बीज क्यों नहीं उग जाता ? यदि आप जैन कहते हैं कि मिट्टी, हवा, पानी, प्रकाश आदि विशेष सहकारी–कारणों के बिना भी अन्य किन्हीं सहकारी–कारणों से भी बीज उग सकता है, तो हम बौद्धों का यह प्रश्न है कि फिर तो तीनों लोक के समस्त पदार्थों को भी सहकारी–कारण बन जाना चाहिए और किसी भी सहकारी–कारण से बीज उग सकता है ? वस्तुतः तो, बीज सहकारी–कारणों के सहयोग से ही उगता है, किन्तु सहकारी–कारणों में भी, जिनमें उगाने की विशेष शक्ति होगी, उन्हीं से बीज उगेगा। चाहे बीज में उगने की शक्ति भी हो, किन्तु विशेष सहकारी–कारणों के मिलने पर ही बीज उग सकता है, अन्यथा बीज में उगने की शक्ति हो तो भी बीज उग नहीं सकता। दूसरे, यदि विशेष सहकारी–कारण भी उस उगाने की विशेषता को प्राप्त नहीं करते हैं, तो वे उस विशेषता के अभाव में सहयोगी कैसे बनेंगे ? अर्थात् नहीं बनेंगे। जो सहकारी–कारण बीज–द्रव्य में निहित उगने की विशेष–शक्ति को अभिव्यक्त नहीं करा सकते हों, वे सहकारी–कारण भी सहकारी–कारण होने की योग्यता (सहकारी–कारणता) को कैसे प्राप्त करेंगे?

पुनः, बौद्ध–दार्शनिक जैनों से यह प्रश्न करते हैं कि क्या एक अतिशय–विशेष दूसरे अतिशय–विशेष को उत्पन्न करता है ? दूसरा अतिशय–विशेष तीसरे अतिशय–विशेष को उत्पन्न करता है ? इस क्रम में तो अनवस्था–दोष उत्पन्न हो जाएगा, अतः, आप जैनों से हम बौद्धों का

कहना है कि आप पर्याय–शक्ति को बीज–द्रव्य से भिन्न मानेंगे, तो उसमें दोष उत्पन्न होगा। इसलिए आपका यह भिन्न पक्ष भी उचित नहीं है।[71]

पुनः, बौद्ध जैनों से कहते हैं कि यदि आप पर्याय–शक्ति को बीज–द्रव्य से अभिन्न मानते हैं, तो पर्याय–शक्ति को उत्पन्न करने वाला तो पदार्थ ही है, अर्थात् जिसमें पर्याय–शक्ति प्रकट होगी, वह तो द्रव्य ही है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य में से ही पर्याय उत्पन्न हुई है। बीज में ही अंकुर पैदा होने की शक्ति रही हुई है, इसलिए द्रव्य (पदार्थ) कृतक अर्थात् पर्याय को करने वाला हुआ, यथा–बीज में से ही अंकुर पैदा होते हैं। द्रव्य (पदार्थ) कृतक होने के कारण द्रव्य या पदार्थ क्षणिक हो गया। यदि पदार्थ क्षणिक है तथा पदार्थ से पर्याय अभिन्न है, अर्थात् पदार्थ और पर्याय– दोनों एक ही हैं, तो पदार्थ से पर्याय भिन्न कैसे होगी ? साथ ही, यदि पदार्थ क्षणिक है, तो क्षणिक पदार्थ से भी पर्याय कैसे बनेगी ? अर्थात् नहीं बनेगी, अतः, यही सिद्ध होता है कि पदार्थ क्षणिक हैं। इस प्रकार,, आप जैनों का यह दूसरा तर्क भी उचित नहीं है।[72]

अब, यदि आप जैन तीसरा पक्ष ग्रहण करें, अर्थात् पर्याय–शक्ति को बीज–द्रव्य से भिन्नाभिन्न कहें, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त दोनों पक्ष मानने में तो, 'अभिन्न' पक्ष मानने में वही क्षणिकता की सिद्धि होगी और 'भिन्न' पक्ष मानने पर पदार्थ और पर्याय में कोई सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं होगा, अतः, आप जैन यह बताइए कि फिर आपके सिद्धान्तानुसार पर्याय–शक्ति क्या है ?[73]

जैन– बौद्ध–दार्शनिकों के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए जैन–दार्शनिक रत्नप्रभ कहते हैं कि आपने (बौद्धों ने) इस प्रकार, जो तीन प्रश्न उपस्थित किए हैं– 1. क्या पर्याय–शक्ति द्रव्य से भिन्न है ? या 2. पर्याय–शक्ति द्रव्य से अभिन्न है ? या 3. पर्याय–शक्ति द्रव्य से भिन्नाभिन्न है ? आपके इन तीनों प्रश्नों में से हम तो अन्तिम भिन्नाभिन्न–पक्ष को स्वीकार करते हैं, क्योंकि पर्याय द्रव्य से न एकान्त–भिन्न हैं, न एकान्त–अभिन्न है, अपितु पर्याय द्रव्य से भिन्नाभिन्न है। इस तीसरे भिन्नाभिन्न–पक्ष में तो किसी भी प्रकार के दोष की संभावना भी नहीं रहती

---

[71] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 712, 713

[72] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 713

[73] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 713

है। आप बौद्धों ने हमारे द्वारा इस तीसरे पक्ष को मानने के संबंध में जो यह आक्षेप लगाया कि यदि हम जैन पर्याय–शक्ति को द्रव्य से भिन्नाभिन्न मानते हैं, तो प्रथमतः पर्याय–शक्ति द्रव्य से अभिन्न होने के कारण पर्याय को उत्पन्न करने वाला द्रव्य क्षणिक हो जाएगा, क्योंकि पर्याय क्षणिक है, किन्तु इस सम्बन्ध में हम जैनों का उत्तर यह है कि हम जैन पदार्थ या द्रव्य को एकान्त–नित्य भी नहीं मानते हैं, जिससे किसी अपेक्षा–विशेष से पदार्थ में क्षणिकता को स्वीकार करने में कोई दोष उत्पन्न हो ? हम जैन तो समस्त पदार्थों को द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से अक्षणिक (नित्य) भी मानते हैं, तो पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से क्षणिक भी मानते हैं। हम जैन तो आपके एकान्त–क्षणिकवाद का ही खण्डन करते हैं, कथंचित्–क्षणिकत्व तो हमें भी अभिष्ट ही है। आप बौद्ध मात्र एकान्त–क्षणिकता के पक्षधर हैं, इसी कारण से हमारा आपसे विरोध है।[74]

बौद्ध – इस पर बौद्धों का कहना है कि आप जैनों के अनुसार भी पर्याय के क्षणिक होने से पर्याय से अभिन्न द्रव्य भी तो क्षणिक ही होगा। आप जैन यह मानते हैं कि पर्याय प्रतिक्षण बदलती रहती है, तो प्रतिक्षण बदलने वाली पर्याय तो क्षणिक ही होगी, अतः, पर्याय और द्रव्य तो क्षणिक ही होंगे, कथंचित् क्षणिक नहीं होंगे।[75]

जैन – जैन कहते हैं कि हम पर्याय को भी द्रव्य से कथंचित्–भिन्न मानते हैं, एकान्त–अभिन्न नहीं मानते हैं। हम पर्याय को कथंचित्–भिन्न और कथंचित्–अभिन्न– ऐसी उभयात्मक (भिन्नाभिन्न) मानते हैं।[76]

बौद्ध – इस पर बौद्ध यह आपत्ति उठाते हैं कि एक ही द्रव्य पर्याय के साथ कथंचित्–भिन्न और कथंचित्–अभिन्न (भेदाभेदरूप) कैसे हो सकता? दोनों में परस्पर–विरोध होने से एक ही स्थान में और एक ही समय में दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं ?[77]

जैन – जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों के इस तर्क का खण्डन करते हुए कहते हैं कि एक ही द्रव्य का अपनी पर्याय से एक ही समय में दो

---

74 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 713, 714

75 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 714

76 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 714

77 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 714

भिन्न अपेक्षाओं से भेद और अभेद— दोनों होने में किसी भी प्रकार का कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता है। प्रत्येक द्रव्य पर्याय की अपेक्षा से भेदरूप है और द्रव्य की अपेक्षा से अभेदरूप है। अपेक्षा—भेद से विधि और निषेध (प्रयोग—अप्रयोग) करने पर कोई विरोध उत्पन्न नहीं हो जाता है। दो भिन्न अपेक्षाओं से परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले कोई भी कथन विरोधी नहीं हो जाते हैं। कथन में परस्पर विरोध होने पर भी यदि एकान्ततः विरोध ही समझ लिया जाएगा, तो फिर अतिप्रसंग (अतिव्याप्ति) दोष उत्पन्न हो जाएगा। परस्पर—विरोधी कथन को इस प्रकार, समझा जा सकता है।[78]

"अत्यन्त दुःख हृदय को छेद देता है, किन्तु फिर भी हृदय के दो टुकड़े नहीं करता, आकुल—व्याकुल व्यक्ति का शरीर मूर्च्छित हो जाता है, किन्तु चेतना का नाश नहीं होता, अंदर की आग शरीर को जला देती है, किन्तु फिर भी देह राख नहीं बन जाती। हम जो चाहते हैं, भाग्य उसको विनष्ट कर देता है, अर्थात् हमारे जीवन के लक्ष्य को समाप्त कर देता है, किन्तु जीव को समाप्त नहीं कर देता।" इन उदाहरणों में एक ही व्यक्ति में 'नञ्' का प्रयोग और अप्रयोग (विधि और निषेध) दोनों के होने से विरोध का प्रसंग तो है। वस्तुतः, इस प्रकार, के श्लोक के अर्थ में भी विरोध है— ऐसा तो मानना ही पड़ेगा, जैसे— इस श्लोकार्थ के चारों पदों में वर्णित पूर्व—भाग में 'नञ्' का प्रयोग नहीं किया गया है, किन्तु उत्तर—भाग में 'नञ्' का प्रयोग किया गया है, अर्थात् कथन की अपेक्षा से भिन्नता हो सकती है, किन्तु विरोध नहीं होता है, व्यतिरेक—अव्यतिरेक (भेद—अभेद) में विरोध नहीं होता है।[79]

हम जैन द्रव्य और पर्याय के भेदाभेद—स्वरूप का कथन इस प्रकार, से करते हैं — नित्य—पदार्थ से किसी पर्याय—विशेष के भेद का कथन जिस रूप में करते हैं, उसी रूप में उसके अभेद का कथन नहीं करते हैं। हम जैन, 'यह द्रव्य है' 'यह इसकी पर्याय है' अर्थात् यह मृत्तिका (द्रव्य) घटाकार (पर्याय) रूप है— इस प्रकार, द्रव्य और पर्याय के भेद का कथन करते हैं, किन्तु जब द्रव्य और पर्याय के अभेद का कथन करना हो, तो चाहे द्रव्य हो या पर्याय हो— दोनों के लिए 'यह वस्तु है' ऐसा अभेदरूप कथन करते हैं। यहाँ बौद्धों पर आक्षेप करते हुए जैन—दार्शनिक रत्नप्रभ कहते हैं कि आप बौद्ध—दार्शनिक भी एक ही विज्ञान—क्षण को सविकल्पक

---

[78] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 714

[79] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 714, 715

और निर्विकल्पक, भ्रान्त और अभ्रान्त, पूर्वक्षण की अपेक्षा से कार्यरूप और उत्तर–क्षण की अपेक्षा से कारणरूप मानकर परस्पर विरोधी उभयात्मक–स्वरूप को स्वयं स्वीकार करते ही हैं, किन्तु दूसरी ओर हम जैनों द्वारा माने गए भेदाभेद में परस्पर विरोध कहकर दोष दिखाते हैं, यह आपका दुःसाहस ही है। इस प्रकार,, क्रम और अक्रम द्वारा अर्थक्रिया आपके एकांत–क्षणिकवाद के विरोधी हमारे क्षणिकाक्षणिकवाद या नित्यानित्यवाद में भी संभव होती है, इसलिए 'जो सत् होता है, वह अर्थक्रियाकारी होता है'– आपके इस सिद्धान्त में संदिग्धानेकान्तिक–दोष सिद्ध होता है।[80]

पुनः, रत्नप्रभसूरि बौद्धों के एकान्त–क्षणिक पक्ष की समीक्षा करते हुए कहते हैं– आप (बौद्ध) समस्त पदार्थों को एकान्त–क्षणिक मानते हैं, किन्तु पदार्थ में अपेक्षाभेद से द्रव्यत्व अर्थात् ध्रौव्यत्व–गुण रहा हुआ है, जिसको जन्म से चक्षुहीन रहने के कारण आप देखते नहीं हैं। आपका यह तर्क कि क्रम और अक्रम द्वारा एकान्त–क्षणिक में अर्थक्रिया संभव नहीं होती है, विरुद्धहेत्वाभास–दोष से तथा संदिग्धानेकान्तिक–दोष से ग्रस्त है। क्रम दो प्रकार का होता है– एक, देश–क्रम तथा दूसरा, काल–क्रम। देशक्रम उसे कहते हैं– सरोवर के जल में अतिशय चंचल तरंगों के ऊपर तैरते हुए रमणीय हंसों की पंक्तिबद्ध श्रेणी 'क्रम' कहलाती है तथा मन को आल्हादित करने वाले भिन्न–भिन्न स्थानों पर पंक्तिबद्ध बैठे हुए हंस–युगलों का क्रम 'देशक्रम' कहलाता है। इसी प्रकार, एक ही घट में अनुक्रम से मधु, महुआ, तेल, घृत, दूध, पानी आदि एक के बाद एक क्रमशः भिन्न–भिन्न पदार्थों के धारण करने की जो क्रिया होती है, उसे कालक्रम कहते हैं, किन्तु आप बौद्धों के एकान्त–क्षणिकवाद में न तो देशक्रम संभव है और न कालक्रम ही संभव है, क्योंकि कोई भी पदार्थ या तो किसी देश (स्थान) क्रम से अथवा किसी कालक्रम से ही कोई क्रिया कर सकता है, किन्तु किसी क्रिया के करते ही जो पदार्थ नष्ट हो गया हो, उस पदार्थ में देश या काल के अनुक्रम से कोई क्रिया करने का गुण तो रहा ही नहीं है। तात्पर्य यह है कि पदार्थ को एकान्त–क्षणिक मानने वाले आप बौद्धों के अनुसार तो किसी एक देश अथवा काल में रहा हुआ पदार्थ, एक क्रिया करके नष्ट हो गया हो, तो वह पुनः उसी देश और उसी काल में कौनसी क्रिया करेगा ? जब क्षणिक–एकान्तवाद मूल द्रव्य ही समाप्त हो गया, तो

---

[80] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 715

फिर पदार्थ में अर्थक्रिया का क्रम कैसे बनेगा ? अर्थात् एकान्त–क्षणिकवाद में क्रम नहीं बनेगा।[81]

पुनः, जैन कहते हैं कि बौद्धों के एकान्त–क्षणिकवाद में अक्रम भी घटित नहीं हो सकता है, 'योगपद्य' अर्थात् एक ही साथ अर्थक्रिया होती है, ऐसा आपका यह पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि जो पदार्थ क्षणिक और निरंश है, वह पदार्थ अपने निज स्वभाव से स्वयं को उत्पन्न करने योग्य बनाता है– आप बौद्धों का यह कथन भी उचित नहीं है। क्या वह पदार्थ अपने उसी स्वभाव से, उसी समय, उस पदार्थ को तथा उसके ज्ञान को उत्पन्न करता है, अर्थात् जिस स्वभाव से, जिस समय, ज्ञान उत्पन्न करता है, उसी स्वभाव से, उसी समय, पदार्थ के आकार को भी उत्पन्न करता है? यह मत भी उचित नहीं है, क्योंकि पदार्थ के आकार को और उस आकार के ज्ञान को उत्पन्न करने में दो भिन्न स्वभाव अपेक्षित हैं ? कोई भी पदार्थ अपने निजी स्वभाव से ही उत्पन्न होता है, क्योंकि उत्पन्न होने की वैसी योग्यता उस पदार्थ में उपादान–रूप में रही हुई है। उदाहरणस्वरूप, कोई घट है। अब यदि यह घट, घट के रूप में उत्पन्न होता है, तो सर्वप्रथम उसका आकार उत्पन्न होगा, अर्थात् हमारे मानस में घटाकार प्रतिबिम्बित होगा। उसके पश्चात्, 'यह घट है'– ऐसा ज्ञान उत्पन्न होगा। यहाँ जैन बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि आप पदार्थ को क्षणिक और निरंश– दोनों ही मानते हैं, तो फिर यह बताइए कि पदार्थ, पदार्थ का आकार और उसका ज्ञान– ये तीनों एक ही समय में कैसे संभव होंगे? उदाहरणार्थ, घट उत्पन्न होते समय घटाकारता को धारण करता है, तो वह रूपक्षण है और यह घट है– ऐसा भी ज्ञान करता है, वह ज्ञानक्षण है। अब आप यह बताइए कि हमारे ज्ञान में घटाकार का जो बोध हुआ, वह घटाकार और ज्ञान दोनों भिन्न–भिन्न हैं या एक ही हैं। यदि आप घटाकार और उसके ज्ञान को एक साथ होना मानते हैं, तो दोनों का बोध एक साथ कैसे होगा ? क्योंकि पदार्थ, पदार्थ का आकार और उसका ज्ञान– इनको एक साथ मानने से तो आपका क्षणिकवाद कहाँ रहा ? जब पदार्थ के आकार का बोध हुआ, तब वह पदार्थ तो नष्ट हो गया और जो नष्ट हो गया, उसका ज्ञान कैसे होगा? अतः, प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'रूपक्षण' और 'ज्ञानक्षण' का स्वभाव एक ही है ? या भिन्न–भिन्न है ? प्रथम–पक्ष के समर्थन में यदि आप यह कहते हैं कि जिस स्वभाव से पदार्थ उत्पन्न होता

---

[81] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 715, 716

है, उसी स्वभाव से उसी समय ज्ञान भी हो जाता है। यदि दोनों को एक ही स्वभाव से उत्पन्न होना माना जाए, तो घटाकार और घटज्ञान– दोनों एक ही रूप हो जाएंगे। दोनों में कोई अन्तर रहेगा ही नहीं। फिर तो, ज्ञान स्वयं ही पदार्थस्वरूप बन जाएगा, तो फिर ज्ञान का विषय क्या रहेगा ? आपके इस मत के अनुसार तो रूपक्षण ही ज्ञानक्षण को प्राप्त हो जाएगा, अथवा ज्ञानक्षण रूपक्षण को प्राप्त हो जाएगा, अतः, रूपक्षण और ज्ञानक्षण को एक ही स्वभाव मानना– यह प्रथम–पक्ष उचित नहीं है। जिस स्वभाव से रूपक्षण उत्पन्न होता है, उसी स्वभाव से ज्ञानक्षण भी उत्पन्न होता है, तो रूपक्षण को ज्ञानक्षण मानने की आपत्ति आएगी, क्योंकि दोनों एक स्वभावजन्य होने से विवक्षित रूपक्षण ज्ञानक्षण को प्राप्त हो जाएगा। इस प्रकार, से; पदार्थ, पदार्थ का आकार और पदार्थ का ज्ञान– तीनों एक हो जाएंगे, तो बोध किसका होगा ? दोनों को एक मान लेंगे, तो भेद रहेगा नहीं। अब यदि आप तीसरे पक्ष के संबंध में ऐसा मानते हैं कि पदार्थ का आकार (रूपक्षण) किसी भिन्न स्वभाव से उत्पन्न होता है और पदार्थ का ज्ञान (ज्ञानक्षण) किसी भिन्न स्वभाव से उत्पन्न होता है और ऐसा जो स्वभावान्तर–रूप तीसरा पक्ष स्वीकार करेंगे, तो आपका यह तीसरा पक्ष भी उचित नहीं है। इससे आपका क्षणिकवाद ही खंडित हो जाता है, क्योंकि रूपक्षण अर्थात् पदार्थ का आकार, जिसको आप क्षणिक और अनंश (सम्पूर्ण) मानते हैं, तो ऐसे अनंश का टुकड़े–टुकड़े में ज्ञान होना असंभव है। पदार्थ का बोध तो पूर्णरूपेण होता है, चाहे वह क्षणिक स्वभाव वाला ही हो। यदि आप रूपक्षण और ज्ञानक्षण में स्वभावान्तर अर्थात् भेद को स्वीकार करते हो, तो फिर आपका पदार्थ 'क्षणिक और अनंश' स्वरूप वाला नहीं रहेगा, क्योंकि पदार्थ के क्षणिक और अनंश–स्वरूप में भेद उत्पन्न हो जाएगा। रूपक्षण और ज्ञानक्षण में भेद करने पर आपका एकान्त–क्षणिकवाद खंडित हो जाएगा और स्वभाव–भेद के कारण अनंश भी सांश (भेदरूप) हो जाएगा। ऐसा रूपक्षण और ज्ञानक्षण में स्वभाव–भेद होने से आपके बौद्ध–मत का क्षणिकवाद, अनंशवाद समाप्त हो जाएगा, क्योंकि एक समय में एक ही स्वभाव के संभव होने से कालान्तर में दूसरा स्वभाव उत्पन्न हो जाने से 'क्षणिकवाद' नहीं रहता है। एक ही पदार्थ (रूपक्षण) में भिन्न–भिन्न दो स्वभाव क्रमशः होने पर, वस्तु अनंश नहीं रहती है, वह तो सांश हो जाती है।[82]

---

[82] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 716, 717

बौद्ध – बौद्ध–दार्शनिक इन तर्कों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि यद्यपि हम पदार्थ को क्षणिक और अनंश (एक स्वभाव वाला) ही मानते हैं, किन्तु सामग्री के भेद से वह भिन्न–भिन्न कार्य को करने वाला बन जाता है। चूँकि पदार्थ में तो रूपक्षण और ज्ञानक्षण– दोनों का बोध कराने का स्वभाव रहा हुआ है, किन्तु वह स्वभाव सामग्री के भेद से भिन्न–भिन्न बोध कराता है, यथा – घट एक ही है, किन्तु वही घट कभी जलधारण करता है, कभी दूध धारण करता है, कभी घृत, तेल, गुड़ आदि धारण करता है। इस प्रकार,, भिन्न–भिन्न सामग्री के कारण एक ही घट भिन्न–भिन्न अर्थक्रिया वाला होने से उसका ज्ञान भी भिन्न–भिन्न होता है। जब घट में दूध या घृत होता है, तो यह दूध का घट है, यह घृत का घट है– ऐसा भिन्न–भिन्न ज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि निमित्तकारणभूत–सामग्री से भी भिन्न–भिन्न अर्थक्रिया के कार्य होते हैं, अर्थात् निमित्त–भेद से अनेक कार्य होते हैं, अतः, ऐसा भिन्न–भिन्न कथन करने में कौनसी बाधा उत्पन्न होती है ?[83]

जैन – बौद्ध–मत के उक्त कथन की समीक्षा करते हुए जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि एक ही स्वभाव वाला पदार्थ सामग्री–भेद से भिन्न–भिन्न स्वभाव को धारण कर लेता है, आप बौद्धों ने ऐसा जो कथन किया है, आपका यह कथन तो आपके कथन से ही खण्डित हो जाता है, क्योंकि एक तरफ तो आप पदार्थ को क्षणिक मानते हैं, दूसरी तरफ, भिन्न–भिन्न सामग्री को धारण करने की बात करते हैं, तो दोनों परस्पर विरोधी बातें कैसे सम्भव होगी ? वस्तुतः तो, किसी एक नित्यस्वरूप (स्वभाव) वाला पदार्थ भिन्न–भिन्न सामग्री के भेद से भिन्न–भिन्न कार्य करने वाला ही कहा जाएगा, यथा– घट एक ही है, जो अक्षणिक (नित्य) स्वभाव वाला है, यह घट कभी जल, तो कभी दूध, तो कभी तेल आदि भिन्न–भिन्न सामग्रियों को धारण करता है। भिन्न–भिन्न सामग्री के अनुसार भिन्न–भिन्न क्रिया करने वाला कहलाता है, अतः, आपको पदार्थ को क्षणिक न मानकर अक्षणिक (सापेक्षिक–नित्य) स्वभाव वाला मानने में क्या आपत्ति है? पदार्थ को नित्य मानने वाले सांख्य–मत को भी आपने सदोष बता दिया। सांख्य भी प्रकृति को एक, नित्य, परिणामी मानते हैं एवं एक ही प्रकृति को सामग्री–भेद से भिन्न कार्य करने वाली मानते हैं, अतः, आपको भी पदार्थ को सापेक्षिक–रूप से अक्षणिक (नित्य) एवं एक स्वभाव वाला

---

[83] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 717

मान लेना चाहिए। आपके उपर्युक्त कथन से तो आपके एकान्त–क्षणिकवाद की सिद्धि कैसे होगी ? आपके क्षणिक–एकान्तपक्ष में 'युगपत् अक्रम' वाला पक्ष भी संभव नहीं है, अर्थात् आपके क्षणिकवाद में क्रम या अक्रम से होने वाली अर्थक्रिया संभव नहीं होने से आपका "सत्व हेतु" विरुद्ध–हेत्वाभास से युक्त सिद्ध होता है।[84]

पुनश्च, जैनाचार्य बौद्धों से कहते हैं कि सभी पदार्थ 'एकान्त–क्षणक्षयी' ही हैं– इसे सिद्ध करने के लिए आप जो यह अनुमान प्रस्तुत करते हैं कि प्रत्येक पदार्थ निरपेक्ष है, उनसे अन्य सहायक–सामग्री की अपेक्षा नहीं है, तो हमारा आपसे यह प्रश्न है कि जैसे कोई पदार्थ उत्पन्न हो रहा है, तो उत्पन्न होते समय में वह अन्तिम कारणसामग्री ही कारणरूप में रही या उसके पूर्व की सहायक–सामग्री के रूप में सहायक रही ? उदाहरणस्वरूप, बीज मिट्टी में पड़ा है, जल, हवा, मिट्टी, खाद, आतप आदि सहायक–सामग्री से धीरे–धीरे अंकुरित होता है, तो बीज के अंकुरण होने में इन सभी सहायक–सामग्रियों में से मात्र अन्तिम कारण–सामग्री ही कारणरूप में रहती है, अर्थात् जिस समय अंकुरण हुआ (बीज फूटा), उस समय ही वह सामग्री थी या पहले भी थी ? यदि आप यह कहते हैं कि मात्र अन्तिम कारण–सामग्री से ही बीज अंकुरित हुआ, तो ऐसा कभी संभव ही नहीं है, क्योंकि क्या आप बौद्ध यह बता सकते हैं कि अन्तिम कारण–सामग्री कौनसी है ? क्या आप मात्र जल को, या हवा को, या मिट्टी को, या खाद को– इनमें से किसको अन्तिम कारण–सामग्री मानेंगे ? इनमें से किसी एक को ही अन्तिम कारण–सामग्री मानने पर तो उस एक से तो कभी बीज अंकुरित हो ही नहीं सकता। यदि आप यह कहते हैं कि यह अन्तिम कारण–सामग्री पूर्व में भी थी, तो वह निरपेक्ष कहाँ रही और क्षणक्षयी भी कहाँ रही ? वस्तुतः, बीज तो बीज के योग्य सभी सहायक कारण–सामग्रियों के सहयोग से ही उत्पन्न होता है। पदार्थ सर्वथा निरपेक्ष होकर उत्पन्न नहीं हो सकता, उसमें कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में सापेक्षता रही हुई है। जब आप बौद्ध संसार की सभी वस्तुओं को सापेक्ष मानते हैं, तो उसमें निरपेक्षता कहाँ रही। जब आप बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार ही नहीं करते, तो बाह्यार्थ को स्वीकार किए बिना आप

---

[84] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 717

कैसे कह सकते हैं कि पदार्थ सापेक्ष है अथवा निरपेक्ष ? ऐसे कथन से तो आपका क्षणिकवाद ही सर्वप्रथम खंडित हो जाता है।[85]

पुनः, आप बौद्ध यदि ऐसा ही कहते हैं कि अन्तिम कारण–सामग्री से ही बीज उत्पन्न होता है और उसे किसी अन्य कारण–सामग्री की अपेक्षा नहीं रहती, तो इसी प्रकार, प्रतिक्षण विनश्वर स्वभाव वाले पदार्थ को भी किसी अन्य सापेक्ष पदार्थ (अन्य कारण–सामग्री) की अपेक्षा नहीं रहती है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ क्षणक्षयी स्वभाव वाले हैं। पूर्वक्षण में उत्पन्न होते ही उत्तरक्षण में नष्ट हो जाते हैं, अतः, क्षणक्षयी–पदार्थ निरपेक्ष ही होते हैं, उन्हें किसी भी विनाशक–सामग्री की अपेक्षा नहीं रहती है।

पुनः, जैन कहते हैं कि एकान्त–क्षणिकवाद की सिद्धि में आप (बौद्ध) जो यह तर्क प्रस्तुत कर रहे हैं कि सभी पदार्थों को स्वय के विनाश के लिए अन्य विनाशक–सामग्री की अपेक्षा नहीं होने से वे निरपेक्ष होते हैं, तो आपका यह हेतु असिद्धहेत्वाभास से ग्रसित होने से पदार्थ की सिद्धि कैसे कर पाएगा? जब आपका हेतु ही असिद्ध है, तो फिर पदार्थ की सिद्धि कैसे करेंगे ? मान लो कि एक घट है, यदि वह घट विनष्ट होता है, तो कैसे विनष्ट होता है ? क्या यह अपने ही विनाशशील स्वभाव से नष्ट हुआ? आपका यह हेतु तो पक्ष में संभव नहीं है। वस्तुतः, किसी बलवान् पुरुष के हाथ में रहे हुए मुद्गर के प्रचंड प्रहार से वह घट नष्ट हो जाता है, अर्थात् फूट जाता है, तो यह मानना होगा कि घट के विनष्ट होने में पुरुष एवं मुद्गर आदि निमित्त–कारण–सामग्री ही कारणभूत रही। ऐसा मानने पर तो विनाश में भी अपेक्षा रही हुई है, इसलिए हम जैन यह कहते हैं कि आपका हेतु पक्ष में, अर्थात् वस्तु के विनाशशील स्वभाव या क्षणिक–एकान्त में घटित नहीं होता है, अतः, आपका हेतु असिद्धहेत्वाभास नामक दोष से ग्रसित है।[86]

बौद्ध – यहाँ बौद्ध अपने मत की पुष्टि करते हुए जैनों से कहते हैं कि हमारा हेतु असिद्धहेत्वाभास नहीं है, अपितु साध्य की सिद्धि में साधनभूत है। आप हमारे हेतु को असिद्ध नहीं कह सकते। आपके द्वारा दी गई असिद्धता हमारे हेतु में घटती नहीं है, इसलिए हमारा हेतु अपने साध्य की सिद्धि में निर्दोष है। आप जैन हमारे इस प्रश्न का उत्तर दें कि घट

---

[85] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 718

[86] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 718

आदि पदार्थ का नाश होने में आप मुद्गर आदि को निमित्त–कारण के रूप में स्वीकार करते हैं, तो क्या वे घट आदि पदार्थ, जो अपनी उत्पत्ति के समय विनश्वर स्वभाव वाले उत्पन्न हुए हैं, ऐसे घटादि पदार्थ को मुद्गर आदि नष्ट करते हैं, अथवा आप यह मानते हैं कि अविनश्वर स्वभाव (अक्षणिक स्वभाव) रूप उत्पन्न हुए उन घटादि पदार्थ को ये मुद्गर आदि नष्ट करते हैं ? यदि आप जैन यह कहते हैं कि घटादि पदार्थ अपनी उत्पत्ति के समय से ही अविनश्वर स्वभाव लेकर उत्पन्न हुए हैं और उन्हीं अविनश्वर स्वभाव वाले पदार्थ को ही मुद्गर आदि कारण–सामग्री नष्ट करते हैं, तो आपका यह कथन कदापि उचित नहीं है, क्योंकि पदार्थ का अपना जो निजी स्वभाव होता है, उस स्वभाव को इन्द्र भी अन्यथा करने में समर्थ नहीं होते हैं। जो वस्तु (पदार्थ) स्वभाव से ही अविनश्वर है या अक्षणिक है, उसे अन्य सैकड़ों कारण–सामग्री मिलकर भी नष्ट नहीं कर सकते। दूसरे, यदि आप यह कहते हैं कि घटादि पदार्थ उत्पत्ति के समय से ही नश्वर स्वभाव वाले उत्पन्न होते हैं, तो जन्मजात ही जिसका स्वभाव नष्ट होना है, अर्थात् वे स्वयं ही नष्ट होने की योग्यता रखते हैं, तो उन विनश्वर स्वभाव वाले पदार्थ को नष्ट करने के लिए किसी कारण–सामग्री की कोई अपेक्षा नहीं रहती है, क्योंकि दंड, चक्र, मिट्टी आदि कारण–सामग्री से घट के उत्पन्न होते ही उसका नश्वर स्वभाव भी उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् घटादि पदार्थ विनश्वर स्वभाव को लेकर ही उत्पन्न होते हैं, अतः, विनश्वर स्वभाव वाले अन्य कारणों को मानने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। यदि विनश्वर घटादि पदार्थ को नाश होने में आप जबरदस्ती मुद्गर आदि पदार्थ को सहायक–सामग्री के रूप में स्वीकार ही करेंगे, तो फिर तो संसार के प्रत्येक विनश्वर स्वभाव वाले पदार्थ के लिए पदार्थानुरूप वैसी–वैसी विनाशक हजारों कारण–सामग्री माननी ही पड़ेगी। फिर, एक कारण–सामग्री के लिए दूसरी कारण–सामग्री की आवश्यकता होगी, दूसरी के लिए तीसरी की आवश्यकता होगी, इस प्रकार, अनवस्थादोष उत्पन्न हो जाएगा और कारण–सामग्रियों का कहीं भी विराम नहीं होगा। बौद्ध कहते हैं कि शास्त्रों में भी ऐसा उल्लेख मिलता है कि जो पदार्थ स्वयं विनश्वर स्वभाव लेकर उत्पन्न हुआ है, वह अपने उत्पत्तिकाल से ही अपने विनाशशील स्वभाव के कारण उत्पन्न होने के पश्चात् तुरंत नष्ट होने वाला ही है। वह किन्हीं प्रलय या अन्य कारणों से नष्ट हुआ है– ऐसा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार, जो पदार्थ अनश्वर (नित्य) स्वभाववाला उत्पन्न हुआ है, उसे अपने

नित्य–स्वरूप के कारण इन्द्र आदि भी नष्ट करने में समर्थ नहीं हैं, तो फिर उस पदार्थ का नाश कैसे होगा ? अर्थात् नित्य–पदार्थ नष्ट नहीं होता। इस प्रकार,, आप या तो पदार्थ के विनश्वर स्वभाव को मानेंगे ? या अविनश्वर स्वभाव को मानेंगे ? यदि आप विनश्वर स्वभाव को मानते हैं, तो आपने हमारे क्षणिकवाद को स्वीकार कर लिया है और यदि आप अविनश्वर स्वभाव को मानते हो, तो आपका यह तर्क भी उचित नहीं है कि किसी कारण–सामग्री से पदार्थ नष्ट होता है, अतः, प्रलय या मुद्गर आदि को हेतु मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमारा सिद्धांत तो यही कहता है कि पदार्थ का उत्पाद सहेतुक है तथा उसका नाश निर्हेतुक है।[87]

बौद्ध – पुनः, बौद्ध जैनों से यह प्रश्न करते हैं कि नाश के कारणभूत सामग्री मुद्गर आदि घटादि पदार्थ से पृथक्भूत (भिन्न) है या अपृथक्भूत (अभिन्न) है ? यदि आप घट और उसके नाश की कारण–सामग्री को अभिन्न मानेंगे, तो प्रश्न यह उत्पन्न होगा कि जब दोनों अभिन्न होकर एकस्वरूप हो गए, अर्थात् दोनों में कोई भेद ही नहीं रहा, तो क्या घट स्वयं ने ही स्वयं का नाश कर लिया ? चूँकि घट में विनाशशील होने की पर्याय–शक्ति तो पूर्व से ही रही हुई है, अतः, जब घट स्वयं ने ही स्वयं का नाश कर लिया, तो फिर मुद्गर आदि कारण–सामग्री का क्या प्रयोजन रहा?[88]

जैन – इस पर, जैन कहते हैं कि यदि घट स्वयं से ही नाश को प्राप्त हो जाता है, तो फिर घट स्वयं को स्वयं से ही उत्पन्न हो जाना चाहिए, उसके लिए मिट्टी, पानी, चक्र आदि की क्या आवश्यकता है ? यदि घट स्वयं घट से उत्पन्न हो जाता है, तो घट स्वयं घट से नष्ट भी हो जाएगा, तब मुद्गर आदि कारण–सामग्री से कोई प्रयोजन नहीं रहेगा, किन्तु ऐसा होता नहीं है, अतः, आप बौद्धों की यह मान्यता समीचीन नहीं है कि घट की उत्पत्ति के लिए तो कारण–सामग्री अपेक्षित है, किन्तु विनाश के लिए नहीं, विनाश वस्तु का सहज स्वभाव है।[89]

बौद्ध – इस पर बौद्ध–दार्शनिक यह तर्क देते हैं कि यदि आप जैन यह कहते हैं कि घट का नाश मुद्गर आदि ने किया, तो फिर तो

---

[87] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 720
[88] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 720
[89] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 720

नाश के समान ही घट की उत्पत्ति भी मुद्गर आदि से ही हो जाना चाहिए। दंड, चक्र आदि अन्य कारण–सामग्री की क्या आवश्यकता है ? अतः, घटादि के नाश में मुद्गर आदि कारणभूत सामग्री व्यर्थ ही है। वस्तुतः, यदि आप नाश या उत्पाद की कारण–सामग्री को पदार्थ से अभिन्न मानते हैं, तो आपने हमारे हेतु को जो असिद्धहेत्वाभास कहा, वही दोष आप जैनों के सिद्धांत पर भी लागू होगा।[90]

पुनः, बौद्ध जैनों से कहते हैं कि यदि आप नाश के कारणभूत मुद्गर आदि सामग्री को घटादि पदार्थ से पृथक्भूत (भिन्न) मानते हैं, तो यह बताइए, वह नाश करने वाली मुद्गर आदि सामग्री घटादि पदार्थ के समकालीन है या उत्तरकालीन ? यदि समकालीन है, तो क्या जब घटादि पदार्थ विद्यमान हो, उसी समय उसका नाश होता है ? अथवा यदि उत्तरकालीन है, तो क्या घटादि पदार्थ के अभाव–काल में उसका नाश होता है ? यदि आप प्रथम पक्ष को मान्य करते हैं कि नाशवान् पदार्थ और नाश की कारण–सामग्री समकालभावी है, तो दो जुड़वा भाइयों के समान घटादि पदार्थों का सद्भाव और उनका अभाव– दोनों समकाल में ही होना चाहिए, साथ ही दोनों के समकाल में होने के कारण वे परस्पर अविरोधी होंगे, अर्थात् घटादि पदार्थ और उनका अभाव– दोनों को एक साथ होना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है। जब घट होता है, तब घटाभाव नहीं होता है और जब घटाभाव होता है, तब घट नहीं होता । जब दोनों को समकाल मानते हो, तो घट के उत्पन्न होते ही घट का नाश हो जाना चाहिए। उत्पन्न होते ही नाश भी हो गया, यदि ऐसा समकाल भावी मानेंगे, तो फिर पृथक्भूत (भिन्न) मानने का आपका सिद्धांत ही व्यर्थ होगा तथा उत्पत्ति के काल में ही नाश हो गया– ऐसा दोनों समकाल भावी मानने से तो आपने हम बौद्धों के क्षणिकवाद को ही स्वीकार कर लिया– ऐसा प्रतीत होगा, अतः, यह प्रथम पक्ष मानना उचित नहीं है।[91]

अब यदि आप जैन यह कहते हैं कि घटादि पदार्थ के सत्ताकाल को और उनके नाशकाल को उत्तरकाल भावी मानते हैं, आप तो भले ही मानें, उससे घटादि की अर्थक्रिया, अर्थात् जलधारण आदि की क्रिया में तथा घटादि के ज्ञान में कोई अन्तर नहीं आने वाला है। यदि घट का अभाव ही है, जो अब घट सत्ता में है ही नहीं, अर्थात् उसका अभाव है, तो

---

[90] रत्नाकरावतारिका, भाग II रत्नप्रभसूरि, पृ. 720

[91] रत्नाकरावतारिका, भाग II रत्नप्रभसूरि, पृ. 720

वह कारण–सामग्री घट का नाश करेगी ही कैसे ? और घटादि के सद्भाव में भी उस नाश की कारण–सामग्री से घट का नाश हो नहीं सकता। इस प्रकार,, घट के सद्भाव में भी नाश सम्भव नहीं है और घट के अभाव में भी नाश संभव नहीं है, अर्थात् घटादि का सद्भाव और नाश दो भिन्न–भिन्न काल में होने से दोनों जब अत्यन्त भिन्न हैं तो घटादि पदार्थ और उनके नाश का क्या संबंध है ? अर्थात् कोई संबंध नहीं है। उदाहरणस्वरूप, घट और पट– दोनों एक–दूसरे से परस्पर विरोधी होने से अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं। तन्तु आदि के कारणों से भले ही पट उत्पन्न हो, किन्तु अत्यन्त भिन्न ऐसे पट के उत्पन्न होने पर भी घटादि की क्रियाओं में कोई फर्क नहीं पड़ता। इसी प्रकार, मुद्गर आदि कारणभूत नाश की सामग्री के अत्यन्त भिन्न होने पर घटादि की क्रियाओं में कोई फर्क नहीं पड़ता। जैसे पट की उत्पत्ति और नाश से घट पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वैसे ही घट और घट की नाशक सामग्री के भिन्न काल में होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। पट आदि के अथवा नाशक मुद्गर आदि के अत्यन्त भिन्न होने पर भी भूतल पर रहने वाला घट स्वयं के सद्भाव का बोध कराता है तथा जलधारण आदि की अर्थक्रिया भी करता है। जब घट का नाश हो ही जाए, तो उसकी अर्थक्रिया को भी विराम मिलता है। अतः,, नाश समकाल में हो सकता है, न कि उत्तरकाल में। यदि समकाल में नाश होना मानेंगे, तो क्षणिकवाद मानना पड़ेगा और यदि उत्तरकाल में नाश होना मानते हैं, तो परस्पर अत्यन्त विरोधी घट का सत्ताकाल और घटाभावकाल में घट का नाश कैसे होगा ? घट और नाश– दोनों जब पृथक्भूत हैं, तो घट का नाश कैसे होगा? जो उस समय है ही नहीं, अर्थात् उस काल में जिसका अस्तित्व ही नहीं है, वह घट का नाश कैसे करेगा ? अतः, आपका पृथक्भूत वाला पक्ष भी उचित नहीं है।[92]

पुनः, बौद्ध कहते हैं कि कदाचित् आप जैन ऐसा मानते हैं कि घट और पट परस्पर अविरोधी (अव्याघातक) हैं। इन दोनों के अविरोधी होने से तन्तु आदि से घट से पट की उत्पत्ति भी होती हो, किन्तु घट का अभाव होता नहीं है। अविरोधी होने से पट के उत्पन्न होने पर घट की उत्पत्ति और घट का नाश हो– ऐसा नहीं है। भले ही पट की उत्पत्ति हो, भले ही पट का नाश हो, किन्तु पट की उत्पत्ति और नाश का प्रभाव घट पर नहीं पड़ता है, घट का अभाव क्यों होगा ? इसके विपरीत, घट का अभाव घट

---

[92] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 720, 721

के सद्भाव का विरोधी होने से जब घटाभाव होगा, तब घट नहीं होगा और जब घट का सद्भाव होगा, तो घट जरूर होगा। पट और घट-- दोनों अविरोधी हैं, किन्तु घट और घटाभाव– इन दोनों में परस्पर विरोध है, इसलिए जब घटाभाव होगा, तब घट नहीं रहेगा, अतः, घटाभाव ही होगा।[93]

अब, हम बौद्ध आप जैनों से यह प्रश्न करते हैं कि घटाभाव– यह घट का विरोधी है, तो 'विरोधी' का तात्पर्य क्या है ? 1. क्या घटाभाव घट का नाशक है– ऐसा अर्थ है ? अथवा 2. यह घटाभाव घट का नाश है– क्या ऐसा अर्थ है ? आप विरोधी होने का क्या अर्थ मानते हैं, नाशक (नाश करने वाला) या नाश (नाशरूप) ?[94]

घटाभाव ही घट का नाश करने वाला है– ऐसा प्रथम पक्ष मानते हैं, तो फिर मुद्गर आदि को घटादि का नाशक कैसे मान सकते हैं ? अथवा फिर यह बताइए कि वह 'नाश' घटादि से पृथक्भूत (भिन्न) है या अपृथक्भूत (अभिन्न) है ? इत्यादि जो प्रश्न मुद्गर आदि के संबंध में पूछे गए थे, वे ही प्रश्न घटाभाव के संबंध में हम बौद्धों के हैं कि जिस प्रकार मुद्गर आदि से होने वाला नाश (अभाव) घटादि पदार्थ का नाशक होने से घटादि पदार्थ का उन्मूलन (नाश) करता है, उसी प्रकार घटाभाव से होने वाला भी घटादि पदार्थ का उन्मूलन (नाश) करता है। इस प्रकार,, आप जैन घटाभाव को यदि घट का नाशक मानते हैं, तो यह नाश भी अभावात्मक ही है। दूसरे, यदि अभावात्मक–नाश ही घटादि का नाश करता है, तो इस अभावात्मक–नाश का नाशक अन्य कोई अभावात्मक–नाश होगा। इस प्रकार, मानने से तो अनवस्थादोष की उत्पत्ति हो जाएगी।[95]

टब, यदि आप जैन उपर्युक्त दोषों से बचने के लिए कदाचित् ऐसा कहते हैं कि घटाभाव– यह घट का विरोधी है। इसका तात्पर्य यह होगा कि घटाभाव घट का नाशक नहीं है, अपितु घट स्वयं ही नाशस्वरूप है। यदि आप दूसरे पक्ष को स्वीकार करते हैं, तो यह बताइए कि घट का विनाशशील घटाभाव घट से पृथक्भूत है या अपृथक्भूत है ? इन दोनों

---

[93] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 721

[94] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 721

[95] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 721

पक्षों में से अपृथक्भूत पक्ष तो हम बौद्धों द्वारा मुद्गर आदि कारणभूत सामग्रियों की व्यर्थता का दोष बताने के कारण आप जैनों ने स्वीकार किया है।[96]

टब, यदि आप यह मानते हैं कि घट घटाभाव से भिन्न है, तो वह पटादि से भी पृथक्भूत अर्थात् भिन्न हो होगा। जब घट और घटाभाव– ये दोनों पृथक्भूत अर्थात् भिन्न हैं, तो फिर यह घटाभाव घट का ही नाश कैसे कहलाएगा ? यदि घट और घटाभाव– ये दोनों भिन्न हैं, तो जैसे घटाभाव घट से भिन्न होकर घट का नाश कर सकता है, उसी प्रकार घटाभाव पट– भिन्न होकर पट का भी नाश कर सकता है। यदि उस घटाभाव से पटादि का नाश नहीं हो सकता है, तो फिर उस पृथक्भूत घटाभाव से घटादि का भी नाश नहीं होना चाहिए। इस प्रकार,, आपका यह पक्ष कि घटाभाव घट से भिन्न होकर भी घट का नाशक है, उचित नहीं है।[97]

टब, यदि जैन अपना बचाव करने के लिए कदाचित् यह कहें कि घट संबंधी पर्यायों का नाश होता है, तो वह घट का ही नाश कहलाएगा, पट की पर्यायों का नाश नहीं कहलाएगा। इसी प्रकार, यदि पट से संबंधित पर्यायों का नाश होता है, तो वह पट का ही नाश कहलाएगा, घटादि का नाश नहीं कहलाएगा। उदाहरणस्वरूप 'गो' आदि पदार्थों की देवदत्त और यज्ञदत्त– दोनों से ही भिन्नता तो समान है, फिर भी यदि गाय देवदत्त के पास होगी, तो वह गाय देवदत्त की ही कहलाएगी, यज्ञदत्त की नहीं। इसी प्रकार, यदि गाय यज्ञदत्त के पास होगी, तो वह यज्ञदत्त की ही कहलाएगी, देवदत्त की नहीं। इस प्रकार,, घट–पर्याय का नाश होने पर घट का नाश (अभाव) हुआ ऐसा ही कहेंगे, इस स्थिति में पट का नाश नहीं होने से उसे पट का नाश नहीं कहेंगे।[98]

पुनः, बौद्ध कहते हैं कि आप जैन यह तर्क देते हैं, तो आप यह बताइए कि घट और नाश– इन दोनों में किस प्रकार का संबंध है– 1. क्या उनमें कार्य–कारण–भाव नाम का संबंध है ? या 2. संयोग–संबंध है? या 3. विशेष्य–विशेषणरूप संबंध है ? या 4. अविष्वक्भाव अर्थात् अभेदरूप

---

[96] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 721, 722

[97] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 722

[98] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 722

संबंध है ? वस्तुतः, घट और उसके नाश में किसी प्रकार का संबंध सिद्ध नहीं होता है। 1. प्रथमतः, घट और उसके नाश में कार्य–कारण का संबंध नहीं माना जा सकता है। आप जैनों के अनुसार जो घटादि पदार्थ का नाश (अभाव) होता है, वह मुद्गर आदि से होता है, घटादि से कोई नाश नहीं होता है, इसलिए घटादि का जो नाश होता है, वह मुद्गर आदि अन्य हेतुओं से होने के कारण घटादि का नाश कार्य है और घटादि का नाश मुद्गर आदि से होने के कारण मुद्गर आदि कारण हैं। नाश कार्य है और नाशक कारण होता है। इन दोनों में भी कार्य–कारण–संबंध सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि कारण अलग है और कार्य अलग है, घट अलग है और घट का नाश अलग है। कारण का कार्य से कोई संबंध नहीं है और इसी प्रकार, कार्य का कारण से भी कोई संबंध नही है। चूंकि दोनों की सत्ता ही भिन्न–भिन्न है, अतः, घट का नाश हुआ– ऐसा भी नहीं कह सकते और घट का नाश (उन्मूलन) नहीं हुआ ऐसा भी नहीं कह सकते हैं, अतः, कार्य–कारणरूप आपका प्रथम पक्ष उचित नहीं है। 2. दूसरे, घट और उसके नाश में संयोग–संबंध भी नहीं कह सकते, क्योंकि संयोग–संबंध दो भिन्न द्रव्यों में होता है। घट तो एक द्रव्य है, किन्तु घट का नाश एक क्रिया है। घट के नाश को हम द्रव्य नहीं कहे सकते, अतः, नाश अद्रव्य होने से घट और नाश में संयोग–संबंध संभव नहीं है, साथ ही घट और घट के नाश में संयोग–संबंध मानने पर एक आपत्ति यह आ सकती है कि दोनों, अर्थात् घट और घट के नाश समकाल भावी होने पर ही उनमें संयोग–संबंध हो सकता है, किन्तु घट और घट का नाश– दोनों समकाल में संभव नहीं हैं, क्योंकि जब घट होगा, तब घट का नाश नहीं होगा और जब घट का नाश होगा, तब घट नहीं होगा। घट पूर्वकाल में होता है तथा घट का नाश तो उत्तरकाल में होता है, इसलिए दोनों में संयोग–संबंध नहीं हो सकता है, अतः, दूसरा पक्ष भी उचित नहीं है। 3. तीसरे, घट और घट के नाश (अभाव) में विशेषण–विशेष्य–संबंध भी उचित नहीं है, क्योंकि विशेष्य–विशेषण–संबंध भी दो समकाल भावी तथ्यों में ही होता है। जब घट का सद्भाव होता है, अर्थात् जब घट भूतल पर होता है, तब ही हम ऐसा कथन करते हैं कि यह भूतल घटयुक्त है तथा जब घट का नाश होता है, तब यह कथन करते हैं कि यह भूतल घट से रहित है। तात्पर्य यह है कि हम भूतल और घट में विशेषण और विशेष्य–संबंध घटित करते हैं, तब घट और उसके अस्तित्व के साथ करते हैं, न कि घट और घट के नाश के साथ, अतः, घट और घट के नाश में विशेषण और विशेष्य–संबंध

भी संभव नहीं है। 4. चौथे, घट और घटाभाव में अविष्वग्भाव अर्थात् अभेद–संबंध भी समुचित नहीं है। कदाचित् अभेद–संबंध मान भी लें, तो कौनसा अभेद–संबंध मानेंगे ? 1. क्या सर्वथा अभेद–संबंध मानेंगे ? या 2. कथंचित्–अभेद–संबंध मानेंगे ? 1. सर्वथा अभेद–संबंध मानना तो उचित नहीं है, क्योंकि घट और घटाभाव पृथक्भूत हैं, अर्थात् भिन्न–भिन्न हैं, उनमें सर्वथा अभेद–संबंध नहीं है। चूंकि आप जैन तो दोनों में भिन्नता ही स्वीकार करते हैं, अतः, आप घट और घटाभाव में सर्वथा अभेद–संबंध तो मान ही नहीं सकते। दूसरे, 'कथंचित्–अभेद' संबंध मानने में भी आपके समक्ष बाधा उत्पन्न होगी। घट और घट के नाश में चाहे भेद मानें अथवा अभेद, किन्तु कथंचित्–भेद और कथंचित्–अभेद मानने में तो 'मेरी माता वन्ध्या' के समान विरोध ही होगा। मुद्गर आदि कारणभूत सामग्री से घटादि पदार्थ का नाश होता है– ऐसे कथन का आपने जो विस्तार किया है, यह आपका कथन ठीक प्रकार से घटित नहीं होने के कारण, हमारे सिद्धांतानुसार यहाँ यही सिद्ध होता है कि संसार के समस्त पदार्थों के विनाश में मुद्गर आदि किसी भी बाह्य कारणभूत सामग्री की अपेक्षा नहीं रहती है, अपितु पदार्थ अपने उत्पत्ति के समय से ही अपने विनश्वर–स्वभाव को लेकर उत्पन्न होने के कारण दूसरे ही क्षण स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं। परिणामस्वरूप, संसार के समस्त पदार्थ क्षणिक मात्र ही हैं, अतः, कोई भी पदार्थ स्वयं के नाश के लिए किसी भी अन्य हेतु की अपेक्षा नहीं रखता है। इस प्रकार, हमारा बौद्ध–सिद्धांत ही युक्तिसंगत सिद्ध होता है। इस प्रकार,, यहाँ बौद्धों का पूर्वपक्ष समाप्त होता है।[99]

जैनों का उत्तरपक्ष – बौद्धों के पूर्वपक्ष की विस्तृत समीक्षा करते हुए जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि रत्नाकरावतारिका में जैनों के उत्तरपक्ष को प्रस्तुत करते हुए यह कहते हैं कि संसार का प्रत्येक पदार्थ अपनी उत्पत्ति और विनाश में निमित्तभूत सहकारी–कारणों की अपेक्षा रखता है। निमित्त–कारणों के सहकार से ही पदार्थ उत्पत्ति और नाश को प्राप्त होते हैं।[100]

---

[99] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 723, 724

[100] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 724

यद्यपि बौद्ध–दार्शनिक विनाश के लिए सहकारी–कारणों को नहीं मानते हैं और नाश को निर्हेतुक बताते हैं, साथ ही नाश को निर्हेतुक सिद्ध करने के लिए ही जैनों के विरुद्ध अनेक कुतर्क प्रस्तुत करते हैं।[101]

जैन – बौद्धों के इस मत के खण्डन में हम जैनों का कथन हैं कि आप बौद्धों ने विनाश को निर्हेतुक सिद्ध करने के लिए जो–जो दलीलें (तर्क) पेश की हैं, वे समस्त दलीलें उत्पत्ति में भी समान रूप से लागू हो सकती हैं, किन्तु यह स्पष्ट ही है कि जब उत्पत्ति भी किन्हीं सहकारी–कारणों से ही होती है, तो विनाश भी किन्हीं सहकारी–कारणों से ही होगा। आप बौद्ध तो एकान्तरूप से मात्र विनाश के ही पक्षधर होने से एक चक्षु से देखते हैं और दूसरे चक्षु से नहीं देखते हैं। इससे तो आप एक आँख से दृष्टिहीन हैं– ऐसा ही सिद्ध होता है। वस्तुतः, यह एकपक्षीय दृष्टि समुचित नहीं है। आप बौद्धों से हम जैनों का प्रथम प्रश्न यह है कि आप बौद्ध यदि पदार्थ की उत्पत्ति में निमित्तभूत सहकारी–कारणों को मानते हैं, अर्थात् पदार्थ की उत्पत्ति को यदि सहेतुक मानते हैं, तो यह बताइए कि दंड, चक्र, चीवर आदि हेतुभूत कारणों से मिट्टी में से उत्पन्न होने वाला घट क्या सत्–स्वभाव वाला है ? क्या मिट्टी आदि उपादान–कारण में अव्यक्त रूप से विद्यमान घटादि पदार्थों की उत्पत्ति में सहकारी–कारण–सामग्री उत्पादक बनती है ? या मिट्टी आदि उपादान–कारण–सामग्री में अविद्यमान (अव्यक्त) स्वभाव वाले घटादि पदार्थों की उत्पत्ति में निमित्तभूत कारण–सामग्री उत्पादक बनती है।[102]

यदि आप यह कहते हैं कि मिट्टी आदि उपादान–कारण में सत्–स्वभाव वाले, अर्थात् विद्यमान स्वभाव वाले घटादि पदार्थ को दंड, चक्र, चीवर आदि सहकारी–कारण उत्पन्न करते हैं, तो यह कथन तो उचित नहीं है। दंड, चक्र, चीवर आदि कारणों से उत्पन्न होने वाला घट तो प्रथमतः, अर्थात् पहले से ही सत् या विद्यमान ही है। दूसरे शब्दों में, घट का अस्तित्व तो पहले से ही मिट्टी में रहा हुआ है, अतः, यदि घट पहले से ही सत्ता में है, तो फिर उसकी उत्पत्ति कैसे मानी जाएगी ? जो पहले से ही निर्मित्त है, अर्थात् उत्पन्न हो चुका है, उसके उत्पन्न होने का क्या अर्थ है ? जो उत्पन्न है, अर्थात् सत्ता में है, उसको पुनः उत्पन्न करने से क्या लाभ ? इसी प्रकार, जो पहले से ही मर चुका है या नष्ट हो चुका

[101] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 724

[102] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 724

है, उसको पुनः मारने या नष्ट करने से क्या लाभ ? यदि कारण उत्पन्न कार्य को ही करता है, तो फिर उस कारण को किसने उत्पन्न किया, फिर उसके कारण को किसने उत्पन्न किया ? इस प्रकार, तो अनवस्थादोष उपस्थित हो जाएगा, अतः, प्रथम-पक्ष उचित सिद्ध नहीं होता।

पुनः, यदि आप बौद्ध-दार्शनिक यह कहते हैं कि मिट्टी आदि उपादान-कारण में घटादि कार्य असत्रूप हैं, वह असत्रूप कार्य, अर्थात् असत् घटादि पदार्थ मिट्टी, दंड, चक्र आदि कारणभूत सामग्री से उत्पन्न होते हैं, तो यह आपका दूसरा पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि मिट्टी आदि में घटादि पदार्थ असत्-स्वभाव वाले ही हैं। असत्-स्वभाव वाले पदार्थ के स्वभाव को बदलना भी शक्य नहीं है, अस्तित्वरहित पदार्थ आकाश-पुष्प के समान हमेशा असत् ही होते हैं। सैकड़ों सहकारी-कारणों के मिलने पर भी असत्-स्वभाव वाले को सत्-स्वभाव वाला नहीं बना सकते, अर्थात् असत् की उत्पत्ति वैसे ही संभव नहीं है, जैसे गधे के सींग का कंघा नहीं बन सकता।[103]

पुनः, यह बात आप बौद्धों द्वारा स्वीकृत होने से इसका आपके मत के साथ ही विरोध होगा। आपका यह पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि आपकी यह मान्यता है कि असत् कार्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं है, जबकि नैयायिक और वैशेषिक-दर्शन यह मानते हैं कि मिट्टी आदि उपादान-कारण से असत् घटादि कार्य की उत्पत्ति सम्भव है। वे तो असत् कार्यवादी हैं, किन्तु आप बौद्धों को उनका असत्-कार्यवाद मान्य नहीं है। यदि आप बौद्ध-दार्शनिक नैयायिकों और वैशेषिकों के असत् कार्यवाद का विरोध करते हैं, तो या तो आप स्वयं सत्कार्यवादी हैं, या फिर आपने उनके असत्-कार्यवाद को स्वीकार कर लिया है, किन्तु यदि आप बौद्ध असत्-स्वभाव वाले कार्य की उत्पत्ति को स्वीकारेंगे, तो आपके ही बौद्ध-मत (शून्यवाद) में विरोध उत्पन्न होगा, अर्थात् स्ववचन का विरोध होगा। दूसरे शब्दों में, स्वयं का सिद्धांत स्वयं के कथन से ही खंडित हो जाएगा।[104]

पुनः, यदि बौद्ध-दार्शनिक कदाचित् यह कहें कि जो-जो पदार्थ उत्पन्न नहीं होते हैं, वे सब असत्-पदार्थ होते हैं और जो-जो पदार्थ

---

103 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 725

104 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 725

उत्पन्न होते हैं, वे सब सत्–पदार्थ होते हैं– ऐसा हम मानते हैं, अर्थात् हम तो एकान्तअसत्स्वभाव या एकान्तसत्स्वभाव मानते ही नहीं हैं, हम तो अपेक्षा–भेद से दोनों पक्षों को स्वीकार करते हैं, अतः, आप जैनों का हमारा खण्डन करने का परिश्रम ही निष्फल सिद्ध होता है। आप जैन तो हम बौद्धों को एकान्तवादी कहकर हमारे मत का खण्डन करते हैं, जबकि हम (बौद्ध) तो सत्–असत्– दोनों पक्षों को मानते हैं, इस पर जैन–दार्शनिक कहते हैं कि विनाश (व्यय) और सत्ता (अस्तित्व) के दोनों विकल्पों से आपकी प्रस्तुति भी समान ही है, अर्थात् जो वस्तु अभी तक नष्ट नहीं हुई है, उसमें नाश का अभाव है, अर्थात् नाश असत् है और जो वस्तु नष्ट हो गई है, उसमें नाश का सद्भाव है– ऐसा हम जैन भी आप बौद्धों के द्वारा माने हुए सिद्धान्त के समान ही कहते हैं, अतः, आप बौद्धों द्वारा पूर्व में हम पर लगाए गए आक्षेप से क्या लाभ होगा ? हम तो एकान्त–नश्वर–स्वभाव वाले और एकान्त–अनश्वर–स्वभाव वाले दोनों पदार्थों में ही अपेक्षा–भेद से नाश (व्यय) मानते हैं, अर्थात् उत्पाद और नाश– दोनों में कारण–सामग्री मानते हैं, किन्तु नश्वर–पदार्थ स्वयं नाशवान् होने से उनके नाश हेतु कारणभूत–सामग्री (नाशक हेतु) की क्या आवश्यकता हो सकती है ? इसी प्रकार, अनश्वर–पदार्थ सदा अनश्वर–स्वभाव वाले ही हैं, इन्द्र आदि भी उनके स्वभाव को बदल नहीं सकते हैं – ऐसा आक्षेप आप बौद्धों ने जैनों पर लगाया था, तो हम जैन तो वस्तु में ऐसी एकान्त–अनित्यता (नश्वरता) और एकान्त–नित्यता (अनश्वरता) मानते ही नहीं हैं।[105]

बौद्ध – इस पर, बौद्ध–दार्शनिक पुनः कहते हैं कि जिस प्रकार आप जैन उत्पाद में सत् और असत्– दोनों पक्षों को मानते हैं, उसी प्रकार हम बौद्ध भी नाश में सत्–असत्– दोनों पक्ष मानते हैं, अर्थात् नाश को असत्–स्वभाव वाला और सत् को सत्–स्वभावयुक्त– ऐसे दोनों पक्ष मानते हैं, तो फिर आप जैन हम बौद्धों पर कैसी आपत्ति उठा सकते हैं ? आप जैन हम पर एकान्तरूप से क्षणिकवादी होने का जो दोषारोपण करते हैं, हम बौद्ध भी आप जैनों पर उत्पाद के संबंध में अहेतुकवादी होने का ऐसा ही दोष लगा सकते हैं, जबकि आप जैन तो उत्पत्ति और नाश– दोनों को ही सहेतुक मानते हैं।[106]

---

[105] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 726

[106] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 726

हम बौद्धों का कहना है कि जो पदार्थ स्वयं ही उत्पत्ति–स्वभाव वाला है, उसे उत्पाद की निमित्तभूत कारण–सामग्री से क्या मतलब ? अर्थात् घटादि पदार्थ जब स्वयं ही उत्पत्ति–स्वभाव वाले हैं, तो उनको दंड, चक्र, चीवर, कुम्हार आदि सहकारी–कारणों की क्या आवश्यकता है तथा जो पदार्थ उत्पाद–स्वभाव वाले नहीं हैं, ऐसे उत्पाद–स्वभाव से रहित, अर्थात् उसके अभाव वाले को इन्द्र भी उनका स्वभाव बदलने में समर्थ नहीं हैं, तो फिर उत्पाद–स्वभाव से रहित पदार्थ के लिए भी निमित्तभूत दंड, चक्र, चीवर, कुम्हार आदि कारणभूत–सामग्री की क्या आवश्यकता हो सकती है।[107]

जैन – हम जैनों द्वारा उत्पाद के समान ही नाश को भी सहेतुक मानने के संबंध में आप बौद्धों ने हमारा खंडन करने हेतु जो तर्क दिए हैं, वे उचित नहीं हैं। आपका तर्क था कि हम जैन नाश की कारणभूत–सामग्री मुद्गर आदि को घटादि से पृथक् (भिन्न) मानते हैं या अपृथक् (अभिन्न)? यदि अपृथक् (अभिन्न) मानोगे, तो क्या घट ने ही स्वयं का नाश कर लिया? यदि ऐसा मानते हैं, तो फिर हम जैनों को, घट स्वयं को स्वयं से ही अपनी उत्पत्ति भी कर लेना चाहिए– ऐसा भी मानना होगा, किन्तु सत्य तो यह है कि घटादि की उत्पत्ति कुम्हार, दंड, चक्र, चीवर आदि सहकारी–कारणों से होती है। पुनः, यदि उस नाशक सामग्री को पृथक् (भिन्न) मानते हैं, तो फिर उस नाशक सामग्री से घटादि का नाश हुआ– ऐसा भी हम जैन नहीं कह सकते – इत्यादि आप बौद्धों ने हम जैनों पर अपनी नाश को अहेतुक मानने सम्बन्धी अवधारणा की सिद्धि के लिए जो दोष लगाए थे, वैसे ही दोष हम जैन आप बौद्धों पर उत्पाद को सहेतुक मानने संबंधी पक्ष में भी लगा सकते हैं। हमारा आप बौद्धों से प्रथम पक्ष यह है कि जब आप उत्पाद को सहेतुक मानते हैं, तो आप यह बताइए कि यह उत्पाद उत्पन्न होते हुए अपने घटादि कार्य से भिन्न है या अभिन्न? यदि कदाचित् आप बौद्ध यह कहते हो कि कुम्हार, दंड, चक्र, चीवर आदि उत्पाद की कारणभूत सामग्री घटादि कार्य से अभिन्न है– ऐसा मानेंगे, तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उत्पाद को घटादि कार्य से सर्वथा अभिन्न मानने पर 'इनसे घट का उत्पाद हुआ'– ऐसा भी नहीं कह सकते। दूसरे शब्दों में, घट की उत्पत्ति को घट की कारणभूत सामग्री से अभिन्न मानेंगे, तो घट उत्पन्न हुआ, नहीं कह सकते। उत्पत्ति तो एक प्रक्रिया है

---

107 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 724

और घट उसका परिणाम है। प्रक्रिया और परिणाम को एकान्तरूप से न तो भिन्न कहा जा सकता है और न ही अभिन्न। घट का उपादान–कारण मिट्टी घट से अभिन्न है, तो दूसरी ओर घट के निमित्त–कारण कुम्हार, चक्र आदि घट से भिन्न भी हैं, अर्थात् कार्य और कारण में कथंचित्–भिन्नता है, तो कथंचित्–अभिन्नता भी है। वे न तो एकान्तरूप से भिन्न हैं और न ही एकान्तरूप से अभिन्न। सम्बन्ध षष्ठी–विभक्ति में होता है। संबंध तो दो वस्तुओं के होने पर ही होता है। दोनों के सर्वथा अभिन्न होने से दोनों एकरूप हो जाते हैं, अतः, वहाँ सम्बन्ध नहीं बन सकता है। कारण और कार्य में सर्वथा अभेद (अभिन्न) मानने पर यह मानना होगा कि जिस प्रकार घटादि की उत्पत्ति के पूर्व घटादि का अभाव है, उसी प्रकार उसकी उत्पादक कारणभूत सामग्री का भी अभाव मानना होगा, क्योंकि दोनों अभिन्न हैं। उस अभाव से किसी भी प्रकार का उत्पाद सम्भव होगा ही नहीं। यदि यहाँ बौद्ध अपना बचाव करने के लिए कदाचित् यह दलील दें कि 'यह घट उत्पन्न हुआ' इस कथन में हम, षष्ठी–विभक्ति के बिना अभेदरूप से उत्पन्न हुआ– ऐसा कहते हैं, तो आप बौद्धों का यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि घटादि को अपनी उत्पत्ति की कारणभूत सामग्री से कथंचित्–भिन्न माने बिना वही, घटादि उत्पन्न हुआ है– ऐसा कथन भी नहीं कर सकते हैं। इसका कारण यह है कि घट और उसकी उत्पत्ति में सर्वथा अभेद मानने पर तो तिरोभूत और आविर्भूत– ऐसा भेद भी संभव नहीं होगा। ऐसे समय में, यह तिरोभूत घट ही आविर्भूत हुआ है– ऐसा भी आप नहीं कह सकते, अपितु 'यह घट उत्पन्न हुआ है', मात्र ऐसा ही कथन संभव होगा। घट को घट की उत्पत्ति के उपादान और निमित्त–कारणों से अभिन्न मानने पर मृत्तिका (मिट्टी) में घट होना चाहिए, किन्तु मृत्तिका (मिट्टी) में घट है ही नहीं। घट मृत्तिका से भिन्न नहीं है, फिर भी जब तक घट की उत्पत्ति नहीं होती है, तब मिट्टी को मिट्टी ही कहेंगे, घट नहीं। मात्र मृत्तिका (मिट्टी) से भी घट का उत्पाद नहीं हो जाता है, अतः, मृत्तिका और घट में कथंचित्–भेद माने बिना घट का उत्पाद हुआ है– ऐसा कहना भी संभव नहीं है। इन दोषों के कारण से कार्य और कारण में एकान्त–अपृथक्भूत–पक्ष या अभेद–पक्ष भी उचित नहीं है।[108]

पुनः, घट और उसकी उत्पत्ति के कारणों को एकान्ततः भिन्न मानना भी उचित नहीं होगा। घटादि के उत्पत्तिरूप कार्य को कुम्हार, दंड,

---

[108] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 726, 727

चक्र, चीवर आदि निमित्तभूत कारणों से एकान्ततः भिन्न मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि उन्हीं से घटादि रूप कार्य उत्पन्न हुए हैं। उन निमित्त एवं उपादान–कारणों के बिना घटादि की उत्पत्ति हुई है– ऐसा भी नहीं कह सकते हैं। यदि कदाचित् यह मानें कि उत्पत्ति के कारणों के घटादि कार्यों से भिन्न होते हुए भी घटादि की उत्पत्ति हुई है– ऐसा ही मानेंगे, तो फिर उत्पत्ति से ही पटादि अन्य कार्य भी उत्पन्न हो सकते हैं– ऐसा क्यों नहीं मान लेते हैं? जिस प्रकार घटादि कार्य उनकी उत्पत्ति के कारणों से भिन्न हैं, उसी प्रकार पटादि कार्य भी अपनी उत्पत्ति के कारणों से भिन्न हैं। अपनी उत्पत्ति के कारणों से तो घट भी भिन्न है और पट भी। अपने कारणों से भिन्नता तो घट और पट– दोनों में ही समान रूप से रही हुई है, अतः, दोनों के लिए भिन्न–भिन्न कारणों की क्या आवश्यकता है। यहाँ जैन बौद्धों से कहते हैं कि आप बौद्ध–दार्शनिक अपने पक्ष का बचाव करने के लिए कदाचित् ऐसा कहते हैं कि उत्पद्यमान, अर्थात् उत्पन्न होते हुए घट, कलश आदि पदार्थ मिट्टी से ही उत्पन्न होने के स्वभाव वाले होने से उनका उत्पाद करने वाला कुम्हार दंड, चक्र, चीवर आदि सहकारी–कारणों द्वारा मिट्टी से ही घटादि को उत्पन्न करता है। जिस प्रकार की उपादान एवं निमित्त–कारण–सामग्री से घटादि की ही उत्पत्ति होती है, उसी से पटादि की नहीं हो सकती है, क्योंकि पटादि की कारणभूत सामग्री भिन्न होती है। घटादि की उत्पत्ति में सत् तन्तुवाय, करघा आदि कारण–सामग्री होती है, जो घटादि की कारणभूत सामग्री से भिन्न है, किन्तु आप बौद्धों का यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि जब पूर्व में हम जैनों ने यह सिद्धांत प्रस्तुत किया था कि घट के नाश के कारणों का घट के साथ संबंध होने से इनसे घट का नाश हुआ– ऐसा ही कहा जाता है, किन्तु इनसे पट का नाश हुआ– ऐसा नहीं कहा जा सकता है, यह तर्क हम जैनों द्वारा प्रस्तुत किए जाने पर आप बौद्धों ने ही हमारे खण्डन हेतु यह तर्क प्रस्तुत किया था कि आप जैन यह बताइए कि घटादि पदार्थों और उसके नाश के हेतु के मध्य कौनसा संबंध होता है ? पूर्व में जो आपने हमारे विरुद्ध निम्न चार प्रश्न उपस्थित किए थे कि घटादि पदार्थों और उनके नाश के मध्य 1. क्या कार्य–कारण–संबंध है? या 2. संयोगसंबंध है? या 3. विशेष्य–विशेषण–संबंध है ? या 4. अविष्वक्भाव–संबंध है ? इन चारों में से आप जैन कौनसा संबंध मानते हैं ? इस प्रकार,, नाश के प्रकरण में आप बौद्धों ने हम जैनों के विरुद्ध जो आपत्तियाँ उठाई थीं, अब हम जैन भी आप बौद्धों के उत्पाद को सहेतुक मानने के संबंध में उपर्युक्त

वही चार प्रश्न पूछते हैं कि उत्पत्ति (उत्पाद) और घट में आप कौनसा संबंध मानेंगे? 1. क्या कार्य–कारण–संबंध मानेंगे? या 2. संयोग–संबंध मानेंगे ? या 3. विशेष्य–विशेषण संबंध मानेंगे ? या 4. अविष्वक्भाव–संबंध मानेंगे ? जिस प्रकार घट और उसके नाश में इनमें से किसी भी प्रकार का संबंध संभव नहीं है, उसी प्रकार से घट की उत्पत्ति में और घट में भी इन चार में से किसी भी प्रकार का संबंध संभव नहीं हो सकता है। तात्पर्य यह है कि हमारे द्वारा नाश को सहेतुक मानने के कारण आपने जितने दोष हमारी मान्यता में उपस्थित किए थे, वे ही सारे दोष आपके द्वारा उत्पत्ति को सहेतुक मानने की एकान्त–दृष्टि से उपस्थित किए जा सकते हैं, जिसकी ओर आपकी दृष्टि ही नहीं जाती है। इससे हम जैनों को ऐसा लगता है कि आप सिर्फ एक ही चक्षु से देखते हैं, दूसरे चक्षु से नहीं। दूसरे शब्दों में आप एकान्तिक–दृष्टि से युक्त हैं, जो तर्कसंगत नहीं है।[109]

अन्त में, क्षणिकवाद का उपसंहार करते हुए यह कहा गया है कि बौद्ध–दार्शनिक, जो उत्पाद को सहेतुक और नाश को निर्हेतुक मानते हैं, उनका यह दृष्टिकोण युक्तिसंगत नहीं है। नाश के लिए मुद्गर आदि जो–जो हेतुभूत सहायक कारण–सामग्री हैं, उनको वे अपने तर्क–जाल से विभिन्न प्रकार की वैकल्पिक मानसिक–संकल्पना द्वारा उड़ाते हैं। दूसरे शब्दों में, उभयतोपाश की रचना कर हमें फंसाते हैं। जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्ध–दार्शनिकों के उत्पाद को सहेतुक मानने के सम्बन्ध में भी उसी तर्क–जाल (उभयतोपाश) को प्रस्तुत कर उत्पाद को सहेतुक मानने संबंधी बौद्धमत का खंडन करते हुए लिखते हैं कि इस प्रकार, से एक–दूसरे के पक्षों का खंडन करने मात्र से पदार्थ का यथार्थ अनेकांतिक–स्वरूप कैसा है, यह स्पष्ट हो जाता है। इसको कई बार समझाए जाने पर भी यदि दोनों पक्ष नहीं समझते हैं, तो वे दोनों ही एकांत–कारण मिथ्या हो जाते हैं, यह समझना आवश्यक है, अतः, टीकाकार रत्नप्रभसूरि दोनों पक्षों के समक्ष पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि पदार्थ में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अपेक्षा–भेद से किस प्रकार से रहे हुए हैं, यह स्पष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त चर्चा के सार को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है– जिस प्रकार कुम्हार, दण्ड, चक्र, चीवर आदि निमित्तभूत कारण–सामग्री के समूह से मिट्टीरूप उपादान–कारण में से घटरूप कार्य की उत्पत्ति

---

[109] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 727, 728

करता है, उसी प्रकार मुद्गर आदि विनाशक कारणभूत सामग्री के सामूहिक–सहकार से मिट्टीस्वरूप उपादान–कारण से उत्पन्न घटात्मक–कार्य का किसी के द्वारा विनाश भी होता है। वस्तुतः, पदार्थ की उत्पत्ति और नाश–निमित्तभूत कारण–सामग्री भिन्न–भिन्न होती है, अतः, उत्पत्ति और विनाश– दोनों ही सहेतुक हैं, निर्हेतुक नहीं हैं। उपादान–कारणरूप मिट्टी से घट का अभेद–संबंध है, तो कुम्हार, दण्ड, चक्र, चीवर आदि निमित्त–कारणरूप सामग्री से घट का भेद–सम्बन्ध है। घट की उत्पत्ति और घट का नाश– दोनों ही सहेतुक हैं। विनाशक–सामग्री से जो घट का नाश हुआ है, वह नाश केवल घट के पर्याय का नाश हुआ है, घटाकारता का नाश हुआ है, मिट्टीरूपी द्रव्य का नाश नहीं हुआ है। उत्पत्ति और नाश द्रव्य का स्वभाव नहीं है, वह तो उसकी पर्याय का स्वभाव है। मिट्टी तो द्रव्यरूप है, वह नित्य ही रहती है। उत्पत्ति और नाश उसकी घटरूप पर्याय अर्थात् घटाकारता का होता है। घट के नाश होने पर घट के जो खण्ड (टुकड़े) होते हैं, वे खण्ड (कपाल) घट से एकांत– भिन्न भी नहीं हैं और एकांत–अभिन्न भी नहीं हैं, क्योंकि घट और घट के टुकड़ों– दोनों में मिट्टीरूप द्रव्य तो नित्य रहा हुआ है, किन्तु दोनों ही मिट्टी की पर्याय होने से अभेदरूप हैं और पर्यायों के बदलने के कारण दोनों भेदरूप भी हैं। उन दोनों में एकान्त–भिन्नता भी नहीं है और एकान्त–अभिन्नता भी नहीं है। बौद्धों ने जैनों के नाश को भिन्न मानने में जो दोष दिखाए हैं, वे एकान्त–भिन्नता मानने पर आते हैं, किन्तु कथंचित्–भिन्नता मानने में तो कोई भी दोष नहीं आता है। घट और घट के टुकड़ों अर्थात् कपाल में मिट्टीरूपी एक ही द्रव्य होने से अभिन्नता या तादात्म्यता सदा ही रहती है। चूंकि घट में भी मृत्तिका (मिट्टी) है और विनाश को प्राप्त घट के टुकड़ों (कपाल) में भी मृत्तिका (मिट्टी) है, इसलिए उन्हें एकान्त–भिन्न नहीं कह सकते हैं। घट–पर्याय का विनाश भी एकान्त–विनाश नहीं है, क्योंकि वह घटाकारतारूप पर्याय का विनाश है, मिट्टीरूप द्रव्य का विनाश नहीं है। विनाश के समय में जो विनाशात्मकता है, वह विनाशात्मकता मात्र घट–पर्याय या घटाकारता की ही नाशक है, मिट्टी–द्रव्य की विनाशक नहीं है। विनाश के समय में भी घट–पर्याय का विनाश होता है, घट के मिट्टीरूप द्रव्य का नहीं। घट और घट के टुकड़े में मिट्टीरूपी द्रव्य के कारण एकान्तभेद नहीं होने के उपादान–कारणरूप मिट्टी दोनों में ही तादात्म्य–रूप से रहती है।[110]

---

[110] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 728, 729

पुनः, जैन कहते हैं कि मुद्गर आदि कारणभूत नाशक–सामग्री घट से भिन्न होकर भी जब घट का नाश कर सकती है, तो फिर उसे पटादि से भिन्न होकर उनकी भी नाशक होना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार नाशक–सामग्री घट से भिन्न है, उसी प्रकार वह पट से भिन्न ही है, किन्तु बौद्ध–दार्शनिकों का यह तर्क युक्तिसंगत नहीं है।[111]

पुनः, बौद्धों के इस तर्क की समीक्षा करते हुए रत्नप्रभसूरि पुनः कहते हैं कि घट और उसकी नाशक–सामग्री में आप जो भेद (भिन्नता) समझ रहे हैं, वह भेद भी एकान्त–भेद नहीं है, इसलिए मुद्गर आदि से जो घट का नाश होता है, वैसा ही नाश पट का भी होना चाहिए। बौद्धों का ऐसा कथन समुचित नहीं है, क्योंकि घट का नाश होने पर भी घट की उत्पादक–सामग्री मिट्टी तो कपालों में भी तादात्म्य–रूप से बनी रहती है। घट के उत्पादन के पूर्व भी जब मिट्टी पिंडरूप में रहती है, तब भी वह मिट्टी है और मिट्टी के पिंड से जब घट की उत्पत्ति होती है, तब भी मिट्टी है, अर्थात् घट–पर्याय या घटाकारता में भी मिट्टी है, तब घट–पर्याय के नाश होने पर कपालों में भी मिट्टी की पिंडरूप पर्याय में, घट–पर्याय में एवं घट के नाशरूप कपाल के पर्याय में– तीनों ही पर्यायों में मृत्तिका–द्रव्य की ध्रौव्यता (नित्यता–तादात्म्यता) निश्चित रूप से रहती है। मुद्गर आदि से जब घट का नाश होता है, तो उस घट के टुकड़े में भी मिट्टी अभेदरूप से रहती है। दूसरे शब्दों में, घट के नाश में मृत द्रव्य अन्वयरूप से रहता है, उसी प्रकार मृत्तिका–द्रव्य पट के नाश में नहीं रहता है, अतः, द्रव्य में भिन्नता होने के कारण घट की नाशक–सामग्री पट की नाशक नहीं होती है। इसी प्रकार, हम घट और घट के नाश में भी द्रव्य की तादात्म्यता के कारण कथंचित्–भेद ही मानते हैं, एकान्तभेद नहीं मानते हैं, जिससे घट की नाशक–सामग्री घट और पट से समान रूप से भिन्न होकर भी पट की नाशक नहीं होती है, अतः, आप बौद्धों का तर्क समुचित नहीं है। दूसरे, घट के अस्तित्व और घट के नाश में हम जैन सर्वथा अभेद (तादात्म्य) भी नहीं मानते हैं, क्योंकि घट का अस्तित्व और घट के विनाश में अभेद मानने पर दोनों एक ही समय में और एक साथ नहीं हो सकते हैं। दोनों में से किसी एक का ही अस्तित्व हो सकता है, दोनों के एक साथ अस्तित्व में आपत्ति आती है, अर्थात् दोनों में से किसी एक के रहने पर दूसरा तो नहीं हो सकता है। घट और घट का नाश– इन दोनों के सर्वथा अभिन्न

[111] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 729

होने पर घट के अस्तित्व के समय भी घट–नाश होने पर घट रहेगा ही नहीं और घट–नाश के समय भी घट के विद्यमान होने पर घट–नाश होता नहीं, अर्थात् घट का अस्तित्व और घट के विनाश में सर्वथा अभेद होने के कारण दोनों में से एक ही रहेगा और शेष एक का अभाव होगा, अतः, घट के अस्तित्व और घट के विनाश में द्रव्य की अपेक्षा से कथंचित्–अभेद भी है और पर्याय की अपेक्षा से कथंचित्–भेद भी है। इस प्रकार, की मान्यता में किसी भी प्रकार का कोई भी दोष उत्पन्न नहीं होता है और हम जैन ऐसा ही मानते हैं।[112]

अन्त में, जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि हम जैन पदार्थ के अस्तित्व में द्रव्य की अपेक्षा से अभेद और पर्याय की अपेक्षा से भेद मानते हैं। भेद और अभेद शब्द परस्पर विरोधी होने से निश्चित ही दोनों में विरोध होता है– ऐसा जो आप बौद्धों का कथन है, वह उचित नही है। पर्याय की अपेक्षा से भेद होने से और द्रव्य की अपेक्षा से अभेद होने से विभिन्न विरोधी रंगों से निर्मित चित्र के ज्ञान के समान उनमें कोई भी विरोध उत्पन्न नहीं होता है। जिस प्रकार एक ही चित्र में विभिन्न प्रकार के रंग होते हुए भी उनमें किसी प्रकार का विरोध नहीं होता है, उसी प्रकार घट के अस्तित्व और घट के विनाश में कथंचित्–भिन्नता और कथंचित्–अभिन्नता होने से किसी प्रकार का विरोध नहीं है। यदि आप बौद्ध हमारी बात को स्वीकार नहीं करते हैं, तो हमारा तर्क है कि आपके उत्पत्ति में भी मिट्टी और घट में भेद–अभेद का विरोध तो आएगा ही, क्योंकि मिट्टी और घट में भेद भी है और अभेद भी है। वस्तुतः, पदार्थ एकान्तरूप से नाश स्वभाव वाला भी नहीं है और एकान्तरूप से क्षणिक–स्वभाव वाला भी नहीं है। वस्तु में केवल एक ही पक्ष नहीं है। विभिन्न रंगों के चित्र–ज्ञान की तरह उसमें अनेक पक्ष रहे हुए हैं, अतः, पदार्थ तो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है।[113]

आप बौद्धों के द्वारा वस्तु स्वयं के विनाश को निर्हेतुक मानने सम्बन्धी सिद्धांत के कारण आपका हेतु असिद्ध होता है, क्योंकि विनाश भी निरपेक्ष नहीं है, अपितु सापेक्ष ही है, क्योंकि विनाश के निमित्तभूत सहकारी–सामग्री के होने पर ही नाश होता है। पदार्थ प्रतिक्षण एकान्ततः विनाशशील भी नहीं है। उसमें द्रव्य या अपने उपादान की अपेक्षा से

---

[112] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 729

[113] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 729

नित्यत्व भी है। इस प्रकार,, पदार्थ क्षणिक स्वभाववाला होकर ही उत्पन्न होता है या प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण एकान्तरूप से विनष्ट ही होता है– ऐसा आप बौद्धों का कथन सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि आपका इस प्रकार, का कथन युक्तिसंगत नहीं है। संसार के समस्त पदार्थ पूर्व और उत्तरकाल में क्रमवर्ती पर्यायों से युक्त रहने के कारण उनमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यत्व– तीनों ही हैं। इस प्रकार,, पदार्थ सामान्य रूप और विशेष रूप– दोनों ही हैं, ऐसा सिद्ध होता है। क्रमवर्ती पर्यायों के कारण यह उत्पाद–व्ययधर्मा है, साथ ही अपने मूल द्रव्य की अपेक्षा से वह ध्रौव्यगुण या ऊर्ध्वता–सामान्य रूप भी है, ऐसा सिद्ध होता है।[114]

बौद्ध–संतानवाद और उसकी समीक्षा

बौद्धदर्शन के अनुसार प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण बदलता रहता है। वह दो क्षण भी एकरूप नहीं रहता है। इस आधार पर बौद्ध–दार्शनिक यह मानते हैं कि सभी पदार्थ क्षणिक ही हैं। जिस प्रकार नदी का जल–प्रवाह रहते हुए प्रतिक्षण उसका जल बदलता रहता है, उसी प्रकार जड़ और चेतन–जगत् भी प्रतिक्षण बदलता रहता है। बौद्ध–दर्शन में दीपक की उपमा से इस बात को समझाया गया है। जो दीपक संध्या–समय जलाया गया है, वह दीपक संपूर्ण रात्रि तक जलता रहता है– ऐसा हमको आभास होता रहता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि प्रतिसमय जलने वाला तेल और बत्ती के कण तो भिन्न–भिन्न ही होते हैं। इस आधार पर बौद्ध–दार्शनिकों ने यह निर्णय लिया कि सत्ता मात्र परिवर्तनशील है। जगत् में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो दो क्षणों तक एकरूप रहे। जगत् में उत्पाद और व्यय का क्रम चलता रहता है, स्थायित्व नाम की कोई वस्तु नहीं है। सब क्षणिक हैं– यही भगवान् बुद्ध के दर्शन का मूल मंतव्य है। बौद्ध–त्रिपिटकसाहित्य में इस क्षणिकवाद का विवरण विस्तार से मिलता है।

त्रिपिटक में वर्णित इस क्षणिकवाद को ही बौद्ध–न्याय के तार्किक ग्रन्थों में भी आधारभूत बनाया गया है। तार्किक–दृष्टि से बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद की व्याख्या इस प्रकार, की जाती है– जो वस्तु वर्त्तमान–क्षण में उत्पन्न होती है, वह आगामी क्षण में पूर्णतया नष्ट हो जाती है। उसके स्थान पर समान प्रतीत होने वाली अन्य वस्तु उत्पन्न हो जाती है, जिसे वे सन्तान कहते हैं। जिस वस्तु को हम वर्त्तमान–क्षण में प्रत्यक्ष कर रहे हैं,

---

[114] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 730

वह वस्तु अनन्तरवर्ती–क्षण में उसी रूप में विद्यमान नहीं रहती है, दूसरे क्षण में जो प्रतीत होती है, वह उसके सदृश उसकी सन्तान होती है। जैनों का कहना है कि वस्तु को प्रतिक्षण बदलती हुई मानने पर अनेक प्रकार की तार्किक–कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं, क्योंकि जिस स्वलक्षण वस्तु का इस क्षण में प्रत्यक्ष हो रहा है, वह उत्तरवर्ती–क्षण में प्राप्त होती है, कोई अन्य वस्तु ही दूसरे क्षण में प्राप्त नहीं होती है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि प्रमाण को अविसंवादक माना जाए, तो फिर दो क्षण भी स्थायी नहीं रहने वाली वस्तु में अविसंवादकता का निर्णय कैसे होगा ? डॉ. धर्मचन्द जैन का कहना है कि इस तार्किक–कठिनाई को बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर ने समझा था और उसने इसका समाधान खोजने का प्रयत्न भी किया था। रत्नाकरावतारिका में हमें न केवल धर्मोत्तर का उल्लेख प्राप्त होता है, अपितु हम यह भी देखते हैं कि रत्नाकरावतारिका में बौद्धों के पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करने में धर्मोत्तर का ही आधार लिया गया है। धर्मोत्तर ने प्रमाण के विषय को दो प्रकार का प्रतिपादित किया है – 1. ग्राह्य एवं 2. प्रापनीय (अध्यवसेय)। प्रत्यक्ष–प्रमाण का ग्राह्य विषय स्वलक्षण है, किन्तु अविसंवादकता का निर्णय करते समय स्वलक्षण–क्षण को प्राप्त नहीं किया जा सकता है, अतः, प्रत्यक्ष का प्रापनीय विषय तो उसकी संतान ही होती है।[115]

बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद की तार्किक–स्थापना की एक अन्य कठिनाई यह है कि वस्तु की क्षणभंगता का उपदर्शन संभव नहीं होता है, क्योंकि यदि वस्तु प्रतिक्षण बदल रही है, तो और यदि वह दो क्षण भी स्थाई नहीं है, तो फिर उस परिवर्तनशीलता का बोध कैसे होगा ? इसका समाधान करते हुए बौद्ध–दार्शनिक यह कहते हैं कि सदृश क्षणों में मनुष्य को परमार्थ–क्षण का भ्रम तो होता रहता है, किन्तु जैन–दार्शनिकों का कहना यह है कि क्षणभंगवाद में सर्वथा सादृश्य की कल्पना भी अनिष्ट एवं अयुक्त है।

उपसंहार –

वस्तुतः, बौद्धों के क्षणिकवाद और संतानवाद एक–दूसरे के पूरक हैं, जहाँ क्षणिकवाद वस्तु की परिवर्तनशीलता को बताता है, वही संतानवाद पूर्वक्षण और उत्तरक्षण की वस्तु के सापेक्षिक–सदृश्य को स्पष्ट करता है।

[115] न्याय बिन्दु, 1/12, पृ. 70 से 72

बौद्धो का संतानवाद उनके क्षणिकवाद का एक पूरक–पक्ष ही है, जो परिवर्तन के बीच भी सादृश्यता की बात करता है। रत्नाकरावतारिका में इन दोनों सिद्धांतों की जो समीक्षा की गई है, वह वस्तु को एकांत–क्षणिक मानकर ही की गई है। बौद्धों का क्षणिकवाद उनके संतानवाद के साथ मिला हुआ ही है, सत्य तो यह है की जहाँ क्षणिकवाद वस्तु की परिवर्तनशीलता को सूचित करता है, वहीं संतानवाद इस परिवर्तनशीलता के बीच रही हुई सदृशता को प्रस्तुत भी करता है और स्पष्ट भी करता है, जिससे वस्तु 'वही' प्रतीत होती है। हमें इन दोनों सिद्धांतों को एक साथ देखना होगा। जब हम इन दोनों सिद्धांतों को एक साथ देखेंगे, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि वे जैन–दर्शन द्वारा मान्य वस्तु की उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मकता को ही प्रस्तुत कर रहे हैं। उनका सन्तान की सदृशता का सिद्धांत वस्तुतः सापेक्षिक–ध्रौव्यात्मकता का ही सूचक है। यद्यपि उनके अनुसार, यह सादृश्यता पूर्ण सादृश्यता न होकर मात्र सादृश्यता का आभास ही है, फिर भी पूर्वक्षण और उत्तरक्षण को जोड़ने वाला यदि कोई आधार है, तो वह यह सादृश्यता या संततिवाद ही है। जैनाचार्यों ने और विशेष रूप से रत्नप्रभसूरि ने भी बौद्धों की आलोचना एकान्त–क्षणिकवाद मानकर की है, जबकि बौद्ध वस्तुतः एकान्त–क्षणिकवादी नहीं हैं। यह ठीक है कि बौद्ध–ग्रन्थों में वस्तु की क्षणिकता की यह धारणा अधिक मुखर होकर प्रकट हुई है, फिर भी वे एकांत–क्षणिकवादी नहीं हैं। एकांत–क्षणिकवाद वस्तुतः उच्छेदवाद का ही रूपान्तरण है, किन्तु भगवान् बुद्ध ने सदैव ही उच्छेदवाद का विरोध किया है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि मैं न तो उच्छेदवादी हूँ और न शाश्वतवादी, अतः, बौद्धों के क्षणिकवाद और संततिवाद को मिलाकर देखना होगा। यदि हम ऐसा करेंगे, तो जैन और बौद्ध–दर्शन में वह दूरी नहीं रह जाएगी, जैसी सामान्यतया समझी जाती है।

अध्याय 4

बौद्ध–अनात्मवाद का स्वरूप और समीक्षा

त्रिपिटक–साहित्य में प्रस्तुत अनात्मवाद– भगवान् बुद्ध द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों में अनात्मवाद एक प्रमुख सिद्धान्त है। जैन–दार्शनिकों ने बौद्धदर्शन के अनात्मवाद की समीक्षा करते हुए उसका अर्थ, आत्मा नहीं है– ऐसा लगाया है। रत्नाकरावतारिका में भी प्रमाता के स्वरूप की चर्चा करते हुए रत्नप्रभसूरि ने भी अनात्मवाद का अर्थ प्रमाता–आत्मा का अभाव ही माना, किन्तु अनात्मवाद का यह अर्थ समुचित नहीं है। अनात्मवाद का वास्तविक अर्थ क्या है ? यह समझने के लिए सर्वप्रथम हमें पूर्वपक्ष के रूप में त्रिपिटक–साहित्य में प्रस्तुत अनात्मवाद के संदर्भों को देख लेना होगा।

"तो क्या मानते हो भिक्षुओं! रूप नित्य है या अनित्य ?"

"अनित्य, भन्ते।"

"और जो अनित्य है, वह दुःख है या सुख ?"

"दुःख, भन्ते!"

"तो भिक्षुओं ! जो अनित्य है, दुःख है, विपरिणामधर्मा है, क्या उसके संबंध में यह समझना ठीक है कि "यह मेरा है, यह मैं हूँ, यह मेरा अपना है?"

"नहीं, भन्ते !"

"भिक्षुओं ! वेदना नित्य है या अनित्य ?"

"अनित्य, भन्ते !"

"और जो अनित्य है, वह दुःख है या सुख ?"

"दुःख, भन्ते !"

"तो भिक्षुओं ! जो अनित्य है, दुःख है, विपरिणामधर्मा है, क्या उसके संबंध में यह समझना ठीक है कि 'यह मेरा है,' 'यह मैं हूँ', 'यह मेरी अपनी है?"

"नहीं, भन्ते !"

"भिक्षुओं ! संज्ञा नित्य है या अनित्य ?"

"अनित्य, भन्ते!"

"और जो अनित्य है, वह दुःख है या सुख ?"

"दुःख, भन्ते !"

"तो भिक्षुओं ! जो अनित्य है, दुःख है, विपरिणामधर्मा है, क्या उसके संबंध में यह समझना ठीक है कि 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा अपना है ?"

"नहीं, भन्ते !"

"भिक्षुओं ! संस्कार नित्य हैं या अनित्य ?"

"अनित्य, भन्ते !"

"और जो अनित्य है, वह दुःख है या सुख ?"

"दुःख, भन्ते !"

"तो भिक्षुओं ! जो अनित्य है, दुःख है, विपरिणामधर्मा है, क्या उसके संबंध में यह समझना ठीक है कि 'यह मेरा है', 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा अपना है ?"

"नहीं, भन्ते !"

"भिक्षुओं ! विज्ञान नित्य है या अनित्य ?"

"अनित्य, भन्ते !"

"और जो अनित्य है, वह दुःख है या सुख ?"

"दुःख, भन्ते !"

"तो भिक्षुओं ! जो अनित्य है, दुःख है, विपरिणामधर्मा है, क्या उसके संबंध में यह समझना ठीक है कि 'यह मेरा है', 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा अपना है ?"

"नहीं, भन्ते !"

"इसलिए भिक्षुओं ! जो कुछ भी यहाँ रूप है, चाहे वह अतीत का हो, या भविष्यत् का, या वर्त्तमान का, आन्तरिक या बाह्य, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, समीप का या दूर का, वह सब रूप मेरा नहीं है, वह मैं नहीं हूँ, वह मेरी आत्मा नहीं है, इस प्रकार, सम्यक्–प्रज्ञा द्वारा यथाभूत रूप से देखना चाहिए।"

"इसलिए भिक्षुओं ! जो कुछ भी यहाँ वेदना है, चाहे वह अतीत की हो, या भविष्यत् की, या वर्त्तमान की, आन्तरिक या बाह्य, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, समीप की या दूर की, वह सब वेदना मेरी नहीं है, वह मैं नहीं हूँ, वह मेरी आत्मा नहीं है, इस प्रकार, सम्यक्प्रज्ञा के द्वारा यथाभूत रूप से देखना चाहिए।"

"इसलिए भिक्षुओं ! जो कुछ भी यहाँ संज्ञा है, चाहे वह अतीत की हो, या भविष्यत् की, या वर्त्तमान की, आन्तरिक या बाह्य, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, समीप की या दूर की, वह सब संज्ञा मेरी नहीं है, वह मैं नहीं हूँ, वह मेरी आत्मा नहीं है, इस प्रकार, सम्यक्प्रज्ञा के द्वारा यथाभूत रूप से देखना चाहिए।

इसलिए भिक्षुओं ! जो कुछ भी संस्कार यहाँ हैं, चाहे वे अतीत के हों, या भविष्यत् के, या वर्त्तमान के, आन्तरिक या बाह्य, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, समीप के या दूर के, ये सब संस्कार मेरे नहीं हैं, वे मैं नहीं हूँ, वे मेरी आत्मा नहीं हैं, इस प्रकार सम्यक्प्रज्ञा द्वारा यथाभूत रूप से देखना चाहिए।

"इसलिए भिक्षुओं ! जो कुछ विज्ञान यहाँ है, चाहे वह अतीत का हो, या भविष्यत् का, या वर्त्तमान का, आन्तरिक या बाह्य, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या प्रणीत, समीप का या दूर का, वह सब विज्ञान मेरा नहीं है, वह मैं नहीं हूँ, वह मेरी आत्मा नहीं है, इस प्रकार, सम्यक् प्रज्ञा द्वारा यथाभूत रूप से देखना चाहिए।

"भिक्षुओं ! इस प्रकार, देखकर श्रुतवान् आर्य श्रावक के रूप में निर्वेद को प्राप्त करता है, वेदना में भी निर्वेद को प्राप्त करता है, संज्ञा में भी निर्वेद को प्राप्त करता है, संस्कारों में भी निर्वेद को प्राप्त करता है, और विज्ञान में भी निर्वेद को प्राप्त करता है। विमुक्त होने पर उसे यह ज्ञान होता है– 'मैं विमुक्त हूँ।' जन्म क्षय हो गया, ब्रह्मचर्यवास पूरा हुआ,

करना था, सो कर लिया, अब आगे कुछ करने को शेष नहीं है— ऐसा वह प्रज्ञा द्वारा जानता है।"

यह है सम्पूर्ण अनात्मवाद का उपदेश, जिसे भगवान् ने दिया। कितना विशद और सरल है इसका रूप, जिसे किसी व्याख्या की अपेक्षा नहीं। तीन बातें भगवान् ने क्रमशः अत्यन्त सरल शब्दों में यहाँ कही है। पहली बात यह है कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को आत्मा समझना उचित नहीं है, क्योंकि ये बाधाओं से ग्रस्त हैं, रोग के अधीन हैं। दूसरी बात यह कही है कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान अनित्य हैं, अतः, दुःख हैं, अतः, ये आत्मा नहीं हो सकते। तीसरी बात यह कही है कि जब ये आत्मा नहीं हैं, तो इनसे निर्वेद प्राप्त करना चाहिए, इनसे विरक्त होना चाहिए और इस प्रकार, विराग के द्वारा विमुक्ति का साक्षात्कार कर कृतकृत्यता सम्पादित करना चाहिए। बुद्धोपदिष्ट अनात्मवाद अपने सम्पूर्ण रूप में इतना ही है, न इससे कुछ कम न अधिक।'[116]

इस प्रकार,, हम देखते हैं कि त्रिपिटक—साहित्य में रूप आदि को अनित्य और दुःख—रूप बताकर भी उसके अनात्म होने का निर्देश किया गया है, किन्तु यहाँ यह समझना आवश्यक है कि भगवान् बुद्ध द्वारा प्रतिपादित इस अनात्म का वास्तविक स्वरूप क्या है ? इस संदर्भ में भारतीय—दार्शनिकों की भ्रान्ति यह रही कि उन्होंने अनात्म का अर्थ आत्मा नहीं है— ऐसा मान लिया, जबकि बौद्धदर्शन में अनात्म (अनत्त) का वास्तविक अर्थ मेरेपन का निषेध है। रूप आदि की अनित्यता और दुःख रूपता के आधार पर यह बताया है कि — ये न मैं हूँ, न मेरे हैं, न मेरी आत्मा है। इस समग्र प्रसंग में आत्मा शब्द अपनेपन का ही द्योतक है। जैन—दार्शनिक हरिभद्र ने भी शास्त्रवार्त्तासमुच्चय में यही कहा है कि भगवान् बुद्ध ने अनात्म का उपदेश तृष्णा के उच्छेद के लिए ही दिया था। बौद्धदर्शन में अनात्मवाद का वास्तविक अर्थ यह है कि संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे हम अपना कह सकें।

आत्मा नित्य है या अनित्य— इस प्रश्न को लेकर भगवान् बुद्ध का स्पष्ट निर्णय था कि न मैं शाश्वतवाद को मानता हूँ और न मैं उच्छेदवाद को मानता हूँ। अनात्म का अर्थ आत्मा नहीं है— ऐसा कहना वस्तुतः उच्छेदवाद का समर्थन करना ही है, जो भगवान् बुद्ध को मान्य नहीं था।

---

[116] देखें — बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ. 415 से 419

बौद्ध–अनात्मवाद का अर्थ आत्म–संततिवाद –

सामान्यतया, बौद्धदर्शन में अनात्मवाद का अर्थ आत्म–संततिवाद ही है। जैसा हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं कि बौद्धदर्शन सत्ता के अस्तित्व का निषेध नहीं करता है, मात्र उसकी शाश्वतता या कूटस्थता का निषेध करता है। सामान्यतया, विपक्षीय–विचारकों ने बौद्ध–धर्म के अनात्मवाद और क्षणिकवाद को पुनर्जन्म की व्याख्या की दृष्टि से असंगत माना है, लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। बौद्धदर्शन में अनात्मवाद आत्मा का अभाव नहीं है। वह कूटस्थनित्य आत्मा का निषेध है, इसीलिए बौद्धदर्शन के अनात्मवाद को आत्म–संततिवाद के रूप में समझा जाना चाहिए। आचार्य नरेन्द्रदेव लिखते हैं– नैरात्म्यवाद से पुनर्जन्म और कर्म के प्रति उत्तरदायित्व के सिद्धांत को क्षति नहीं पहुँचती है। नित्य आत्मा की प्रतिज्ञा करना भूल है, संतति का उल्लेख करना चाहिए।[117]

अनात्मवाद या क्षणिकवाद के साथ पुनर्जन्म का सिद्धांत कैसे संगत हो सकता है, इसकी विवेचना भदन्त नागसेन ने राजा मिलिन्द के सामने की थी। जब मिलिन्द ने नागसेन से अनात्मवाद एवं क्षणिकवाद की विवेचना सुनी, तो उनके हृदय में भी पुनर्जन्म की असम्भावना की शंका उठ खड़ी हुई। उन्होंने नागसेन से समाधान के लिए प्रश्न किया– "भन्ते नागसेन ! कौन उत्पन्न है (पुनर्जन्म ग्रहण करता है) ? क्या वह वही रहता है, या अन्य हो जाता है ?" नागसेन ने उत्तर दिया– "न तो वही और न अन्य। जैसे एक युवक वृद्ध होने तक न तो वही रहता है और न अन्य हो जाता है, वैसे जो पुनर्जन्म ग्रहण करता है, वह न तो वही रहता है और न अन्य हो जाता है।" मिलिन्द फिर भी सन्तुष्ट न हो सका। उसने यह जानना चाहा कि वह क्या है, जो पुनर्जन्म ग्रहण करता है ? नागसेन ने इसके उत्तर में यह स्पष्ट किया कि यह नाम–रूपात्मक संतति–प्रवाह ही पुनर्जन्भ ग्रहण करता है। वे कहते हैं, "राजन्! मृत्यु के समय जिसका अन्त होता है, वह तो एक अन्य नाम–रूप होता है और जो पुनर्जन्म ग्रहण करता है, वह एक अन्य, किन्तु द्वितीय (नाम–रूप) प्रथम (नाम–रूप) में से ही निकलता है, अतः, हे महाराज! धर्म–सन्तति ही संसरण करती है।" भगवान् बुद्ध के समय में सातिकेवट्टपुत्त नामक भिक्षु को यह मिथ्या धारणा उत्पन्न हुई थी कि वही एक विज्ञान आवागमन करता है। इस पर भगवान् ने उसे समझाया था कि विज्ञान तो प्रतीत्य–समुत्पन्न है। वह तो भौतिक

---

[117] देखें – बौद्ध धर्म दर्शन, आचार्य नरेन्द्रदेव, पृ. 286

पदार्थों की अपेक्षा भी अधिक क्षणिक है। वह शाश्वत रूप से संसरण करने वाला नहीं हो सकता। वस्तुस्थिति यह है कि एक जन्म के अन्तिम विज्ञान (चेतना) के लय होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उठ खड़ा होता है। इस कारण न तो वही जीव रहता है और न दूसरा ही हो जाता है।

बौद्धदर्शन अनेक चित्तधाराओं को स्वीकार करता है। वह यह मानता है कि $क_1$ $क_2$ $क_3$ $क_4$ एक चित्तधारा है और $ख_1$ $ख_2$ $ख_3$ $ख_4$ दूसरी चित्तधारा है। यद्यपि $क_1$ $क_2$ $क_3$ $क_4$ एक–दूसरे से अभिन्न नहीं हैं और $ख_1$ $ख_2$ $ख_3$ $ख_4$ भी एक–दूसरे से अभिन्न नहीं हैं, तथापि इनमें से प्रत्येक आत्म–सन्तान के सदस्यों के बीच जो बन्धुता है, वह एक आत्म–सन्तान के एक सदस्य और दूसरी आत्मसन्तान के दूसरे सदस्य, अर्थात् $क_1$ या $ख_1$ के बीच नहीं है। बौद्ध–धर्म आत्मा का एक ऐसी स्थायी सत्ता के रूप में, जो बदलती हुई शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं के बीच स्वयं अपरिवर्तित बनी रहे, अवश्य निषेध करता है, पर उसके स्थान पर एक तरल आत्मा को स्वीकार करता है। बौद्धदर्शन उपादान के अभेद के अर्थ में एकता को तो अस्वीकार करता है, लेकिन उसके स्थान पर सातत्य को स्वीकार करता है। यह आत्म–सन्तानों की प्रवाही धाराओं का सातत्य ही बौद्धदर्शन की 'आत्मा' है। यही तरल आत्मा पुनर्जन्म ग्रहण करती है। इस प्रकार,, बौद्ध–अनात्मवाद और क्षणिकवाद की भूमि को क्षति पहुँचाए बिना पुनर्जन्म की व्याख्या संभव है।[118]

इस प्रकार,, हम देखते हैं कि बौद्धदर्शन में अनात्मवाद आत्म–संततिवाद ही है। वह किसी सीमा तक जैनदर्शन के परिणामी आत्मवाद का ही एक रूप है। अन्तर केवल इतना है कि जहाँ जैनदर्शन आत्मा को नित्य–द्रव्य के रूप में और चेतन अवस्थाओं के आत्म–पर्यायों के रूप में मानता है, वहीं बौद्धदर्शन केवल चित्त–पर्यायों की बात करता है। बौद्धों के दार्शनिक–ग्रन्थों में आत्म–संततिवाद का प्रस्तुतिकरण भी वस्तुतः चित्त या चेतन–धाराओं के रूप में ही हुआ है। बौद्धदर्शन नित्य, कूटस्थ व अपरिणामी–आत्मा का निषेध करता है और परिणामी–आत्मा को चेतन प्रकार के रूप में देखता है। इस आत्म–संततिवाद को ही बौद्ध–दार्शनिक–ग्रन्थ में पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है। रत्नाकरावतारिका में भी कहा गया है कि जो आप जैन आत्मा को नित्य

---

[118] देखें – जैन, बौद्ध और गीता के आचार–दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग I,
– डॉ. सागरमल जैन, पृ. 252

मानते हैं, तो आत्मतत्त्व (मैं) और आत्मीयत्व (मेरा) का आग्रह होने के कारण मुक्ति की प्राप्ति ही संभव नहीं होती।[119]

बौद्धों के आत्मसन्ततिवाद की समीक्षा –

जैन– चार्वाक–दर्शन के पंच महाभूतों से निर्मित आत्मतत्त्व की समीक्षा करने के पश्चात् जैन–दार्शनिक आचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों के आत्मसन्ततिवाद की समीक्षा करते हुए 'प्रमाता' (आतमतत्त्व) के प्रस्तुत प्रकरण में लिखते हैं कि बौद्ध चित्त की क्षण–परंपरा मात्र को ही 'आत्मा' मानते हैं, अर्थात् प्रतिसमय नष्ट होने वाली चित्त–धारा ही आत्मा है। वस्तुतः, जैन–दर्शन स्वतंत्र आत्मद्रव्य के अस्तित्व को मानता है। यद्यपि चैतन्य पर्यायें बदलती रहती हैं, किन्तु उन बदलती हुई पर्यायों के बीच भी एक नित्य–तत्त्व रहा हुआ है, जिसे जैन–दर्शन में आत्मा कहा गया है। जिस प्रकार भिन्न–भिन्न मोतियों को एक धागे में पिरोए जाने से वह एक माला का रूप धारण कर लेता है, अर्थात् मोतियों में अनुस्यूत वह धागा नित्य–तत्त्व के रूप में उन सब मोतियों को व्यवस्थित बनाए रखता है।[120]

बौद्धों का पूर्वपक्ष

बौद्ध– इसके विपरीत, बौद्ध–दार्शनिक यह अवधारणा देते हैं कि मोती की माला में भिन्न –भिन्न मोतियों के पिरोए जाने पर भी धागा एक ही रहता है, अर्थात् अन्वयी (ध्रुव) रहता है, किन्तु प्रतिक्षण विनश्वर सतत ज्ञान (चित्त) धारा में मोती की माला में धागे के समान आत्म–तत्त्व (चैतन्य) नित्य (ध्रुव) नहीं है। क्षण–क्षण में चित्त–पर्याय (धारा) विनाश को प्राप्त होती है और नए–नए (अपूर्व–अपूर्व) ज्ञान को आविर्भूत (उत्पन्न) करती है । जिस प्रकार नदी का जल–प्रवाह सतत प्रवहमान रहता है। पुराना पानी बह जाता है, नया–नया पानी प्रवाह के माध्यम से आता रहता है, उसी प्रकार चेतना का प्रवाह सतत रहता है। चेतना में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। नित्यता का अनुभव केवल एक धारा का ही होता है। इस प्रकार,, बौद्ध प्रतिक्षण उत्पाद–विनाशशील ऐसी चित्तधारा को या

---

119 यत्तु नित्यत्वेऽस्यात्मीयग्रहसद्भावेन मुक्त्यनवाप्तिदूषणमभाणि, तदप्यनवदातम्, विदितपर्यन्तविरससंसार स्वरूपाणां परिगत पारमार्थिकैकान्तिकाऽऽत्यन्तिकानन्द सन्दोहस्वभावापवर्गोपनिषदां च महात्मनां शरीरेऽपि किम्पाकपाकोपलिप्तपायस इव निर्ममत्वदर्शनात्।। –रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 252

120 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 239

धारावाहिक–ज्ञान को ही स्वीकार करते हैं। उस चित्तधारा में या ज्ञान–धारा में अन्वयी (ध्रुव) आत्म–तत्त्व को नहीं मानते हैं।[121]

चार्वाक–दार्शनिक तो आत्म–तत्त्व के स्वतंत्र अस्तित्व को नहीं मानते हैं। वे तो यह मानते हैं कि चेतना भूतों के संयोग से उत्पन्न होती है। आत्मद्रव्य की स्वतंत्र सत्ता नहीं है। इसके विपरीत, बौद्ध–दार्शनिक आत्मा या चेतना के अस्तित्व को तो मानते हैं, किंतु उसे चित्त–पर्यायों के रूप में सतत परिवर्तनशील मानते हैं। चार्वाक आत्मा नामक मूलतत्त्व (द्रव्य) नहीं मानते हैं, अतः, उनके दर्शन में स्मरण और प्रत्यभिज्ञा आदि संभध ही नहीं हैं, जबकि बौद्ध–मत में तो चित्त–धारा के रूप में चेतन–सत्ता (आत्म–तत्त्व) को स्वीकार करते हुए भी स्मृति और प्रत्यभिज्ञा की सिद्धि नहीं होती है।[122]

उपर्युक्त कथन का फलितार्थ यह होता है कि जिसके पास धन ही नहीं है, वह न तो दान–पुण्य आदि कर सकता है और न सांसारिक–सुखों का अनुभव कर सकता है, किंतु जिसके पास धन होते हुए भी यदि वह दान–पुण्य न कर सके, या विषय–भोगों के सुखों का अनुभव न कर सके, तो यह कितने आश्चर्य की बात होगी। बौद्धों की स्थिति ऐसी ही है।[123]

रत्नाकरावतारिका में रत्नप्रभसूरि बौद्ध–दार्शनिकों की इस अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि बौद्ध–दार्शनिक यह कहते हैं कि पूर्वक्षण के चित्त ने जिस विषय का ज्ञान (अनुभव) प्राप्त किया, उस विषय की स्मृति उत्तर–क्षणवर्ती–चित्त में नहीं रहती है, क्योंकि पूर्वक्षण के चित्त से उत्तर–क्षणवर्ती–चित्त सर्वथा भिन्न है। जिस प्रकार एक पिता की दो सन्तानों की बुद्धि भिन्न–भिन्न होती है, यथा– चैत्र की बुद्धि से मैत्र की बुद्धि अत्यन्त भिन्न होती है, चैत्र ने जो ज्ञान प्राप्त किया, उसकी स्मृति मैत्र को नहीं हो सकती है और मैत्र ने जो ज्ञान प्राप्त किया,उसकी स्मृति चैत्र को नहीं होगी। परिणामतः, जिसने जो ज्ञान (अनुभव) प्राप्त किया है, उसकी स्मृति भी उसी को रहेगी।[124]

---

121 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 239

122 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 239, 240

123 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 240

124 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 240

जैनों का उत्तरपक्ष

जैन – जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि पूर्वक्षणवर्ती जिस चित्त ने जो ज्ञान प्राप्त किया है, उस पूर्वक्षणवर्ती चित्त का नाश होने से और उत्तरक्षणवर्ती नवीन चित्त के उत्पन्न होने से– इस प्रकार, पूर्व–पूर्व क्षणवर्ती चित्त से उत्तर–उत्तर–क्षणवर्ती चित्त के अत्यन्त भिन्न होने के कारण नए–नए ज्ञान या अनुभव के उत्पन्न होते हुए भी दोनों चित्त एकान्त–भिन्न होने से उस पूर्वक्षणवर्ती चित्त में स्मृति और प्रत्यभिज्ञा घटित नहीं होती है। यह बात तो जगत् प्रसिद्ध है कि अत्यन्त भिन्न चैत्र के द्वारा जाने हुए पदार्थों के ज्ञान की स्मृति और प्रत्यभिज्ञा अत्यन्त भिन्न मैत्र को नहीं हो सकती है। कदाचित् ऐसा भी मान लिया जाए कि एक के अनुभवों की स्मृति दूसरे को हो सकती है, तो फिर किसी भी एक व्यक्ति को हुए पदार्थ–बोध से संसार के सभी व्यक्तियों को उसकी स्मृति हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है। इस प्रकार, से, चैत्र नामक एक ही व्यक्ति ने पूर्वक्षणवर्ती चित्त (बुद्धि) द्वारा जो ज्ञान प्राप्त किया है, उसकी स्मृति उत्तरक्षणवर्ती चित्त को नहीं होगी और स्मृति के न होने पर प्रत्यभिज्ञा का जन्म भी नहीं होगा, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा की उत्पत्ति स्मृति और अनुभव– दोनों से होती हैं। इस प्रकार, से, पदार्थमात्र के अनुभव से आत्मा में स्थित पूर्व–संस्कार वाला ज्ञान प्रमाता–आत्मा को 'वही यह पदार्थ है'– इस प्रकार, का प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है, अर्थात् भूतकाल के पदार्थ को वर्त्तमानकाल के पदार्थ के साथ तुलना करना कि 'यह वही है', 'यह उसके तद्रूप है,' 'यह गाय उस गाय के समान है' इत्यादि को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं, किन्तु प्रतिक्षणवर्ती–पूर्वक्षणवर्ती चित्त से उत्तरक्षणवर्ती चित्त के अत्यन्त भिन्न–भिन्न होने से स्मृति घटित नहीं होती है तथा इसी प्रकार, स्मृति और अनुभव से होने वाली प्रत्यभिज्ञा भी घटित नहीं होती है। इस प्रकार,, बौद्धों का पूर्वपक्ष दूषित सिद्ध होता है! दूसरे शब्दों में, पूर्व में अनुभूत पदार्थ के वर्त्तमान में हमारी चेतना में जो संस्कार जाग्रत होते हैं, वह स्मृति है, इसमें वर्त्तमान का विषय नहीं होता है, यद्यपि प्रत्यभिज्ञा में वर्त्तमान का अनुभव होता है, किन्तु उससे तुलनात्मक–ज्ञान होता है, वह तो पूर्वकालिक–अनुभव की स्मृतिरूप होता है, अतः, बौद्धदर्शन में स्मृति और प्रत्यभिज्ञा सम्भव नहीं होती है।[125]

---

[125] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 240

बौद्ध – इस पर बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि चित्त की अनित्यत के कारण हमारे दर्शन में 'स्मृति और प्रत्यभिज्ञा का अभाव होता है'– ऐस आप जैनों ने हम बौद्धों पर दोषारोपण किया है, किन्तु हम सामान्यतय ऐसा कथन करते हैं कि भिन्न–भिन्न चित्तक्षण को, भिन्न–भिन्न ज्ञान होने पर स्मृति और प्रत्यभिज्ञा का अभाव हो सकता है, अर्थात् एक चित्तक्षण ने जो ज्ञान प्राप्त किया, उससे सर्वथा भिन्न दूसरे चित्तक्षण में दूसरा ज्ञान हो तो वहाँ पर स्मृति और प्रत्यभिज्ञा का अभाव हो सकता है,[126] किन्तु हम तो यह मानते हैं कि समस्त पदार्थ प्रतिक्षण विनश्वर स्वभाव वाले होने से एक–दूसरे से भिन्न तो हैं, किन्तु इस भिन्नत्व के होते हुए भी उनमें कार्य–कारण–भाव है और जहाँ कार्य–कारण–भाव होता है, वहाँ स्मृति और प्रत्यभिज्ञा भी संभव है, क्योंकि कार्य कारण के अनुरूप है। उत्तरक्षण पूर्वक्षण की सन्तान होता है, अतः, उनमें कुछ समानता भी होती है। चैत्र और मैत्र– ये दोनों भिन्न–भिन्न सन्तान हैं। देवदत्त और यज्ञदत्त– ये दोनों भी भिन्न–भिन्न सन्तान हैं। इन दोनों के भिन्न–भिन्न संतान होने के कारण इनका चित्तक्षण भी भिन्न–भिन्न होगा और दोनों के चित्तक्षण भिन्न होने के कारण एक के संस्कार दूसरे को प्राप्त नहीं होंगे। वहाँ कार्य–कारण का अभाव होता है। चैत्र ने जो ज्ञान (अनुभव) प्राप्त किया है, उसकी स्मृति सन्तानान्तरवर्ती मैत्र को नहीं हो सकती है, किन्तु यदि वे परस्पर एक की ही सन्तान हैं, तो पूर्व–चित्तक्षण ने जो ज्ञान प्राप्त किया था, वह पूर्व–चित्तक्षण अपने ज्ञान के संस्कार अपने उत्तर–चित्तक्षण को दे देता है जिस प्रकार एक पिता अपने संस्कार अपने पुत्र को देता है, अथवा पिता के संस्कार पुत्र में अवश्य आते हैं। जिस प्रकार एक ही पिता की संतान पिता के संस्कारों को, किंवा उनके गुण–धर्मों को धारण करती चली जाती है, उसी प्रकार पूर्वक्षण की चेतना अपने से उत्पन्न उत्तरक्षण की चेतना को अपने संस्कार दे देती है, अर्थात् पूर्वक्षण अपनी विशेषताओं को उत्तरक्षण को दे जाता है। पूर्वक्षण और उत्तरक्षण एक–दूसरे से अप्रभावित नहीं रहते हैं, अतः, पूर्वक्षण से उत्तरक्षण अत्यन्त भिन्न न होने के कारण दोनों में कार्य–कारण–भाव होता है और कार्य–कारण–भाव होने के कारण पूर्वक्षण की स्मृति और तज्जन्य प्रत्यभिज्ञान भी संभव है। यह चित्तक्षणों की निरंतरता सतत प्रवाहित होती रहती है, अर्थात् जारी रहती है। किन्तु भिन्न–भिन्न सन्तानरूप चित्तक्षणों में कार्य–कारण–भाव नहीं होता है, अतः उनमें स्मृति और प्रत्यभिज्ञा संभव नहीं है। इस प्रकार,, हम बौद्धों का

---

[126] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 241

संततिवाद–सिद्धांत ही उचित सिद्ध होता है और उससे स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञा भी संभव होती है। इस प्रकार,, आपके द्वारा दिया हुआ दोष हम पर लागू नहीं होता है।[127]

जैन – बौद्धों द्वारा उपर्युक्त कथन किए जाने पर जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि आपका उपर्युक्त कथन निर्दोष नहीं है। जिस प्रकार चैत्र और मैत्र– दोनों समानान्तर भिन्न–भिन्न हैं, उन चित्तक्षणों में अन्यत्व या भिन्नत्व है, उसी प्रकार अकेले चैत्र नामक व्यक्ति में भी पूर्वक्षण की चित्तवृत्ति से उत्तरक्षण की चित्तवृत्ति भी भिन्न ही है। जिस प्रकार चैत्र और मैत्र की चित्तधारा में एकान्त–भिन्नत्व है, उसी प्रकार अकेले चैत्र की चित्तधारा में भी पूर्व–चित्तक्षण और उत्तर–चित्तक्षण में एकान्त–भिन्नत्व है और एकान्त–भिन्नत्व में स्मृति कैसे संभव होगी ? यद्यपि आपका यह कथन तो ठीक है कि पूर्व–चित्तक्षण के उत्तर–चित्तक्षणों में संस्कारों के संस्कारित होने के कारण उनमें कार्य–कारण–भाव है, किन्तु हम जैनों का तर्क यह है कि कार्य–कारण–भाव के होते हुए भी स्मृति का होना अवश्यंभावी नहीं है, जैसे एक पिता की सन्तान में भी पिता के अनुभवों की स्मृति नहीं होती है, अतः, हेतु के समान होने पर भी स्मृति की असंभावना नहीं होती है, लेकिन हेतु के समान होने पर भी स्मृति की असंभावना की सिद्धि तो हो ही जाती है। दूसरे, जब तक स्मृति–प्रत्यभिज्ञा संभव नहीं होगी, तब तक अनुमान–प्रमाण भी सिद्ध नहीं होगा।[128]

पुनः, जैनाचार्य कहते हैं कि ऐसा कोई भी उदाहरण वादी और प्रतिवादी– दोनों के समक्ष नहीं है कि एकान्त–भिन्नत्व होते हुए भी मात्र कार्य–कारण–भाव से स्मृति घटित हो जाती है। ऐसे उदाहरण अनेक हो सकते हैं कि जहाँ कार्य–कारण–भाव के होते हुए भी स्मृति संभव नहीं होती है। उदाहरणस्वरूप– गुरु, शिष्य को ज्ञान देता है, गुरु कारण है और शिष्य का ज्ञान कार्य है। गुरु–शिष्य में पिता–पुत्र जैसा संबंध तो जरूरी नहीं होता है, जिससे गुरु के सभी संस्कार या अनुभव शिष्य में आते ही हों। वस्तुतः, न तो पिता–पुत्र में कार्य–कारण–भाव के होते हुए भी पिता के अनुभवों की सम्पूर्ण स्मृति पुत्र में संभव हो सकती है और न गुरु–शिष्य में कार्य–कारण–भाव होते हुए भी एक अनुभवों की स्मृति दूसरे को संभव हो सकती है, चाहे पिता–पुत्र में संततिभाव हो, किन्तु गुरु और

---

127 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 241

128 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 242

शिष्य में तो एकान्त–भिन्नत्व है, अतः, न तो संततिवाद में और न एकान्त–भिन्नत्व में स्मृति या प्रत्यभिज्ञा संभव है।[129]

बौद्ध – बौद्ध–दार्शनिक जैन–सिद्धांत की समीक्षा करते हुए लिखते हैं कि संतान के संस्कार (कर्मवासना) से संस्कारित होने पर ही फल–प्राप्ति संभव होती है। जिस प्रकार एक पिता अपने संस्कार अपने पुत्र को दे जाता है, फिर वह अपनी संतान को संस्कार दे जाता है, यह संस्कारों की शृंखला चलती रहती है, उसी प्रकार एक ही चेतना में चित्तधारा भी सतत प्रवाहित रहती है, यथा–पूर्व–चित्तक्षण की चेतना ने उत्तरक्षणवर्ती चेतना को संस्कार दिए। फिर इस उत्तरक्षणवर्ती चेतना ने अपनी अगली उत्तरक्षणवर्ती चेतना को संस्कार दिए। इस प्रकार,, एक ही चेतना–सन्तानों में ज्ञान (अनुभवों) की यह धारा सतत प्रवाहमान रहती है। परिणामस्वरूप ज्ञान की (संस्कारों की) पंरपरा निरंतर आगे से आगे नदी के प्रवाह के समान गतिमान होती रहती है। अतः,, हम बौद्धों के मत में स्मृति तथा तज्जन्य प्रत्यभिज्ञा घटित होती है। इस प्रकार,, एक सतत प्रवाहित चित्तधारा में संस्कार–प्राप्ति की संभावना भी रहती है और इस प्रकार, पूर्ववर्ती चित्तक्षण से उत्तरवर्ती चित्तक्षण के अत्यन्त भिन्न होते हुए भी एक ही चित्त की संतान होने से स्मृति भी संभव होती है, किन्तु इसके विपरीत, भिन्न–भिन्न चित्तधाराओं में फल–प्राप्ति एवं स्मृति– दोनों संभव नहीं होते हैं, उदाहरणस्वरूप– रक्त जाति के कपास के बीज से रक्त–कपास अत्यन्त भिन्न हैं, किन्तु एक सन्तानवर्ती होने के कारण रक्त–कपास के बीज से तज्जन्य रक्त–कपास ही कार्यरूप में प्राप्त होता है। रक्त–कपास के बीज में और रक्त–कपास में कार्य–कारण–भाव है। कहने का तात्पर्य यह है कि बीज (कारण) और उसके फल (कार्य) में कार्य–कारण–भाव है, कपास में जो रक्तता होती है, वह रक्तता बीज के अंकुरित होने पर फलीभूत होती है, पुनः, उस कपास से उत्पन्न तन्तु में भी रक्तता होती है तथा तन्तु से निर्मित पट में भी रक्तता होती है। यह रक्तता बीज से लेकर उत्तरोत्तर अन्तिम परिणति तक बनी रहती है। इस प्रकार,, वादी और प्रतिवादी– दोनों को मान्य बीज में जो रक्तता है, वही रक्तता फलीभूत कपास में भी होती है। इसी प्रकार, एक सन्तानवर्ती चित्तक्षण में कार्य–कारण–भाव के होते हुए भी बीज, कपास की रक्तता के समान

---

[129] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 243

स्मृति भी संभव होती है, अतः, आप जैनों का यह आरोप कि संततिवाद स्मृति संभव नहीं है, खंडित हो जाता है।[130]

जैन – बौद्धदर्शन के इस तर्क की समीक्षा करते हुए जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि आप बौद्धों का यह कथन समुचित नहीं है, क्योंकि इस तर्क में अन्वय एवं व्यतिरेक–व्याप्ति के असंभव होने से स्वयं आपके पक्ष की सिद्धि करने वाला सद्हेतु भी नहीं है, क्योंकि– 'यत्र यत्र कार्य–कारण–भावः, तत्र तत्र स्मृतिः भवत्येव, यथा–कपासे रक्तत्वात्'– इस प्रकार, की अन्वय–व्याप्ति होना चाहिए, किन्तु यहाँ ऐसी व्याप्ति नहीं है, क्योंकि जैसे गुरु–शिष्य के मध्य, मिट्टी–घट के मध्य, तन्तु–पट के मध्य कार्य–कारण–भाव के होते हुए भी, स्मृति नहीं होती है, तो इस संदर्भ में व्याप्ति भी कैसे होगी? अर्थात् अन्वयव्याप्ति नहीं होगी। दूसरे, व्यतिरेक–व्याप्ति भी संभव नहीं है, यथा– 'यत्र यत्र न स्मृतिः, तत्र तत्र न कार्य–कारण–भावः', अर्थात् जहाँ–जहाँ स्मृति नहीं होती, वहाँ–वहाँ कार्य–कारणभाव नहीं होता है– ऐसी व्यतिरेक–व्याप्ति भी संभव नहीं है, क्योंकि तन्तु–पट में, मिट्टी–घट में, गुरु–शिष्य में स्मृति नहीं होते हुए भी कार्य–कारण–भाव तो रहा हुआ है। इस प्रकार,, यहाँ व्यतिरेक–व्याप्ति भी संभव नहीं है, अतः, हम जैनों ने आप बौद्धों के समक्ष जो अनुमान प्रस्तुत किया है और उसमें जो हेतु दिया है, उसमें असिद्धता, व्यभिचारिता या अनेकान्तिकता आदि कोई भी दोष नहीं होने से उसमें कोई भी दूषण नहीं आता है, क्योंकि रक्त–कपास के बीज में और रक्त–कपास में कार्य–कारण–भाव है, किन्तु स्मृति नहीं है। कपास की रक्तता का आपका दृष्टांत भिन्न होने से हमारे हेतु में किसी भी प्रकार का कोई दोष भी नहीं आता है। दूसरे, रक्त–कपास के बीज में और रक्त–कपास में जो संबंध है, वह उनमें कथंचित्–भिन्नत्व और कथंचित्–अभिन्नत्व रूप मानने पर ही घटित होता है, सर्वथा भिन्नत्व (अन्यत्व) होने पर तो घटित भी नहीं होता है, क्योंकि बीज स्वयं ही फूटकर अंकुर के रूप में उत्पन्न हुआ और उस अंकुर से पौधा बना और पौधे से कपास उत्पन्न हुआ, तो बीज और कपास में एकान्त–अन्यत्व भी कहाँ रहा ? अर्थात् नहीं रहा, अर्थात् एकान्त–भिन्नत्व होते हुए भी जहाँ–जहाँ कार्य–कारण–भाव होगा, वहाँ–वहाँ यदि स्मृति भी होती हो, तो फिर गुरु और शिष्य की बुद्धि में भी कार्य–कारण–भाव के होने पर स्मृति भी होना चाहिए, किन्तु ऐसा संभव

---

130 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 243

नहीं है, अतः, यह कोई अवश्यम्भावी नियम नहीं है कि कार्य–कारण–भाव होने पर स्मृति भी हो।[131]

बौद्ध – इसके उत्तर में बौद्ध कहते हैं कि गुरु और शिष्य में भिन्नत्व तो है ही, इनमें बुद्धि के संबंध में कार्य–कारण–भाव के होने पर भी एक के अनुभवों की दूसरे को स्मृति कैसे होगी ? इसका ही तो विरोध हमने किया है। हमारा कथन तो एक संतान को लेकर है। गुरु–शिष्य में एक सन्तानता नहीं है। एक ही की संतान में ही कार्य–कारण–भाव के होने पर स्मृति भी संभव होती है।[132]

जैन – इस पर बौद्ध–दार्शनिकों का खण्डन करते हुए जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि जब आपका क्षणिकवाद सिद्ध नहीं हुआ, तो आपने एक सन्तानवाद का सहारा लिया, तो आप यह बताइए कि चैत्र अथवा मैत्र– दोनों में से किसी भी एक व्यक्ति की जो चित्तक्षण–परंपरा होती है, वही एक संतान है– ऐसा आप मानते हैं, तो यहाँ हमारा प्रश्न यह है कि क्षण–पंरपरा से एक संतान नामक तत्त्व भिन्न है या अभिन्न ? यदि आप ऐसा कहते हैं कि एक संतान–क्षण परंपरा से अभिन्न है, तो अभिन्न मानने का तात्पर्य तो यह होगा कि आपने हमारे आत्मतत्त्व को स्वीकार कर लिया है। दूसरे, अभिन्न मानने में तो सन्तानवाद कहाँ रहा, वह तो एक ही की क्षण–पंरपरा हुई। सन्तानवाद के न होने पर स्मृति भी संभव नहीं होगी।[133] इसके पश्चात्, दूसरे प्रश्न के उत्तर में यदि आप यह कहते हैं कि क्षण–पंरपरा और संतान भिन्न–भिन्न हैं, तो पुनः नया प्रश्न उत्पन्न होता है कि भिन्न माना हुआ यह एक संतान कोई पारमार्थिक–पदार्थ है ? या मात्र काल्पनिक है ? यदि आप यह कहते हैं कि क्षणपरंपरा से एक संतान में भिन्नत्व होने के साथ ही एक संतान अपारमार्थिक अर्थात् कल्पनामात्र है, कोई भी यथार्थ वस्तु नहीं है, तो फिर कल्पना में स्मृति नहीं होगी, अथवा स्मृति होगी भी, तो वह अप्रामागिकता ही होगी ? अतः,, कल्पना में स्मृति घटित नहीं होगी। वस्तुतः, हम जैनों द्वारा दिए गए स्मृति की असंभावना के दोष को दूर करने के लिए ही तो आप बौद्धों ने एक संतान की कल्पना की है, किन्तु आपका यह एक

---

131 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 243, 244

132 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 244

133 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 244, 245

सन्तानवाद मृग–मरीचिका के समान काल्पनिक होने से इससे स्मृति संभव या सिद्ध नहीं होती है।[134]

यदि आप सन्तान को ही पारमार्थिक–तत्त्व अर्थात् वास्तविक मानते हैं, तो यह पारमार्थिक–तत्त्व नित्य है ? या अनित्य है ? यदि इस सन्तान नामक पारमार्थिक–तत्त्व को क्षणिक कहेंगे, तो क्षण–परंपरा तो क्षणिक ही होगी, अतः, उसमें स्मृति सिद्ध नहीं होगी। स्मृति सिद्ध करने के लिए आपने संतानवाद का सहारा लिया था, किन्तु इससे भी स्मृति तो सिद्ध नहीं कर सके, क्योंकि संतान भी जब क्षणिक है, तो फिर संतान और क्षणपंरपरा– दोनों ही एक समान हो गए, तो इनमें भी स्मृति सिद्ध नहीं होगी। दूसरे, आपने नित्य नाम का कोई पदार्थ तो स्वीकार ही नहीं किया है, तो बिना नित्यता के स्मृति कैसे टिकेगी ?[135]

यहाँ, जैन बौद्धों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि आपकी स्थिति तो ऐसी हो रही है, जैसे एक चोर ने अपने को बचाने के लिए भयभीत होकर दूसरे चोर की शरण ग्रहण की, किन्तु दूसरा चोर भी लूटने वाला ही साबित हुआ। इस प्रकार,, सबसे प्रथम तो आपने क्षणिकवाद को सिद्ध करने का प्रयास किया, लेकिन जब देखा कि क्षणिकवाद सिद्ध नहीं हो रहा है, तो आपने एक संतानवाद की शरण ग्रहण की, किन्तु आपका एक संतानवाद भी खंडित हो गया।[136]

यहाँ, जैन बौद्धों से कहते हैं कि यदि आप एक संतान को क्षणपरंपरा से भिन्न पारमार्थिक–नित्य–पदार्थ मानेंगे, तो परमार्थ से एक स्वतंत्र सत्–स्वरूप वाला नित्य एक संतान नामक तत्त्व है– यह स्वीकार करना होगा और इसका तात्पर्य तो यही होगा कि आपने हमारे आत्मतत्त्व को ही स्वीकार कर लिया और यदि ऐसा है, तो आपके मुख में घी, शकर, क्योंकि फिर तो आपके मत में और हमारे मत में कोई विरोध ही नहीं रहा।[137]

बौद्ध – पुनः, बौद्ध–दार्शनिक अपने सन्तानवाद के मत को पुष्ट करते हुए कहते हैं कि उपादान–उपादेय–भाव के संबंध से होने वाला

---

[134] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 245

[135] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 245

[136] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 245

[137] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 245

कार्य–कारण–भाव ही 'संतान' कहलाता है और इसी आधार पर स्मृति की सिद्धि होती है। गुरु–शिष्यादि में कार्य–कारण–भाव तो होता ही है, किन्तु वहाँ पर उपादान–उपादेय–भाव नहीं होता है, अतः, वहाँ पर स्मृति का अभाव होता है।[138]

जैन – इस पर, जैन–दार्शनिक रत्नप्रभ कहते हैं कि आपका यह कथन भी तो खण्डित हो जाता है। 'अविष्वक्भाव' अर्थात् कथंचित्–अभेद–भाव या कथंचित्–तादात्म्य–भाव के संबंध–विशेष को यदि आप नहीं मानेंगे और मात्र कारणत्व को ही मानेंगे, तो कारणत्व तो सर्वत्र समान होने पर 'यहाँ उपादान–उपादेय भाव हैं' और इससे भिन्न (इतर) स्थिति में निमित्त–नैमित्तिक–भाव है– ऐसा विभाग भी नहीं होगा, अर्थात् कार्य–कारण–भाव में कथंचित्–अभेद–संबंध या तादात्म्य–संबंध मानेंगे, तो ही उपादान–उपादेय–भाव भी सिद्ध होगा, अन्यथा तो एकान्तभेद में उपादान–उपादेय–भाव तो घटित नहीं होगा। यदि आप बौद्ध तादात्म्य–भाव को माने बिना ही केवल यह मानेंगे कि जहाँ–जहाँ कार्य–कारण–भाव होगा, वहाँ–वहाँ उपादान–उपादेय–भाव होगा, तो फिर उपादान–कारण के समान निमित्त–कारण में भी कारणत्व के समान होने पर वहाँ भी उपादान–उपादेय–भाव मानने की आपत्ति उत्पन्न होगी, जिससे यह उपादान–कारण है और निमित्त–कारण है– ऐसा विभाग संभव नहीं होगा। फलतः, जिस प्रकार घट से कुम्हार दंड, चक्र, चीवर आदि निमित्त–कारण भिन्न हैं, उसी प्रकार घट से मिट्टीरूप उपादान–कारण भी भिन्न हैं– ऐसा सिद्ध होगा, जबकि मिट्टी में तो उपादान–कारणता है और कुम्हार, दंड, चक्र, चीवर आदि में सहकारी–कारणता है– ऐसा भेद ही समाप्त हो जाएगा। इसी प्रकार, पट से तुरी–वेमादि बुनने के साधन भी भिन्न हैं, उसी प्रकार पट से तन्तु भी भिन्न हैं– ऐसा सिद्ध होगा, जबकि तन्तु उपादान–कारण है और तुरी–वेमादि सहकारी–कारण हैं। इस प्रकार,, उपादान–कारण और निमित्त–कारण का विभाग भी संभव नहीं होगा, जबकि उपादान–कारण कार्य से अभिन्न होता है और निमित्त–कारण या सहकारी–कारण भिन्न होता है। इस प्रकार, से तो कारणत्व मात्र समानता होने पर यह उपादान–कारण है और यह निमित्त–कारण है– ऐसा

---

[138] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 245

विभाजन भी कार्य का कारण से कथंचित्–तादात्म्य और कथंचित्–भेद माने बिना संभव ही नहीं होगा।[139]

बौद्ध – इस पर, बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि नियम तो यह है कि संतान का जनक होता है, वह उपादान कहलाता है, यथा– मिट्टी घट (संतान) की जनक है, अतः, यह उपादान–कारण है, किन्तु कुम्हार, दंड, चक्र, चीवर आदि घट के जनक नहीं हैं, मात्र सहयोगी हैं, अतः, वे उपादान–कारण भी नहीं हैं, मात्र सहकारी–कारण हैं। इसी प्रकार, तन्तु पट का जनक होने से उपादान–कारण कहलाता है, किन्तु तुरी–वेमादि पट के उत्पादन में मात्र सहयोगी होने से उपादान–कारण नहीं कहलाते हैं। इस प्रकार, हम भी उपर्युक्त आधार पर उपादान और निमित्त–कारण का भेद–सा विभाग करते हैं।[140]

जैन – इस पर, जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं– आपका उपर्युक्त कथन युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि आपके इस कथन में तो इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय) नामक दोष है। आप यह बताइए कि जैसे मिट्टी में घट उत्पन्न करने की शक्ति रही हुई है, इसलिए आप मिट्टी को जनक और घट को 'संतान' मानते हैं ? या घट में अपने उपादान–कारण मृत्तिकापिण्ड से जन्यता, अर्थात् उत्पन्न होने की योग्यता रही हुई है, इसलिए घट को 'संतान' मानते हैं ? तात्पर्य यह है कि यदि उपादान–कारण अर्थात् मिट्टी, संतान अर्थात् घट को उत्पन्न करने की योग्यता रखती हो, तभी वह उपादान–कारण बन सकती है तथा घट (संतान) उपादान–कारण से उत्पन्न होने की योग्यता रखता हो, तभी घट संतान बन सकता है। इन दोनों में प्राथमिकता किसकी होगी ? यह समस्या बनी रहेगी। इन दोनों में कथंचित्– तादात्म्य–संबंध माने बिना उनमें परस्पर एक–दूसरे पर आश्रित–भाव नहीं रहेगा और उनमें एकांत–अन्यत्व या भिन्नत्व होने पर तो उनमें जन्य–जनक–भाव भी सिद्ध नहीं होता, अतः, कथंचित्–अभेद (तादात्म्य) का भाव माने बिना उपादान–उपादेय–भाव को कैसे सिद्ध करेंगे ?[141]

---

[139] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 246, 247

[140] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 247

[141] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 247

जैन – पुनः, जैन बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि दो पदार्थों के अत्यन्त भिन्न होने पर भी जहाँ उनकी जाति समान हो, तो वहाँ पर भी कार्य–कारण–भाव नहीं होते हुए भी संतान शब्द का व्यवहार होता है, जैसे– यह ब्राह्मण की संतान है। यहाँ पर ब्राह्मण पिता और ब्राह्मण पुत्र, यद्यपि ये दोनों अत्यन्त भिन्न हैं, परन्तु ब्राह्मणत्व की समानता होने से, अर्थात् समान जाति वाले होने से कार्य–कारण–भाव नहीं होने पर भी, यह ब्राह्मण की संतान है, यह क्षत्रिय की संतान है– ऐसा लोक में व्यवहार होता है। वस्तुतः, सन्तान शब्द का प्रयोग जाति के आधार पर होता है, कार्य–कारण–भाव के आधार पर नहीं होता है। उसी प्रकार, हम जैन भी, यह शब्द–संतान है, यह प्रदीप–संतान है– ऐसा संतान शब्द का व्यवहार शब्द और प्रदीपादि में करते ही हैं। वक्ता के मुख से निकले हुए शब्द श्रोता के कान में एक के बाद एक शब्दों में भिन्नता होते हुए भी एक जातिरूप समानता होने से, अथवा उनमें कार्य–कारण–भाव के होने से, यह अमुक शब्द की परंपरा है, या यह अमुक दीपक की परंपरा है– ऐसा व्यवहार होता है, क्योंकि दीपक में एक के बाद एक नई लौ जलती रहती है। इस प्रकार, से, हम जैन अत्यन्त भिन्न ऐसे पदार्थों (भावों) में भी सजातीयता के कारण संतान शब्द का प्रयोग करते हैं।[142]

पुनः, जैन बौद्धों से कहते हैं कि जिस प्रकार हमारे जैन–दर्शन में संतान शब्द का अर्थ सजातीय है, उसी प्रकार यदि आप बौद्धों को भी सजातीय के अर्थ में संतान शब्द का व्यवहार इष्ट हो, तो फिर गुरु और शिष्य के मध्य भी क्यों न संतान–भाव सिद्ध होगा, अर्थात् गुरु और शिष्य के मध्य भी संतान–भाव रहा हुआ है– ऐसा मानना होगा, क्योंकि दोनों की बुद्धि में सजातीयता होने के साथ–साथ उन बुद्धियों में कार्य–कारण–भाव भी रहा हुआ है। शिष्य अपनी बुद्धि से भूतकाल में हुए ज्ञान को वर्त्तमान में भी जान लेता है अर्थात् शिष्य को भूतकाल में गुरु द्वारा सिखाई बातों की स्मृति वर्त्तमानकाल में बनी रहती है, अतः, गुरु और शिष्य में बुद्धित्व की समानता और कार्य–कारण–भाव होना चाहिए। गुरु और शिष्य में जब संतान–भाव है, तो फिर गुरु की स्मृति शिष्य में भी आ जाना चाहिए। पूर्वकाल के संस्कार जब वर्त्तमान–काल में आते हैं, तो फिर गुरु के संस्कार शिष्य में आ जाना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है।[143]

---

142 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 247, 248

143 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 248

दूसरे, 'ब्राह्मण' और 'प्रदीप' आदि में जैसे समान जाति और कार्य–कारण–भाव होने से संतान शब्द का यदि व्यवहार मानेंगे, तो फिर जहाँ पर समान जाति नहीं होगी, वहाँ संतान शब्द का प्रयोग भी उचित नहीं होगा, यथा– धुआँ यद्यपि अग्नि से उत्पन्न होता है, किन्तु फिर भी दोनों समान जाति के नहीं होने के कारण वहां संतान शब्द का व्यवहार नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि अग्नि और धुएँ में कार्य–कारण–भाव होते हुए भी समान जाति नहीं है तथा इसी प्रकार, बादल की गर्जना, वीणा–मृदंग का संगीत आदि एक–दूसरे से भिन्न होने के कारण या समान जाति के नहीं होने के कारण आप बौद्धों के अनुसार, इन ध्वनियों की उत्पत्ति बिना उपादान–कारण के ही मानना पड़ेगी। परिणामस्वरूप, धुएँ और अग्नि में अनादिकाल से कार्य–कारण–संबंध या विभिन्न ध्वनियों की सजातीयता कहना संभव नहीं होगा। यदि आप बौद्ध–दार्शनिक बिना उपादान–कारण के ही धुएँ की और शब्दादि की उत्पत्ति मानेंगे, तो फिर आपको इसी प्रकार चैतन्य की उत्पत्ति भी आत्मतत्त्व (उपादान–कारण) के बिना ही गर्भादि में मान लेना चाहिए। ऐसी स्थिति में पूर्वजन्म और पुनर्जन्म– दोनों का अभाव हो जाएगा। यदि आप पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को नहीं मानेंगे, तो आपके शास्त्र में बुद्ध के बारे में जो यह उल्लेख है, "अब से इक्याणु भव पूर्व में जो हिंसा की थी, उसी पाप के कारण, आज मेरे पाँव में कांटे चुभ गए हैं"– इस कथन का क्या होगा ? यदि आप परलोक को नहीं मानेंगे, तो फिर निर्वाण (मोक्ष) भी निरर्थक हो जाएगा और मोक्ष के लिए की गई साधना आदि भी व्यर्थ सिद्ध होंगे। इस प्रकार,, आप बौद्ध कई दोषों से घिर जाएंगे।[144]

बौद्ध – उपर्युक्त दोषों से बचने के लिए बौद्ध जैनों से कहते हैं कि धुएँ एवं अग्नि में और मेघ के गर्जारव और वीणा के संगीत में चाहे क्रमशः उपादान–कारण–भाव या समान जातीयता न हो, किन्तु हम बौद्ध तो विजातीय कारण से भी किसी का उत्पन्न होना मान लेते हैं, किन्तु बिना उपादान–कारण के उत्पत्ति होना तो संभव ही नहीं है। हम बौद्ध भी उत्पत्ति तो उपादान–कारण से होना ही मानते हैं, चाहे वह उत्पत्ति का उपादान–कारण विजातीय ही क्यों न हो, उसका सजातीय होना ही जरूरी नहीं है, विजातीय से भी कार्योत्पत्ति तो हो जाती है। इस प्रकार,, घट आदि में सजातीय उपादान–कारण तथा धुआँ शब्द आदि में विजातीय

---

[144] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 248, 249

उपादान–कारण होता है। इस प्रकार,, सजातीय और विजातीय– दोनों प्रकार के उपादान–कारणों से कार्योत्पत्ति होती है – ऐसा हम बौद्धों को स्वीकार्य है, अतः, हमारे मत में कोई भी दोष लागू नहीं होता है।

जैन – इस पर, जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि यदि आप बौद्ध विजातीय–तत्त्व को भी उपादान–कारण मानेंगे, तो फिर तो किसी से भी, कुछ भी उत्पन्न हो सकता है– यह मानना होगा। इससे आपके सन्तानवाद की व्यवस्था भी नहीं हो पाएगी। अच्छा आप यह बताइए कि यदि आप विजातीय उपादान से भी कार्योत्पत्ति मानते हैं, तो फिर आपको गर्भ में होने वाले चैतन्य का उपादान–कारण भी गर्भ में बने हुए पौद्गलिक–शरीर (विजातीय तत्त्व) को ही मान लेना चाहिए। फिर ऐसा सिद्धांत क्यों प्रस्तुत करते हैं कि उत्तरक्षणवर्ती चेतना का उपादान–कारण पूर्वक्षणवर्ती चेतना ही है, अर्थात् पूर्वभव के चैतन्य के कारण उत्तर–क्षणवर्ती चैतन्य का जन्म हुआ है। तात्पर्य यह है कि विजातीय उपादान से भी यदि कार्योत्पत्ति हो जाती है, तो क्यों न आप गर्भ में ही पंचमहाभूतों के शरीर से ही चैतन्य की उत्पत्ति मान लेते हो ? क्योंकि आप बौद्ध–दार्शनिक तो चाहे किसी भी सजातीय और विजातीय तत्त्व को ही कारण मानते हैं। इसके विपरीत, यदि आप सजातीय को ही उपादान–कारण मानने का आग्रह रखते हैं, तो फिर धुएँ और शब्द आदि को भी अनादिकालीन किसी सजातीय कारण को ही 'संतान' सिद्ध करना पडेगा, जबकि पूर्वकालवर्ती 'संतान' तो किसी को भी दिखाई नहीं देती है। इसी प्रकार, यदि उनमें उपादान–उपादेय–भाव मानेंगे, तो भी संतानवाद सिद्ध नहीं होने के कारण स्मृति और प्रत्यभिज्ञा आदि की व्यवस्था भी परवादियों के मत में घटित नहीं होगी। दूसरे, परलोक में जाने वाले आत्मतत्त्व नामक किसी भी पदार्थ के संभावित न होने से परलोक एवं पुनर्जन्म का अभाव मानना पड़ेगा। इस प्रकार,, पुनर्जन्म का अभाव होने से स्मृति और प्रत्यभिज्ञा के अभाव की आपत्ति परवादियों के मत में उत्पन्न होगी।[145]

पुनः, जैनाचार्य कहते हैं कि कदाचित्–ज्ञान की क्षणपरंपरा को मानने के कारण आप किसी भी प्रकार से यदि, परलोक (पुनर्जन्म) है– ऐसा मानते हैं, तो फिर आपके सिद्धान्त में अकृतागम और कृतप्रणाश – ये दो प्रकार के दोष उत्पन्न होते हैं, जिनको आप कैसे दूर कर पाएंगे ? क्योंकि प्रथम क्षण में जो धार्मिक–अनुष्ठान हुआ, वह प्रथम ज्ञानक्षण तो

---

145 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 250

सर्वथा नष्ट होने वाला होने से उसके फल का उपभोग तो प्रथम ज्ञान को मिलने वाला नहीं है, अर्थात् प्रथम ज्ञानक्षण या चेतनाक्षण को उसकी धार्मिक–क्रिया का फल मिलता नहीं है, अतः, यह कृतप्रणाश हुआ तथा उत्तरज्ञानक्षण या चेतनाक्षण को प्रथम ज्ञानक्षण का फल मिलता है, अतः, यह अकृतागम हुआ, क्योंकि उत्तरज्ञान–क्षण ने तो कुछ भी धार्मिक–अनुष्ठान किया ही नहीं था, फिर भी उसको फल मिल रहा है। वस्तुस्थिति यह बनेगी कि प्रथम ज्ञानक्षण को कृतकर्म का फल नहीं मिलने के कारण कृतप्रणाश का दोष होगा तथा उत्तरक्षण को बिना कर्म किए फल मिलने के कारण अकृतागम का दोष उत्पन्न होगा।[146]

बौद्ध – इसके उत्तर में बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि हमारे क्षणिकवाद के सिद्धांत में आपने जो कृतप्रणाश और अकृतागम के दोष दिखाए हैं, वे दोनों दोष हमारे मत में लागू ही नहीं होते हैं। यह ठीक है कि हमारे मत में कर्त्ता चेतनाक्षण कोई होगा और भोक्ता चेतनाक्षण कोई अन्य, किन्तु हमने तो यह सिद्धांत प्रस्तुत ही नहीं किया है कि वे परस्पर भिन्न–भिन्न ही हैं। हम तो यह कहते हैं कि कर्त्ता और भोक्ता चेतनाक्षणों का नियामक–तत्त्व तो उनका कार्य–कारण–भाव है और कार्य कारण–भाव की अपेक्षा से परस्पर सम्बद्ध है। ज्ञानक्षण या चेतनाक्षण के अंदर रहा हुआ यह कार्य–कारण–भाव तो प्रवाहरूप से अनादिकालीन है। इसमें पूर्वक्षण अपना संस्कार उत्तरक्षण को दे जाता है। इसी को हम सन्तानवाद (सन्तान) कहते हैं और इसी सन्तानवाद से सारा व्यवहार चलता है। प्रथम क्षण में चित्त ने जो भी धार्मिक–क्रिया या व्यवहार किया है, उसका फल कार्यरूप में उसके ही उत्तरक्षण को प्राप्त होता है, किन्तु सन्तानान्तरवर्ती अन्य चित्तक्षण को उसका फल प्राप्त नहीं होता है, इसलिए यदि आत्मा को अनित्य (सर्वथा क्षणिक) भी माना जाए, तो भी कार्य–कारण–भाव ही नियामक (व्यवस्था करने वाला) होने के कारण अकृतागम या कृतप्रणाश–दोष नहीं आता है। पूर्वक्षण उत्तरक्षण से असंबंधित नहीं है। दोनों एक–दूसरे से संबंधित होने के कारण हमारा मत निर्दोष ही है।[147]

पुनः, बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि इसके विपरीत यदि आप जैन आत्मा को नित्य मानते हैं, तो नित्य अर्थात् अपरिवर्तनशील आत्मा में तो किसी भी प्रकार का विकार उत्पन्न ही नहीं हो सकता है, जबकि यह तो

---

146 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 250

147 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 251

स्पष्ट है कि सुख–दुःख, राग–द्वेष आदि विकार आत्मा में जन्म के साथ ही पाए जाते हैं, ऐसी स्थिति में विकारी आत्मा तो नित्य हो नहीं सकती। विकारी आत्मा को तो अनित्य ही मानना पड़ेगा, उदाहरणस्वरूप– चर्म अनित्य है। वह अनित्य चर्म वर्षा के समय में फैल जाता है और गर्मी (आतप) में सिकुड़ जाता है। सिकुड़ना और फैलना– ये दोनों परिवर्तन चमड़े की अनित्यता के कारण होते हैं। चमड़े को यदि नित्य मान लिया जाए, तो यह परिर्वतन कदापि संभव नहीं होगा। इसी प्रकार, अनित्य आत्मा में ही सुख–दुःख, राग–द्वेष आदि विभिन्न प्रकार की अवस्थाएं होती हैं। जिसमें विकार उत्पन्न हो, जिसमें परिवर्तन होता हो, उसे नित्य कैसे कहा जा सकता है ? नित्य आत्मा को तो पूर्णरूपेण निर्विकारी ही होना चाहिए। पूर्व जन्मों के कर्मों का फल सुख–दुःखरूप में मिले या न मिले, नित्य आत्मा को तो कोई फर्क नहीं पड़ने वाला है। न तो पुण्योदय के होने पर आत्मा सुख–दुःख का अनुभव करेगी और न पापोदय होने पर दुःख का अनुभव करेगी। दोनों अवस्थाओं में नित्य अविकारी आत्मा पर तो कोई भी प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। इस प्रकार, तो, कर्मफल को भी निष्फल हो जाना चाहिए।[148]

शास्त्रों में भी उल्लेख मिलता है– चाहे वर्षा हो, चाहे गर्मी, आकाश को तो कोई फर्क नहीं पड़ता है, क्योंकि आकाश नित्य है, किन्तु इसके विपरीत, चर्म आदि जो अनित्य वस्तुएँ हैं, उन पर वर्षा और गर्मी का प्रभाव होता है, क्योंकि चमड़ा अनित्य होने के कारण परिवर्तनशील भी है। फलतः, यदि आप आत्मा को चमड़े के समान परिवर्तनशील मानेंगे, तो आत्मा अनित्यता की कोटि में आएगी और यदि आकाश–पुष्प के समान अपरिवर्तनशील मानेंगे, तो आत्मा नित्यता की कोटि में आएगी, जिससे कर्म और कर्मफल निष्फल हो जाएंगे।[149]

बौद्ध जैनों से कहते हैं कि आत्मा को नित्य–द्रव्य मानने में कर्मों की निष्फलता और अनित्य–द्रव्य मानने में अकृतागम, कृतप्रणाश आदि दोष उत्पन्न होते हैं, इसलिए आप जैनों से निवेदन है कि 'आत्मा नामक एक तत्त्व है'– इस आग्रह का त्याग करें। 'आत्मा है'– इस मोह का त्याग होने पर मेरेपन का भी त्याग हो जाएगा। 'मैं भी नहीं' और 'मेरा भी कुछ नहीं'– ऐसी अहंकार और ममकार ग्रन्थि का नाश होने पर नैरात्म्य–दर्शन (आत्मा

---

148 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 251

149 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 251

जैसा कोई तत्त्व ही नहीं हैं– ऐसा दर्शन) ही मुक्ति का प्रवेश–द्वार सिद्ध होगा। अहंकार और ममकार की ग्रन्थि जब तक रहेगी आत्मा को निर्वाण की प्राप्ति संभव ही नहीं होगी, अतः, आप जैन आत्मद्रव्य को मानने का आग्रह छोड़ें तथा अहंकार और ममकार की ग्रन्थि को समाप्त कर निर्वाण–सुख को प्राप्त करें।[150]

जैन – इस पर, जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि आप क्षणिकवाद से बचने के लिए सन्तानवाद का सहारा लेते हैं, किन्तु आपका सन्तानवाद भी घटित नहीं होता है, क्योंकि संतान नाम का कोई तत्त्व ही नहीं है, जो कार्य–कारण–भाव की व्यवस्था कर सके। जिन चेतनाक्षणों को आप सतत प्रवाहशील कहते हैं, वे ज्ञानक्षण या चेतनाक्षण (चित्त–पर्यायें) तो एकान्तरूप से भिन्न–भिन्न हैं। यह कैसे मानें कि पूर्वक्षण की चित्त–पर्याय ने अपना संस्कार उत्तरक्षण की चित्त–पर्याय को दे दिया है। यह ठीक है कि चित्त–पर्याय एक जैसी नहीं होती है। बदलती हुई चित्त–पर्यायों को हम भी तो स्वीकार करते हैं, किन्तु उन बदलती हुई चित्त–पर्यायों के बीच भी कोई आत्मद्रव्य रहा हुआ है, जो उन सबको एक–दूसरे से अक्षुण्ण बनाए रखता है– ऐसा मानते हैं। कठिनाई यह है कि आप बौद्ध आत्मा को ही स्वीकार नहीं करते हैं, बिना आत्मतत्त्व को स्वीकार किए वह कौनसा तत्त्व है, जो इन चेतनाक्षणों को एक–दूसरे से जोड़कर रखता है, जिससे आपका सन्तानवाद भी सिद्ध हो सके। चेतनाक्षणरूपी भिन्न–भिन्न मोती के दानों को एक माला का रूप देने वाला आत्मतत्त्वरूपी धागा ही है, जो सब चित्तक्षण या चित्त–पर्यायरूपी मोतियों को एक सूत्र (धागे) में पिरोकर उन्हें कार्य–कारण–भावरूप से जोड़ने का कार्य करता है। अतः, दो चित्तक्षणों या चित्तपर्यायों के बीच कोई उपादान–कारणरूप तत्त्व है, जिसे हम आत्मतत्त्व कहते हैं, वही इन चित्तक्षणों या चित्तपर्यायों को परस्पर संबंधित करता है। आप बौद्ध पर्यायों (चित्तक्षणों) को तो स्वीकार करते हैं, किन्तु आत्मद्रव्य को स्वीकार नहीं करते हैं, जिससे आपका संततिवाद खंडित हो जाता है।[151]

पुनः, जैन बौद्धों से कहते हैं– आपने हम पर यह आरोप लगाया है कि सुख–दुःख आदि अवस्थाओं के कारण आत्मा में विकार (परिवर्तन) उत्पन्न होता है, तो आत्मा नित्य कैसे मानी जाएगी ? वह विकारी आत्मा

---

[150] रत्नाकरावतारिका भाग, III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 251, 252

[151] रत्नाकरावतारिका भाग, III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 252

तो चमड़े के समान अनित्य कहलाएगी। हम जैन तो आपके कथन का विरोध, मात्र आपके एकान्त–अनित्यता या क्षणिकता के आग्रह को लेकर करते हैं। आप बौद्धों को यह ज्ञात रहे कि जैन–दर्शन एकान्तवाद का विरोधी है तथा अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) का पक्षधर है। अनेकान्तवाद के सहारे से 'कथंचित्–नित्यता' और 'कथंचित्–अनित्यता' को स्वीकार करते हैं। हम यह नहीं कहते कि आत्मा एकान्त–अनित्य है। हम तो यह कहते हैं कि आत्मा कथंचित्–नित्य भी है और कथंचित्–अनित्य भी।[152]

दूसरे, आप बौद्धों ने हम पर यह भी आरोप लगाया कि यदि आप आत्मा के नित्यत्व को स्वीकार करेंगे, तो अहंकार और ममकार, अर्थात् 'मैं' और 'मेरेपन' के आग्रह से मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी, किन्तु हमारे पर लगाया गया आपका यह दोष भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि जिन्होंने सांसारिक–भोगों का इस रूप में अनुभव कर लिया है कि ये भोग प्रारंभ में तो मनोहर लगते हैं, किन्तु अन्त में अत्यन्त दुःखदायी होते हैं, साथ ही जिन्होंने आत्यन्तिक शाश्वत सुखरूपी मोक्ष के स्वरूप को जान लिया है, उन महापुरुष के समक्ष यदि किंपाक–फल के रस से बनी हुई खीर भी आ जाए, तो वे यह जानते हैं कि यह खाने में स्वादिष्ट, लेकिन परिणाम में मत्यु देने वाली है, ऐसी विषयुक्त खीर के प्रति जैसे उन्हें ममत्व नहीं होता है, वैसे ही स्वयं की देह के प्रति भी ममत्व नहीं होता है, तो फिर उन्हें 'मैं' और 'मेरा' की ग्रन्थि कैसे उत्पन्न होगी ? वे तो मात्र मोक्ष के वास्तविक स्वरूप को जानने वाले एवं उसके हेतु सदाचरण करने वाले होते हैं।[153]

अतः, यदि आप बौद्ध आत्मतत्त्व को कथंचित्–नित्य और कथंचित्–अनित्य मान लें, तो फिर आपकी मान्यता में भी किसी प्रकार का कोई भी दोष उत्पन्न नहीं होगा। 'मैं और मेरा' ही मुक्ति में बाधक बनता है– ऐसा कहकर आत्मा को अनित्य ही मानना चाहिए, जिससे 'नैरात्म्य–दर्शन' ही मुक्ति का प्रवेश–द्वार बन सके इत्यादि आपके कथन आग्रहपूर्ण हैं, इन्हें आपको छोड़ना होगा, अन्यथा सन्ततिवाद भी निर्दोष नहीं रह पाएगा, वह खण्डित हो जाएगा।[154]

---

[152] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 252, 253

[153] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 252, 253

[154] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 253

अन्त में, जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों से कहते हैं कि आप बौद्धों द्वारा मान्य नैरात्म्य–दर्शन में चैतन्य (आत्म) तत्त्व जैसा कोई स्थायी (नित्य) तत्त्व तो है नहीं, जिसके कारण से परलोक में सुखी बनने के लिए कोई पुरुषार्थ किया जा सके। तात्पर्य यह है कि आपके दर्शन में मात्र ज्ञानक्षण (चित्त–पर्याय या चित्तक्षणों की धारा) ही है, नित्य (ध्रुव) आत्मतत्त्व नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है, जो उन चित्तक्षणों को एक–दूसरे से जोड़कर रख सके। क्या मात्र एक समय रहने वाला क्षण–जीवी प्रथम ज्ञानक्षण या चित्तक्षण उत्तरोत्तर होने वाले ज्ञानक्षण को सुखी बनाने के लिए कोई प्रयत्न करेगा ? अर्थात् कदापि नहीं करेगा, जबकि देखा यह जाता है कि यदि कोई नित्य देवदत्त दुःखी होगा, तो स्वयं के दुःख को दूर करने के लिए तथा सुख की प्राप्ति के लिए स्वयं ही पुरुषार्थ करेगा, किन्तु वह किसी अन्य यज्ञदत्त के दुःख को दूर करने का एवं उसको सुखी बनाने का कोई प्रयत्न करे। इस प्रकार, से, कोई भी एक चित्तक्षण उत्तरोत्तर होने वाले चित्तक्षणों के सुख के लिए तथा उनके दुःखों का नाश करने के लिए प्रयत्न करे– यह कथन उचित नहीं लगता है। प्रथम चेतनाक्षण का जो भी सुख या दुःख है, वह तो प्रथम चेतनाक्षण के नष्ट होने के साथ ही नष्ट हो जाता है। प्रथम क्षण और उसका सुख–दुःख– ये दोनों ही क्षणमात्रवर्ती होने से दूसरे क्षण में तो नष्ट होने वाला ही है, तो उस दुःख को नष्ट करने के लिए और सुख को प्राप्त करने के लिए किसी अतिरिक्त प्रयत्न की तो कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती है।[155]

जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि आगे कहते हैं– इस प्रकार, से आप बौद्ध इन दोषों को दूर करने के लिए बार–बार जो 'संतान' का प्रयोग करते हैं, तो आपका यह संतान भी कोई वास्तविक पदार्थ तो नहीं है, जिसका कथन हम पूर्व में कर चुके हैं। दूसरे, यदि कदाचित् आप संतान को वास्तविक पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं, तो इसका तात्पर्य तो यही होगा कि अन्ततः तो आपने हमारे परिणामी–नित्य–चैतन्य तत्त्व आत्मतत्त्व को ही स्वीकार कर लिया है, अतः, अन्त में जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि इस प्रकार, से बौद्धों के अनात्मवाद और चार्वाक के अनित्य–आत्मवाद का खंडन हो जाता है तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का 'प्रमाता' नित्य आत्मतत्त्व है– इसकी सिद्धि हो जाती है।[156]

---

[155] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 254

[156] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 254

उपसंहार –

इस प्रकार,, हम देखते हैं कि बौद्ध–अनात्मवाद तार्किक–दृष्टि से समीचीन है, किन्तु बौद्ध–अनात्मवाद का अर्थ आत्मा नहीं है– यह मानना उचित नहीं है। भगवान बुद्ध ने 'कूटस्थनित्य आत्मा' का या अपरिणामी (अपरिवर्तनशील) आत्मा का निषेध किया था। वे परिणामी या तरल आत्मा को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार, आत्मा सतत परिवर्तनशील है। जिन्हें जैन–दर्शन आत्मपर्याय कहता है, वही बौद्ध–दर्शन की चित्तसन्तति है। जैन–दर्शन के समान बौद्ध–दर्शन भी यह तो मानता है कि पर्याय से पृथक् द्रव्य की सत्ता नहीं है, उसी को आधार बनाकर बौद्ध–दर्शन यह कहता है कि चित्त–पर्यायों अर्थात् चैत्तसिक–अवस्थाओं से भिन्न आत्मा नामक कोई तत्त्व नहीं है। उनके दर्शन में परिवर्तनशील चित्त–धारा से पृथक् कोई आत्मा नहीं है। यहाँ हम यह देखते हैं कि बौद्ध–दार्शनिकों की 'आत्मा' की अवधारणा को जैन–दार्शनिकों ने उसके मूल अर्थ में ग्रहण न कर आत्मोच्छेदवाद या अनात्मवाद के रूप में ग्रहण किया, जो उचित नहीं था। जैन और बौद्ध–दर्शन में मात्र अन्तर यह है कि बौद्धों ने जिसे चित्त–धारा कहा, उसे जैनों ने आत्मपर्याय माना। जैन–दर्शन आत्मा को नित्यानित्य मानता है, जबकि बौद्ध दर्शन उसे सतत परिवर्तनशील मानकर अनित्य मानता है, यही दोनों का अंतर है। रत्नप्रभसूरि ने उसे आत्म–निषेध के अर्थ में जो ग्रहण किया, वह उचित नहीं है।

अध्याय – 5

शब्दार्थ–सम्बन्ध में बौद्ध एवं अन्य दार्शनिकों के मतों की समीक्षा

शब्दार्थ–सम्बन्ध को लेकर विभिन्न पक्ष

रत्नाकरावतारिका में सर्वप्रथम आदिवाक्य के प्रयोजन में निहित शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को लेकर बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर यह शंका प्रस्तुत करते हैं कि 1. शब्द और अर्थ में कोई संबंध ही नहीं हो सकता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि 2. मीमांसक शब्द और अर्थ में तादात्म्य–संबंध मानते हैं। 3. नैयायिक शब्द और अर्थ में तदुत्पत्ति–संबंध मानते हैं और 4. जैन शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचक–संबंध मानते हैं, किन्तु बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर शब्द और अर्थ में कोई संबंध ही नहीं मानते हैं और अपने मत की पुष्टि हेतु वे शब्द और अर्थ में उपर्युक्त तीनों प्रकार के संबंध का खण्डन करते हैं।[157]

टीकाकार आचार्य रत्नप्रभसूरि के अनुसार, आदिवाक्य का मुख्य उद्देश्य तो ग्रन्थ–लेखन का प्रयोजन बताना है और इस प्रयोजन की सिद्धि शब्द और अर्थ के संबंध पर ही आधारित है।

शब्दार्थ–सम्बन्ध के विषय में बौद्ध–पूर्वपक्ष –

यौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर द्वारा शब्दार्थ–संबंध पर कुछ शंकाएँ प्रस्तुत की गई हैं, अतः, रत्नाकरावतारिका के प्रारंभ में शब्दार्थ–संबंध पर विचार किया गया है।

बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर द्वारा सर्वप्रथम यह प्रश्न उठाया गया है कि शब्द और अर्थ एक–दूसरे से परस्पर संबद्ध है या असंबद्ध ? यदि शब्द और अर्थ एक–दूसरे से असंबद्ध हैं– ऐसा मानते हैं, तो यह मत उचित

---

157 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 16

नहीं है, क्योंकि यदि शब्द और अर्थ एक–दूसरे से असंबद्ध हैं– ऐसा मानेंगे, तो फिर उनमें वाच्य–वाचकभाव भी सिद्ध नहीं होगा और शब्द एवं अर्थ में वाच्य–वाचकभाव को नहीं मानने पर ग्रन्थ–लेखन का प्रयत्न भी निरर्थक होगा। यदि शब्द और अर्थ परस्पर सम्बद्ध या संबंधित हैं– ऐसा मानते हैं, तो फिर उनमें कौनसा संबंध है ? क्या तादात्म्य–संबंध है ? या तदुत्पत्ति–संबंध है ? या वाच्य–वाचक–संबंध है ?[158]

शब्दार्थ–सम्बन्ध को लेकर रत्नाकरावतारिका में चार प्रकार की मान्यताएँ उल्लेखित हैं–

1. तादात्म्य–सम्बन्ध
2. तदुत्पत्ति–सम्बन्ध
3. वाच्य–वाचक–सम्बन्ध
4. कोई सम्बन्ध नहीं या अन्यथापोह

मीमांसक के तादात्म्य–सम्बन्ध की समीक्षा

सर्वप्रथम मीमांसक शब्द और अर्थ में तादात्म्य–संबंध स्वीकार करते हैं। उनका मत है कि शब्द और अर्थ एक–दूसरे से अभिन्न है। जो शब्द है, वही अर्थ है तथा जो अर्थ है, वही शब्द है। दोनों में अभिन्नता है, अर्थात् शब्द और अर्थ में किसी प्रकार का भेद नहीं है।[159]

आचार्य रत्नप्रभसूरि द्वारा तादात्म्य–संबंध की आलोचना

इसका खण्डन करते हुए आचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि यदि दोनों में तादात्म्य या अभेद है, तो दोनों अलग–अलग नहीं होंगे। सम्बन्ध दो भिन्न वस्तुओं में होता है, अतः, ऐसी स्थिति में उनमें कोई सम्बन्ध ही नहीं होगा। दूसरे, यदि दोनों अभिन्न हैं, तो ऐसी स्थिति में कोई भी शब्द अपने निश्चित वाच्यार्थ का बोध नहीं करा सकेगा। यदि हम भिन्न–भिन्न वस्तुओं के लिए भिन्न–भिन्न शब्दों का उच्चारण करते हैं, जैसे – घट, पट, गज, अश्व आदि, तो इन शब्दों से भिन्न–भिन्न अर्थों की प्रतीति नहीं होगी। इस प्रकार,, सभी शब्द भिन्न–भिन्न अर्थों के वाचक न होकर एक ही अर्थ, अर्थात् वस्तु के वाचक होंगे और शब्द मात्र ध्वनिरूप ही होंगे।

---

158 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 16

159 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 17

इससे ध्वन्यात्मकता का दोष उत्पन्न होगा। जैसे ढोल, तबला, वीणा, सितार, मृदंग आदि से उत्पन्न ध्वनि से एक जैसी संगीत की स्वर–लहरी निकलती है, वैसे ही अनेक शब्दों के उच्चारण से तीनों लोक में एक जैसी ही ध्वनि होगी। ढोल, तबला, सितार, वीणा, मृदंग आदि की भिन्न–भिन्न ध्वनियाँ मिलकर भी भिन्न–भिन्न वाच्यार्थ का बोध नहीं करा सकती हैं, सभी ध्वनियों का अर्थ एक जैसा निकलेगा। इस प्रकार,, यदि शब्द और अर्थ में अभेद है, या किसी प्रकार का भेद नहीं है, तो यह मत उचित नहीं है।[160]

पुनः आचार्य रत्नप्रभसूरि मीमांसकों से यह प्रश्न करते हैं कि यदि आप शब्द और अर्थ में अभेद मानेंगे, अर्थात् शब्द को ही अर्थरूप मानेंगे, या अर्थ को ही शब्दरूप मानेंगे, तो अश्व कहते ही दौड़ने की अनुभूति होना चाहिए, नदी कहते ही पानी बहना चाहिए, मोदक कहते ही स्वाद की अनुभूति होना चाहिए। इसी प्रकार, भूतकालीन वर्द्धमान और भविष्यकालीन पद्मनाभ– इन दोनों के शब्दोच्चारण से ही इन दोनों की उपलब्धि हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा असंभव है। यदि हमने वर्द्धमान का नामोच्चारण किया है, या पद्मनाभ का नामोच्चारण किया है, तो दोनों के वाच्यार्थ भिन्न–भिन्न हैं, ऐसा बोध नहीं होगा। शब्दों के वाच्यार्थ के भेद के अभाव में मात्र भिन्न–भिन्न नामोच्चारण भी असंगत होगा। यदि 'सीसम' शब्द उसके वाच्यार्थ, अर्थात् सीसम के वृक्ष के स्वगुणों के बिना भी रह सकता हो, तो क्या वह वृक्ष–विशेष कहा जा सकेगा ? अर्थात् नहीं। सीसम– इस शब्द का होना तभी सार्थक है, जब वह अपने अर्थ, अर्थात् सीसम वृक्ष का बोध कराता हो। यदि शब्द और अर्थ में कोई भेद नहीं है, तो फिर सीसम शब्द के उच्चारण से सीसम– वृक्ष की उपलब्धि हो जाना चाहिए।[161]

आचार्य रत्नप्रभसूरि तादात्म्य–संबंध को लेकर पुनः यह आपत्ति करते हैं कि शब्द और अर्थ में तादात्म्य–संबंध प्रत्यक्ष–प्रमाण से भी सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है, जबकि घट, पट, कलश, कुंभ आदि पृथ्वीतल के ऊपर रहने वाले पदार्थ चक्षुइन्द्रिय या स्पर्शनेन्द्रिय के विषय हैं, अतः, ये पदार्थ श्रोत्रेन्द्रिय के विषय नहीं बन सकते हैं। शब्दोच्चारण पदार्थ की उपलब्धि नहीं होती है। दृश्य पदार्थ

---

[160] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 17

[161] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 17

चक्षुइन्द्रिय के विषय होते हैं, श्रोत्रेन्द्रिय के नहीं। इस प्रकार,, आपका यह तादात्म्य–संबंध युक्तिसंगत नहीं है।[162]

नैयायिकों का तदुत्पत्ति–संबंध –

नैयायिकों के मत में तदुत्पत्ति–संबंध का अभिप्राय शब्द से अर्थ की उत्पत्ति होती है। उनके मत में बिना शब्द के अर्थ की उत्पत्ति नहीं होती।[163]

इस पर, बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर के माध्यम से रत्नप्रभसूरि नैयायिकों से यह प्रश्न करते हैं– क्या आपके मत में तदुत्पत्ति–संबंध का अभिप्राय, शब्द से अर्थ की उत्पत्ति होती है– ऐसा है, या अर्थ से शब्द की उत्पत्ति होती है– ऐसा है ?[164]

बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर द्वारा तदुत्पत्ति–संबंध पर उठाई गई शंकाओं का प्रस्तुतिकरण रत्नाकरावतारिका के टीकाकार आचार्य रत्नप्रभसूरि स्वयं इसी कृति में करते हैं। वे लिखते हैं कि यदि शब्द से अर्थ की उत्पत्ति होती हो, तो घट, पट, कलश, कुंभ आदि शब्दों के उच्चारण करने के साथ ही इन पदार्थों की उत्पत्ति हो जाना चाहिए। यदि ऐसा होता, तो फिर घट, पट, कलश, कुंभ आदि पदार्थों के कर्त्ता को सभी सामग्री एकत्रित करके इनको बनाने की आवश्यकता ही क्यों होती ? फिर तो, रत्नाकरावतारिका नामक इस ग्रन्थ के लेखन के लिए लेखक को भी कोई प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं थी। आदिवाक्य के उच्चारण मात्र से ही इस ग्रन्थ–लेखन का कार्य पूर्ण हो जाना चाहिए था। फिर तो, इस ग्रन्थ के लेखन हेतु पुरुषार्थ ही क्यों किया जाता ? अतः,, अर्थ से शब्द की उत्पत्ति मानना भी उचित नहीं हैं, क्योंकि यह तो सर्वानुभव से सिद्ध है कि शब्द की उत्पत्ति होठ, जीभ, दांत आदि से होती है और पदार्थों की उत्पत्ति उनके अपने–अपने कारणों से होती है।[165]

पुनः, पदार्थ से भी शब्द की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। चूंकि पदार्थों की उत्पत्ति के हेतु और शब्दों की उत्पत्ति के हेतु भिन्न–भिन्न हैं, अतः, शब्द से अर्थ की या अर्थ से शब्द की उत्पत्ति मानने वाला

---

[162] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 17

[163] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 18

[164] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 18

[165] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 18

तदुत्पत्ति–सिद्धान्त भी युक्तियुक्त नहीं है। शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचकभाव मानना ही उपयुक्त है।[166]

जैनों का वाच्य–वाचक–संबंध –

रत्नप्रभसूरि रत्नाकरावतारिका में जैन–दर्शन के मान्य शब्द और अर्थ के वाच्य–वाचक–संबंध को लेकर सर्वप्रथम पूर्वपक्ष के रूप में इस सिद्धांत के संबंध में बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर की आपत्तियों को प्रस्तुत करते हैं। धर्मोत्तर का कथन है कि शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचक–संबंध भी उचित नहीं है। इस संबंध में धर्मोत्तर की प्रथम आपत्ति यह है कि यदि शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचक–संबंध मानते हैं, तो यह बताओ कि शब्द और अर्थ से उनका वाच्य–वाचक–संबंध अभिन्न है या भिन्न ?[167]

पहला विकल्प यदि शब्द और अर्थ से उनका वाच्य–वाचक–संबंध अभिन्न है, अर्थात् स्वाभाविक है– ऐसा मानें, तो फिर शब्द और अर्थ से उनका वाच्य–वाचक–संबंध भी भिन्न नहीं होगा। इस प्रकार,, यदि शब्द और अर्थ और उनका वाच्य–वाचक–संबंध परस्पर अभिन्न है, तो फिर उनमें कोई संबंध भी नहीं होगा। चूंकि संबंध तो दो भिन्न वस्तुओं में ही होता है, अभिन्न वस्तुओं में कोई संबंध होता ही नहीं है, अतः, इस आधार पर शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचक–संबंध सिद्ध नहीं होगा।[168]

अब यदि दूसरा विकल्प यह मानें कि शब्द और अर्थ से उनका वाच्य–वाचक–संबंध भिन्न है, तो ऐसा मानने पर यह प्रश्न उठता है कि वे एकान्त–भिन्न हैं या कथंचित्–भिन्न ?[169]

शब्द और अर्थ से उनका वाच्य–वाचक–संबंध एकान्त–भिन्न है– ऐसा मानते हैं, तो फिर यह प्रश्न उठता है कि वह वाच्य–वाचक–संबंध नित्य है या अनित्य, या नित्यानित्य ? ऐसे इन तीन विकल्पों में से कोई एक विकल्प मानना होगा।[170]

---

[166] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 18

[167] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 19

[168] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 19

[169] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 19

[170] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 19

पहला विकल्प शब्द और अर्थ के मध्य रहा हुआ वाच्य–वाचक–संबंध एकान्त–नित्य है– ऐसा मानें, तो शब्द और अर्थ को भी नित्य मानना पड़ेगा। यदि उन्हें नित्य मानेंगे, तो किसी भी शब्द का त्रिकाल में एक ही निश्चित अर्थ होगा, जबकि एक अर्थ के भी कई अर्थ होते हैं, साथ ही शब्द और अर्थ में नित्य–संबंध मानने पर किसी शब्द के अर्थ में कभी भी कोई परिवर्तन भी संभव नहीं होगा, जबकि कालक्रम में शब्द के अर्थ में परिवर्तन भी देखा जाता है, जैसे– बुद्ध शब्द का अर्थ पहले ज्ञानी था, बाद में वह अपने अपभ्रंश रूप में बुद्ध अर्थात् अज्ञानी हो गया।[171]

पुनः, यदि उस संबंध को एकांत–अनित्य मानेंगे, तो उनकी क्षणिकता का दोष आ जाएगा। प्रत्येक शब्द का अर्थ प्रतिसमय नष्ट हो जाएगा, अर्थात् शब्द का अर्थ प्रतिसमय बदलता जाएगा, फलतः न तो कोई वाच्य–अर्थ स्थिर रहेगा और न कोई वाचक शब्द ही।[172]

शब्द एवं अर्थ से नित्यानित्य रूप में संबद्ध होकर रहने वाले वाच्य–वाचक–संबंध को भी नित्य मानेंगे, तो उसे उनका स्वभाव मानना पड़ेगा, किन्तु यह भी उचित नहीं है, ऐसा पूर्व में बताया जा चुका है। इसी प्रकार, शब्द और अर्थ से एकान्त–भिन्न वाच्य–वाचक–संबंध को नित्य नहीं कह सकते हैं। यदि उसे अनित्य कहें, तो समस्त शब्दों और अर्थों में वाच्य–वाचक–संबंध या तो एक जैसा ही होगा, या प्रत्येक शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचक–संबंध भिन्न–भिन्न होगा।[173]

यदि यह मानें कि एक ही संबंध अनेक शब्दों तथा अर्थों (वस्तुओं) से सम्बद्ध होता है, तो फिर एक ही शब्द से समस्त पदार्थों के बोध होने का प्रसंग उपस्थित होगा। शब्द और अर्थ से उनका वाच्य–वाचक–संबंध एकाकार होकर रहता है, ऐसा मानें, तो किसी एक शब्द का संबंध सभी पदार्थों के साथ मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में घट शब्द से मात्र घट पदार्थ का ही बोध नहीं होगा, परन्तु संसार के समस्त पदार्थों का बोध होगा। यह भी अनुभव से बाधित होने के कारण, समस्त शब्दों और अर्थों में एक ही वाच्य–वाचक–संबंध है– ऐसा भी नहीं कह सकते। यदि प्रत्येक

[171] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 19

[172] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 19

[173] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 19

शब्द और अर्थ में उनका वाच्य–वाचक–संबंध भिन्न–भिन्न है– ऐसा कहें, तो यह प्रश्न उठता है कि वह शब्द और अर्थ का वह संबंध प्रत्येक वाच्य वस्तु और वाचक शब्द के साथ सम्बद्ध होकर रहता है, या असम्बद्ध होकर? यदि वह असम्बद्ध होकर रहता है, तो फिर घट शब्द से पट की और पट शब्द से घट की प्रतीति होना चाहिए, क्योंकि घट और पट– इन दोनों अर्थों (पदार्थों) में वाच्य–वाचकभावरूप संबंध की असम्बद्धता समान ही है। यदि सम्बद्ध कहा, तो फिर वे तादात्म्य–रूप से सम्बद्ध हैं, या तदुत्पत्ति रूप से ? यह बताना होगा। यदि यह मानते हैं कि वे तादात्म्य रूप से सम्बद्ध हैं तो यह मानना उचित नहीं होगा, क्योंकि जहाँ तादात्म्य होता है, वहाँ अभेद होता है तथा अभेद में कोई संबंध हो ही नहीं सकता है। इसके विपरीत, यह मानें कि शब्द और अर्थ से उनका वाच्य–वाचक–संबंध भिन्न होकर संबद्ध है, किन्तु यदि यह पक्ष स्वीकार करते हैं, तो उनमें तादात्म्य–संबंध नहीं होगा, क्योंकि तादात्म्य–संबंध में तो शब्द और अर्थ में और उनके वाच्य–वाचक–संबंध में अभेद होता है।[174]

पुनः, उनमें तदुत्पत्ति–संबंध भी नहीं होगा, क्योंकि शब्द और अर्थ के बीच तदुत्पत्ति–संबंध मानने पर पुनः इन चार विकल्पों में से कोई एक मानना होगा–

1. शब्द और अर्थ के मध्य उनके वाच्य–वाचक–संबंध की उत्पत्ति उनके वाच्य–अर्थ की उत्पत्ति के समय होती है ?

2. शब्द और अर्थ के मध्य वाच्य–वाचक–सम्बन्ध की उत्पत्ति उनके वाचक शब्द की उत्पत्ति के समय होती है ?

3. शब्द और अर्थ के मध्य वाच्य–वाचक–सम्बन्ध की उत्पत्ति, शब्द एवं अर्थ की उत्पत्ति– ये तीनों ही उत्पत्ति एक साथ एक समय में ही होती हैं?

अथवा

4. एक की उत्पत्ति होने के पश्चात् दूसरे की उत्पत्ति होती है, अर्थात् अर्थ के बाद शब्द की या शब्द के बाद अर्थ की, उसके बाद उनके सम्बन्ध की उत्पत्ति क्रमपूर्वक होती है ?[175]

---

[174] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 19

[175] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 19, 20

इसमें प्रारंभ के दोनों पक्ष तो दूषित ही हैं, क्योंकि शब्द और अर्थ का संबंध वाच्य–वाचकभाव के आधार पर रहा हुआ होने के कारण इन दोनों स्थितियों में से, अर्थात् शब्द अथवा अर्थ किसी के भी नहीं होने पर वाच्य और वाचक–संबंध की उत्पत्ति भी संभव नहीं हो सकती है, अर्थात् शब्द और अर्थ के अभाव में वाच्य–वाचक–संबंध नहीं हो सकता है।

यदि तीसरा पक्ष यह मानें कि शब्द और अर्थ तथा उनका वाच्य–वाचक–संबंध एक ही साथ उत्पन्न होते हैं, तो फिर शब्द और अर्थ–दोनों ही उनसे भिन्न किसी अन्य कारण से उत्पन्न होते हैं– ऐसा मानना होगा ? या फिर वाच्य–वाचकभाव को, किसी अन्य कारण से उत्पन्न होता है–, ऐसा मानना होगा।[176]

पहला विकल्प मानें, तो शब्द–संकेत को नहीं जानने वाले नारियल द्वीप में रहने वाले पुरुष को शब्दोच्चारण होने के साथ ही पदार्थ का ज्ञान हो जाना चाहिए। चूंकि इस पक्ष में वाच्य और वाचकभाव तथा शब्द और अर्थ उनके संबंध की उत्पत्ति के पूर्व कारणरूप में मौजूद हैं, इसलिए जब शब्द सुना जाता है, तब संकेत के बिना भी अर्थ का ज्ञान हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता है, अतः, तीसरा विकल्प उचित नहीं है।

चौथा पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि अनुक्रम से उत्पन्न होने वाले पदार्थ (अर्थ) और शब्द उस संबंध की उत्पत्ति के पूर्व अवाच्य और अवाचक ही रहेंगे, अर्थात् जब अर्थ की उत्पत्ति होगी, तब शब्द के साथ–साथ उसके वाच्य–वाचक–संबंध का भी अभाव होगा, अतः, तब तक वह अर्थ अवाच्य रहेगा और जब शब्द की उत्पत्ति होगी, तब अर्थ के साथ उसके संबंध का अभाव होगा, वह अवाचक रहेगा।[177]

यहाँ, शब्द और अर्थ में तदुत्पत्ति–सम्बन्ध की समीक्षा करते हुए पूर्वपक्ष के रूप में बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर द्वारा पुनः यह प्रश्न उठाया गया है कि शब्द और अर्थ के मध्य वाच्य–वाचकभावरूप संबंध की उत्पत्ति शब्द के वाच्य अर्थात् अर्थ (पदार्थ) से उत्पन्न होती है, या वाचक शब्द से उत्पन्न होती है ? या वाच्य–वाचकभावरूप संबंध (पदार्थ) अर्थ और शब्द–दोनों से उत्पन्न होता है ? इसके उत्तर में रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि शब्द और अर्थ का वाच्य–वाचक–संबंध भी संकेतरूप वाच्य–वाचकभाव के

---

176 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 20

177 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 20

उत्पन्न हुए बिना अर्थ का प्रतिपादक तो बनता ही नहीं है, क्योंकि जब संकेत हो, तभी शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचकभाव–संबंध अर्थ का प्रतिपादक बनता है, जैसे – किसी बच्चे को संकेत के माध्यम से यह बताया जाता है कि यह गाय है, गाय श्वेत होती है, दूध देती है, चार पैर वाली होती है, उसके दो सींग एवं सास्ना होती है आदि। वह बच्चा दूसरों के द्वारा बताए गए इन संकेतों से गाय शब्द से गाय वस्तु को पहचानने लगता है। वह शब्द को सुनता है तथा उसी के साथ अर्थ को भी देखता है और उन शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को समझने लगता है। इस प्रकार,, संकेत के माध्यम से शब्द और अर्थ के वाच्य–वाचक–संबंध को बताया जाता है या अभिव्यक्त किया जाता है, तभी शब्द अर्थ का प्रतिपादक बनता है।[178]

इस प्रकार,, उत्तर–पक्ष के रूप में जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर के प्रश्न का समाधान करते हैं कि शब्द और अर्थ में संकेत–संबंध से भिन्न कोई अभिव्यंज्य (वाच्य)–अभिव्यंजक (वाचक) भाव नहीं है, इसलिए संकेत से वाच्य–वाचकभाव की अभिव्यक्ति मानने के साथ ही संकेत से ही उनके वाच्य–वाचक–संबंध की उत्पत्ति भी मानना पड़ेगी। इस प्रकार,, संकेत से वाच्य–वाचकभाव की अभिव्यक्ति मानने पर, वाच्य–वाचकभाव से भिन्न संकेत से ही शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचक–संबंध की उत्पत्ति हुई– ऐसा मानना होगा और इस प्रकार, मानने पर तो तीसरे विकल्प का जो उत्तर है, वही बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर के पूर्वपक्ष का उत्तर भी हो जाएगा।[179]

संकेत से वाच्य–वाचकभाव को मानने वाले जैन–आचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर से कहते हैं कि मात्र संकेत से ही वाच्य–वाचकभावरूप संबंध उत्पन्न होता है– ऐसा एकान्त मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि यही वाच्य–वाचकभाव शब्द और धर्म के संबंधरूप धर्म का आधार है, इसलिए वाच्य–वाचकसंबंधरूप आधार से भिन्न ऐसे संकेतमात्र से वाच्य–वाचकभावरूप संबंध की उत्पत्ति घटित नहीं होती है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार, शब्द और अर्थ से वाच्य–वाचक–संबंध की

---

[178] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 20

[179] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 20

उत्पत्ति मानने पर तो तदुत्पत्ति–संबंध मानना होगा, जबकि ऐसा भी नहीं मान सकते हैं।[180]

संकेत के सहकार से वाच्य–वाचकभाव वाच्य–वाचक संबंध को उत्पन्न करता है– ऐसे अर्थ वाले यदि तीसरे विकल्प को स्वीकार करते हैं, तो आचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर से यह प्रश्न करते हैं कि यह संकेत प्रसिद्ध वस्तु में होता है, या अप्रसिद्ध वस्तु में ? अप्रसिद्ध वस्तु में संकेत मानें, तो अतिप्रसंग–दोष आ जाने से संकेत होगा नहीं, अर्थात् देश और काल से व्यवहित (बाधित) ऐसे अप्रसिद्ध पदार्थ में भी संकेत का प्रसंग आता हो– ऐसा मानना भी उचित नहीं है।[181]

प्रसिद्ध वस्तु में भी संकेत हो नहीं सकता, क्योंकि आपके मत में सभी पदार्थों के क्षणिक होने से उत्पत्तिकाल में ही प्रचंड वायु के चलने से जिस प्रकार बादल बिखर जाते हैं, या नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार सभी पदार्थ नष्ट हो जाते हैं, तो फिर संकेत किसमें करेंगे ?[182]

इसके प्रत्युत्तर में बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर कहते हैं कि संकेत से जिस वस्तु का ज्ञान हुआ है, वह चाहे नष्ट हो जाए, अर्थात् वर्त्तमान के अनुभव एवं संकेत की वस्तु नष्ट हो जाए, किन्तु उस वस्तु के समान ही उस वस्तु की जातीय एवं सन्तति–परंपरा तो विद्यमान रहती है। जिस प्रकार संकेत के माध्यम से हमने किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त किया और कुछ समय पश्चात् वह वस्तु नष्ट हो गई, किन्तु उसके सदृश अन्य वस्तुओं के होने से उसकी जाति तो विद्यमान रहती है, अतः, किसी शब्द के संकेत का विषय जातिरूप से भविष्य में भी रहेगा ही।[183]

बौद्ध–दार्शनिकों के इस कथन की समीक्षा करते हुए आचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि आपका यह कथन भी आपकी दार्शनिक–मान्यता के अनुसार उचित नहीं है, कारण कि किसी वस्तु के विद्यमान रहते हुए यदि उस वस्तु के वाचक शब्द का ज्ञान न हो, तो उसको जाति के सम्बन्ध में भी शब्द–संकेत का विषय नहीं बनाया जा सकता। आपकी पूर्वोक्त मान्यता में तो अतिप्रसंग–दोष है। फलतः, देश और काल से परे

---

[180] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 20

[181] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 21

[182] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 22

[183] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 22

किसी अज्ञात वस्तु में भी शब्द–संकेत की संभावना स्वीकार करना पड़ेगी, क्योंकि बौद्धदर्शन के अनुसार प्रथम क्षण में जिस वस्तु की प्रतीति हुई, वह वस्तु तो उसी क्षण नष्ट हो गई, तो फिर उस नष्ट हुई वस्तु में संकेत कैसे होगा ?[184]

इसी प्रकार, यही बात गाय आदि के वाचक शब्दों के विषय में भी समझना चाहिए। वे गाय आदि के वाचक शब्द, चाहे उनका वाच्यार्थ प्रतीति का विषय हो, या प्रतीति का विषय न हो, किन्तु उस वाचक शब्द का संकेत प्रतीति की उस वाच्य–वस्तु में मानने पर भी पूर्वोक्त क्षणिकता के दोषरूप आपत्ति तो आएगी ही, कारण यह है कि बौद्धदर्शन के अनुसार, वाच्य–अर्थ के समान वाचक शब्द भी क्षणिक हैं। क्षणिक शब्द एवं क्षणिक अर्थ (वस्तु) में संकेत संभव नहीं होने से संकेत का ही अभाव होगा। संकेत के अभाव में वाच्य–वाचकभाव की उत्पत्ति किस प्रकार से होगी ?[185]

शब्द और अर्थ– दोनों में जब तक संकेत–क्रिया न हो, तब तक शब्द और अर्थ– दोनों बने रहते हैं और उसके पश्चात् ही संकेत के सहकार से शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचकभाव उत्पन्न होता है– ऐसा मान लेने पर भी शब्द और अर्थ के नष्ट होने के साथ ही वाच्य–वाचकभाव भी नष्ट हो जाता है, इतना तो मानना ही होगा।[186]

इसके प्रत्युत्तर में बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर कहते हैं कि इस प्रकार, तो व्यवहार–काल में शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचकभावरूप संबंध का अभाव होने पर भी उसे अन्य अर्थ में संकेत करने का कार्य तो करना ही होता है, इतना तो मानना ही होगा, किन्तु इस तर्क की समीक्षा करते हुए रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि इससे तो समग्र वचन–व्यवहार ही अस्त–व्यस्त हो जाएगा। चूंकि शब्द और अर्थ– दोनों अनेक हैं, उनमें कौनसा शब्द किस अर्थ का संकेतक है, यह व्यवस्था नहीं रहेगी, फलतः समग्र वचन–व्यवहार ही लोप हो जाएगा।[187]

इसी चर्चा के क्रम में बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर अपने पक्ष की पुष्टि हेतु पुनः यह प्रश्न उठाते हैं कि संकेत तो व्यक्ति में न होकर जाति या

---

184 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 22

185 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 22

186 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 22

187 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 22

सामान्य में ही होता है। सामान्य ही वाच्य–वाचकभावरूप संबंध का आधार अर्थात् अधिकरण बनता है, अर्थात् सामान्य में ही वाच्य–वाचकभाव बनता है, विशेष में नहीं। सामान्य नित्य होने से कालान्तर में अपना अस्तित्व बनाए रखने में समर्थ है और वही सामान्य व्यक्तिनिष्ठ होने से समस्त व्यक्तियों में अनुसरण करने में भी समर्थ है। घड़ा शब्द किसी घड़े का वाचक न होकर घट जाति के समस्त पदार्थों का वाचक है, अतः, घट शब्द सामान्य या जाति का वाचक हुआ, किन्तु रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि इस कक्ष में घड़ा है, तो यहाँ हमारा तात्पर्य यह होता है कि हम किसी घट–विशेष को इंगित कर रहे हैं। यदि शब्द सामान्य ही हैं और अर्थ विशेष ही है– ऐसा मानेंगे, तो उनमें किसी प्रकार से वाच्य–वाचक–संबंध नहीं बन पाएगा। इस संबंध में रत्नाकरावतारिका में यह बताया गया है कि घट शब्द से वाच्य–वस्तु एकान्तरूप से न तो सामान्य है, न विशेष। प्रत्येक वस्तु सामान्य–विशेषात्मक है और शब्द भी सामान्य–विशेषात्मक हैं, अतः, उनमें वाच्य–वाचक–संबंध स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है। प्रत्येक पदार्थ सामान्य–विशेषात्मक होने से उसका वाचक शब्द भी सामान्य–विशेषात्मक होता है और इस प्रकार, उनमें वाच्य–वाचक–संबंध सिद्ध हो जाता है।[188]

साथ ही, आचार्य रत्नप्रभसूरि यह भी कहते हैं कि आपका यह कथन कि शब्द सामान्य का ही वाचक है, बुद्धिमान् व्यक्तियों को मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि आपके मत के अनुसार ही संसार में सामान्य नाम का तो कोई पदार्थ है ही नहीं और यदि सामान्य की सत्ता ही नहीं है, तो शब्द किसका वाचक होगा ?[189]

पुनः, बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर अपने पक्ष के समर्थन में कहते हैं कि जाति या सामान्य का ज्ञान, अर्थात् प्रतिभास या अनुभव (प्रतीति) का विषय होते हुए 'सामान्य है ही नहीं'– ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? सामान्य या जाति प्रतीति (प्रत्यक्ष) का विषय तो है ही।[190]

इसके प्रत्युत्तर में आचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि यदि सामान्य का ज्ञान मात्र प्रतीति या प्रतिभास है, तो फिर प्रतिभास के बल पर उसका

---

[188] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 23

[189] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 23

[190] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 23

अस्तित्व सिद्ध नहीं होगा। जैन–न्याय के अनुसार, निर्विकल्प–दर्शन प्रत्यक्ष–ज्ञान के पूर्व स्पष्ट रूप से होता ही है। उसके प्रतिभासरूप यह प्रतीति भी असाधारण विशेष की ही होती है, सामान्य के रूप में नहीं होती।[191]

यहाँ, बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर आचार्य रत्नप्रभसूरि के समक्ष यह प्रश्न उठाते हैं कि यह गाय है, यह गाय है– इस प्रकार, से सामान्य रूप से गाय का ज्ञान तो होता ही है, तो फिर सामान्य का ज्ञान नहीं होता है– ऐसा कैसे कहा जा सकता है ?[192]

आचार्य रत्नप्रभसूरि इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि आपका यह कथन भी उचित नहीं है, कारण कि शाबलेय, बाडुलेय आदि से भिन्न–भिन्न गो सामान्य का और उन गुण–धर्मों की तीव्र, तीव्रतर आदि स्थिति–विशेष से भिन्न– ऐसा सामान्य का ज्ञान तो होता नहीं है, अर्थात् अर्थ हो या शब्द, उससे विशेष का ही ज्ञान होता है, सामान्य का नहीं।[193]

बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर पुनः अपने मत की पुष्टि में कहते हैं कि शाबलेयादि जिन रूपों की प्रतीति होती है, वही तो सामान्य ज्ञान है।[194]

इसके प्रत्युत्तर में, आचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर से कहते हैं कि आप ऐसा नहीं कह सकते। इसका कारण यह है कि शाबलेय आदि प्रत्येक व्यक्ति में अलग–अलग रूप से ही दिखाई देता है, जबकि सामान्य तो सभी व्यक्तियों में एक ही जैसा होना चाहिए। पुनः, यदि सामान्य को वाच्य–वाचकभाव का आधार मानेंगे, तो शब्द सुनकर प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि सामान्य की अर्थ–क्रिया तो मात्र स्वयं का ज्ञान कराने तक ही सीमित है और वह सामान्य ज्ञान तो शब्द के सुनते ही हो गया, तो फिर सामान्य ज्ञान की अर्थ में प्रवृत्ति कैसे होगी ?[195]

---

191 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 23

192 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 23

193 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 23

194 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 23

195 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 23

इसके प्रत्युत्तर में, बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर यह प्रश्न उठाते हैं कि फिर तो वाच्य–वाचकभावरूप संबंध सामान्य और विशेष– दोनों में रहते हैं, ऐसा मानें तो ठीक रहेगा क्या ?[196]

यहाँ, आचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि ऐसा मानेंगे, तो प्रत्येक में जो दोष होगा, वह दोनों में कैसे नहीं होगा ? अर्थात् होगा ही। वाच्य–वाचक–संबंध को मात्र सामान्य या मात्र विशेष मानने में जो दोष होंगे, वही दोष उसे सामान्य और विशेष– दोनों मानने में भी होंगे। इस प्रकार, से तो सामान्य और विशेष– दोनों दूषित हो जाएंगे।[197]

शब्दार्थ–संबंध का विचार करते हुए बौद्धों की यह अवधारणा है कि 'शब्द विकल्प से उत्पन्न होते हैं और विकल्प शब्दों से उत्पन्न होते हैं'। इस प्रकार, शब्द और विकल्प में परस्पर कार्य–कारण–भाव है, परन्तु शब्द अर्थ का स्पर्श नहीं करते हैं, क्योंकि अर्थ बाह्य–वस्तु है और शब्द का उनके साथ किसी प्रकार का कोई संबंध नहीं है। आचार्य रत्नप्रभ इसकी समीक्षा करते हुए कहते हैं कि शब्द और अर्थ में कार्यकारण–भाव नहीं माना जा सकता है, क्योंकि यदि वे एक–दूसरे का स्पर्श ही नहीं करते हैं, तो फिर उनमें कार्य–कारण–भाव कैसे घटित होगा। जहाँ तक शब्द को विकल्पजन्य और विकल्प को शब्दजन्य माना जाएगा, तो वहाँ शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचकभाव भी घटित नहीं होगा, क्योंकि विकल्प तो कुछ भी बनाए जा सकते हैं, किन्तु शब्द और अर्थ के संबंध में एक व्यवस्था है। यदि शब्दों को विकल्पजन्य और विकल्पों को शब्दजन्य मानेंगे, तो उनमें अनियतता होगी। विकल्प स्वैर (स्वयं) कल्पित होते हैं, अतः, एक निश्चित अर्थ के वाचक नहीं हो सकते हैं, इसलिए शब्द और अर्थ के संबंध में संकेत द्वारा वाच्य–वाचक–संबंध मानना ही उचित है और इसी के आधार पर ही ग्रन्थ–रचना के प्रयोजन की सार्थकता भी सिद्ध हो जाती है।[198]

उपसंहार –

इस प्रकार,, हम देखते हैं कि रत्नाकरावतारिका में रत्नप्रभसूरि ने एक ओर बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर को माध्यम बनाकर मीमांसकों के शब्द और अर्थ के तादात्म्य–संबंध की तथा नैयायिकों के तदुत्पत्ति–संबंध की

---

196 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 24

197 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 24

198 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 24, 25

समीक्षा की, वहीं दूसरी ओर, बौद्धों की यथार्थ स्तर पर उनमें कोई भी संबंध नहीं होने की मान्यता की धर्मोत्तर को पूर्व-पक्ष बनाकर समीक्षा की है। वे धर्मोत्तर की इस मान्यता का भी खण्डन करते हैं कि शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक-संबंध नहीं है। अन्त में, इसी चर्चा के आधार पर जैनों को मान्य वाच्य-वाचक-सम्बन्ध की पुष्टि करते हैं और इस संबंध में धर्मोत्तर की सभी शंकाओं का समाधान करते हैं।

शब्द और अर्थ के मध्य तादात्म्य-सम्बन्ध और तदुत्पत्ति-सम्बन्ध की समीक्षा में जहाँ रत्नप्रभसूरि बौद्ध-दार्शनिक धर्मोत्तर के माध्यम से इन दोनों मतों की समीक्षा कर देते हैं, वहीं वाच्य-वाचक-सम्बन्ध की समीक्षा में बौद्ध-दार्शनिक धर्मोत्तर को पूर्वपक्ष बनाकर तथा स्वयं उत्तरपक्ष बनकर वाच्य-वाचक-संबंध की सिद्धि कर देते हैं, क्योंकि किसी भी ग्रन्थ की रचना का प्रयोजन शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक-सम्बन्ध माने बिना सिद्ध नहीं होता है।

अध्याय – 6
बौद्धों के अपोहवाद की समीक्षा

अपोहवाद : बौद्धों का पूर्वपक्ष –

रत्नप्रभ ने रत्नाकरावतारिका के चतुर्थ–परिच्छेद में शब्दार्थ–संबंध को लेकर नैयायिकों, बौद्धों और जैनों में जो मतभेद हैं, उसे स्पष्ट किया है। नैयायिकों के शब्दार्थ–संबंध की समीक्षा करने के पश्चात् आचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों के अपोहवाद की समीक्षा करते हैं। बौद्धदर्शन के अनुसार शब्दरूप में अभिव्यक्त विधेयभाव अनुवाद्य कहलाता है। आचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि बौद्ध और जैन– इन दोनों के लिए स्वर–व्यंजन से युक्त भावों की अभिव्यक्ति करने वाला जो प्रचलित शब्द होता है, वह अनुवाद्य कहलाता है। अपनी स्वाभाविक–शक्ति और संकेत द्वारा वह शब्द अर्थ (पदार्थ) का बोधक होता है और वही अर्थ विधेय कहलाता है। बौद्धदर्शन के अनुसार, शब्द का कार्य सिर्फ इतना ही है कि वह अन्य का निषेध कर देता है। शब्द का अर्थ से कोई संबंध ही नहीं है, वह मात्र किसी अर्थ का संकेतक होता है। बौद्धों का यह कहना है कि शब्द, अर्थ का वाचक नहीं है, क्योंकि शब्द अलग हैं और अर्थ अलग, जबकि रत्नाकरावतारिका में रत्नप्रभ का कहना है कि शब्द और अर्थ में किसी प्रकार का संबंध नहीं मानेंगे, तो फिर शब्द से अर्थ का बोध ही नहीं होगा। इसके उत्तर में बौद्ध ने अपोहवाद का सिद्धांत प्रस्तुत किया। उनका कहना है कि शब्द वस्तु को वाच्य नहीं करता है, अपितु वह वस्तु में अन्य धर्म का निषेध करता है, जैसे घट शब्द घट नामक वस्तु का वाचक नहीं है, लेकिन किसी वस्तु में घट से भिन्न अन्य का निषेध करता है। डॉ. सागरमल जैन, जैन–भाषा–दर्शन में लिखते हैं– 'अपोह का तात्पर्य अतद्–व्यावृत्ति या अन्य–व्यावृत्ति है। शब्द के वाच्यार्थ को अन्य शब्दों के वाच्यार्थ से पृथक् करना, अर्थात् अन्यापोह ही अपोह है। अपने वाच्यार्थ का अन्य वाच्यार्थों से पृथक्कीकरण ही शब्द की अपोहात्मकता है। उदाहरण के लिए, 'गाय' शब्द यह बताता है कि उसका वाच्यार्थ महिष, अश्व, पुरुष आदि नहीं है। इस प्रकार,, शब्द

का कार्य अपने वाच्यार्थ से भिन्न अन्य अर्थों का निषेध करना हैं।[199] यही बौद्धों का अपोहवाद है। रत्नाकरावतारिका में जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि ने बौद्धों के इस अपोहवाद का खण्डन किया है।

जो वस्तु प्रसिद्ध हो, वादी और प्रतिवादी– दोनों को मान्य हो, ऐसी जो वस्तु का कथन कराता हो, वह अनुवाद्य कहलाता है। उच्चारित स्वर–व्यंजन से युक्त जो शब्द है, वह प्रसिद्ध है। यह बौद्ध और जैन–दोनों को मान्य है, इसलिए 'शब्द' रूप जो कथन है, वह अनुवाद्य है।[200]

जो वस्तु प्रसिद्ध नहीं है और प्रतिवादी को मान्य भी नहीं है, परंतु वादी द्वारा प्रतिवादी को समझाने के लिए जिसका कथन किया जाता है, वह विधेय कहलाती है। 'शब्द है' यह बात जैन और बौद्ध–दोनों को मान्य है। शब्द स्वाभाविक–सामर्थ्य और सांकेतिक–शक्ति के द्वारा पदार्थ का बोधक होता है, यह बात जैनों को मान्य है, परन्तु बौद्धों को यह मान्य नहीं है, इसलिए जैन बौद्धों को शब्द की स्वाभाविक–सामर्थ्य और संकेतक–शक्ति के विषय को समझाते हैं, यह विधेय कहलाता है, अर्थात् सामर्थ्य और संकेतक–शक्ति के द्वारा शब्द अर्थ का वाचक है– ऐसा जो समझाया जाता है, वह विधेय कहलाता है।[201]

शब्द को लेकर जैन–दार्शनिक और बौद्ध–दार्शनिकों में मतभेद हैं। जैन–दार्शनिक आचार्य रत्नप्रभसूरि का रत्नाकरावतारिका में कहना है कि शब्दों में वाच्यता–सामर्थ्य स्वयं से है, अर्थात् स्वाभाविक है,[202] क्योंकि शब्द में स्वाभाविक रूप से अपना वाच्यार्थ रहा हुआ है, जैसे – 'पत्ता' शब्द। पत्ते को 'पत्ता' नाम तो किसी का दिया हुआ नहीं है, अपितु उसके गिरते समय पत् की जो आवाज होती है, उसी के आधार पर उसे पत्ता कहा जाता है, यह पत्ते की स्वाभाविक–शक्ति है। इसको सांकेतिक नहीं कहा जा सकता।

बौद्ध – बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि शब्द का अर्थ से कोई संबंध ही नहीं है। वह किसी का संकेतक होता है, अर्थात् संकेत द्वारा शब्द अर्थ को बताता है। शब्द में अर्थ को बताने की सांकेतिक–शक्ति है, अर्थ की

---

[199] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 52

[200] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 610

[201] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 610

[202] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 610

संकेतक स्वाभाविक–शक्ति नहीं है। जैसे– किसी का नाम ज्योत्स्ना है, तो यह नाम किसी के द्वारा दिया गया होने से यह सांकेतिक–शब्द है, किन्तु 'चन्द्र–ज्योत्स्ना' यह स्वाभाविक–शब्द है, अर्थात् इस शब्द में अर्थ को बताने की स्वाभाविक–शक्ति है, किन्तु बौद्ध कहते हैं कि शब्द सर्वत्र संकेतक ही होता है।

जैन – जैन–दार्शनिक बौद्धों से कहते हैं कि शब्द में स्वाभाविक–शक्ति भी स्वीकार करना होगी और सांकेतिक–शक्ति भी स्वीकार करना होगी। यदि आप शब्द में स्वाभाविक शक्ति नहीं मानेंगे, तो कोई भी शब्द का अर्थ कुछ भी हो सकता है। यदि आप (बौद्ध) सिर्फ सांकेतिक–शक्ति ही मानेंगे तो फिर अर्थ–बोध से पुरुष स्वतंत्र होगा, वह किसी भी शब्द को किसी भी अर्थ का वाचक मान सकता है। यदि आप दोनों को ही नहीं मानेंगे, तो शब्द में अर्थ की वाच्यता–सामर्थ्य का ही अभाव हो जाएगा। अभाव में तो अर्थबोध उत्पन्न करने की शक्ति ही नहीं है, फिर शब्द वाचक कैसे बनेगा?

रत्नप्रभसूरि के इस कथन पर बौद्ध–दार्शनिक आचार्य रत्नप्रभसूरि से कहते हैं– आप शब्दों में वाच्यता–सामर्थ्य स्वाभाविक रूप से भी मानते हैं तथा सांकेतिक–रूप से भी ? अर्थात् यह मानते हैं कि स्वाभाविक शक्ति और संकेत द्वारा शब्द पदार्थ का बोधक होता है, तो हमारा प्रश्न यह है कि शब्दों में जो वाच्यता–सामर्थ्य है, वह 1. सामान्य रूप से है ? या 2. विशेष रूप से है ? या 3. सामान्य–विशेष– ऐसे उभयात्मक रूप से है ?[203]

बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि शब्दों में वाच्यता–सामर्थ्य सामान्य रूप से तो नहीं मान सकते, क्योंकि शास्त्रों में उल्लेख है कि 'सामान्यं एकं निरवयवं निष्क्रियं', अर्थात् सामान्य एक, निरवयव और निष्क्रिय होता है। सामान्य अर्थ क्रियाकारी रूप वाला न होने से आकाश–पुष्प के समान तथा वन्ध्या–पुत्र के समान उसी प्रकार असत् है, जिस प्रकार पटत्व आदि जाति (सामान्य) वाचक शब्द निष्क्रिय होने के कारण उनमें अर्थक्रिया करने की सामर्थ्य नहीं होती है, अर्थात् असत् (मात्र कल्पनाजन्य) होने के कारण उनमें अर्थक्रियाकारी शक्ति नहीं होती है। यद्यपि शब्द का वाच्यार्थ सामान्य हो सकता है, किन्तु सामान्य की कोई वास्तविक सत्ता ही नहीं है,[204]

---

[203] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 610

[204] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 610

जबकि जैन–दार्शनिकों का मानना है कि सामान्य के वाचक शब्दों में अपने वाच्यार्थ के बोध की स्वाभाविक–शक्ति होती है तथा विशेष के वाचक शब्दों में संकेतक–शक्ति होती है। शब्द मात्र व्यक्तिवाचक नहीं हैं, अपितु जातिवाचक भी हैं। जातिवाचक शब्द सामान्य होता है, जो उस जाति के सभी घटकों पर लागू होता है, जैसे– मनुष्य शब्द विशेष का संकेतक कैसे होगा ? क्योंकि मनुष्य शब्द किसी व्यक्ति–विशेष का वाचक तो नहीं है। यहाँ बौद्ध यह कहते हैं कि शब्द से वस्तु या अर्थ का बोध होता है, अतः, वह सामान्य का वाचक नहीं हो सकता है।

पुनः, बौद्ध–दार्शनिक जैनों से कहते हैं कि यदि आप शब्द को विशेष का वाचक मानते हैं, तो यह कथन भी उचित नहीं है। स्वलक्षण से युक्त विशेष तो विकल्प–ज्ञान का विषय बनता ही नहीं है, इसलिए विशेष भी संकेत का आधार नहीं बन सकता, क्योंकि प्रत्येक शब्द प्रत्येक पदार्थ के सम्बन्ध में किसी विकल्प (सामान्य) को ही उत्पन्न करता है। कोई भी शब्द विशेष पदार्थ का वाचक नहीं होता है। उदाहरणस्वरूप, हमने कहा कि 'घटमानय', तो इससे श्रोता के मन में घट के आकार का विकल्प–ज्ञान ही उत्पन्न होता है। घट शब्द के वाच्यार्थ का बोध करने के लिए श्रोता यह भी नहीं, यह भी नहीं– इस प्रकार, अन्य पदार्थों का निषेध करता हुआ अन्त में 'यह घट है'– इस प्रकार, के अनुमान से विशेष धर्मात्मक घटरूपी पदार्थ का बोध कराता है।[205] इस प्रकार,, वाचक शब्द से तो मात्र विकल्प ही उत्पन्न होता है, किन्तु किसी भी विशेष वाच्यार्थ का बोध नहीं होता है। इस संबंध में रत्नाकरावतारिका के चतुर्थ परिच्छेद के ग्यारहवें सूत्र की टीका में कहा गया है –

विकल्पयोनयः शब्दाः, विकल्पाः शब्दयोनयः।

कार्य–कारणता तेषां, नार्थं शब्दाः स्पृशन्त्यपि।।

अर्थात्, वक्ता की अपेक्षा से विकल्प से शब्द उत्पन्न होते हैं और श्रोता की अपेक्षा से शब्द से विकल्प उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार,, विकल्प और शब्द में परस्पर कार्य–कारण–भाव रहा हुआ है। शब्द पदार्थ का स्पर्श भी नहीं करते हैं। तात्पर्य यह है कि जब शब्द और पदार्थ में परस्पर कोई संबंध ही नहीं है, तो शब्द में पदार्थ को बताने की सांकेतिक–शक्ति है–

---

[205] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 611

ऐसा मानना, अथवा शब्द पदार्थ का संकेतक है, यह मानना उचित नहीं है।[206]

पुनः, बौद्ध कहते हैं कि यदि आप शब्द की वाच्यता-सामर्थ्य को विशेषात्मक मानते हैं, तो मान लो कि हमने किसी विशेष पदार्थ की ओर ऐसा संकेत किया कि यह घट है, यह पट है, किन्तु उन घट-पट आदि शब्द से वाच्य-विशेष पदार्थ व्यवहारकाल का अनुसरण करने वाला नहीं होने से घट-पट की ओर किया हुआ हमारा संकेत भी निरर्थक ही तो होगा ? क्योंकि घट-पट आदि शब्दों से जब तक घट-पट का बोध होगा, तब तक घट या पट-रूप विशेष वस्तु का विध्वंस हो जाएगा, अर्थात् ये विशेष घट-पट, जिन्हें वाच्य बनाया था, नष्ट हो जाएँगे, तो आपका विशेष कहाँ रहा? मान लो, हमने 'वर्द्धमान स्वामी'- इस शब्द से किसी व्यक्ति-विशेष की ओर संकेत किया, किन्तु वह वर्द्धमान स्वामी आज नहीं है, तो वह विशेष की ओर किया हुआ संकेत निरर्थक ही माना जाएगा। ज्ञातव्य है कि बौद्ध सामान्य को स्वीकार ही नहीं करते हैं, विशेष को मानकर भी उसे क्षणिक मानते हैं, अतः, उनके मतानुसार, शब्द न तो सामान्य (जाति) का संकेतक है और न विशेष (व्यक्ति) का संकेतक है।[207]

तीसरे पक्ष का खण्डन करते हुए बौद्ध कहते हैं कि आपका तीसरा पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि यदि आप वाचक शब्द को सामान्य और विशेष- ऐसा उभयात्मक मानते हैं, तो क्या आप एक-दूसरे से स्वतंत्र, ऐसे परस्पर अत्यन्त भिन्न, ऐसे सामान्य और विशेष को शब्द का विषय मानते हैं? या परस्पर अभिन्न तादात्म्य को प्राप्त सामान्य-विशेष को शब्द का विषय मानते हैं ?[208]

पहला पक्ष, वाचक शब्द को निरपेक्ष रूप से सामान्य भी नहीं मान सकते, क्योंकि सामान्य तो निष्क्रिय होने से आकाश-पुष्प की भांति असत् है। दूसरे, शब्द को निरपेक्ष रूप से विशेष भी नहीं मान सकते, क्योंकि शब्द निरपेक्ष-विशेष को दर्शाता हो, ऐसा भी नहीं है। चूंकि शब्द विकल्प को ही उत्पन्न करते हैं, विशेष को तो शब्द स्पर्श भी नहीं करते हैं, अतः,

---

[206] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 611

[207] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 611, 612

[208] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 612

शब्द निरपेक्ष रूप से न तो सामान्य का वाचक हो सकता है, न निरपेक्ष रूप से विशेष का वाचक हो सकता है।[209]

तीसरे, बौद्ध यह कहते हैं कि शब्द और अर्थ के मध्य तादात्म्य–संबंध भी नहीं है, क्योंकि सामान्य और विशेष– ये दोनों परस्पर विरुद्ध–धर्म से युक्त होने के कारण शीतलता और ऊष्णता के समान दोनों में तादात्म्य–संबंध भी नहीं है। सामान्य तो ध्रुव है और विशेष क्षणिक है। सामान्य तो जातिवाचक है और विशेष मात्र व्यक्तिवाचक है। अतः,, शब्द सामान्यात्मक, या विशेषात्मक, या उभयात्मक– इन तीनों में से किसी भी पदार्थ को वाच्य नहीं करता है, इसलिए शब्द और घट–पट आदि पदार्थों के मध्य में वाच्य–वाचकभाव नहीं है,[210] अपितु शब्द और अपोह के मध्य मात्र कार्य–कारण–भाव है। घट शब्द के उच्चारित होते ही श्रोता के मन में घट का आकार प्रतिबिम्बित करने वाले विकल्प कार्य हैं और शब्द उस विकल्प का कारण है। शब्द के निमित्त से विकल्पात्मक–कार्य के उत्पन्न होने से शब्द और विकल्प में कार्य–कारण–भाव है।[211]

बौद्धों का अपोहवाद (पूर्वपक्ष)

बौद्धदर्शन के अनुसार 'अपोह' क्या है ? इसको रत्नाकरावतारिका में समझाया गया है। वक्ता द्वारा उच्चरित शब्द के परिणामस्वरूप श्रोता के मन में उत्पन्न होने वाले विकल्प को ही 'अपोह' कहते हैं। वह अपोह चार विशेषणों से युक्त होता है– 1. सर्वथा भिन्न–भिन्न स्वरूप वाले परमाणुओं से निर्मित जलधारण करने की क्रिया (कार्य) को करने वाला, अर्थात् अर्थक्रियाकारी 'घट' शब्द एक विचार (विकल्प) रूप आकार–विशेष का सूचक है, यही अपोह है। 2. दूसरे, अपोह मात्र विकल्प–विशेष के कारण उत्पन्न होने वाला आकार–विशेष होता है, किन्तु यह 'अपोह' न तो पदार्थ से उत्पन्न होता है और न पदार्थ के साथ जुड़ता है। 3. तीसरे, बाहर भूमि के ऊपर रहे हुए घट आदि विभिन्न प्रकार के आकारों का विकल्प (अपोह) तो आभ्यंतर होता है, अर्थात् विकल्प मानसिक–संकल्पना है, या बुद्धि–कल्पित मात्र विचार है। मनोगत इस विकल्प का बाह्य–पदार्थ के आकार के साथ मिलान करना अपोह है। 4. चौथे, हमारी बुद्धि में जो

---

209 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 612

210 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 612

211 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 612, 613

आकार प्रतिबिम्बित हुआ है, वही अपोह है। तात्पर्य यह है कि मन में उत्पन्न विकल्प को अपोह कहते हैं। विवक्षित घट, पट आदि के 'स्व आकार' से भिन्न अन्य सब आकारों का निषेध करते हुए, अन्त में घट–आकाररूप या पट–आकाररूप एक विकल्प पर स्थिर हो जाने को अपोह कहते हैं।[212]

इस प्रकार,, बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर कहते हैं कि शब्द और पदार्थ में कोई वाच्य–वाचक–संबंध ही नहीं है। न तो शब्द वाचक हैं, न पदार्थ ही वाच्य है। शब्द तो पदार्थ को स्पर्श भी नहीं करते हैं। फलतः, बुद्धि में जो प्रतिबिम्बित स्वरूप (विकल्प) है, वही अपोह है। यह विकल्प ही शब्द का अर्थ (तात्पर्य) होता है। शब्द और अपोह में कार्य–कारण–भाव है। शब्द कारण हैं और अपोह कार्य है। इसी कार्य–कारण–भाव को ही वाच्य–वाचक–सम्बन्ध मान लेना चाहिए।[213]

आचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों के इस अपोहवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ द्रव्य और पर्याय– दोनों से युक्त होने के कारण एक ही समय में उसमें एक साथ सामान्य और विशेष– दोनों रहते हैं, जिसमें किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है, अर्थात् विरुद्ध–धर्माध्यास नहीं है। शब्द और पदार्थ में वाच्य–वाचक रहा हुआ है। जैन–दार्शनिक बौद्धों से कहते हैं कि आपके द्वारा उठाए गए तीन प्रश्न इस प्रकार, हैं– 1. शब्द एकान्त–सामान्य का वाचक है ? या 2. एकान्त–विशेष का वाचक है ? या 3. उभयात्मक है ? इन तीन प्रश्नों में प्रथम दोनों पक्ष, अर्थात् शब्द एकान्ततः सामान्य का वाचक है, या शब्द एकान्ततः विशेष का वाचक है– एकान्तिक होने से उचित नहीं हैं।[214]

डॉ. सागरमल जैन जैन–भाषा–दर्शन में लिखते हैं– 'बौद्धों के अपोहवाद के सन्दर्भ में जैनों का प्रथम आक्षेप यह है कि शब्द का विषय केवल विकल्पित सामान्य नहीं है, अपितु यथार्थ सामान्य है। यह सत्य है कि व्यक्तियों से पृथक् किसी सामान्य की सत्ता नहीं है, सामान्य व्यक्तिनिष्ठ है, किन्तु फिर भी वह यथार्थ है, काल्पनिक नहीं है। जैनों के अनुसार, वस्तु अनन्त–धर्मात्मक है। प्रत्येक वस्तु के कुछ धर्म अन्य वस्तुओं

---

212 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 613

213 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 613

214 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 614

के सदृश होते हैं और कुछ विसदृश। इन सदृश धर्मों को ही जैनों ने सामान्य माना है। वे यह मानते हैं कि सामान्य अनेकानुगत न होकर विशेष या व्यक्ति में अनुगत है। दूसरे शब्दों में, सामान्य नाम का कोई एक तत्त्व नहीं है, जो कि सभी व्यक्तियों में अनुस्यूत है, अपितु व्यक्तियों के अलग–अलग सदृश गुण–धर्म ही सामान्य हैं, जो कि प्रत्येक व्यक्ति में उपस्थित रहकर उसे एक वर्ग या जाति का सदस्य बनाते हैं। सादृश्यता है और व्यक्ति के धर्म के रूप में वह यथार्थ है। जिस तरह प्रत्यक्ष आदि प्रमाण का विषय जात्यान्वित व्यक्ति या सामान्य–विशेषात्मक वस्तु होती है, उसी तरह शब्द का विषय भी सामान्य–विशेषात्मक यथार्थ वस्तु ही है, विकल्पित वस्तु नहीं। मीमांसकों के अनुसार, यदि शब्द से केवल सामान्य में और बौद्धों के अनुसार विकल्पित सामान्य में ही संकेत ग्रहण माना जाए, तो शब्द को सुनकर विशेष व्यक्तियों में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। 'गाय' शब्द सुनकर हम 'गाय' विशेष को ही खोजते हैं, किसी सामान्य अर्थात् गोत्व को नहीं खोजते, अतः, शब्द जात्यान्वित यथार्थ वस्तु का संकेतक है, विकल्पित सामान्य का नहीं।"[215]

बौद्धों द्वारा जैनों पर यह आक्षेप लगाया गया कि आप अनेकान्त के पक्षधर हैं, तो यह अनेकान्त–सिद्धांत भी तो एक एकान्त ही है।

इस पर, जैनों ने समाधान किया कि अनेकान्त भी अनेकान्तरूप ही है। वह प्रमाण की अपेक्षा से अनेकान्त है तथा नय की अपेक्षा से एकान्त है। इसमें कथंचित् भी विरुद्ध–धर्माध्यास नहीं है, अतः, शब्द सामान्य का भी वाचक है और विशेष का भी, इसलिए शब्द–प्रमाण अनेकान्तिक हैं; किन्तु बौद्ध सामान्य और विशेष– ऐसे उभयात्मकता में विरुद्ध–धर्माध्यास मानते हैं। जैन कहते हैं कि यह अनुभव से सिद्ध है कि जगत् की प्रत्येक वस्तु का स्वरूप उभयात्मक है; किन्तु उसमें जो विरुद्ध–धर्म हैं, वे भिन्न–भिन्न अपेक्षा से हैं, अतः, उसमें विरुद्ध–धर्माध्यास नहीं है, अर्थात् उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। विरुद्ध–धर्माध्यास तो तभी होता, जब वे विरुद्ध–धर्म एक ही अपेक्षा से होते। जगत् की प्रत्येक वस्तु कथंचित्–भेद और कथंचित्–अभेद की अपेक्षा से सामान्य–विशेषात्मक है। इसी प्रकार, शब्द भी सामान्य–विशेषात्मक होते हैं। चूंकि प्रत्येक सामान्य में विशेष तथा प्रत्येक विशेष में सामान्य निहित है, अतः, शब्द सामान्य का भी वाचक है तथा विशेष का भी।

---

215 देखें – जैन भाषा दर्शन, डॉ. सागरमल जैन, पृष्ठ 53

पुनः, बौद्ध-दार्शनिक सामान्य और विशेष में परस्पर विरोध बताते हुए कहते हैं कि सामान्य की कोई सत्ता ही नहीं है, अर्थात् शब्द सामान्य का वाचक नहीं हो सकता। शब्द में वाच्यता की सामर्थ्य होते हुए भी वह वस्तुतः अन्य का अपोह ही करता है, क्योंकि सामान्य हमारी मन की कल्पना (Idea) है और जो विशेष है, वह क्षणिक है। वह एक ही क्षण में तो नष्ट हो जाता है, तब वह किसको संकेत करेगा, अर्थात् किसको वाच्य बनाएगा ? वस्तुतः, किसी को भी नहीं। वह अपनी वाचक-शक्ति से केवल अन्य का अपोह कर देता है, अर्थात् अन्य का निषेध कर देता है, जैसे कि हमने कहा- गाय काली भी होती है, श्वेत भी होती है, शबल (चित्तकबरी) भी होती है, उसके सींग भी भिन्न-भिन्न आकार के होते हैं, सास्ना भी विविध रूपों में होती है। ऐसी स्थिति में आप गाय शब्द से किस गाय की ओर संकेत करेंगे? प्रत्येक गाय तो एक-दूसरे से भिन्न है। आप गाय शब्द से किस गाय को वाचक बनाएँगे ? गाय शब्द बोलने से मात्र हमारे मस्तिष्क में उसका जो एक आकार बनता है, वह अन्य का अपोह कर देता है। चूंकि आकार न तो सामान्य है, न ही विशेष, अतः, सामान्य और विशेष में परस्पर विरुद्ध-धर्माध्यास रहा हुआ है, इसलिए शब्द न तो सामान्य का वाचक हो सकता है, न ही विशेष का। शब्द तो मात्र विकल्पों को ही पैदा करते हैं। विकल्प अर्थात् मन में किसी कल्पना का उत्पन्न होना। अतः,, शब्द का अर्थ अन्य का निषेध करना है।

जैन – जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों से कहते हैं कि आपका जो यह कथन है कि 'शब्द विकल्पजन्य हैं और विकल्प शब्दजन्य हैं, इसका तात्पर्य यह है कि मन में उत्पन्न विकल्प जिन घट-पट आदि पदार्थों को विषय करते हैं, वे घट-पट आदि पदार्थ ही तो शब्द के वाच्य-विषय बनते हैं। यह बात स्पष्ट होते हुए भी अपोह (विकल्प) ही शब्द के अर्थ हैं- ऐसा कैसे कहा जा सकता है? विकल्प से जैसे उनके विषय को जाना जा सकता है, वैसे ही शब्द से भी विषय को जाना जा सकता है, इसलिए घट-पट आदि अर्थों (वस्तुओं) को शब्द का वाच्य-विषय नहीं मानना चाहिए, अपितु अपोह (विकल्प) को शब्द का वाच्य-विषय मानना चाहिए। आप तो शब्द की कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं मानते हैं, साथ ही शब्द को विकल्पजन्य मानते हैं, अर्थात् यह मानते हैं कि शब्द विकल्पों (विचारों) से उत्पन्न होते हैं, किन्तु आपका यह सिद्धान्त बिलकुल उचित नहीं है,

क्योंकि विकल्प को भी उत्पन्न करने की शक्ति तो शब्द में ही रही हुई है।[216]

दूसरा, यदि यह माना जाए कि शब्द घट–पट आदि पदार्थों को अपना वाच्य–विषय बनाता ही नहीं है, मात्र अन्य का अपोह अर्थात् निषेध करता है, तो शब्द को अर्थ का निषेध करके भी अन्त में किसी एक विकल्प पर तो स्थिर होना ही पड़ता है, अर्थात् अन्य के निषेध में भी एक विधि–पक्ष रहा हुआ है, इसलिए अनुमान के समान ही शब्द को भी प्रमाण क्यों न माना जाए ? जब अनुमान भी अपोह (विकल्प) को दर्शाता हुआ प्रमाण कहला सकता है, तो उसी प्रकार शब्द भी अपोह को दर्शाता हुआ प्रमाण क्यों नहीं कहला सकता ? अर्थात् शब्द को भी प्रमाण मानना चाहिए। जैन बौद्धों से कहते हैं कि प्रत्यक्ष और अनुमान– ये दो प्रमाण तो आप स्वीकार करते ही हैं (मानते ही हैं), तो तीसरा आगम–प्रमाण भी आपको स्वीकार करना चाहिए। शब्द घट–पट आदि को अपना वाच्य–विषय तो बनाता ही है, किन्तु आपके मतानुसार शब्द विकल्प को बताने वाला भी मान लिया जाए, तो भी आपको अनुमान के समान तीसरा आगम–प्रमाण भी स्वीकार कर लेना चाहिए।[217]

बौद्ध – बौद्ध–दार्शनिक जैनाचार्यों से प्रश्न करते हैं कि अनुमान–प्रमाण को शब्द के समान अपोह को विषय करने वाला मानने पर भी परंपरा से पदार्थ के साथ प्रतिबंध वाला होने से अनुमान को तो प्रमाण ही माना जाता है, किन्तु शब्द को प्रमाण नहीं माना जा सकता है, जैसे कि 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्', अर्थात् पर्वत पर धूम होने से पर्वत अग्निवाला है– ऐसा बोलते ही श्रोता के मन में साध्य (अग्नि) के प्रति अपोह (विकल्प) ही उत्पन्न होता है, अर्थात् यह भी नहीं, यह भी नहीं– इस प्रकार, अन्य का निषेध करते हुए अन्त में पक्ष में (पर्वत पर) जाकर देखने पर वह्नि (अग्नि) ही दिखाई देती है, अतः, अनुमान चाहे विकल्प को ही उत्पन्न करता है, किन्तु वह विकल्प पदार्थ के साथ प्रतिबद्ध स्वभाव वाला होने से अनुमान–प्रमाण सिद्ध होता है।[218]

---

216 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 615

217 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 615

218 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 615

जैन – जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि जब आप शब्द के समान अनुमान–प्रमाण को भी अपोह द्वारा पदार्थ को विषय करने वाला मानते हैं, तो आपको शब्द को भी प्रमाण मान लेना चाहिए। चूंकि वक्ता के मुख से शब्द के उच्चारण होते ही श्रोता के मन में सर्वप्रथम विकल्प (अपोह) ही उत्पन्न होता है और वह अपोह (विकल्प) ही भूमि पर रहे हुए घट–पट आदि पदार्थ को बताने वाला होता है, अतः, पदार्थ के साथ प्रतिबद्ध होने से, अर्थात् शब्द (वाचक) का पदार्थ (वाच्य) के साथ संबंध होने से शब्द को भी प्रमाण मान लेना चाहिए।[219]

बौद्ध – इस पर बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि शब्द अपोह (विकल्प) को ही उत्पन्न करता है; किन्तु शब्द जिन पदार्थों को विषय बनाता है, वे विषयीभूत पदार्थ संसार में हों, यह कोई आवश्यक नहीं है, अतः, शब्द को प्रमाण कैसे कहा जा सकता है ? जिस प्रकार 1. अतीत के विषय, 2. अनागत के विषय तथा 3. आकाश–पुष्प– ये तीनों असत् हैं। जैसे– 1. ऋषभदेव भगवान् अतीत में हुए थे, वर्त्तमान में नहीं हैं, 2. पद्मप्रभ भगवान् भविष्य में होंगे, वर्त्तमान में नहीं हैं और 3. आकाश–पुष्प की सत्ता तीनों काल में संसार में है ही नहीं। ऋषभदेव भगवान् अतीत में हुए थे– इसका उच्चारण भी शब्द द्वारा ही होता है, पद्मप्रभ भविष्य में होंगे– इसका उच्चारण भी शब्द द्वारा ही होता है। आकाश पुष्प– इस कल्पित असत् पदार्थ का उच्चारण भी शब्द द्वारा ही होता है, इस प्रकार,, ऋषभदेव भगवान् जो भूत में हुए थे, पद्मप्रभ, जो भविष्य में होंगे तथा आकाश–पुष्प, जो तीनों कालों में नहीं है– इन सब वर्त्तमान में अनस्तित्ववान् पदार्थों का प्रयोग शब्दों के द्वारा होने मात्र से शब्द का अर्थ के साथ संबंध हो जाता है, यह कोई आवश्यक नियम नहीं है। यद्यपि शब्द तो मात्र पदार्थ के वाचक ही होते हैं, चाहे वे पदार्थ संसार में न भी हों, अर्थात् असत् ही हो। निष्कर्ष यह है कि असत्– पदार्थ को विषयीभूत करने वाले शब्द का अर्थ के साथ कोई संबंध ही नहीं हैं, इसलिए शब्द को प्रमाण नहीं माना जा सकता।[220]

जैन – इस पर जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्ध–दार्शनिकों से कहते हैं कि यदि आप शब्द का अर्थ के साथ कोई संबंध नहीं होने के कारण शब्द को प्रमाण नहीं मानते हैं, तो फिर अनुमान का पदार्थ के साथ कोई संबंध

---

[219] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 615

[220] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 615, 616

नहीं होते हुए भी अनुमान को प्रमाण क्यों मानते हैं ? संसार में अनुमान के आधार पर कथन भी तो किया जाता है, जैसे– 1. हम पर्वत से निकलकर बहती हुई नदी में आए हुए पूर अर्थात् जल की अधिकता को देखकर यह अनुमान करते हैं कि पर्वत पर कुछ समय पूर्व वर्षा हुई है, यह अनुमान ही है। 2. भरणी–नक्षत्र का उदय कुछ समय के पश्चात् होगा, क्योंकि अभी रेवती–नक्षत्र का उदय हुआ है, तो भविष्य में होने वाले भरणी–नक्षत्र के उदय का कथन भी तो अनुमान से ही हुआ ? 3. गधे के सींग नहीं होते हैं, इस कथन की सिद्धि प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाण से नहीं होती है, अतः, गधे के सींग नहीं होते हैं, तो यह असत्–वस्तु का कथन भी अनुमान से ही तो हुआ। तात्पर्य यह है कि अतीत, अनागत और असत्–वस्तु का अभाव होते हुए भी इन सबका कथन अनुमान से होने के कारण अनुमान का पदार्थ के साथ संबंध होता ही है– ऐसा अनिवार्य नियम कहाँ है ? इस प्रकार,, अर्थ की प्रतिबद्धता के बिना भी आप (बौद्ध) अनुमान को तो प्रमाण मान रहे हैं, अतः, या तो आपको अनुमान को अप्रमाण मानना चाहिए, या फिर शब्द को प्रमाण मानना चाहिए।

इस पर, बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि यदि हम अनुमान के समान ही शब्द को भी प्रमाण मान लें, तो हमें वक्ता द्वारा बोले गए शब्द द्वारा उत्पन्न अपोह को भी परंपरा से पदार्थ के साथ संबंध वाला मानना होगा, तब ही शब्द को प्रमाण माना जा सकता है। यदि हम शब्द को प्रमाण मान भी लें, तो 'तुंबी डूब रही है' (यह एक अनुभवसिद्ध बात है कि तुंबी कभी डूबती नहीं है) विप्रतारक अर्थात् ब्राह्मण को डूबने से बचाने वाले पुरुष द्वारा यही कहा जाता है कि तुंबी डूब रही है, क्योंकि ब्राह्मण तारने वाला होता है। यदि वह स्वयं डूब रहा हो, तो यही कहना होगा कि तुंबी (तारक) डूब रही है। इस कथन के समान ही अपोह (विकल्प) को भी ऐसा ही होना चाहिए, अर्थात् अर्थ के साथ प्रतिबद्ध होना चाहिए, किन्तु शब्द का अर्थ के साथ कोई संबंध नहीं है, क्योंकि तुंबी तो तैरती ही है, उसे शब्द द्वारा डूबने वाला कहना यही सूचित करता है कि शब्द का अर्थ के साथ कोई संबंध नहीं है, अतः, शब्द प्रमाण नहीं है।

पुनः, जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि 'तुंबी डूब रही है'– इस वाक्य में तुंबी के न डूबने के गुण के कारण शब्द और अर्थ में संबंध नहीं मानना, आपका यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्येक शब्द का कोई न कोई अर्थ रहा हुआ है, परिस्थिति–विशेष में तुंबी डूब भी सकती है, तो तुंबी तैर भी सकती है। तुंबी में डूबने का और तैरने का– दोनों

गुण–धर्म रहे हुए हैं। मिट्टी से लेपयुक्त तुंबी डूब भी सकती है तथा बिना लेप वाली तुंबी तैर भी सकती है। यह तो वक्ता के कथन पर निर्भर है कि उसकी विवक्षा क्या है ? अतः,, शब्द का पदार्थ के साथ कोई भी संबंध न मानकर शब्द को अप्रमाण मान लेना– यह आपका कथन उचित नहीं है, क्योंकि यदि आप ऐसा ही मानते हैं, तो अनुमेय बने हुए पदार्थ के अपोह (विकल्प) में भी अप्रमाण वाली बात ही सिद्ध होगी, अर्थात् शब्द के अप्रमाण के समान ही अनुमान में भी दोष उत्पन्न होगा। जिस प्रकार 'पर्वतो वह्निमान्, प्रमेयत्वात्' अर्थात् पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि वह प्रमेय है, ऐसे अनुमान में हेतु के व्यभिचारी होने पर अनुमेय–संबंधी 'अपोह' में भी पदार्थ की प्रतिबद्धता तो होती है। जैसे धूम (हेतु) से वह्नि (अग्नि) का बोध होता है, तो वहाँ पर अनुमेय पदार्थ प्रतिबद्ध होता है, अर्थात् अग्नि की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार प्रमेयत्व–हेतु से भी अग्नि प्राप्त हो जाना चाहिए, किन्तु होती नहीं है। वहाँ पर भी हेतु पदार्थ से प्रतिबद्ध होता ही हैं, किन्तु यहाँ हेतु के व्यभिचारी होने से दोष उत्पन्न होगा और एक अनुमान के अप्रमाण होने पर सभी अनुमान अप्रमाण हो जाएंगे। जैसा कि आपने (बौद्ध–दार्शनिक) कहा कि विप्रतारक पुरुष के शब्द का पदार्थ के साथ संबंध (प्रतिबद्धता) न होने पर सारे शब्द अप्रमाण होते हैं, तो ऐसे ही हेतु के साध्य से अप्रतिबद्ध होने से अथवा अतिप्रसंग–दोष होने से सारे अनुमान भी अप्रमाण होंगे।[221]

बौद्ध – जैन–दर्शन के इस तर्क का खण्डन करते हुए बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि प्रमेयत्व तो हेतु हो नहीं सकता। 'पर्वतोवह्निमान् प्रमेयत्वात्' इस अनुमान में दिया हुआ प्रमेयत्व हेतु है, यह सही हेतु का लक्षण नहीं होने से घटित नहीं होता है। 'विपक्षसत्व' साध्याभावरूप विपक्ष में प्रमेयत्व– हेतु के संभव नहीं होने से, अनुमान में किए गए अपोह (विकल्प) का संबंध पदार्थ के साथ कैसे बनेगा ? यदि हेतु सही हो, तो ही उससे होने वाले अनुमान में अपोह का पदार्थ के साथ संबंध होता है, किन्तु जो हेतु (व्यक्ति) व्यभिचारादि दोष वाला हो, तो वह हेतु सही हेतु न होने के कारण अनुमेय का अपोह–पदार्थ के साथ संबंध नहीं बनता है, इसलिए जो अनुमान दोषयुक्त हेतु वाला होता है, वही अनुमान अप्रमाण कहलाता है, सभी अनुमान अप्रमाण नहीं होते हैं।[222]

---

221 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 616, 617

222 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 617

जैन – इस पर जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार सही हेतु वाला अनुमान ही प्रमाणरूप है, उसी प्रकार अनाप्त विप्र–तारक–पुरुष का कथन, तुंबी डूब रही है, सत्य न होने के कारण अनाप्त–पुरुष के शब्द ही पदार्थ के साथ प्रतिबद्ध (संबंद्ध) न होने के कारण अप्रमाण होते हैं, किन्तु आप्तपुरुष के वचन में शब्द की वाच्य–वस्तु से संबद्धता होने पर उनके वचन को तो प्रमाण मानना चाहिए। यदि आप शब्द को प्रमाण मान लेते हैं, तो अनुमान को प्रमाण मानने के समान ही शब्द की प्रामाणिकता भी मान ली जाएगी।[223]

बौद्ध – बौद्ध–दार्शनिक अपने सिद्धांत की पुष्टि करने के लिए जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि से कहते हैं कि आप जो यह तर्क दे रहे हैं कि आप्तपुरुष के वचन होने के कारण वे शब्द प्रमाणरूप होना चाहिए, किन्तु हमारा आपसे यह प्रतिप्रश्न है कि कौनसे वचन आप्तपुरुष के हैं, जिसे प्रमाण माना जाए? कौनसे वचन अनाप्त–पुरुष के हैं, जिसे अप्रमाण माना जाए? इसका क्या आधार है ? आप्तपुरुष ओर अनाप्त–पुरुष का विवेक सम्भव नहीं होने के कारण ही हम तो सभी शब्दों को अप्रमाणरूप ही मानते हैं, अर्थात् शब्द की कोई स्वतंत्र सत्ता न होने के कारण शब्द प्रमाणरूप नहीं हो सकता।[224]

जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि की अपोहवाद की समीक्षा–

बौद्धों द्वारा उठाए गए प्रश्न के समाधान में जैनाचार्य रत्नप्रभ पुनः बौद्धों से ही प्रतिप्रश्न करते हैं कि आप (बौद्ध) हमारे इन प्रश्नों का जवाब दें– 1. क्या संसार में आप्तपुरुष का अभाव होने के कारण ? या 2. क्या संसार में आप्तपुरुष तो होते हैं; किन्तु ये आप्तपुरुष हैं तथा ये आप्तपुरुष नहीं हैं– ऐसा विवेक नहीं होने के कारण ? या 3. आप्तपुरुष और अनाप्त–पुरुष का निश्चय हो जाने के बाद भी जो आप्तपुरुष होते हैं, वे मौनव्रत वाले होते हैं– इस आधार पर आप ऐसा कहते हैं ? या 4. आप्तपुरुष तो बोलते हैं, अर्थात् वे मौनव्रत वाले नहीं हैं, किन्तु अनाप्त–पुरुष के वचन से आप्तपुरुष के वचन को पहचानने का विवेक नहीं होने से, अर्थात् दोनों के वचनों में भेद करना संभव नहीं होने के कारण ? आपने जो यह कथन किया कि आप्त और अनाप्त का भेद करना

---

[223] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 617

[224] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 618

संभव नहीं होने से हम सभी शब्दों को अप्रमाण ही मानते हैं, तो अन्ततः आपने ऐसा कथन क्यों किया ? हमारे द्वारा दिए गए चार विकल्पों में से किस विकल्प के आधार पर आप ऐसा कहते हैं, इसका स्पष्टीकरण करें।[225] दूसरे, आप चार्वाक आदि अन्य–दार्शनिकों की वाणी को अप्रमाण तथा माता, पिता, पुत्र, भाई, गुरु और भगवान् बुद्ध की वाणी को उनकी विशेषता के कारण प्रमाणरूप मानते हैं। इस प्रकार,, जब आप स्वयं ही चार्वाक आदि अन्य दार्शनिकों की वाणी को अप्रमाणरूप कहते हैं तथा माता, पिता, भाई, गुरु और विशेष रूप से भगवान बुद्ध की वाणी को प्रमाणरूप कहते हो, तो इस आधार से तो हम यही कहते हैं कि आप उपर्युक्त दोनों वक्ताओं की वाणी की अप्रमाणरूपता और प्रमाणरूपता को, विवेक की सम्भावना को स्वीकार करते हैं। दूसरे शब्दों में, आप स्वयं यह निर्णय करने में सक्षम हैं कि आप्त कौन है ? और अनाप्त कौन है ? दोनों के वचन में क्या भेद है ? ऐसा विवके–ज्ञान आप में है, तभी तो आपने चार्वाक आदि के वचनों को अप्रमाणरूप में और भगवान् बुद्ध के वचनों को प्रमाणरूप में स्वीकार किया है। यदि आप दोनों के वचनों में भेद स्वीकार नहीं करते हैं, तो भगवान् बुद्ध तथा माता–पिता आदि उपकारियों के द्वारा कथित वचनों के अनुसार आप जो प्रवृत्ति करते हैं वह आपकी प्रवृत्ति निरर्थक मानी जाएगी। फिर तो, आपको चार्वाक आदि के वचनों के आधार पर भी प्रवृत्ति करनी चाहिए, अथवा चार्वाकादि की वाणी वचनों के समान अपने उपकारियों के वचनों (शब्दों) में भी प्रवृत्ति नहीं करना चाहिए, किन्तु आप ऐसा नहीं करते हैं ? इससे यही सिद्ध होता है कि आप आप्त–अनाप्त का भेद करते हैं और आप्तपुरुष के वचनों को प्रमाणरूप भी मानते हैं, अतः, आप (बौद्धों) द्वारा दिए गए उपर्युक्त सारे तर्क व्यर्थ माने जाएंगे, इसलिए आपको शब्द को प्रमाणरूप स्वीकार कर लेना चाहिए।[226]

बौद्ध–दार्शनिक शब्द की प्रामाणिकता की समीक्षा करते हुए जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि से कहते हैं कि हम तो आप्तपुरुष को मानते हैं, उनकी वाणी को भी मानते हैं तथा उनकी वाणी की प्रमाणरूपता को भी मानते हैं, किन्तु आप्त–पुरुष के शब्द से जो अर्थ (प-ार्थ) की प्रतीति होती है, उस अर्थ की प्रतीति को अनुमान से मानते हैं, शब्द–प्रमाण (आगम–प्रमाण) से नहीं मानते, जैसे– कोई आप्तपुरुष 'यह वृक्ष है'– ऐसा

---

[225] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 618

[226] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 618, 619

शब्द–प्रयोग करता है, तो उस शब्द–प्रयोग से वृक्षरूपी अर्थ की जो प्रतीति होती है, वह अनुमान से होती है, न कि शब्द–प्रमाण से। इस संबंध में हम अनुमान को ही प्रमाणरूप मानते हैं। वह अनुमान इस प्रकार, से है– यह पुरुष (पक्ष) वृक्ष शब्द के अर्थ को जानने वाला है (साध्य), क्योंकि वृक्ष शब्द का प्रयोग करता है (हेतु)। जिस प्रकार पूर्वकाल में पादप अर्थात् वृक्ष के लिए वृक्ष शब्द का प्रयोग किया था, उसी प्रकार अब भी किया जाता है (दृष्टांत)। इस प्रकार,, प्रथम विवक्षा को अनुमान द्वारा हमारी यह विवक्षा सत्य ही है, ऐसा समझाने के पश्चात् अब दूसरा अनुमान करते हैं – यह विवक्षा अर्थात् कथन (पक्ष) सत्य ही है (साध्य), क्योंकि यह आप्तपुरुष का कथन है (हेतु), मेरी विवक्षा अर्थात् कथन के समान (उदाहरण)। इस प्रकार,, तात्पर्य यह है कि अनुमान–प्रमाण द्वारा आप्तपुरुष के वचन से वस्तुतत्त्व का ज्ञान अर्थात् अर्थ का ज्ञान (बोध) किया जा सकता है। इस प्रकार,, अनुमान से ही यह बात सिद्ध हो जाती है, तो फिर शब्द को प्रमाण क्यों माना जाए ? अर्थात् शब्द को प्रमाणरूप मानने की आवश्यकता ही नहीं है– ऐसा बौद्ध–दार्शनिक प्रतिपादन करते हैं।[227]

इस पर, जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि बौद्धों से कहते हैं कि यदि आप (बौद्ध) शब्द से होने वाले अर्थ–बोध को भी अनुमानजन्य मानते हैं, तो आपकी यह मान्यता उचित नहीं है। इसका समाधान हमने प्रस्तुत रत्नाकरावतारिका में चौथे परिच्छेद के दूसरे सूत्र की टीका में वैशेषिक–दर्शन की इसी प्रकार की मान्यता का खण्डन करते समय किया है, जो इस प्रकार, है– "अत्रैवं वदन्ति काणादाः – शब्दोऽनुमानम्, व्याप्तिग्रहण बलेनार्थप्रतिपादकत्वाद् धूमवद् इति। तत्र हेतोरामुखे कुटाकुटकार्षापण निरूपण प्रवण प्रत्यक्षेण व्यभिचारः, तथा भूतस्यापि तत्प्रत्यक्षस्यानुमान निरूपताऽपायात्।"[228]

इसका फलितार्थ यह है कि शब्द से होने वाला अर्थ–बोध अनुमानजन्य अर्थबोध के समान नहीं है, परन्तु स्वतंत्र आगम (शब्द) प्रमाणजन्य ही है। पुनः, जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों से कहते हैं कि आप विवक्षित कथन के सम्बन्ध में जो अनुमान करते हैं, वह अनुमान आप शाखा–प्रशाखा, फल–फूल, पत्ते आदि पदार्थों में भी वृक्ष शब्द का संकेत कराने हेतु करते हो, या संकेत किए बिना ही अनुमान करते हो ? 'संकेत

---

[227] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 619

[228] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 505

किए बिना' यह दूसरा पक्ष तो बिल्कुल भी उचित नहीं है, अर्थात् शाखा–प्रशाखा आदि पदार्थों में वृक्ष शब्द का संकेत माने बिना ही यदि आप अनुमान करते हैं, तो ऐसा कथन (विवक्ष्य) बिलकुल उचित नहीं है, क्योंकि शाखा–प्रशाखा आदि के बिना वृक्ष शब्द का कोई अर्थ ही नहीं होगा।[229]

जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि यदि मान लो कि कोई पुरुष वृक्ष की ओर संकेत करके यह बताना चाहे कि 'यह वृक्ष है', क्योंकि वृक्ष कहते ही यह समझ में आ जाता है कि शाखा–प्रशाखा, फल–फूल–पत्ते आदि से युक्त वृक्ष होता है, किन्तु यदि वही पुरुष 'वृक्ष' शब्द का प्रयोग तृण–घास आदि अन्य पदार्थों में करके यह समझाए कि यह तृण–घास, घट–पट आदि ही वृक्ष हैं, तो आपके (बौद्ध) सिद्धान्तानुसार ही तृण, घट, पट आदि पदार्थों को, जो शाखा–प्रशाखा, फल–फूल, पत्ते आदि से रहित हैं, वृक्ष मानने से तो हेतु में साध्य का अभाव होने से हेतु व्यभिचारी–दोष से ग्रस्त है और आप वृक्ष शब्द का अर्थ तृण, घास, घट, पट आदि हैं– इसको अनुमान–प्रमाण से कैसे सिद्ध कर पाओगे ? क्योंकि अनुमान तो हेतु पर निर्भर होता है। आप वृक्ष को या तृण को क्या हेतु बनाओगे ? आप किसी भी पदार्थ के लिए किसी भी शब्द का प्रयोग करके उसको अनुमान–प्रमाण बताओगे, तो उसमें साध्य का अभाव होने से व्यभिचार–दोष उत्पन्न हो जाएगा, जबकि यह निश्चित है कि शब्द में ही संकेत करने का गुण रहा हुआ है। संकेत शब्द के द्वारा किसी भी वस्तु में हो सकता है। हर शब्द का अपना एक नियत अर्थ होता है, अर्थात् शब्द का एक निश्चित संदर्भ में प्रयोग किया जाएगा, तो ही वह सार्थक होगा और यह लक्षण आगम–प्रमाण में ही है। यदि आप संकेत को स्वीकार नहीं करेंगे, तो वृक्ष शब्द का प्रयोग चाहे किसी भी तृण, घट, पट आदि पदार्थ में करने पर तृण, घट, पट आदि में तो साध्य का अभाव होगा। ऐसे तृण, घट, पट आदि–रूप विपक्ष में भी वृक्ष शब्द का उच्चारण होते हुए भी वहाँ जो हेतु बनेगा, वह हेतु विपक्ष–वृत्ति होने से व्यभिचार–दोष से ग्रस्त होगा। पागल व्यक्ति, या निद्राधीन व्यक्ति, या नशा किया हुआ व्यक्ति कुछ भी अनर्गल बकवास करता रहता है। इन व्यक्तियों के शब्दोच्चारण का कोई नियत अर्थ नहीं रहता है। यद्यपि वे शब्दोच्चारण–रूप तो हैं, तथापि उनमें अभिधेय (वाच्य–विषय) की विवक्षा नहीं है। वहाँ पर भी साध्य का अभाव

---

[229] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 620

होने पर व्यभिचार–दोष उत्पन्न होगा। इसी प्रकार, यदि किसी व्यक्ति की वाणी में स्खलना होती है, अर्थात् वह बोलना कुछ चाहता है, किन्तु बोला अन्य कुछ जाता है, ऐसे पुरुषों के शब्द तथा तृण–घास, घट–पट आदि के सन्दर्भ में प्रयुक्त वृक्ष शब्द, नशेबाज, पागल, निद्राधीन आदि पुरुष के शब्द, तोता, मैना, कौआ आदि के शब्द– ये सारे शब्दोच्चारण अभिधेय– शून्य होने के कारण इनमें हेतु का साध्य से सम्बन्ध नहीं होने के कारण व्यभिचार–दोष उत्पन्न होता है। इस प्रकार,, संकेतक हुए बिना ही शब्द–प्रयोग होता है, ऐसा आप (बौद्धों) का पक्ष खंडित हो जाता है।[230]

पुनः, आप बौद्ध यह कहते हैं कि संकेतक होने से ही अनुमान में शब्द–प्रयोग होता है, आप ऐसा जो प्रथम–पक्ष मानते हैं, तो यह बताएँ कि 'शब्द स्वयं ही संकेत द्वारा अपनी–अपनी निश्चित वाच्य–वस्तुओं का अनुमान बिना ही अर्थबोध कराते हैं'– ऐसा मानने में आपको क्या कोई दोष दिखाई देता है ? यदि नहीं, तो फिर 'शब्द में अर्थबोध कराने की शक्ति है'– ऐसा आपको (बौद्धों को) स्वीकार करना चाहिए। यदि आप शब्द को केवल अपोहजन्य ही मानेंगे, तो फिर शब्द अपने वाच्य–अर्थ को कैसे पाएगा? क्योंकि शब्द का एक निश्चित संदर्भ में कोई प्रयोग किया जाता है, तो ही वह सार्थक होता है और वह गुण आगम–प्रमाण में ही होता है, क्योंकि आगम–प्रमाण में प्रत्येक शब्द अपने एक नियत अर्थ का वाचक होता है, जबकि अनुमान में ऐसा नहीं होता है, अतः, आप (बौद्ध) को यह स्वीकार करना चाहिए कि शब्द स्वयं ही संकेत द्वारा अपने वाच्यार्थ का बोध कराता है। दूसरे शब्दों में, शब्द–प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान–प्रमाण में हो जाता है– ऐसा न मानकर आपको शब्द–प्रमाण की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार कर लेना चाहिए। यही बात जगत् प्रसिद्ध तथा युक्तिसंगत है।[231]

इस पर बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि अन्य की व्यावृत्ति करने के कारण, अर्थात् अन्य का निषेध करते हुए अन्य से सर्वथा भिन्न स्वरूप वाली वस्तु के स्वलक्षण में 'यह घट है' जो जलधारण करने की एक ही अर्थक्रिया करने वाला है तथा 'यह पट है' जो आवरणरूप एक अर्थक्रिया करने वाला है। इस प्रकार,, प्रत्येक वस्तु अपनी–अपनी अर्थक्रिया करने वाली होती है। उस विशिष्ट अर्थक्रिया का जो प्रतिबिंब हमारी बुद्धि में

---

[230] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 620, 621

[231] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 621, 622

बनता है, उसे अपोह कहते हैं। बौद्ध-दार्शनिक कहते हैं कि अन्यों की व्यावृत्ति करने से अन्त में जो बचता है, या अनुभव में आता है, उस अनुभव को ही हम 'अपोह' कहते हैं। अपोह में मात्र अन्य का निषेध ही नहीं होता है, अपितु उस निषेध के साथ ही उसके विधि-पक्ष का भी ग्रहण होता है। हम वस्तु को ही नहीं, किंतु वस्तु में जो अर्थक्रियाकारित्व-गुण है, उसको अपोह कहते हैं।[232]

इस पर, आचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि यह अपोह ही शब्द का अर्थ है, वस्तु (पदार्थ) शब्द का अर्थ नहीं है-- ऐसा आप (बौद्ध) का कथन क्या मिथ्या या अनुचित नहीं है ? क्योंकि आप जो यह कहते हैं कि पदार्थ में एक ही अर्थक्रियाकारित्व-गुण है, आपका यह कथन कैसे माना जाए ? आप जो कहते हैं कि घट में जलधारण करने की यह एक ही अर्थक्रिया का गुण है, जबकि यह प्रसिद्ध तथ्य है कि घट में मात्र जल-धारण की ही क्रिया नहीं होती है, बल्कि घट घृत, तेल, अनाज आदि को भी धारण करता है। इस प्रकार,, एक ही वस्तु अनेक अर्थक्रिया करने की योग्यता रखती है, अर्थात् एक ही वस्तु में अनेक अर्थक्रियाकारित्व का गुण रहा हुआ है।[233]

जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि यदि आप वस्तु में एक ही अर्थक्रियाकारित्व की शक्ति मानेंगे, तो फिर क्या गाय और बैल की अर्थक्रिया में भी एकरूपता मानेंगे ? भार वहन करने वाले बैल को क्या गाय कहेंगे ? और दूध देने वाली गाय को क्या बैल कहेंगे ? अतः, आप एकरूपता या एकत्व किसको कहेंगे ? क्या दोनों में द्वित्व नहीं है, अर्थात् गाय और बैल- दोनों भिन्न-भिन्न नहीं हैं ? या दोनों भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु भिन्न होते हुए भी दोनों में सदृशता का बोध होता है।[234]

प्रथम पक्ष, यदि कहें कि गाय और बैल में भिन्नता नहीं है, अर्थात् दोनों में एकरूपता (एक अर्थक्रियाकारित्व) मानते हैं, तो आपका यह प्रथम-पक्ष भी उचित नहीं है; क्योंकि एक ही बैल नामक जाति में भी भिन्नता देखने में आती है, जैसे किसी बैल के सींग खंडित हैं, तो कोई बैल सींग वाला है, कोई बैल हल चलाने में काम आता है, कोई बैलगाड़ी

---

[232] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 621, 622

[233] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 622

[234] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 622

में जोता जाकर बोझा ढोता है। दूसरे, कालक्रम में भी एक ही बैल अनेक क्रिया करने वाला होता है, साथ ही प्रत्येक बैल भिन्न–भिन्न काल में भिन्न–भिन्न क्रिया करने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार,, 'गो' जाति में भी प्रत्येक गाय कि क्रियाएं भिन्न–भिन्न होती हैं। इस प्रकार,, एक ही गाय में अनेक प्रकार के क्रियाकारित्व के गुण रहे हुए हैं। यह बात तो प्रत्यक्ष–प्रमाण से भी सिद्ध होती है। यद्यपि यह बात ठीक है कि ऊपर से गो जाति की क्रियाएँ एक जैसी दिखाई दे सकती हैं, जैसे कि सब गायें दूध देती हैं, रँभाती हैं, घास खाती हैं और गोमाता कहलाती हैं। आपके सिद्धान्तानुसार अनेक बैलों को तथा अनेक गायों को एक ही मानना तथा गाय और बैल में भी एकरूपता मानना होगा, परन्तु आपका यह कथन तो सर्वथा मिथ्या है। इस प्रकार,, आपने जो कथन किया कि स्वयं व्यावृत्ति स्वरूप वाले स्वलक्षणरूप परमाणुओं में 'यह घट है'– इस प्रकार, की एकाकारता मानना सर्वथा अनुचित है।[235] दूसरा पक्ष, यदि यह कहते हैं कि गाय और बैल में एक प्रकार की समानता है, तो इस समानता (सदृशता) का तात्पर्य क्या है ? 1. यह इसके समान है, ऐसी सदृशता का आधार है? या 2. अन्य (इतर) पदार्थों की व्यावृत्ति होने का आधार है ? अथवा गाय और बैल में समानता है ? या गाय और बैल में विसदृशता है ? इन दोनों पक्षों में से आपको कौनसा पक्ष मान्य है।[236]

आचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों से कहते हैं कि आपके अनुसार गाय और बैल में गो जाति के होने के कारण समानता है, या यह गाय इस गाय के समान है, या यह बैल इस बैल के समान है– इस प्रकार, की समानता है। आपका यह प्रथम पक्ष तो उचित नहीं है, क्योंकि बौद्ध–दर्शन में तो सभी पदार्थ क्षणिक होने से तथा परस्पर अत्यन्त भिन्न होने से तथा 'अन्वय' का अभाव होने से 'सदृश–परिणामता' तो स्वीकार ही नहीं है, अर्थात् कोई भी पदार्थ किसी के समान (सदृश) है ही नहीं। जब एक बैल स्वयं दूसरे समय में स्वयं के समान ही नहीं रहता है, तो दूसरे बैल के साथ उसकी कैसे तुलना करेंगे कि यह बैल इस बैल के समान है, अथवा यह गाय इस गाय के समान है, अतः, आपके बौद्धदर्शन में एक–दूसरे के

[235] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 622
[236] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 622

साथ समानता (सदृशता) संभव ही नहीं होने के कारण आपका प्रथम पक्ष उचित नहीं है।[237]

यदि आप दूसरा पक्ष कहते हैं, तो यह भी उचित नहीं है। विवक्षित एक बैल को दूसरे बैल से व्यावृत्तिरूप (अभाव) है, ऐसी समानता कहते हो, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि एक में अन्य का निषेध, या अन्य व्यावृत्ति अभावरूप होती है और अभाव शून्यात्मक होता है। वन्ध्यापुत्र के समान उसमें स्वलक्षण संभव नहीं हैं, जैसे – वन्ध्यापुत्र का अभाव होने से, अर्थात् 'सत्' नहीं होने से उसमें स्वलक्षण का प्रवेश नहीं हो सकता, अर्थात् उसका कोई स्वलक्षण नहीं हो सकता, क्योंकि अन्य की व्यावृत्ति अभाव (असत्) रूप होती है, उसका कोई स्वलक्षण नहीं हो सकता है, इसलिए आपका यह दूसरा तर्क भी उचित नहीं है।[238]

पुनः, आचार्य रत्नप्रभ बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि आप जो विवक्षित– समानत्व का अर्थ 'अन्य से व्यावृत्ति' मानते हैं, तो इस अन्य की व्यावृत्ति को आप किसकी अपेक्षा से व्यावृत्ति मानते हैं ? 1. क्या आप उसे सामान्य अर्थात् सजातीय की अपेक्षा से व्यावृत्ति मानेंगे ? या 2. विजातीय की अपेक्षा से व्यावृत्ति मानेंगे ? यदि आप प्रथम पक्ष मानते हैं अर्थात् सजातीय की अपेक्षा से व्यावृत्ति मानते हैं, तो कोई भी पदार्थ किसी भी पदार्थ की अपेक्षा से व्यावृत्तिरूप अर्थात् निषेधरूप नहीं होगा, क्योंकि पूर्ण असमानता भी संभव नहीं है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि घट पदार्थ की सिद्धि के लिए क्या आप घट जाति की ही व्यावृत्ति करेंगे, या पट जाति की व्यावृत्ति करेंगे ? अर्थात् यह घट घट जाति के घट के समान नहीं है। इसका तात्पर्य यह निकला कि घट घट के समान नहीं है, अपितु पट के समान है। इस प्रकार,, आप घट और पट में समानता स्वीकार करेंगे। इसी प्रकार, पट को सिद्ध करने के लिए आप पट जाति का निषेध करते हुए यह सिद्ध करेंगे कि यह पट इस घट के समान है। इस प्रकार,, पट और घट में समानता स्वीकार करेंगे। तात्पर्य यह हुआ कि घट अपने सजातीय घट से भिन्न है और पट भी अपने सजातीय पट से भिन्न है। घट और पट अपने सजातीय इतर पदार्थों से व्यावृत्त होने के कारण यदि आप उनकी विजातीय पदार्थों के साथ समानता सिद्ध करते हैं, तो आपका कथन खंडित हो जाता है। समानता अर्थात् सामान्य तो भावरूप है, जबकि

---

[237] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 622

[238] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 622

आप तो सामान्य को भावरूप स्वीकार करते ही नहीं हैं, अतः, आपका प्रथम पक्ष खंडित हो जाता है।[239]

जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों से कहते हैं कि यदि आप यह दूसरा पक्ष ग्रहण करते हैं कि अन्य की व्यावृत्ति का तात्पर्य विजातीय से व्यावृत्ति है, तो गो की बैल आदि की अपेक्षा से सजातीयता सिद्ध होती होगी और अश्व, हाथी आदि अन्य पदार्थों से विजातीयता सिद्ध होगी, क्योंकि आप जब तक सजातीय को स्वीकार नहीं करेंगे, तब तक विजातीय का निषेध कैसे करेंगे? आप सामान्य को स्वीकार तो करते नहीं हैं, क्योंकि सामान्य तो जात्यान्वित और काल्पनिक है, मात्र विशेष को स्वीकार करते हैं, तो विशेष तो अनेक हैं, तो क्या प्रत्येक विशेष के अलग–अलग नाम लाएँगे ? विशेष में आप किसकी किससे व्यावृत्ति करेंगे ? इस प्रकार,, दोनों में परस्पराश्रय नाम का दोष उत्पन्न हो जाएगा। विजातीय विजातीय तभी कहलाएगा, जब कोई सजातीय हो और दोनों में इस पृथक्कीकरण का आधार यह है कि यह सजातीय है तथा यह विजातीय है। तात्पर्य यह है कि सजातीयता की सिद्धि विजातीय से व्यावृत्तिरूप है, इसलिए अन्य पदार्थों से विजातीयता सिद्ध होने पर सजातीयता की सिद्धि भी घटित हो सकती है।[240] फलितार्थ यह है कि सजातीयता अन्य की व्यावृत्तिरूप होने से अन्य में विजातीयता तब तक सिद्ध नहीं होगी, जब तक सजातीयता की सिद्धि नहीं होगी। इसी प्रकार, विजातीयता की सिद्धि सजातीयता की सिद्धि के बिना घटित नहीं हो सकती और सजातीयता की सिद्धि विजातीयता की सिद्धि के बिना असंभव होने से दोनों में परस्पराश्रय नामक दोष उत्पन्न होगा।[241]

जैन–दार्शनिक पुनः कहते हैं कि प्रत्येक शब्द का अपना एक भावात्मक (विधानात्मक) अर्थ होता है। शब्द केवल विजातीय का निषेध ही नहीं हो सकता, किन्तु वह सजातीय का अर्थात् वस्तु का विधान भी करता है। यदि शब्द को केवल निषेधात्मक मानेंगे, तो फिर वह विजातीय के समान ही सजातीय का निषेधक हो जाएगा और ऐसी स्थिति में वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादक होने से उसका औचित्य ही समाप्त हो जाएगा।

---

239 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 623

240 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 623

241 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 623

'बौद्ध–प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा' नामक पुस्तक में डॉ. धर्मचन्द्र जैन लिखते हैं कि 'अकलंक ने जैन–दर्शनानुसार प्रतिपादित किया है कि किसी एक वस्तु में संकेत ग्रहण करके तत्स सदृश अन्य घटों में भी 'घट' शब्द का व्यवहार किया जाता है।[242] समस्त घटों में पृथक्–पृथक् रूप से 'घट' शब्द का संकेत ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं होती है। प्रत्येक वस्तु सदृशासदृशात्मक होती है, वह तज्जातीय द्रव्यों के सदृश तथा विजातीय–द्रव्यों से विसदृश होती है, यथा– 'घट' वस्तु तत्सदृश घटों के सदृश तथा पट आदि से विसदृश होती है। उसकी अन्य वस्तुओं से सदृशता सामान्य है तथा विसदृशता विशेष है। सामान्य विशेष से पृथक् होकर वस्तु में नहीं रहता है। इसी प्रकार, विशेष भी सामान्य से पृथक् होकर वस्तु में नहीं रहता है। दोनों की प्रतीति एक ही वस्तु में होती है। हमें जो भी ज्ञान होता है, वह सामान्य–विशेषात्मक वस्तु का ही ज्ञान होता है, इसलिए सामान्य–विशेषात्मक वस्तु में ही संकेत ग्रहण होता है।'[243]

जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि शब्द का अर्थ बुद्धि में प्रतिबिम्बित प्रत्यय (Idea) है या यथार्थ बाह्य–वस्तु है ? यदि आप बुद्धि में प्रतिबिम्बित प्रत्यय (Idea) को ही शब्द का वाच्यार्थ मानते हैं, तो यह बताइए कि मन का जो विकल्प है, अर्थात् वस्तु की जो मानसिक–संकल्पना है, क्या वही वस्तु है ? क्या बाह्यगत (भूमिगत) घट–पट आदि पदार्थ (वस्तु) नहीं हैं ? यदि आप ऐसा मानते हैं, तो फिर यह बताइए कि शब्द को सुनकर श्रोता की प्रवृत्ति या जन–साधारण की प्रवृत्ति किसमें होगी ? यदि शब्द केवल मानसिक–संकल्पना का वाचक है और बाह्यार्थ (बाह्य–वस्तुओं) से उसका कोई संबंध ही नहीं है, तो फिर श्रोता को बाह्यार्थ में प्रवृत्ति कैसे होगी ? अर्थात् बाह्यार्थ की प्राप्ति या बाह्यार्थ का बोध (ज्ञान) कैसे होगा ?[244]

बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर अपने मत की पुष्टि में उत्तर देते हैं कि शब्द के द्वारा बुद्धि में अर्थ का मानस–प्रतिबिम्ब (idea) उत्पन्न होता है।

---

[242] देखें – तत्रैकमाभिसन्धाय, समानपरिणामिषु।
समयः तत्प्रकारेषु, प्रवर्तेतेति साध्यते।। – न्यायविनिश्चय, 198, 199

[243] देखें – तत् समाना समानेषु, तत्प्रवृत्तिनिवृत्तये।
संक्षेपेण क्वचित्, कश्चिच्छब्दः संकेत मश्नुते।। – न्यायविनिश्चय, 214

[244] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 624

शब्द–ज्ञान द्वारा बाह्य–अर्थ का ग्रहण नहीं होता है, अतः, मानस–प्रतिबिम्ब (प्रत्यय) ही शब्द का वाच्य होता है। स्वप्रतिभास से बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुआ जो अपोह (विकल्प) है, वह घट, पट आदि पदार्थ (अर्थ) रूप नहीं है, अर्थात् वे विकल्प पदार्थरूप नहीं हैं, वे मानसिक–संकल्पना हैं, idea हैं, आभास हैं, जिसे हम बौद्ध–दार्शनिक अनर्थरूप कहते हैं। ऐसे अनर्थरूप मानस–प्रत्यय से ही हमारी बुद्धि में प्रतिभासित (प्रतिबिम्बित) अपोह (विकल्प) में भूमिगत वास्तविक घट, पट आदि पदार्थ का अध्यवसाय (निश्चय) होता है और इस अध्यवसाय में ही श्रोता की भी प्रवृत्ति होती है।[245]

ज्ञान की अर्थाकारता का खंडन करते हुए जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि बौद्धों से प्रतिप्रश्न करते हैं कि यदि अर्थाकार– प्रतिबिम्ब को स्वीकार कर भी लिया जाए, तो वह प्रतिबिम्ब किसका है ? स्वलक्षण अर्थ का है या सामान्य का ? स्वलक्षण का तो वह प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता, क्योंकि स्वलक्षण अन्य समस्त अर्थों से व्यावृत्ताकारवान् होता है। यदि ज्ञान में सामान्य का प्रतिबिम्ब बनता है, तो यह भी अयुक्त है, क्योंकि बौद्ध–मत में सामान्य असत् है, उसका प्रतिबिम्ब नहीं बन सकता।[246]

अतः, जैन–दार्शनिक प्रश्न करते हैं कि यदि शब्द विकल्परूप में ही अपने मानस–प्रतिबिम्ब (प्रत्यय) का निश्चयात्मक माना जाता है, तो इससे बाह्यार्थ में, अर्थात् भूमि पर स्थित घट–पट आदि पदार्थ में प्रवृत्ति कैसे होगी? आप बौद्ध जो यह कथन करते हैं कि शब्द–विकल्प द्वारा अनर्थ में अर्थ का अध्यवसाय करने से बाह्यार्थ में प्रवृत्ति होती हैं, तो यह अर्थाध्यास क्या है ? अर्थात् आप अर्थाध्यास किसको कहते हैं ?[247]

'बौद्ध–प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा' नामक पुस्तक में डॉ. धर्मचन्द जैन इस सन्दर्भ में लिखते हैं कि 'बाह्यार्थ को ग्रहण करना अध्यवसाय है, तो यह 'अन्य–मत' को सिद्ध करता है, क्योंकि बौद्धों को तो शब्द–ज्ञान द्वारा बाह्य–अर्थ का ग्रहण अभीष्ट नहीं है। यदि अर्थाध्यावसाय का कारण अर्थ है, तो यह भी अनुपपन्न (असिद्ध) है, क्योंकि अर्थ तो अपनी सामग्री से उत्पन्न होते हैं, ज्ञान से नहीं। यदि ज्ञान–मात्र से ही

---

[245] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 624

[246] जैन भाषा दर्शन, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 54

[247] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 624

अर्थ उत्पन्न होने लगे, तो सबको समस्त अर्थ (पदार्थ) प्राप्त हो जाएं और सभी व्यक्ति धनाढ्य हो जाएँ। यदि स्वाकार (ज्ञानाकार) को बाह्यार्थ से जोड़ना अध्यवसाय है, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसी प्रतीति नहीं होती है। यदि बाह्यार्थ को स्वाकार में आरोपित करना अध्यवसाय है, तो यह भी अनुचित है, क्योंकि बाह्यार्थ एवं स्वाकार का पृथक्–पृथक् ज्ञान हुए बिना एक का दूसरे पर आरोपण नहीं हो सकता। दोनों का ज्ञान न निर्विकल्प–प्रत्यक्ष से हो सकता है और न सविकल्प से, अतः, शब्द–विकल्प बाह्यार्थ का स्वाकार में अथवा स्वाकार का बाह्यार्थ में आरोप नहीं कर सकता।'[248]

बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर कहते हैं कि हम समारोप को अध्यवसाय कहते हैं, यथा– सूर्य की किरणों से चमकती रेती में मृग को पानी का आभास होता है और फिर मृग की उसमें प्रवृत्ति होती है, जिसको मृग–मरीचिका कहा जाता है। इस अर्थरूप रेती में अनर्थरूप जल का जो आभास होता है, बस वही अध्यवसाय है। पुनः, यथा सीप में रजत की भ्रांति होती है, उसी प्रकार अनर्थरूप बुद्धि में प्रतिबिम्बित विकल्प में वास्तविक बाह्यार्थ का जो भ्रम होता है, वह अध्यवसाय है, अर्थात् अर्थ में अनर्थ का समारोप या मिथ्या–ज्ञान अध्यवसाय है, अतः, शब्द का वाच्यार्थ पदार्थ न होकर मात्र अध्यवसाय है, जो मृग–मरीचिका के समान एक मानसिक–संकल्पना है। इस प्रकार,, पदार्थरूपी अर्थ पर मनोकल्पनारूपी अनर्थ आरोपित होने को ही हम अध्यवसाय कहते हैं।[249]

जैन–दार्शनिक आचार्य रत्नप्रभसूरि रत्नाकरावतारिका में बौद्ध–मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि यदि आप अर्थ पर अनर्थ को समारोप कहते हैं, तो वह समारोप अर्थरूप (भूमि पर स्थित घट–पट आदि) और अनर्थरूप अर्थात् बुद्धिकल्पित घट–पट आदि– इन दोनों को विकल्प का विषय बनने पर ही घटित हो सकता है, अन्यथा घटित नहीं हो सकता। आप (बौद्ध) जो यह तर्क देते हैं कि जैसे मृग–मरीचिका की ओर प्रवृत्ति होती है, वैसे अर्थ की ओर प्रवृत्ति होती है, यद्यपि यह ठीक है कि मृग–मरीचिका की ओर प्रवृत्ति होती है, किन्तु उसकी मानसिक–संकल्पना कभी सार्थक नहीं होती है। पिपासु पानी समझकर प्रवृत्ति कर लेता है,

---

248 देखें– न्यायकुमुदचन्द्र, पृ. 558–580, उद्धृत–बौद्ध–प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा

249 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 624

किन्तु मानसिक–संकल्पना से प्यास शान्त नहीं होती। पुनः, जैसे एक अर्थरूप अग्नि है तथा दूसरी अनर्थरूप क्रोधाग्नि है। अर्थरूप अग्नि यथार्थ होती है, क्योंकि इस अग्नि में जलने की क्रिया होती है, अन्न पकाया जाता है, अग्नि के स्पर्श से हाथ जल जाते हैं आदि। दूसरे शब्दों में, इसकी क्रियाएँ यथार्थ होती हैं, तो इस अर्थरूपी अग्नि पर यदि आप क्रोधाग्नि का उपचार करते हैं, तो आपका यह कथन उपयुक्त नहीं है, क्योंकि क्रोधाग्नि में यथार्थ अग्नि के समान लक्षण नहीं होते हैं। यह ठीक है कि घट कहते ही हमारे मस्तिष्क में सर्वप्रथम उसका एक आकार बनता है, मानसिक–संकल्पना होती है, हमारी बुद्धि में घट नाम का एक प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है, किन्तु क्या उस संकल्पनारूपी घट में जल, घृत, तेल आदि पदार्थ भरे जा सकते हैं ? अर्थात् नहीं भरे जा सकते हैं। जब हम कहते हैं कि यह गाय है, तो हमें यह अर्थ–बोध होता है कि गाय नाम का कोई पशु है, जबकि गाय की मानसिक–संकल्पना कोई वास्तविक वस्तु नहीं हैं। ज्ञात रहे कि वस्तु का जो वास्तविक लक्षण है, वह भूमि पर स्थित (बाह्यार्थ) घट–पट आदि यथार्थ वस्तु में ही होता है और वह कभी भी समारोप या विकल्प का विषय बनता ही नहीं है, अतः, श्रोता की प्रवृत्ति वास्तविक पदार्थ की ओर होती है, अवास्तविक पदार्थ की ओर अर्थात् पदार्थ के मानस–प्रत्यय (idea) की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। वास्तविक अग्नि की ओर प्रवृत्ति हो सकती है, किन्तु उपचरित क्रोधाग्नि की ओर कभी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः, मानसिक–संकल्पनारूपी बाह्यार्थ पर संकल्पना के आरोपण को अध्यवसाय कहना, आपका यह सिद्धांत खण्डित हो जाता है।[250]

'जैन–भाषा–दर्शन' में विद्वद्वर्य डॉ. सागरमल जैन लिखते हैं कि यदि बौद्ध–दार्शनिक इसके प्रत्युत्तर में यह मानें कि अयथार्थ में अर्थ का अध्यवसाय करने से बाह्य में प्रवृत्ति होती है, तो उनकी यह मान्यता समुचित नहीं है। यदि इसके विपरीत, बाह्यार्थ को ग्रहण करने को ही अर्थाध्यास कहते हैं, तो इससे जैन–मत की ही पुष्टि होती है।[251]

बौद्ध–दार्शनिक जैन–मत की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि आपका यह कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि मार्ग में चलते व्यक्ति को सीप में रजत का मिथ्या आरोप होता है। यह ठीक है कि उसको मिथ्या

---

[250] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 624, 625

[251] जैन भाषादर्शन, डॉ. सागरमल जैन, पृ. 54

भ्रम हुआ है, किन्तु वह उस रजत को मिथ्या नहीं मानता है, अपितु रजत को सत्य समझकर ही उस ओर प्रवृत्ति करता है, अथवा उसको प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, अतः, सीप में रजत का आरोप होते हुए भी रजत को चाहने वाले की प्रवृत्ति तो वास्तविक रजत के प्रति ही होती है।[252]

पुनः, जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों से कहते हैं कि आपके सिद्धांत में प्रथम दोष तो यह है कि सीप चाहे रजतरूप है या न भी है, किन्तु यह सत्य तथ्य है कि सीप स्वयं भी तो एक पदार्थ है, इसलिए वह अर्थरूप है। जो अर्थरूप होते हैं, उसमें ही इन्द्रियों की अपटुता से अन्य अर्थ का भ्रम हो सकता है, यथा– 'यह ठूंठ है या पुरुष है'। यहाँ भी मनोकल्पना से बने हुए शब्दार्थरूप विकल्प तो अर्थरूप हैं ही नहीं, जिससे उनमें अन्य अर्थ का समारोप संभव हो सके ? कदाचित् सीप को रजत समझकर मनुष्य भ्रम के कारण उसमें चाहे प्रवृत्ति कर भी ले, किन्तु अंत में तो सीप का सही बोध होता ही है। उसी प्रकार, विकल्परूप अनर्थ में कदाचित् बाह्यार्थ घट–पटरूप अर्थ का उपचार करके यदि कोई प्रवृत्ति करेगा– ऐसा मान भी लें, तो भी यह समारोप भ्रान्तिरूप ही है, इसलिए उसमें प्रवृत्त बना हुआ अर्थक्रिया का अर्थी पुरुष किस प्रकार सफलता को प्राप्त करेगा ? जैनाचार्य कहते हैं कि इस प्रकार, शब्द का वाच्यार्थ मानसिक–संकल्पना नहीं है, अपितु भू स्थित घट–पट आदि पदार्थ ही हैं।[253] आप बौद्ध–दाशनिकों ने पूर्व में जो यह कथन किया कि शब्द और अपोह के मध्य मात्र कार्य–कारण–भाव है, शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचकभाव नहीं है, अतः, कार्य–कारण–भाव को ही वाच्य–वाचकभाव के समान समझ लेना चाहिए, अर्थात् कार्य–कारण–भाव का तात्पर्य भी वाच्य–वाचकभाव के समान ही है, आपका यह कथन अनुचित है। यदि कार्य–कारण–भाव ही वाच्य–वाचकभाव हो, तो श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होने वाले ज्ञान में प्रतिभासित होता हुआ शब्द भी स्वयं के प्रतिभास में कारण बनता ही है, जिससे यह शब्द भी स्वयं को होने वाले ज्ञान का वाचक बनेगा और मन में श्रोत्र द्वारा हुआ ज्ञान वाच्य बनेगा, अर्थात् शब्द श्रोत्रजन्य ज्ञान का कारण और श्रोत्रजन्य ज्ञान शब्द का कार्य होने से शब्द को वाचक और श्रोत्रजन्य ज्ञान को वाच्य बनना चाहिए, परंतु इन दोनों के मध्य वाच्य–वाचकभाव नहीं है, आपका यह कथन उचित नहीं है। पुनः, शब्द जैसे मनोसंकल्पना के कारण

---

[252] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 625

[253] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 625

हैं, उसी प्रकार परंपरा से भूस्थित घट–पट आदि पदार्थ भी समारोप का कारण हैं, इसलिए स्वलक्षण अर्थात् भूस्थित घट–पट आदि पदार्थ (वाच्य होते हुए भी) कारण होने से आपके मत में वाचक बनेंगे और ऐसा होने पर मन में विकल्प को उत्पन्न करने में जितने कारण हैं, वे सब वाचक बनेंगे, जिससे प्रतिनियत वाच्य–वाचकभाव की जो व्यवस्था है, वह विनाश को प्राप्त हो जाएगी, अर्थात् घट शब्द और घट पदार्थरूप जो वाच्य–वाचक–व्यवस्था इस संसार में समस्त प्राणीमात्र को अनुभव से सिद्ध है, वह समाप्त हो जाएगी, इसलिए आप बौद्धों को यह समझना चाहिए कि शब्द वाचक ही हैं और सामान्य–विशेषात्मक (उभयात्मक) पदार्थ ही वाच्य है तथा शब्द जो हैं, वे स्वयं में रही हुई स्वाभाविक–शक्ति और संकेत– इन दोनों के द्वारा ही सामान्य–विशेषात्मक (उभयात्मक) स्वभाव वाले ऐसे अर्थ का बोध कराने वाले हैं, यह एक निश्चित तथ्य है।[254]

बौद्ध–दर्शन के अपोहवाद की समीक्षा

बौद्धों के अपोहवाद का सामान्य अर्थ –

शब्द और अर्थ के संबंध को लेकर बौद्धदर्शन में अन्यापोह अथवा उसी के संक्षिप्त रूप, अपोह का सिद्धांत प्रस्तुत किया गया है। बौद्ध–दार्शनिकों की मान्यता है कि शब्द और बाह्यार्थ में कोई संबंध नहीं है, क्योंकि बाह्यार्थ स्वलक्षणरूप होता है, साथ ही वह क्षणिक एवं निरंश होता है। शब्द में क्षणिक एवं निरंश स्वलक्षण के संकेत की सामर्थ्य नहीं है।[255] दिङ्नाग के अनुसार, शब्द विकल्प से उत्पन्न होते हैं और विकल्प शब्द से उत्पन्न होते हैं, वे दोनों अन्योन्याश्रित हैं। विकल्प में स्वलक्षणरूप 'अर्थ' को स्पर्श करने की भी सामर्थ्य नहीं है।[256] बौद्धों के अनुसार, शब्द और अर्थ (पदार्थ)– दोनों एक–दूसरे से भिन्न हैं। शब्द कान से सुना जाता है और अर्थ आँख से देखा जाता है, अतः, शब्द और अर्थ में तादात्म्य–संबंध और तदुत्पत्ति–संबंध संभव नहीं है,[257] किन्तु फिर प्रश्न यह उठता है कि शब्द का वाच्यार्थ (Meaning) क्या है ? इसी को स्पष्ट करने

---

254 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 626

255 तत्र स्वलक्षणं तावन्न शब्दैः प्रतिपाद्यते। – तत्त्वसंङ्ग्रह, पृ. 871

256 विकल्पयोनयः शब्दाः, विकल्पाः शब्दोनयः।
कार्यकारणता तेषां नार्थं शब्दाः स्पृशन्यपि।। दिङ्नाग्, उद्धत – Buddhist Logic, Vol 2.P.405, F.N.I

257 श्रोत्रेन्द्रियेण शब्दो गृह्यते, अर्थस्तु चक्षुरादिना। तत्त्वसंग्रहपंजिका 1512, पृ. 538

के लिए बौद्धों ने अन्यापोह का सिद्धांत प्रस्तुत किया है। अन्यापोह का अर्थ किया है– अतद्‌व्यावृत्ति। उदाहरण के रूप में, गो शब्द गो से भिन्न, अर्थात् अगो की व्यावृत्ति या निषेध करके अपना अर्थ या अभिप्राय प्रकट करता है।[258] इस प्रकार,, अपोह का अर्थ, वस्तु जो है उसे बताना नहीं, अपितु वस्तु जो नहीं है, उसका निषेध कर देना ही है। इस प्रकार,, अपोह निषेधात्मक है। वह अतद् का निषेध करता है। इस प्रकार,, गो शब्द का अर्थ है– वह महिष, अश्व, ऊँट आदि नहीं है। बौद्ध–दार्शनिक गो शब्द का अर्थ गो से भिन्न अगो का प्रतिषेध या निषेध ही मानते हैं।[259] अपोह का यह सामान्य अर्थ उसके निषेधात्मक स्वरूप को प्रकट करता है, किन्तु बौद्धदर्शन में कुछ आचार्य ऐसे भी हुए हैं, जो इसे भावात्मक मानते हैं, अतः, उनकी दृष्टि में चाहे अन्यापोह निषेधात्मक प्रतीत होता है, किन्तु उसकी ध्वनि तो भावात्मक ही है। वस्तु क्या है ? यह जानने के लिए सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि वह क्या नहीं है। बौद्ध–दार्शनिक रत्नकीर्ति (10 वीं शताब्दी) लिखते हैं कि अपोह द्वारा शब्द का केवल विधिरूप अर्थ अपेक्षित नहीं है और न केवल अन्यव्यावृत्तिरूप निषेध अर्थ ही अभिप्रेत है, अपितु अन्यव्यावृत्तिपूर्वक विशिष्ट विधिरूप अर्थ ही अभिप्रेत है।[260] दूसरे शब्दों में, अपोह शब्द न तो एकान्तरूप से विधिरूप है और न एकान्तरूप से निषेधात्मक है। अपोह शब्द जाति की कल्पना की अपेक्षा से कल्पनारूप है, किन्तु अन्य का निषेध करने की अपेक्षा से या अन्यव्यावृत्ति की अपेक्षा से न एकान्ततः विधिरूप है, और न एकान्ततः निषेधरूप है, वस्तुतः वह विधि–निषेधरूप है, क्योकि प्रत्येक विधान में निषेध और प्रत्येक निषेध में विधान निहित ही है।

उपसंहार –

इस प्रकार,, हम देखते हैं कि रत्नाकरावतारिका में रत्नप्रभसूरि ने बौद्धों के अपोहवाद का तार्किक–दृष्टि से प्रस्तुतिकरण कर उसका खंडन किया है और यह भी स्पष्ट है कि बौद्धदर्शन का अपोहवाद मुख्यतः शब्द और उसके वाच्यार्थ के संबंध को लेकर ही प्रस्तुत होता है। बौद्धों के समक्ष मीमांसा का शब्द और अर्थ का तादात्म्य–संबंध और नैयायिकों का

---

258 स्वार्थमन्यापोहेन भाषेते। – प्रमाण–समुच्चय 5.1, उद्धत– तत्त्वसंग्रहपंजिका 529

259 प्रसज्य प्रतिषेधश्च गौर गौर्न भवत्ययम्।
अतिविस्पष्ट एवायमन्यापोहोऽवगम्यते।। तत्त्वसंग्रह 1009

260 नास्माभिरपोहशब्देन विधिरेव केवलोऽभिप्रेतः नाप्यन्याव्यावृत्तिमात्रम्।
किन्त्वन्यापोह विशिष्टो विधिः शब्दानामर्थः। – रत्नकीर्त्तिनिबन्धावलि, पृ. 54

तदुत्पत्ति–संबंध उपस्थित थे, किन्तु उनकी कठिनाई यह थी कि शब्द और अर्थ में न तो वे तादात्म्य–संबंध को स्वीकार कर सकते थे और न ही तदुत्पत्ति–संबंध को स्वीकार कर सकते थे, क्योंकि उन्हें ये दोनों ही संबंध तार्किक–दृष्टि से सदोष ही प्रतीत हो रहे थे। यद्यपि उनके समक्ष जैनों का वाच्य–वाचक–संबंध भी उपस्थित रहा होगा, किन्तु उनका क्षणिकवाद का सिद्धांत इसके भी विरोध में जाता था। चूंकि सत्ता क्षणिक है, तो ऐसी स्थिति में शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचक–संबंध भी संभव नहीं है। यदि शब्द किसी जाति का भी वाचक है, तो उस जाति को क्षणजीवी नहीं माना जा सकता, अतः, शब्द सामान्य या जाति का वाचक है, यह कहना भी कठिन है। जाति की कल्पना भावात्मक है, जबकि अपोह की कल्पना निषेधात्मक है। यद्यपि बौद्ध–दार्शनिक शब्द में वाचक–शक्ति को चाहे अव्यक्त रूप से स्वीकार भी कर लें, किन्तु उनकी समस्या यह है कि शब्द का वाच्य–विषय तो क्षणिक और निरंश स्वलक्षण है, जो किसी भी स्थिति में वाचक नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि जिस शब्द द्वारा उसे वाच्य बनाया जाएगा, उसके उच्चारण–काल में ही वह नष्ट हो जाएगा, अतः, क्षणिक और निरंश स्वलक्षण में संकेत ग्रहण होना संभव ही नहीं है। साथ ही, जब बौद्धों का सामान्य भी काल्पनिक है, तो फिर सामान्य काल्पनिक में ही शब्द–संकेत ग्रहण संभव नहीं है, क्योंकि सामान्य अवस्तुरूप होने से अर्थक्रिया में समर्थ नहीं है। यदि यह माना जाए कि शब्द असांकेतिक–अर्थ को वाच्य बनाते हैं, तो यह कथन भी आत्म–विरोधी सिद्ध होगा। ऐसी स्थिति में बौद्धों की यह मजबूरी थी कि वे केवल यह मानें कि शब्द अन्य का अपोह या निषेध मात्र करता है। वस्तुतः, बौद्धों का यह अन्यापोह का सिद्धांत उनके क्षणिकवाद का ही तार्किक–प्रतिफलन था। यही कारण था कि जैन–दार्शनिक अकलंक, विद्यानंदी, वादिदेवसूरि, रत्नप्रभसूरि आदि ने अपोहवाद का निरसन कर यह बताने का प्रयास किया है कि शब्द 'गो' 'अगो' की निवृत्ति करने के साथ ही उसके गोत्व का प्रतिपादन भी करता है, इसलिए शब्द का वाच्य–विषय सामान्य–विशेषात्मक परिणामी–नित्य वस्तु ही है– ऐसा मानना ही उचित होगा। जैसा कि हम पूर्व में संकेत कर चुके हैं, रत्नकीर्त्ति आदि कुछ बौद्ध–दार्शनिकों ने भी अन्यापोह को केवल निषेधरूप न मानकर विधि–निषेधरूप माना है, क्योंकि यदि अन्यापोह को एकान्तरूप से निषेधपरक ही माना जाएगा, तो शब्द से जन–साधारण की अर्थ में प्रवृत्ति संभव नहीं होगी, अथवा शब्द को किसी अन्य अर्थ में प्रवृत्ति करने के लिए कहा जाए और उसकी प्रवृत्ति किसी अन्य अर्थ में हो जाए,

इसीलिए जैन–दार्शनिकों ने शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचक–संबंध मानते हुए यह माना है कि शब्द अपने अर्थ के प्रतिपादन में विधि–निषेधरूप होता है। इस संदर्भ में डॉ. धर्मचंद जैन का निम्न कथन ही हमें अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। वे लिखते हैं 'यह मानना उपयुक्त होगा कि प्रत्येक शब्द जिस प्रकार विधि अर्थ का वाचक होता है, उसी प्रकार वह उससे अन्य का अपोह भी करता है तथा अन्य का अपोह या अतद्व्यावृत्ति करता हुआ विधि या तद् का वाचक भी होता है, क्योंकि मात्र अन्यापोह से शब्द द्वारा विवक्षा का ज्ञान नहीं हो सकता। अन्यापोह में अनवस्था–दोष आता है और कहीं न कहीं जाकर शब्द का वाच्य–अर्थ मानना आवश्यक हो जाता है। विधिपरक अर्थ भी पर्याप्त नहीं है, क्योंकि तद्भिन्न की व्यावृत्ति करके ही कोई शब्द अपने वाच्य–अर्थ का सम्यक्–ज्ञान करा सकता है, अन्यथा नहीं।[261]

[261] बौद्ध–प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा, डॉ. धर्मचंद जैन, पृ. 351

अध्याय 7

बौद्धों के निर्विकल्प–प्रत्यक्ष का खण्डन और प्रमाण की निश्चयात्मकता का प्रतिपादन

प्रमाण–लक्षण के अन्तर्गत प्रयुक्त 'व्यवसाय' शब्द का विश्लेषण करते हुए कहा गया है – **तद्व्यवसायस्वभावं समारोप परिपन्थित्वात्, प्रमाणत्वाद् वा ।। 7।।**

इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि प्रमाण व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) होता है, क्योंकि वह समारोप अर्थात् अज्ञान, संशय और विपर्यय का विरोधी होता है।[262] दूसरे शब्दों में, प्रमाण व्यवसायात्मक है, क्योंकि वह प्रमाण है। आचार्य रत्नप्रभसूरि सर्वप्रथम इस सूत्र में प्रयुक्त प्रमाण, व्यवसाय एवं समारोप– इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट करते हैं, इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं –

1. प्रमाण, अर्थात् प्रामाणिक–ज्ञान।
2. व्यवसायात्मक, अर्थात् निश्चयात्मक–ज्ञान।
3. समारोप–परिपंथी, अर्थात् संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित होकर जो वस्तु जैसी है, उसको उसी रूप में अनध्यवसाय (अज्ञान) से रहित ज्ञान।

प्रस्तुत सूत्र में सर्वप्रथम यह स्पष्ट किया गया है कि प्रमाण क्या है? जो ज्ञान समारोप अर्थात् मिथ्यारोपण का विरोधी (परिपंथी) हो, वह प्रमाण है। दूसरे शब्दों में, जो ज्ञान संशय, विपर्यय और यथावस्थित ज्ञान प्रदान कराता है, वह प्रमाण कहलाता है, अथवा जो ज्ञान वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निश्चयात्मक–बोध कराता है, वह प्रमाण कहलाता है। सूत्र के अन्त में आया हुआ 'वा' शब्द संयोजक है। यहाँ प्रमाण के दो लक्षण दिए गए हैं, एक 'व्यवसायी' तथा दूसरा 'समारोप–परिपंथी'। ये दोनों ही लक्षण

---

[262] देखें – प्रमाणनयतत्त्वालोक, वादीदेवसूरि, पृ. 5

स्वतंत्र रूप से प्रमाण की सम्यक्–निश्चयात्मकता को सिद्ध करने में समर्थ हैं।[263] रत्नाकरावतारिका में निम्न अनुमान के आधार पर भी प्रमाण की व्यवसायात्मकता को सिद्ध किया गया है– 1. प्रमाण व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) होता है, क्योंकि वह समारोप अर्थात् संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय का विरोधी है। जो ज्ञान समारोप का विरोधी नहीं होता, वह निश्चयात्मक भी नहीं होता है, जैसे– यह घट है या पट है– ऐसा संशयात्मक–ज्ञान। 2. दूसरे, प्रमाण व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) है, क्योंकि वह प्रमाण है। जो व्यवसायात्मक नहीं होता, वह प्रमाण भी नहीं होता, जैसे– यह घट है या पट है आदि ऐसा अनिश्चयात्मक–ज्ञान।[264]

इस सूत्र में उल्लेखित प्रमाण की व्यवसायात्मकता के आधार पर रत्नप्रभसूरि बौद्ध–दर्शन के निर्विकल्प–प्रत्यक्ष का खण्डन करते हैं एवं जैन–दर्शन के प्रमाण की निश्चयात्मकता को सिद्ध करते हैं।

रत्नप्रभसूरि द्वारा बौद्धों के निर्विकल्प–प्रत्यक्ष की समीक्षा

बौद्ध–दर्शन के अनुसार, निर्विकल्प–प्रत्यक्ष प्रमाणरूप है, किन्तु जैनों का कहना है कि निर्विकल्प–प्रत्यक्ष तो मात्र अनुभूतिरूप होता है, निश्चयात्मक नहीं होता है, अतः, वह प्रमाणरूप नहीं हो सकता, जैन–दर्शन तो प्रमाण को निश्चयात्मक मानता है। प्रमाण की निश्चयात्मकता को अनावश्यक बताते हुए बौद्ध–दार्शनिक सर्वप्रथम यह प्रश्न उठाते हैं कि आपके द्वारा, अर्थात् जैन–दर्शन के द्वारा मान्य प्रमाण की निश्चयात्मकता का सिद्धान्त आपके ही द्वारा मान्य अवग्रह की ज्ञानरूपता से अंशतः तो खण्डित हो जाता है। हमारे (बौद्धों) द्वारा मान्य नीलादि रंगों का निर्विकल्प–प्रत्यक्ष तो आपके द्वारा मान्य 'अवग्रह' के समान ही होता है। विकल्परहित नीलादि रंगों का यह प्रत्यक्ष–ज्ञान प्रमाणरूप तो होता ही है, चाहे वह निश्चयात्मक नहीं हो। अनुभव में जो भी आता है, वह प्रथमतः निर्विकल्प ही होता है, जैसे आपके द्वारा मान्य अवग्रह व्यवसायात्मक या निश्चयात्मक नहीं होते हुए भी ज्ञानरूप है और ज्ञान ही प्रमाण है। इस प्रकार, से, आपके द्वारा मान्य प्रमाण में भी एक देश से अर्थात् अंशतः हमारे द्वारा मान्य निर्विकल्पता तो रही हुई है, अतः, प्रमाण–लक्षण में व्यवसायात्मकता आवश्यक नहीं है।

---

[263] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 50

[264] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 50

जैन– इस पर, आचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों से यह प्रश्न करते हैं कि एक ओर आप नीलादि रंगों के निर्विकल्प–प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते हैं, किन्तु दूसरी ओर उसे व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) नहीं मानते हैं – आपका यह कथन हमें उचित नहीं लगता है। निर्विकल्प–प्रत्यक्ष अनुभूतिरूप तो हो सकता है, जैसे – हमारे द्वारा (जैनों द्वारा) मान्य 'दर्शन', किन्तु वह व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) नहीं हो सकता, अतः, वह प्रमाण नहीं है। उस अनुभवरूप बोध की निश्चयात्मकता का ज्ञान आपको कौनसे प्रत्यक्ष से होता है ? क्या इन्द्रिय–प्रत्यक्ष से होता है ? या मानस–प्रत्यक्ष से ? अथवा योगज–प्रत्यक्ष से होता है ? किंवा स्वसंवेदनरूप–प्रत्यक्ष से होता है ? यहाँ जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि का कहना है कि 1. निर्विकल्प–प्रत्यक्ष की प्रमाणरूपता का ज्ञान इन्द्रिय–प्रत्यक्ष से तो संभव नहीं है, क्योंकि निर्विकल्प–प्रत्यक्ष में किसी प्रकार का विकल्प (निर्णय) तो होता ही नहीं है। इन्द्रियों में मात्र बोध–सामर्थ्य है, विकल्प (निर्णय) सामर्थ्य नहीं है। यह ऐसा ही है– ऐसा निर्णय सामर्थ्य इन्द्रियों में नहीं है, अतः, वे अपने विषय का अर्थात् पदार्थ का निश्चयात्मक–ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ नहीं हैं। 2. दूसरे, जो पदार्थ इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होता है, वही पदार्थ मानस–प्रत्यक्ष का भी विषय बनता है। अतः,, विकल्प (निर्णय) के अभाव में मात्र मानस–प्रत्यक्ष से भी निश्चयात्मक नहीं हो सकता। मानस–प्रत्यक्ष से भी निश्यात्मक–ज्ञान तो तभी हो सकता है, जब किसी भी पदार्थ का इन्द्रियों द्वारा निश्चयात्मक–ज्ञान हो, अर्थात् यह ऐसा ही है– ऐसा विकल्पात्मक या निर्णयात्मक–बोध है, किन्तु आपके (बौद्ध) मतानुसार तो सविकल्प–ज्ञान तो प्रत्यक्ष का विषय है ही नहीं, वह तो अनुमान का विषय है, अतः, आपके मानस–प्रत्यक्ष से भी सविकल्प अर्थात् निश्चयात्मक–ज्ञान संभव नहीं है। 3. तीसरे, योगज–प्रत्यक्ष से भी निश्चयात्मक–ज्ञान अर्थात् सविकल्प–ज्ञान होता है– ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि योगी तो विकल्प करता ही नहीं है, वह तो निर्विकल्प ही रहता है। 4. चौथे, यदि आप स्वसंवेदन से निश्चयात्मक–ज्ञान मानें, तो यह प्रश्न उठता है कि आप (बौद्ध) स्वसंवेदन को, अर्थात् किसी भी वस्तु के स्वसंवेदनरूप स्वरूपोपदर्शन को प्रमाण कहते हैं, या 'यह निर्विकल्प–बोध है'– ऐसे विकल्प के उत्पादक को प्रमाण कहते हैं ? वस्तु के स्वरूपदर्शन के द्वारा जो अनुभूतिरूप स्वसंवेदन होता है, वह भी निर्विकल्प होता है, अतः, वह भी निश्चयात्मक नहीं है। यदि आप उस स्वसंवेदनरूप निर्विकल्प–प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं, तो फिर क्षण–क्षयी, अर्थात्

प्रत्येक क्षण नष्ट होने वाले पदार्थ को एवं अहिंसा, दान आदि में स्वर्ग प्राप्त कराने की शक्ति है– इसको भी प्रमाण मानना पड़ेगा।[265]

बौद्ध–दर्शन सिर्फ अनुभूति को प्रत्यक्ष मानता है, साथ ही वह अनुभूतिरूप नीले रंग आदि प्रत्येक विषय के प्रत्यक्ष को निरंश मानता है। जिस समय नीले रंग आदि का जो प्रत्यक्ष होता है, वह प्रत्यक्ष तो अनुभूतिरूप होता है, अर्थात् उसमें नीले रंग का अनुभवमात्र होता है, किन्तु नीले रंग का निश्चयात्मक–ज्ञान नहीं होता है। नीले रंग का निश्चयात्मक–ज्ञान तो तभी हो सकता है, जब उसी समय नीले रंग के विरोधी किसी रंग का ज्ञान भी हो, क्योंकि प्रतिपक्षी–रंग के अभाव का निर्णय करके ही, यथा– यह श्वेत रंग नहीं है, यह काला रंग नहीं है, या यह पीला रंग नहीं है, अपितु नीला रंग ही है – इस प्रकार, का सविकल्प–ज्ञान होता है, अतः, वस्तु के स्वरूप–निर्णय हेतु सविकल्प–ज्ञान का होना आवश्यक होता है। जब प्रतिक्षण क्षय होने वाले नीले रंग से भिन्न अन्य रंगों का अनुभव या उन अनेक रंगों का ज्ञान हमारी स्मृति में होगा, तभी यह नीला रंग ही है– ऐसा सविकल्पात्मक या निश्चयात्मक–ज्ञान हो सकता है। वस्तुतः, बौद्ध–दार्शनिक मात्र नीले रंग की अनुभूति को प्रत्यक्ष–प्रमाण मानते हैं और प्रतिक्षण नष्ट होने वाले पदार्थ के बोध को अनुमान द्वारा संभव मानते हैं। दूसरे शब्दों में, विकल्पात्मक–ज्ञान को अनुमान द्वारा सिद्ध करते हैं।[266]

जैन – आचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों से कहते हैं कि जिस समय जिस वस्तु का प्रत्यक्ष होता है, उसी समय उसमें उस वस्तु से भिन्न अन्य वस्तुओं अर्थात् पदार्थों के विकल्पों का निषेध (निरसन) भी हो जाता है। यह नीला रंग ही है, ऐसा निश्चयात्मक–ज्ञान अन्य विकल्पों के निषेध के बिना संभव नहीं है, अतः, प्रत्यक्ष सविकल्प ही होता है। आप बौद्ध–दार्शनिक जब संसार की प्रत्येक वस्तु को क्षणिक मानते हैं, तो फिर आपको अहिंसा एवं दान आदि धार्मिक–क्रियाओं के स्वरूप–प्राप्ति आदि रूपफल को भी क्षणिक मानना चाहिए। यदि अहिंसा एवं दानादि धार्मिक–क्रियाएँ क्षणिक हैं, तो फिर अहिंसा एवं दान आदि क्रियाएँ निर्वाण या स्वर्ग–प्राप्ति के साधन हैं– यह कहना भी संभव नहीं होगा, क्योंकि निर्वाण (मोक्ष) या स्वर्ग का प्रत्यक्ष–ज्ञान तो हो नहीं सकता। उसका ज्ञान

---

265 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 51

266 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नाप्रभसूरि, पृ. 51, 52

तो हम मात्र अनुमान से ही प्राप्त कर सकते हैं। यदि निर्वाण (मोक्ष) का प्रत्यक्ष होना संभव माना जाएगा, तो फिर चार्वाक–दर्शन को, जो प्रत्यक्ष–प्रमाण से सिद्ध नहीं होने के कारण निर्वाण या स्वर्ग के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता है, उसे भी मोक्ष या स्वर्ग को स्वीकार कर लेना चाहिए। ज्ञातव्य है कि चाहे मोक्ष या स्वर्ग का इन्द्रियों के माध्यम से प्रत्यक्ष–ज्ञान न भी हो, फिर भी वह अतीन्द्रिय–ज्ञान होने से निश्चयात्मक–ज्ञान ही है। प्रत्येक पदार्थ भावात्मक एवं अभावात्मक– ऐसे दो धर्मों से युक्त होता है। जिस समय हमें किसी वस्तु के नीले रंग का प्रत्यक्ष या बोध होता है, उसी समय उस नीले रंग के विरोधी रंगों का बोध (ज्ञान या अनुभव) भी हमारी स्मृति में रहता है, तभी यह नीला रंग ही है, अन्य लाल, पीला आदि रंग नहीं हैं– ऐसा निश्चयात्मक–ज्ञान कर सकते हैं। इस प्रकार, से, जब अहिंसा एवं दान आदि धार्मिक–क्रियाओं का निश्चयात्मक–ज्ञान होता है, उसी समय उनसे प्राप्त होने वाले मोक्ष या स्वर्ग का भी निश्चयात्मक–ज्ञान होता है।[267]

इस प्रकार, से, निरंशवादी बौद्ध–दर्शन के स्वसंवेदन से वस्तु के स्वरूप का निश्चय हो जाता है– यह युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता है। प्रतिक्षण नष्ट होने वाली वस्तु का निश्चयात्मक–ज्ञान या अहिंसा के पालन या दानादि की क्रियाओं में स्वर्ग प्राप्त कराने की शक्ति है – ऐसा ज्ञान निर्विकल्प–प्रत्यक्ष से संभव नहीं है, अतः, रत्नप्रभसूरि कहते हैं– क्योंकि निर्विकल्प–प्रत्यक्ष निश्चयात्मक–ज्ञान (व्यवसायात्मक–ज्ञान) प्रदान करने में समर्थ नहीं है, अतः, वह प्रमाण भी नहीं है।[268]

जैन – पुनः, आचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्ध–दार्शनिकों से कहते हैं कि 'यह निर्विकल्प–बोध है' – ऐसे विकल्प के उत्पादक ज्ञान को आप प्रमाण कहते हैं, या वस्तु के स्वरूप–दर्शन द्वारा जो अनुभूतिरूप स्वसंवेदन होता है, उसे प्रमाण कहते हैं ? यदि उस स्वसंवेदनरूप निर्विकल्प–प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं, तो हमें आपका यह पक्ष उचित नहीं लगता है, क्योंकि निर्विकल्प–प्रत्यक्ष में, अर्थात् सर्वथा विकल्परहित अनिर्णयात्मक प्रथम बोध में जब हम प्रथम बार नीले रंग को देखते हैं, तो उसका सर्वप्रथम बोध (दर्शन) होता है, फिर हम जानते हैं कि ऐसा रंग नीला होता है। नीले रंग के दर्शन के पश्चात्, यह नीला रंग है– ऐसा जो ज्ञान होता है, वह

267 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 52
268 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 52

निश्चयात्मक ही होता है। इसके पश्चात् भी, जब कभी पुनः उसी प्रकार के नीले रंग को हम देखते हैं, तो, ऐसा रंग नीला होता है– ऐसा जो विशेष ज्ञान होता है, वह ज्ञान निश्चयात्मक–रूप से ही होता है। वह ज्ञान निर्णयात्मक या विकल्परूप होने से सविकल्प–प्रत्यक्ष ही हुआ, वह निर्विकल्प–प्रत्यक्ष कहाँ रहा। ऐसा अनुभूतिरूप स्वसंवेदन निश्चयात्मक होने पर ही प्रमाणरूप होता है, अतः, निर्विकल्पात्मक–प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता है। इसी प्रकार 'यह निर्विकल्प–बोध है'– ऐसे विकल्प का उत्पादक ज्ञान भी सविकल्प होने से ही प्रमाण होगा, मात्र निर्विकल्प–स्वसंवेदन प्रमाण नहीं हो सकता है।[269]

पुनः, आचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों से कहते हैं कि स्वसंवेदनरूप निर्विकल्प–प्रत्यक्ष को यदि आप विकल्प से प्रमाण सिद्ध करना चाहें, तो भी यह संभव नहीं है। दूसरे, यदि आप स्वसंवेदनरूप निर्विकल्प–प्रत्यक्ष से ही उसके प्रमाण (ज्ञान के प्रामाण्य या निश्चयात्मकता) की सिद्धि करेंगे, तो क्या मात्र वस्तु के स्वरूप–दर्शन से ही सिद्धि होगी ? या दूसरे किसी विकल्प (निर्णय) को उत्पन्न करने से सिद्धि होगी ? प्रथमतः, स्वरूपोपदर्शन की अनुभूतिरूप निर्विकल्प–प्रत्यक्ष से ही प्रामाण्य की सिद्धि मानें, तो आपके सिद्धान्त के अनुसार उसमें सबसे पहला दोष क्षणिकता का होगा, क्योंकि क्षण–क्षयी, अर्थात् प्रत्येक क्षण नष्ट होने वाले पदार्थ का ज्ञान प्रमाण कैसे होगा, या अहिंसा दानादि में स्वर्ग प्राप्त कराने की शक्ति है– ऐसा ज्ञान प्रमाण कैसे होगा ? आपके मतानुसार, प्रथम क्षण के पश्चात् दूसरे क्षण में वस्तु नष्ट हो जाती है, तो फिर आप निर्वाण या स्वर्ग को अक्षय कैसे मानेंगे? दूसरे, यदि यह कहते हैं कि नए–नए विकल्पों के उत्पन्न होने से, अथवा यह कहो कि एक के पश्चात् एक विकल्प के उत्पन्न होने से प्रामाण्य की सिद्धि होती है, तो फिर तो एक विकल्प को उत्पन्न करने के लिए दूसरे विकल्प की तथा दूसरे विकल्प को उत्पन्न करने के लिए तीसरे विकल्प की आवश्यकता होगी। इससे तो अनवस्था–दोष हो जाएगा और इस प्रकार, से स्वसंवेदनरूप निर्विकल्प–प्रत्यक्ष की प्रमाणरूपता की सिद्धि संभव नहीं है। इससे तो आपके पक्ष का आंशिक खण्डन हो ही जाता है, इसलिए हम जो यह कहते हैं कि प्रमाणरूप ज्ञान व्यवसायात्मक ही होता है, यह सिद्धांत किसी प्रकार से खण्डित नहीं हो सकता, कारण स्पष्ट है कि नीले रंग आदि के ज्ञान को आप अव्यवसायात्मकता (अनिश्चयात्मकता)

---

[269] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 52

सिद्ध कर ही नहीं सकते। निर्विकल्प–प्रत्यक्ष का प्रामाण्य भी उसके व्यवसायात्मक–ज्ञान (निश्चयात्मक–ज्ञान) होने पर ही होता है, अतः, सविकल्प (निश्चयात्मक) ज्ञान ही प्रमाण होता है।[270]

बौद्ध – निर्विकल्प–बोध के प्रामाण्य की पुष्टि करते हुए बौद्ध–दार्शनिक आचार्य रत्नप्रभसूरि से कहते हैं कि यदि निर्विकल्प–प्रत्यक्ष को प्रमाणरूप नहीं माना जाएगा, तो फिर वह प्रमाणरूपता विकल्प के साथ उत्पन्न हो ही नहीं सकती है, क्योंकि एक विकल्प दूसरे विकल्प के साथ उत्पन्न नहीं होता है, जबकि हमारे सिद्धान्तानुसार निर्विकल्प–प्रत्यक्ष तो विकल्प के साथ भी उत्पन्न हो सकता है, इसलिए प्रमाण विकल्परूप न होकर निर्विकल्प–प्रत्यक्षरूप है। इसका कारण यह है कि जिस समय हम अश्व को प्रत्यक्ष देखते हैं, या अश्व से साक्षात्कार होता है, उस समय हम इन्द्रिय (चक्षुरिन्द्रिय) के द्वारा गो का भी प्रत्यक्षीकरण कर सकते हैं, अथवा हमारी चेतना में गो की स्मृति भी रह सकती है। यदि हम अश्व का सविकल्प–ज्ञान प्राप्त करते हैं, उस समय गाय का स्मरण या प्रत्यक्ष न हो, तो कालान्तर में गो की स्मृति भी नहीं रहेगी। इस प्रकार,, उपर्युक्त अनुमान से निर्विकल्प–प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने के लिए उसके व्यवसायात्मक होने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार,, व्यवसायात्मक–ज्ञान ही प्रमाण होता है– इस कथन से आपका कथन खण्डित हो जाता है, क्योंकि 'गो प्रत्यक्ष'–निर्विकल्प–बोध प्रत्यक्ष होकर भी व्यवसायात्मक नहीं होता है, अतः, हमारा निर्विकल्प–प्रत्यक्ष ही प्रमाण हो सकता है।[271]

जैन – इस पर, जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि बौद्धों से कहते हैं कि जिस समय गाय का प्रत्यक्ष होता है, उस समय उसमें अश्व आदि विकल्पों का निषेध भी होता है। 'यह गाय है'– ऐसा निश्चय अन्य विकल्पों के निषेध के बिना संभव नहीं है, अतः, प्रत्यक्ष सविकल्प ही होता है। पुनः, यदि प्रत्यक्ष को सविकल्प अर्थात् व्यवसायात्मक या निश्चयात्मक न माना जाए, तो फिर कालान्तर में उस प्रत्यक्ष की स्मृति भी संभव नहीं होगी। कालान्तर के गो–दर्शन में पूर्व–प्रत्यक्ष का स्मरण होने से प्रत्यक्ष को व्यवसायात्मक अर्थात् निश्चयात्मक ही मानना होगा। आप बौद्ध–दार्शनिक स्वयं ही यह मानते हैं कि क्षणिक निर्विकल्प–प्रत्यक्ष संस्कारजनक नहीं बन

---

270 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 52

271 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 54

सकता है, अर्थात् नीले रंग से भिन्न रंगों का क्षणिक निर्विकल्प–प्रत्यक्ष होते हुए भी वह संस्कारजनक नहीं बन सकता है। उसी प्रकार, गो–दर्शन में निर्विकल्प–प्रत्यक्ष भी संस्कार को उत्पन्न नहीं करता है। गो–दर्शन के बाद जो उसकी स्मृति होती है, वह स्मृति संस्कार के बिना संभव नहीं हो सकती और संस्कार का निर्माण प्रत्यक्ष को व्यवसायात्मक या निश्चयात्मक मानें बिना संभव नहीं है। स्मृति और संस्कार क्षणिक निर्विकल्प–प्रत्यक्ष में संभव नहीं हो सकते हैं। प्रतिक्षण विनश्वर स्वभाव वाले पदार्थ का कथन करते समय स्मरण या संस्कार ही कार्य करते हैं और संस्कार विकल्पात्मक ही होते हैं, अतः, आप बौद्ध लोगों को प्रमाण को व्यवसायात्मक ही मानना चाहिए। निर्विकल्प–प्रत्यक्ष में संस्कार और स्मृति का अभाव होने से व्याप्ति–संबंध की स्थापना भी संभव नहीं होगी। इस प्रकार,, इस सम्बन्ध में अनुमान–प्रमाण भी घटित नहीं होगा, अतः, प्रत्यक्ष का प्रामाण्य उसके व्यवसायात्मक होने पर ही संभव है।[272]

बौद्ध – इसके उत्तर में बौद्ध आचार्य रत्नप्रभसूरि से कहते हैं कि अभ्यास, प्रकरण, बुद्धि की पटुता (चातुर्य) और अर्थित्व– इन कारणों के सहकार से निर्विकल्प–प्रत्यक्ष में भी गो–दर्शन के पश्चात् स्मृति और संस्कार संभव हो सकते हैं, किन्तु यहाँ रत्नप्रभसूरि का कथन है कि प्रतिक्षण विनश्वर पदार्थ में अभ्यास, प्रकरण, बुद्धि–चातुर्य और अर्थित्व– इन कारणों का अभाव होने से स्मृति एवं संस्कार संभव नहीं हो सकते।[273]

जैन – जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों से कहते हैं कि आपने जो कहा कि अभ्यास, प्रकरण, बुद्धि–चातुर्य एवं अर्थित्व– ये चार निर्विकल्प–प्रत्यक्ष में विकल्प उत्पादक होकर निर्विकल्प–प्रत्यक्ष को निर्णयात्मक या निश्चयात्मक बना देते हैं, किन्तु आपका यह कथन युक्तिसंगत नहीं है। आप भूयोदर्शन अर्थात् अभ्यास से निर्विकल्प–प्रत्यक्ष को प्रमाणरूप होने की पुष्टि कर रहे हैं, अर्थात् किसी भी वस्तु को पुनः–पुनः देखने से अभ्यास के कारण उसको निर्विकल्प–प्रत्यक्ष में भी उसके स्वरूप का निर्णय हो जाता है। इस सम्बन्ध में हम जैनों का तर्क यह है कि भूयोदर्शनरूप अभ्यास भी पूर्वानुभूत विषय की स्मृतिरूप ही तो है, जबकि आप तो स्मृति को प्रमाण मानते ही नहीं हैं। इसके प्रत्युत्तर में बौद्ध कहते हैं– मान लो हमने पूर्व में कभी नीले रंग को देखा हो और

---

[272] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 54
[273] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 55

उसके पश्चात् भी अनेक बार नीले रंग को देखने का प्रसंग आया हो, बार–बार नीले रंग के देखने से, अर्थात् भूयोदर्शनरूप अभ्यास से उस नीले रंग की स्मृति हमारे मस्तिष्क में संस्कारित हो जाती है, परिणामस्वरूप जब कभी भी नीले रंग को देखेंगे, तो पूर्वानुभूत नीले रंग के संस्कार से वर्त्तमान के नीले रंग से तुलना कर तुरंत ही यह निर्णय हो जाता है कि काले, लाल, पीले आदि अन्य रंगों से भिन्न यह नीला रंग ही है, या नीला रंग ऐसा ही होता है। यद्यपि हमारे ये संस्कार इतनी त्वरित गति से होते हैं कि हम शीघ्र ही उसके नीले रंग होने के निश्चय पर पहुँच जाते हैं, यही निर्विकल्प–प्रत्यक्ष विकल्पोत्पादक होकर प्रमाणरूप हो जाता है।[274]

पुनः, आचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों से कहते हैं– यह ठीक है कि जिस क्षण हमने, यह नीला रंग ही है– ऐसा निर्णय किया, यह निर्णय भूयोदर्शनरूप अभ्यास से हुआ। निर्विकल्प–प्रत्यक्ष में अभ्यास के विकल्पोत्पादक होने से वह प्रत्यक्ष–प्रमाणरूप हो जाता है। यह जो आपने (बौद्धों ने) तर्क दिया है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि इसके अनुसार तो प्रमाण सविकल्पात्मक ही हुआ। इसके प्रत्युत्तर में बौद्ध कहते हैं– हम तो यह कहते हैं कि हमारा निर्विकल्प–प्रत्यक्ष ही अभ्यास आदि से विकल्पोत्पादक होता है, किन्तु प्रत्यक्ष तो निर्विकल्प ही होता है। आपके दर्शन में भी अवग्रह आदि ज्ञानरूप होते हुए भी अनिर्णयात्मक है, उसी प्रकार हमारा निर्विकल्प–प्रत्यक्ष प्रमाणरूप होते हुए भी अनिर्णयात्मक है। विकल्प प्रत्यक्ष से नहीं, वरन् अभ्यास आदि से होता है।[275]

पुनः जैनाचार्य बौद्धों से कहते हैं कि आपका दूसरा तर्क प्रकरण है। प्रस्तुत प्रसंग में प्रकरण शब्द संदर्भ का सूचक है। कोई भी ज्ञान संदर्भ के बिना नहीं होता है। क्षण–विनश्वर स्वभाव वाले पदार्थ का कथन करते समय भी उसकी क्षणिकता का संदर्भ भी उपस्थित ही रहता है, क्योंकि कोई भी कथन प्रकरण अर्थात् संदर्भ के अभाव में संभव नहीं होता है। कथन के समय प्रकरण (सन्दर्भ) सहकारी होता है और वह सविकल्प ही होगा। बुद्धिपाटव की अपेक्षा से भी नील आदि के बोध के समय क्षणिकत्व का भी बोध रहता ही है और यह बोध निर्विकल्प न होकर सविकल्प या निश्चयात्मक ही होता है। पुनः, आपके मत में नील आदि को प्रत्यक्ष–निरंश माना गया है, अतः, नील आदि के प्रत्यक्ष के समय उनकी क्षणिकता का भी

---

274 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 56

275 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 56

प्रत्यक्ष होता ही है। यदि ऐसा नहीं मानें, तो नील आदि के बोध में बुद्धि पाटव और क्षणिकता के बोध में बुद्धि को अपाटव मानना होगा और इस प्रकार,, नील आदि पदार्थों में और उनकी क्षणिकता में अभेद के स्थान पर भेद हो जाएगा। निरंश–वस्तु के संदर्भ में एक अंश का स्मरण और एक अंश का अस्मरण संभव नहीं है। इस प्रकार,, यदि प्रमाण व्यवसायात्मक नहीं होगा, क्षणिकत्व आदि की अनुभूति के अभाव में वह स्मृति का हेतु भी नहीं बनेगा। आप बौद्धों के मत में अश्व के विकल्प के समय गो का दर्शन या गो का विकल्प व्यवसायशून्य होगा, किन्तु अश्व–विकल्प के समय गो का अनुस्मरण या विकल्प तो होता ही है, क्योंकि उसके अभाव में अपोह के माध्यम से गो का निराकरण करके अश्व का विकल्प भी नहीं होता। गो और अश्व में भेद करना संभव नहीं होगा। इस प्रकार,, अश्व विकल्प के समय गो का अनुस्मरण भी व्यवसायात्मक ही होगा। इस प्रकार,, यही सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष निर्विकल्प न होकर, अर्थात् दर्शनरूप न होकर व्यवसायात्मक ही होता है।[276]

आचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों से कहते हैं कि आपका तीसरा तर्क यह है कि बुद्धि–चातुर्य से निर्विकल्प–प्रत्यक्ष अर्थ को जान लेता है। आप जो यह कहते हैं कि क्षण–क्षयी पदार्थ एवं नीलादि रंग– ये दोनों ही बुद्धि के समक्ष समान ही होते हैं, बुद्धि ही विकल्प–उत्पादक है, किन्तु आपका यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि बुद्धि स्वयं तो दोनों को अलग–अलग ही जानेगी, जबकि आप तो प्रत्येक पदार्थ को निरंश (समग्र) मानते हो। यदि आप निरंश नहीं मानें, तो बुद्धि उसका ज्ञान कैसे करेगी ? बुद्धि से तो नीलादि रंगों का ज्ञान समग्ररूपेण होता है, वह खण्ड–खण्ड करके ज्ञान नहीं करती है। यहाँ आचार्य रत्नप्रभ बौद्धों से पुनः प्रश्न करते हैं कि यदि आप यह तर्क देते हैं कि बुद्धि–सामर्थ्य से निरंश (समग्र) वस्तु का भी ज्ञान होता है एवं क्षण–क्षयी वस्तु का भी ज्ञान होता है, तो फिर दोनों में भेद कौन करता है ? भेद से तो दोनों में विरोध हो जाएगा, अतः, हमारे सिद्धान्तानुसार बुद्धि दोनों का अभेदरूप से सविकल्पात्मक निश्चयात्मक–ज्ञान करती है। आपका जो यह तर्क है कि बुद्धि–चातुर्य से निर्विकल्प–प्रत्यक्ष से बुद्धि के द्वारा निर्णयात्मक–ज्ञान होता है ? यह उचित नहीं है।[277]

---

[276] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 56

[277] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 56

निर्विकल्प–प्रत्यक्ष की प्रमाणरूपता की सिद्धि में बौद्ध–दार्शनिक द्वारा दिया गया चौथा तर्क अर्थित्व (प्रयोजन) भी जैनों को उचित नहीं लगता है। यहाँ रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि आपके अनुसार अर्थित्व अर्थात् प्रयोजन जिज्ञासारूप और अभिलाषारूप– ऐसे दो प्रकार का होता है (बौद्धों के अनुसार जिज्ञासा और अभिलाषा– दोनों निर्णयरूप अर्थात् व्यवसायात्मक नहीं हैं), किन्तु जैनों का मत है कि किसी भी विषय का अर्थित्व (प्रयोजन) सविकल्प होकर व्यवसायात्मक ही होता है। कोई भी तथ्य निश्चयात्मक होगा, तभी आपको उसको जानने की इच्छा होगी, अर्थात् उसके प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होगी। जिज्ञासा के पश्चात् अभिलाषा, अर्थात् उसको प्राप्त करने की जो इच्छा होगी, वह भी व्यवसायात्मक ही होगी। जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि बौद्ध–दार्शनिकों से कहते हैं कि जिज्ञासारूप अर्थित्व (प्रयोजन) पूर्वानुभूत नीले आदि अनेक रंगों में से नीले रंग–विशेष के प्रति ही जिज्ञासा को जन्म देता है कि 'यह नीला रंग ऐसा होता है।' रत्नप्रभ पूछते हैं कि इस नीले रंग के प्रति नीले–विषयक जो जिज्ञासा हुई, इसको आप विकल्पात्मक मानकर भी निर्विकल्प–बोध कैसे कह सकते हैं ? जिज्ञासा का आप अनुभूतिरूप–दर्शन नहीं कर सकते हैं। जिज्ञासा भी ज्ञानरूप ही होती है और ज्ञानरूप होने से सविकल्प ही होती है। यह ठीक है कि जिज्ञासा अवग्रहरूप ज्ञान के समान अनिर्णयात्मक अवश्य हो सकती है, किन्तु जिज्ञासा, अर्थात् किसी विशेष को जाननेरूप इच्छा ज्ञानरूप होने से विकल्पात्मक ही होती है। दूसरे, आपके मतानुसार तो जिज्ञासारूप अर्थित्व क्षणिक–पदार्थ के प्रति कैसे होगा ? क्षणिक–पदार्थ तो एक क्षण प्रतीत होकर दूसरे क्षण ही नष्ट हो जाता है, तो उसके प्रति जिज्ञासा नहीं हो सकती।[278]

दूसरे, आपने जो कहा कि अभिलाषारूप अर्थित्व भी निर्विकल्प–प्रत्यक्ष में सहायक होने के साथ व्यवसायशून्य होता है। आपका यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनभिलषित पदार्थ के प्रति भी जब व्यवसायात्मक–ज्ञान हो सकता है, तो अभिलषित के प्रति व्यवसायात्मक–ज्ञान क्यों नहीं होगा ? वस्तुतः, जिज्ञासा और अभिलाषारूप अर्थित्व पूर्वानुभूत स्मृति से होता है। पूर्वानुभूत स्मृति के कारण ही वर्त्तमान वस्तु के प्रति जिज्ञासा और अभिलाषा होती है, जो निर्विकल्प न होकर सविकल्प ही होती है।

---

[278] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 56

बौद्धदर्शनानुसार, जो ज्ञान व्यवसायरहित होता है, वह स्मृति का हेतु नहीं होता है, क्योंकि आप बौद्धों के मतानुसार जिस समय अश्व का साक्षात्कार होगा, उसी समय स्मृतिरूप गो का साक्षात्कार भी संभव नहीं होगा, क्योंकि वह अश्व का साक्षात्कार व्यवसायात्मक नहीं होता है, किन्तु हमारे (जैन) मतानुसार तो गोदर्शन स्मृतिरूप संस्कार का जनक होने के कारण व्यवसायात्मक या सविकल्पात्मक–ज्ञान है। निर्विकल्प–प्रत्यक्ष व्यवसायात्मक–ज्ञान का जनक नहीं हो सकता है। आपके (बौद्धों के) अनुसार, यह मानना कि एक निर्विकल्प–अनुभव व्यवसायजनक होकर दूसरे व्यवसायात्मक–ज्ञान का उत्पादक हो, यह युक्तिसंगत नहीं बैठता है, अतः, प्रमाण कभी भी निर्विकल्प न होकर विकल्पात्मक ही होता है। प्रमाण के सविकल्पात्मक होने के कारण आपके ये हेतु असिद्ध–दोष से बाधित हो जाते हैं।[279]

इस प्रकार, आचार्य रत्नप्रभ बौद्ध–दार्शनिकों से कहते हैं कि प्रमाण सविकल्प–ज्ञानरूप होने से व्यवसायात्मक ही होता है। दूसरे; अभ्यास, प्रकरण, बुद्धि–चातुर्य एवं अर्थित्व– ये चारों भी विकल्पात्मक होने के कारण व्यवसायात्मक ही होते हैं। इनको विकल्पोत्पादक मानकर निर्विकल्प–प्रत्यक्ष से निर्णयात्मक–प्रमाण की सिद्धि संभव नहीं हो सकती। आपका निर्विकल्प–प्रत्यक्ष तो मात्र अनुभूतिरूप–दर्शन है और दर्शन कभी भी प्रमाण नहीं हो सकता। ज्ञान ही प्रमाण है और ज्ञानरूप प्रमाण व्यवसायात्मक या निश्चयात्मक ही होता है। हमारा अवग्रह चाहे ज्ञानरूप होते हुए भी व्यवसायात्मक न हो, किन्तु अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के माध्यम से अन्तिम स्थिति में पहुँचकर व्यवसायात्मक बन जाता है, अतः, व्यवसायात्मक–ज्ञान ही प्रमाण है।[280]

बौद्ध – बौद्ध–दार्शनिक आचार्य रत्नप्रभ से अपने पक्ष के समर्थन में कहते हैं कि प्रमाण व्यवसायात्मक नहीं होता है। सूत्र में आए हुए समारोप–परिपन्थित्व और प्रमाणत्व– ये दोनों हेतुओं को व्यवसायात्मक–स्वभावरूप के साध्य के साथ व्याप्त मानना युक्तिसंगत नहीं है, अर्थात् जो भी प्रमाण होगा वह व्यवसायात्मक ही होगा, ऐसा अविनाभाव–संबंध आवश्यक नहीं होता है, क्योंकि व्यवसाय–स्वभाव अर्थात् निर्णयात्मकता के अभाव में भी किसी स्थान पर मात्र व्यवसाय–जनकरूपी

---

279 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 56

280 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 56

साध्य के साथ भी समारोप–परिपन्थी एवं प्रमाणता– ये दोनों हेतु तो होते हैं, अर्थात् कभी–कभी ऐसा भी होता है कि निर्विकल्प–प्रत्यक्ष समारोप–परिपन्थी अर्थात् संशय, विपर्यय आदि से रहित एवं प्रमाणरूप होते हुए भी व्यवसायात्मक नहीं होता है। पूर्व में हमने कभी नीले रंग को देखा, उस पूर्वानुभूत नीले रंग की स्मृति से वर्त्तमान के नीले रंग के साथ तुलना कर यह निर्णय हो गया है कि 'यह नीला रंग ही है', तो यहाँ प्रत्यक्ष तो निर्विकल्प रूप में हुआ। पूर्वानुभूत भूयोदर्शन विकल्पोत्पादक अर्थात् नीले रंग का निर्णय करने में सहायक ज़रूर हुआ। जिस प्रकार हमारा अनुमान–प्रमाण व्यवसायात्मक होने के साथ समारोप–परिपन्थी एवं प्रमाणरूप भी है, उसी प्रकार निर्विकल्प–प्रत्यक्ष भी समारोप–परिपन्थी एवं प्रमाणरूप होते हुए भी व्यवसायात्मक न होकर व्यवसायजनक है, अतः, उसकी हेतु के साथ व्याप्ति मानने में कोई विरोध नहीं है, अर्थात् समारोप–परिपन्थी और प्रमाणरूप हेतु व्यवसायजनक साध्य के साथ व्याप्त भी हैं।[281]

जैन– यहाँ आचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों की समीक्षा करते हुए कहते हैं– आपने प्रमाण के व्यवसायजनक होने की सिद्धि में जो हेतु दिया है कि निर्विकल्प–प्रत्यक्ष समारोप–परिपन्थी एवं प्रमाणरूप होते हुए भी व्यवसायात्मक नहीं होता है, किन्तु व्यवसायजनक अवश्य होता है, यह आपका तर्क प्रमाणरूपी साध्य के साथ अविसंवादक नहीं है। अविसंवादकत्व की अर्थप्रापकत्व अर्थात् पदार्थ–बोध करने के साथ व्याप्ति है, क्योंकि जो ज्ञान अर्थ–प्रापक होता है, अर्थात् जो ज्ञान पदार्थ का बोध कराए, वही अविसंवादी होता है और जो अर्थ–प्रापक नहीं होता, अर्थात् जो पदार्थ को एवं स्वयं को दर्शाने वाला नहीं होता, वह निर्विषय ज्ञान के समान अविसंवादक भी नहीं बनता है। अर्थ–प्रापकत्व की प्रवर्त्तकत्व के साथ अर्थात् पदार्थ प्राप्त करने के प्रयत्न के साथ व्याप्ति–संबंध है और प्रवर्त्तकत्व का (प्रयत्नशीलता का भी) विषयोपदर्शक (पदार्थ–दर्शन) के साथ व्याप्ति–संबंध है, क्योंकि पदार्थ स्वयं, स्वयं का बोध कराने में समर्थ होता है, वह ज्ञान–प्रवर्त्तक (पदार्थ स्वयं स्व का बोध कराने वाला) होता है, कारण यह है कि ज्ञान कभी भी किसी का हाथ पकड़कर यह नहीं कहता

---

281 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 57

कि 'मैं ज्ञान हूँ', किन्तु वह स्व–विषय का ज्ञान कराकर प्रवर्त्तक और अर्थप्रापक बनता है।[282]

बौद्धों द्वारा दी गई इस व्याप्ति के बारे में आचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं– निर्विकल्प–प्रत्यक्ष को आप विकल्पोत्पादक कहकर उसको प्रमाणरूप मानते हैं, तो वह निर्विकल्प–प्रत्यक्ष किस अवस्था में प्रमाणरूप बनता है ? अर्थात् निर्विकल्प–प्रत्यक्ष विषयोपदर्शक (पदार्थ–दर्शक) कब बनता है ? प्रथमतः, क्या निर्विकल्प–प्रत्यक्ष (अनुभूतिरूप दर्शन) वस्तु–स्वरूप के निर्णय में विकल्प के उत्पन्न होने पर विषयोपदर्शक अर्थात् पदार्थ को दर्शाने वाला बनता है ? अथवा निर्विकल्प–प्रत्यक्ष के होते ही तुरंत विषयोपदर्शक (पदार्थ–दर्शक) बनता है ? पहला तर्क यदि आप यह देते हैं कि निर्विकल्प–प्रत्यक्ष विकल्पोत्पत्ति के पश्चात् विषयोपदर्शक बनता है, तो आपका यह तर्क युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि आपके इस कथन में क्षणिकता का दोष आ जाता है। विनश्वर–स्वभाव वाले पदार्थ तो एक क्षण प्रतीत होकर दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाते हैं, तो आपका निर्विकल्प–प्रत्यक्ष (अनुभूतिरूप दर्शन) तो विकल्प उत्पन्न करके तुरंत ही नष्ट हो जाता है, तो वह निर्विकल्प–प्रत्यक्ष विषयोपदर्शक कहाँ रहा ? दूसरा, यदि आप यह कहते हैं कि विकल्प के उत्पन्न होते ही निर्विकल्प–प्रत्यक्ष विषयोपदर्शक बनता है, यह भी उचित नहीं है, क्योंकि आपका यह कथन तो ऐसा हुआ, जैसे कोई व्यक्ति मुंडन कराने के पश्चात् यह नहीं पूछता कि कौनसा नक्षत्र है ? उसी प्रकार, विषयोपदर्शकतारूप कार्य के होने के पश्चात्, अर्थात् 'यह नीला रंग है'– ऐसे विकल्प का उत्पादक निर्विकल्प–प्रत्यक्ष विषयोपदर्शकता में कोई कारणभूत नहीं रहता है।[283]

इस प्रकार, 'जिस विषय में निर्विकल्प–दर्शन (अनुभूतिरूप बोध) विकल्प को उत्पन्न करता है, उसी में उस निर्विकल्प–दर्शन की प्रमाणता है' इससे तो आपके सिद्धांत में विरोध उत्पन्न होता है। व्यवसायोत्पत्ति विकल्पोत्पत्ति के बिना भी जब विषयोपदर्शकता का सद्भाव निर्विकल्प–दर्शन में होता है, तो प्रामाण्य का भी सद्भाव विकल्पोत्पत्ति के बिना ही निर्विकल्प–दर्शन में हो जाता है, क्योंकि निर्विकल्प–दर्शन का प्रामाण्य तो विषयोपदर्शन के लिए होता है और विषयोपदर्शकता तो निर्विकल्प–दर्शन की उत्पत्ति के पश्चात् ही आपने मानी है, अर्थात् पदार्थ

---

282 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 57, 58

283 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 58

का बोध बिना निर्विकल्प-दर्शन के नहीं होता है, किन्तु निर्विकल्प-दर्शन के होते ही पदार्थ अनुभूति का विषय बनता है। ऐसा जब आप (बौद्ध) मानते हैं, तो फिर आप क्षणक्षयी पदार्थ का और स्वर्ग आदि का भी निर्विकल्प-प्रत्यक्ष से विषयोपदर्शन क्यों नहीं मानते हैं ? अर्थात् प्रत्येक विनश्वर-पदार्थ तथा स्वर्ग, मोक्ष आदि का भी हमें निर्विकल्प-बोध होकर विषयोपदर्शकता होना चाहिए।[284]

बौद्ध – बौद्ध-दार्शनिक कहते हैं कि हमारा निर्विकल्प-दर्शन पदार्थ के अध्यवसाय तक ले जाता है, अर्थात् हमें नीले रंग का निर्विकल्प-प्रत्यक्ष हुआ, हमने उसकी अनुभूति की, उसके पश्चात् हमारी चेतना में उस नीले रंग की एक निश्चित आकृति बनी, यह निश्चित आकृति ही अध्यवसायरूप है। वह नीले रंग का वह निश्चित ज्ञान ही निर्विकल्प-दर्शन को विषयोपदर्शक बनाता है और यही अध्यवसाय है। बिना अध्यवसाय (व्यवसाय) वाला निर्विकल्प-प्रत्यक्ष विषयोपदर्शक नहीं बनता है, किन्तु अध्यवसाययुक्त निर्विकल्प-प्रत्यक्ष विषयोपदर्शक बनता है।[285]

जैन – जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों की इस मान्यता की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि यह आपका कथन उचित नहीं है। यह ठीक है कि अध्यवसाय, विकल्प, व्यवसाय– ये सब निर्विकल्प-प्रत्यक्ष (दर्शन) के कारण होते हैं, किन्तु यह सब भिन्न-भिन्न काल में होंगे। आप प्रथम, निर्विकल्प-प्रत्यक्ष (दर्शन) को मानेंगे या अध्यवसाय को ? क्योंकि अध्यवसाय से भिन्न पूर्वकाल में होने के कारण निर्विकल्प-प्रत्यक्ष (दर्शन) पदार्थ का विषयोपदर्शक नहीं बन सकता है, फिर भी यदि आप निर्विकल्प-प्रत्यक्ष (दर्शन) से ही अध्यवसाय वाले पदार्थ को व्यवसायात्मक मानते हैं, तो निर्विकल्प-प्रत्यक्ष पदार्थ का उपदर्शक है या अनुपदर्शक ? यदि आप निर्विकल्प-प्रत्यक्ष (दर्शन) को उपदर्शक मानते हैं, तो वह उपदर्शक व्यवसाय ही आपके निर्विकल्प-प्रत्यक्ष (दर्शन) के विषय में प्रवर्त्तक अर्थात् पदार्थ के प्रति प्रयत्नशील होगा और उस पदार्थ का ज्ञान भी प्राप्त होगा, अर्थात् ज्ञेय पदार्थ स्वयं विषयोपदर्शक बनेगा। इस प्रकार, से तो वह पदार्थ निश्चयात्मक होने से प्रमाण बन जाएगा, तो आपने पदार्थ के ज्ञान को व्यवसायरूप कहकर हमारे व्यवसायात्मक-प्रमाण को ही

---

[284] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 58, 59

[285] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 58, 59

स्वीकार कर लिया है, किन्तु आपका निर्विकल्प–प्रत्यक्ष व्यवसायात्मक नहीं बन सकता, इसलिए निर्विकल्प–प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं कहलाएगा। यदि आप निर्विकल्प–प्रत्यक्ष को पदार्थ (विषय) का अनुपदर्शक कहते हैं, तो वह निर्विकल्प–प्रत्यक्ष (दर्शन) विकल्प को उत्पन्न करने के कारण स्वविषयोपदर्शक, अर्थात् स्व–विषय का बोध कराने वाला कैसे बनेगा? दूसरे, निर्विकल्प–प्रत्यक्ष (दर्शन) में तो संशय, विपर्यय आदि की संभावना होती है। इस प्रकार,, उसमें स्वविषयोपदर्शकता की आपत्ति आने से अतिप्रसंग–दोष आ जाएगा, क्योंकि यदि निर्विकल्प–प्रत्यक्ष विकल्परूप विषयोपदर्शक न होते हुए निर्विकल्प–प्रत्यक्ष ही स्वविषयोपदर्शक बनता हो, तो संशय, विपर्ययरूप ज्ञान को उत्पन्न करने वाला निर्विकल्प–प्रत्यक्ष ही स्वविषयोपदर्शक बन जाएगा और वही प्रमाण बन जाएगा, जैसा कि आप मानते हैं, किन्तु आपका यह निर्विकल्प–प्रत्यक्ष तो संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित नहीं हो सकता है, जैसे– 'स्थाणुर्वा पुरुषोवा', अर्थात् यह स्थाणु अथवा पुरुष है, इसे प्रमाण कैसे कहेंगे ? यदि आपने बिना विकल्प के मात्र स्थाणु की अनुभूति की, तो यह मात्र एक अनुभूतिरूप दर्शन हुआ। इसमें निश्चयात्मकता का बोध नहीं होने से निर्विकल्प–प्रत्यक्ष स्वविषयोपदर्शक नहीं बन सकता, जबकि हमारा प्रमाण तो संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित होने के कारण व्यवसायात्मक है। प्रमाण व्यवसायात्मक या निश्चयात्मक ही होता है। आपका निर्विकल्प–प्रत्यक्ष व्यवसायरहित होने के कारण प्रमाण नहीं हो सकता।[286]

बौद्ध – जैनों की इस आपत्ति पर बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर आचार्य रत्नप्रभ से कहते हैं कि निर्विकल्प–प्रत्यक्ष (दर्शन) में वस्तु या पदार्थ का जो बोध होता है, वह सामान्य रूप होता है और वह सामान्यरूप बोध ही व्यवसाय (निश्चय) करता है। सामान्य मात्र एक जातिवाचक–कल्पना है। यह जातिवाचक–कल्पनारूप सामान्य ही प्रमाण या विकल्प उत्पन्न करता है, जैसे– हमने जब गाय को देखा, तो यह गाय है– ऐसा जो जातिवाचक विकल्प हुआ, वह सामान्य रूप से हुआ। यह गाय है या भैंस है ? इस प्रकार, के भिन्न–भिन्न विकल्प नहीं होते हैं, सम्पूर्ण गो जाति का ही विकल्प होता है, अर्थात् यह सम्पूर्ण (निरंश) का विकल्प हमारे विचार में या हमारी सत्ता में रहता है। सामान्य तो हमारी दृष्टि में मात्र एक विकल्प है, अनुभूति है, इसलिए सामान्य–विकल्प का जनक होने से वह

---

[286] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 59, 60

निर्विकल्प–प्रत्यक्ष का विषयोपदर्शक बन जाता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि बिना विकल्प का निर्विकल्प–प्रत्यक्ष विषयोपदर्शक नहीं कहलाता है। यदि निर्विकल्प–प्रत्यक्ष सामान्य–विकल्प का उत्पादक नहीं हो, तो वह स्वविषयोपदर्शक नहीं बनता है, इसलिए सामान्य के बोध में भी संशय, विपर्यय और अनध्यवसायरूप अनिश्चयात्मक–स्थिति नहीं बनती है और यदि अनिश्चयात्मक–स्थिति उत्पन्न होती है, तो वह स्वविषयोपदर्शक भी नहीं बनता है।[287]

जैन – बौद्धों के इस कथन पर जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि आपका यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि निर्विकल्प–प्रत्यक्ष सामान्य का ही व्यवसाय करता है– ऐसा जो आप मानते हैं, तो उस सामान्य में मात्र अन्यथापोह, अर्थात् अन्य की व्यावृत्ति होने से वह सामान्य मात्र कल्पना (अवस्तु) रूप ही होगा। अन्य का निषेध करने से वह वस्तुरूप तो होगा नहीं। यदि किसी वस्तु का निश्चित विधान करना हो, तो उसमें मात्र अन्य का निषेध ही करते रहने से उस वस्तु का निर्णय कैसे होगा ? जैसे– 'यह गाय है'– इसका विधान करने के लिए यह गधा नहीं, अश्व नहीं, भैंस नहीं– ऐसे मात्र एक–एक का निषेध ही करते रहने से 'यह गाय है'– इसका निर्णय कैसे होगा ? और जब किसी निश्चित वस्तु का निर्णय ही नहीं होगा, तो वह सामान्य तो अवस्तु हो गया, तो ऐसा कैसे कहा जा सकता है कि सामान्य विकल्प का उत्पादक होकर निर्विकल्प–प्रत्यक्ष को विषय का उपदर्शक बना देता है। मात्र सामान्य निर्विकल्प–प्रत्यक्ष को विषय का उपदर्शक नहीं बना सकता, क्योंकि निषेध (अवस्तु) को विकल्प को उत्पन्न करने वाला नहीं कह सकते, अतः, आपका निर्विकल्प–प्रत्यक्ष (दर्शन) प्रमाणरूप नहीं बन सकता है, क्योंकि आप सामान्य को व्यवसायात्मक नहीं कह सकते।[288]

बौद्ध – इसके प्रत्युत्तर में बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर कहते हैं कि दृश्य वस्तु और विकल्प्य–अवस्तु– इन दोनों को एकीकरण करने से तो व्यवसाय वस्तु का उपदर्शक बन सकता है, अर्थात् दृश्य–वस्तु, जैसे– यह गाय है और विकल्प्य सामान्य रूप अवस्तु, जो निषेधात्मक है, जैसे– यह गधा नहीं, अश्व नहीं, भैंस नहीं आदि– इस प्रकार, से दृश्य वस्तु 'यह गाय है' यह हमारे सामने प्रत्यक्ष है तथा अवस्तु, जो हमारे विचार या अनुभूति में

---

[287] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 60
[288] रत्नाकरावतारिका, भाग I रत्नप्रभसूरि पृ. 60

है, इसलिए वस्तु और अवस्तु-- इन दोनों का एकीकरण हो जाने से ही वह व्यवसाय वस्तु का उपदर्शक बन सकता है।[289]

जैन – इसके प्रत्युत्तर में जैन–दार्शनिक आचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि यदि आप वस्तु–अवस्तु का एकीकरण मानते हो, तो क्या इन दोनों को एक कर देना ही एकरूपता है, या दोनों के निश्चय (व्यवसाय) में एकरूपता है? दोनों के एकीकरण में तो वस्तु–अवस्तु– दोनों में से एक का ही स्वरूप रहेगा, दूसरे का स्वरूप नहीं रहेगा। दूसरे, यदि यह एकीकरण अर्थात् एकत्वरूप अध्यवसाय में दृश्य और विकल्प्य अर्थात् वस्तु और अवस्तु को उपचरित मानेंगे, तो फिर एकत्व का अध्यवसाय विषयोपदर्शक कैसे बनेगा ? क्योंकि साँड में गाय का उपचार करने मात्र से क्या साँड दूध का बर्तन भर देगा ? सारांश यह है कि वस्तु एवं अवस्तु का एक–दूसरे पर मात्र उपचार करने को व्यवसायात्मक नहीं कह सकते हैं। व्यवसायात्मक–प्रमाण तो समारोप से रहित होता है। इस प्रकार, से आपका निर्विकल्प–प्रत्यक्ष व्यवसायात्मक नहीं हो सकता।[290]

पुनश्च, आचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों से कहते हैं कि दृश्य और विकल्प्य (वस्तु और अवस्तु)– इन दोनों में एकत्व का जो अध्यवसाय है, वह निर्विकल्प–प्रत्यक्ष से होता है, या फिर विकल्प से होता है ? या किसी अन्य ज्ञान से उत्पन्न होता है ? 1. निर्विकल्प–प्रत्यक्ष से तो वस्तु और अवस्तु में एकत्व का अध्यवसाय संभव ही नहीं है, क्योंकि निर्विकल्प–प्रत्यक्षरूप श्रोत्रिय–वैदिक–ब्राह्मण के द्वारा अध्यवसायरूप चांडाल का स्पर्श करना ही संभव नहीं हैं। ज्ञातव्य है कि बौद्धदर्शन चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानता है। इस सिद्धांत के अनुसार, आपका प्रत्यक्ष निर्विकल्प होने से अध्यवसायरूप हो नहीं सकता, क्योंकि निर्विकल्प प्रत्यक्ष अवस्तु का विषय–बोध कैसे करा सकता है ? दूसरे, अवस्तु का प्रत्यक्ष भी तो संभव नहीं है, इसलिए निर्विकल्प–प्रत्यक्ष (दर्शन) रूप दृश्य वस्तु और विकल्प्य रूप अवस्तु का एकत्व अध्यवसाय में संभव नहीं है। 2. दूसरे, मात्र विकल्प से भी अध्यवसाय नहीं हो सकता है, क्योंकि विकल्परूप राक्षस दृश्यरूप राम पर आधिपत्य करने में, अर्थात् उसे विषय करने में असमर्थ है, ऐसी स्थिति में एकत्व का अध्यवसाय कैसे होगा? क्योंकि अवस्तु तो विषय करने में, अर्थात् पदार्थ का ज्ञान कराने में

---

[289] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 61

[290] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 61

असमर्थ होती है। वस्तुतः, जो स्वयं अवस्तु है, वह वस्तु को कैसे जानेगी ? फलतः, अवस्तु से किसी प्रकार का विकल्प ही उत्पन्न नहीं होगा, इसलिए वस्तु और अवस्तु में विकल्प से भी एकत्व–अध्यवसाय संभव नहीं है। 3. तीसरे, ज्ञानान्तर से (किसी अन्य प्रकार के ज्ञान से) भी एकत्वाध्यवसाय संभव नहीं है, क्योंकि ज्ञानान्तर को भी आप निर्विकल्प मानेंगे या सविकल्प मानेंगे ? ज्ञानान्तर को चाहे निर्विकल्प मानें या सविकल्प मानें, किन्तु ये दोनों भी दृश्य और विकल्प्य (वस्तु और अवस्तु)– इन दोनों को विषय करने में समर्थ नहीं हैं और दोनों को विषय किए बिना एकत्वाध्यवसाय भी संभव नहीं है। वस्तुतः, जो ज्ञान पदार्थ को विषय नहीं करता, वह ज्ञान पदार्थ का उपदर्शन कराने में भी असमर्थ होता है। जिस प्रकार घट–ज्ञान शिंशपा–वृक्ष को विषय नहीं करता, अर्थात् घट–ज्ञान वृक्ष और शिंशपा में ऐक्य करने में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार, दृश्य वस्तु विकल्प्य अवस्तु को विषय करने वाली नहीं होती है। उसी प्रकार, ज्ञान भी दृश्य और विकल्प्य– दोनों में एकत्व का अध्यवसाय करने में समर्थ नहीं होता। इस प्रकार, से, निर्विकल्प–प्रत्यक्ष व्यवसायजनक नहीं होने से प्रामाण्यरूप सिद्ध नहीं होता। दूसरे शब्दों में, व्यवसायजनक न होने से निर्विकल्प–प्रत्यक्ष का प्रामाण्य सिद्ध नहीं होता है, अर्थात् निर्विकल्प–प्रत्यक्ष व्यवसाय को उत्पन्न नहीं करने वाला होने से प्रभावी नहीं हो सकता है।[291]

पुनश्च, आचार्य रत्नप्रभसरि बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि यदि आप निर्विकल्प–प्रत्यक्ष (अनुभूतिरूप दर्शन) को विकल्प के उत्पन्न होने पर वस्तु–स्वरूप का निर्णय करने में विषयोपदर्शक अर्थात् पदार्थ को दर्शाने वाला मानते हैं, तो आपका वह निर्विकल्प–प्रत्यक्ष क्षणक्षयी पदार्थ और स्वर्ग, मोक्ष आदि के विषय में भी अनुरूप विकल्प को क्यों उत्पन्न नहीं करता है ?[292]

बौद्ध – इसके प्रत्युत्तर में बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि क्षणक्षयी पदार्थ और स्वर्ग, मोक्ष आदि के विषय में निर्विकल्प–प्रत्यक्ष अनुरूप विकल्प इसलिए उत्पन्न नहीं करता है कि वह अनादिकालीन–वासना (संस्कार) के कारण उत्पन्न नहीं होने वाला ऐसा विकल्प 'ये सभी रूपादि अक्षणिक हैं', समारोप (भ्रांति) से युक्त हो जाने से वह निर्विकल्प–प्रत्यक्ष क्षणक्षयी पदार्थ

---

[291] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 61

[292] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 62

और स्वर्ग–मोक्ष आदि के विषय में अनुरूप विकल्प उत्पन्न नहीं कर पाता है।[293]

जैन – बौद्धों के इस कथन की समीक्षा करते हुए आचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि आपका यह कथन भी उचित नहीं है, क्योंकि आप क्षणिक पदार्थ पर अस्तित्व का समारोप करते हैं, तो फिर क्षणिकादि पदार्थ से अभिन्न नीलादि रंग के निर्विकल्प–प्रत्यक्ष में नीलादि रंग का समारोप अर्थात् भ्रान्तता मानने का प्रसंग आएगा। निर्विकल्प–प्रत्यक्ष में भी नीलादि रंग को तो आपने विकल्पात्मक माना ही है, तभी 'यह नीला रंग है' ऐसी अनुभूति होती है। एक ओर, आप प्रत्येक पदार्थ को क्षणक्षयी मानते हैं, तो दूसरी ओर, निर्विकल्प–प्रत्यक्ष में नीलादि रंग की अनुभूति भी मानते हैं। ये नीलादि रंग भी उस क्षणक्षयी पदार्थ से भिन्न तो नहीं हैं। यदि आप क्षणक्षयी पदार्थ पर स्थिरतारूप समारोप मानते हैं, तो वे नीलादि रंग भी क्षणक्षयी पदार्थ से भिन्न नहीं होने से नीलादि रंग भी समारोपरूप (मिथ्या–आरोपणरूप) होंगे। यदि आप नीलादि रंग पर समारोप नहीं करके मात्र क्षणक्षयी पदार्थों पर ही समारोप मानते हैं, तो इससे तो विरुद्ध–धर्म का अध्यास, अर्थात् विरुद्ध–धर्म का मिथ्या–ज्ञान होने से निर्विकल्प–प्रत्यक्ष के दो भेद हो जाएंगे, जैसे– एक, समारोप से युक्त और दूसरा, समारोप से रहित। प्रथम, क्षणक्षयी पदार्थ समारोप से युक्त होने से तथा दूसरे, नीलादि पदार्थ के समारोपरहित होने से निर्विकल्प–प्रत्यक्ष के दो भेद मानने होंगे, क्योंकि निरंश (अखंड) पदार्थ नीलादिरूप के निर्विकल्प–प्रत्यक्ष में किसी सीमा तक समारोप से आक्रांत होगा तथा किसी अन्य विषय में समारोप से अनाक्रांत भी होगा, किन्तु ऐसा मानना भी उचित नहीं है। वस्तुतः, क्षणिक पदार्थ से नीलादि रंग भिन्न नहीं हैं, यदि आप उन दोनों में भेद करते हैं, तो आपका निर्विकल्प–प्रत्यक्ष किसी भी स्थिति में प्रमाण नहीं बन सकता। आप निर्विकल्प–दर्शन को अनुरूप विकल्पोत्पादक मानकर भी उसे प्रमाण तो मान ही नहीं सकते।[294]

बौद्ध – इसके प्रत्युत्तर में बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर अपने मत को पुष्ट करने हेतु कहते हैं कि निर्विकल्प–प्रत्यक्ष निरंश है। पदार्थ के निरंश होते हुए भी उसमें अन्य का निषेध करने में कोई दोष नहीं है। जिस प्रकार 'यह नीला रंग है', तो इस नीले रंग को सिद्ध करने के लिए यह काला

---

[293] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 62

[294] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 62

नहीं, 'यह पीला नहीं, श्वेत नहीं– इस प्रकार, अन्य रंगों का निषेध करते हुए अन्त में जब हम कहते हैं कि यह नीला रंग है, तो यह नीला रंग समारोप से रहित होता है, अर्थात् मिथ्या आरोप से रहित हो जाता है। निर्विकल्प–प्रत्यक्ष में अन्य का निषेध करके कथन करने में समारोप से युक्त पदार्थ भी समारोप से रहित बन जाता है तथा समारोप से रहित पदार्थ समारोप (विकल्प) से युक्त बन जाता है। अन्य–व्यावृत्ति के कारण निर्विकल्प–प्रत्यक्ष में भी समारोप (मिथ्याज्ञान) और असमारोप (यथार्थ–बोध)– दोनों हो सकते हैं, अतः, जब पदार्थ असमारोप अर्थात् मिथ्याज्ञान से रहित बन जाता है, तो उसका निर्विकल्प–प्रत्यक्ष भी प्रमाण बन जाता है। इस प्रकार, से, अन्य–अन्य का निषेध करके जब वस्तु के स्वरूप का निर्णय हो जाता है, तो उसमें किसी प्रकार का मिथ्या आरोप नहीं रहता है। इस प्रकार,, निर्विकल्प–प्रत्यक्ष प्रमाण की कोटि में आ जाता है।[295]

जैन – जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि धर्मोत्तर निर्विकल्प–प्रत्यक्ष को समारोप और असमारोप– दोनों से युक्त मानकर प्रमाणरूप सिद्ध करने के इस प्रयत्न का खण्डन करते हुए कहते हैं कि अन्य की व्यावृत्ति (निषेध) करके वस्तु के स्वरूप का निर्णय हो जाने से निर्विकल्प–प्रत्यक्ष प्रमाण कहलाता है, आप बौद्धों का यह कथन युक्ति–युक्त नहीं है। आप सबसे पहले यह सिद्ध करें कि निरंश की व्यावृत्ति करते हैं, या अंश (आंशिक) की व्यावृत्ति करते हैं ? यदि आप निरंश की अर्थात् समग्रतः वस्तु की व्यावृत्ति करते हैं, तो इससे वस्तु के स्वरूप का निश्चय कैसे होगा ? क्योंकि जब आप यह कहते हैं कि ये चन्द्र, सूर्य, तारे, नक्षत्र आदि नहीं हैं, तो यह निश्चय कैसे होगा कि वे क्या हैं ? यदि मात्र अन्य का निषेध ही करते रहेंगे, तो वस्तु के स्वरूप का तो निश्चय नहीं होगा। फलतः, वस्तु के संबंध में समारोप अर्थात् मिथ्याज्ञान भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में आप समारोप अर्थात् मिथ्याज्ञान को प्रमाण भी नहीं कह सकते हैं। यदि आप अंशतः व्यावृत्ति करते हैं, तो उससे भी वस्तु के स्वरूप का निश्चय नहीं होता है, जैसे– 'यह गाय है'– इसके निश्चय के लिए यदि आप यह कहते हैं कि यह सींग नहीं है, पूँछ नहीं है आदि–आदि। इस प्रकार,, मात्र अन्यापोह या अन्य की व्यावृत्ति ही करते रहने पर भी गाय का कुछ भी हिस्सा नहीं बचेगा, फलतः वह ज्ञान समारोपयुक्त बन जाएगा। इससे भी

---

295 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 63

आपके निर्विकल्प–प्रत्यक्ष के प्रमाण होने की पुष्टि नहीं होती। पुनश्च, यदि आप यह कहते हैं कि 'यह नीला रंग है', तो आपके अनुसार तो यह स्वभाव से ही निरंश है तथा असमारोपयुक्त अर्थात् मिथ्याज्ञान से रहित है। यदि आप इस निरंश नीले रंग में अन्य रंगों की आंशिक–व्यावृत्ति करते हैं, तो उससे नीले रंग का निश्चय कैसे करेंगे ? क्योंकि आंशिक–व्यावृत्ति भी समारोप (मिथ्याज्ञान) से युक्त होती है। इस प्रकार,, आप बौद्ध–दार्शनिक एक ही स्वभाव वाले नीले रंग में निरंश (समग्रतः) और अंशतः– दोनों प्रकार से व्यावृत्ति करके निर्विकल्प–प्रत्यक्ष को समारोप और असमारोप– दोनों से युक्त सिद्ध करके निर्विकल्प–प्रत्यक्ष को प्रमाणरूप सिद्ध नहीं कर सकते हैं। पुनः, वस्तु–स्वरूप के स्वभाव में अतत्स्वभाव की व्यावृत्ति को यदि आप मात्र कल्पना मानें और उस कल्पित वस्तु की भी कोई कल्पना होगी, तो इसमें तो अनवस्था–दोष आ जाएगा।[296]

इस प्रकार, से, आचार्य रत्नप्रभसूरि रत्नाकरावतारिका में कहते हैं– 'व्यवसायजनक अर्थात् व्यवसाय को उत्पन्न करने वाला निर्विकल्प–प्रत्यक्ष प्रमाणरूप हैं' बौद्ध–दार्शनिकों का यह कथन युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि व्यवसायात्मक–प्रत्यक्ष में ही प्रामाण्य घटित होता है।[297]

इस प्रकार,, अन्त में, आचार्य रत्नप्रभसूरि रत्नाकरावतारिका में बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर से कहते हैं कि आप निर्विकल्प–प्रत्यक्ष को व्यवसाय उत्पन्न करने वाला मानते हैं, तो यह उचित नहीं है। जो स्वयं ही व्यवसायरूप नहीं है, तो वह व्यवसाय को उत्पन्न करने वाला कैसे होगा ? अर्थात् जो स्वयं का निश्चय नहीं कर सकता, वह पदार्थ का निश्चय कैसे करेगा ? यदि आपका निर्विकल्प–प्रत्यक्ष स्वभाव से व्यवसायात्मक नहीं है, तो वह व्यवसायजनक कैसे होगा। दूसरे, यदि आप निर्विकल्प–प्रत्यक्ष को स्वभाव से व्यवसायात्मक मानते हैं, तो फिर तो आपने हमारे सिद्धांत को ही स्वीकार कर लिया है, इसलिए आपके लिए यही उचित है कि आप प्रत्यक्ष को व्यवसायात्मक स्वीकार कर लें, जिससे आपका निर्विकल्प–प्रत्यक्ष भी प्रमाणरूप सिद्ध हो सके। दूसरे, जब आप निर्विकल्प–प्रत्यक्ष को समारोप–परिपन्थी तो मान ही रहे हैं, अर्थात् निर्विकल्प–प्रत्यक्ष को संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित मानते हैं, तो फिर व्यवसायात्मकता

---

[296] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 63

[297] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 63

अर्थात् निश्चयात्मकता को स्वीकार करने में कौनसी बाधा है, अतः, प्रत्यक्ष को व्यवसायात्मक मानना ही आपके लिए उचित मार्ग है।[298]

बौद्धों के निर्विकल्प–प्रत्यक्ष की अवधारणा और उसकी समीक्षा–

भारतीय–दर्शन में प्रायः सभी दर्शन–परंपराएँ प्रत्यक्ष को प्रमाणरूप में ही स्वीकार करती हैं, यद्यपि उसके स्वरूप को लेकर उनमें पर्याप्त मतभेद देखा जाता है। जहाँ न्याय–वैशेषिक–दर्शन ज्ञान के कारण अर्थात् इन्द्रिय–सन्निकर्ष को ही प्रमाणरूप में मानता है, वहीं सांख्यदर्शन इन्द्रियवृत्ति को प्रमाणरूप मानता है, किन्तु जैन और बौद्धदर्शन प्रमाण को ज्ञानरूप ही स्वीकार करते हैं और यह मानते हैं कि ऐसा ज्ञान इन्द्रियजन्य भी हो सकता है और अतीन्द्रिय भी। यहाँ यह भी स्पष्टीकरण आवश्यक है कि नैयायिकों और सांख्यों ने भी योगज–प्रत्यक्षरूप में अतीन्द्रिय–ज्ञान को ही स्वीकार किया है। यद्यपि जैन और बौद्ध–दोनों ही दर्शन नैयायिकों के इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष को प्रमाणरूप नहीं मानते हैं, फिर भी प्रत्यक्ष–प्रमाण की निर्विकल्पता और सविकल्पता के संबंध में दोनों में मतभेद हैं। बौद्धदर्शन प्रत्यक्ष को अनुभूतिरूप मानकर निर्विकल्प ही मानता है, जबकि जैन–दर्शन उसे निश्चयात्मक होने से सविकल्प मानता है। जैन–दार्शनिकों का कहना है कि निर्विकल्प–अनुभूति, जिसे वे दर्शन कहते हैं, के संदर्भ में उसे प्रमाण या अप्रमाण होने का प्रश्न नहीं उठता है। केवल निश्चयात्मक सविकल्प–ज्ञान ही प्रमाण की कोटि में आ सकता है, यही कारण रहा है कि परवर्ती जैन–दार्शनिकों ने बौद्धों के निर्विकल्प–प्रत्यक्ष की गहन समीक्षा की है और यह कहा है कि निर्विकल्प–प्रत्यक्ष प्रमाण की कोटि में नहीं आता है। यहाँ हम सर्वप्रथम इस संदर्भ में बौद्धों के पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करेंगे और उसके पश्चात् यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि जैन–दार्शनिक, विशेष रूप से रत्नप्रभसूरि, पूर्वपक्ष के रूप में उसकी स्थापना कर किस प्रकार से उसका खंडन करते हैं।

निर्विकल्प–प्रत्यक्ष के संदर्भ में बौद्धों का पूर्वपक्ष –

डॉ. धर्मचन्द्र जैन के अनुसार, बौद्ध–न्याय के क्रमिक–विकास में प्रत्यक्ष–प्रमाण का लक्षण तीन प्रकार से प्रतिपादित किया गया है। सर्वप्रथम वसुबन्धु ने, अर्थ से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे ही प्रत्यक्ष कहा है, जबकि दिङ्नाग ने वसुबन्धु के इस प्रत्यक्ष–लक्षण का खंडन कर

---

[298] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 63

कल्पनारहित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है। इसके अनन्तर, धर्मकीर्त्ति ने कल्पनारहित ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते हुए भी उसमें 'अभ्रान्त' विशेषण को जोड़कर प्रत्यक्ष का लक्षण निर्धारित किया है।[299]

सर्वप्रथम, वसुबन्धु ने अपने ग्रन्थ 'वादविधि' में प्रत्यक्ष–प्रमाण के लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहा है– वही ज्ञान प्रत्यक्ष है, जो अर्थ से उत्पन्न हुआ है (ततोऽर्थाद्विज्ञानं प्रत्यक्षं) और इन्द्रियजन्य है। इसी प्रकार, प्रमाणसमुच्चय की टीका में भी कहा गया है कि जिस अर्थ को जिस ज्ञान से व्यपदिष्ट किया जाता है, यदि वह ज्ञान उसी अर्थ से उत्पन्न होता है, तो प्रत्यक्ष है, अन्यथा नहीं।[300] इस प्रकार,, हम देखते हैं कि यद्यपि वसुबन्धु ने प्रत्यक्ष को ज्ञानरूप माना है, किन्तु उन्होंने उसे इन्द्रियाश्रित न मानकर अर्थाश्रित ही माना है। आगे चलकर बौद्ध–परंपरा में दिङ्नाग ने वसुबन्धु के इस प्रमाण–लक्षण की समीक्षा करते हुए कहा है कि यदि आलम्बन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रमाण माना जाएगा, तो फिर स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि को भी अपने अर्थ के आश्रित होने से प्रमाणरूप मानना होगा, अतः, वसुबन्धु का यह प्रमाण–लक्षण स्मृत्यादि ज्ञानों में अतिव्याप्त होने से दूषित ही प्रतीत होता है। इस प्रकार,, वसुबन्धु के अर्थाश्रित प्रमाण–लक्षण का खंडन कर दिङ्नाग ने उस ज्ञान को प्रमाणरूप माना, जो इन्द्रियाश्रित है, किन्तु कल्पना से रहित होता है। दिङ्नाग ने प्रमाण का लक्षण दो प्रकार से किया है– 1. जो ज्ञान इन्द्रियाश्रित होकर उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्ष है। 2. जो ज्ञान कल्पना से रहित है, वह प्रत्यक्ष है।[301] यहाँ कल्पना का अर्थ है– नाम, जाति, क्रिया, द्रव्य आदि की योजना करना, अतः, दिङ्नाग के अनुसार, जो ज्ञान नाम, जाति, क्रिया आदि की योजना से रहित होता है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष–प्रमाण की कोटि में आता है। दिङ्नाग ने प्रमाण–ज्ञान को दो प्रकार का माना है– 1. सविकल्प 2. निर्विकल्प। इसमें वह अनुमान को सविकल्प और प्रत्यक्ष को निर्विकल्प मानते हैं।

बौद्ध–दार्शनिकों में धर्मकीर्त्ति ने दिङ्नाग के प्रत्यक्ष के प्रमाण–लक्षण को अपर्याप्त बताते हुए उसमें अभ्रान्त पद को जोड़कर प्रमाण–लक्षण इस प्रकार, बताया है कि जो ज्ञान कल्पनारहित और अभ्रान्त है, वह प्रत्यक्ष है। इस प्रकार,, धर्मकीर्त्ति ने कल्पनारहित किन्तु अभ्रान्त

---

299 देखें – बौद्ध–प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा, डॉ. धर्मचन्द्र जैन, पृ. 109

300 अक्षमक्षं प्रतिवर्तत इति प्रत्यक्षम्।

301 प्रत्यक्षं कल्पनापोढ़ं नाम जात्याद्य संयुतम् – प्रमाण संयुतम् समुच्चय, 1.3

ज्ञान को ही प्रत्यक्ष की कोटि में माना है। चूंकि, उनके अनुसार कभी–कभी कोई ज्ञान कल्पनारहित होते हुए भी इन्द्रिय–विकार के कारण भ्रान्त हो सकता है, इसलिए वे कल्पनारहित अभ्रान्त ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं। यद्यपि धर्मकीर्त्ति ने कल्पनारहित होने का अर्थ नाम, जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य आदि की योजना से रहित तो माना ही था, किन्तु उन्होंने उससे भी आगे बढ़कर यह कहा कि जो ज्ञान वाचक–शब्द के संसर्ग से भी रहित होता है, वही ज्ञान कल्पनारहित होता है। इस प्रकार,, उन्होंने प्रत्यक्ष को निर्विकल्प के साथ–साथ अनभिलाप्य, अर्थात् शब्द–संसर्ग से रहित भी माना है। परवर्ती बौद्ध–दार्शनिकों ने इन लक्षणों पर आगे अधिक गहराई से विचार किया है, किन्तु यहाँ हम विस्तार–भय से उस समग्र चर्चा में जाना उचित नहीं समझते हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्रत्यक्ष–लक्षण में अभ्रान्त–पद जोड़ने के संदर्भ में जो श्रेय धर्मकीर्त्ति को दिया जाता है, वह उसे न जाकर वस्तुतः असंग को जाता है, क्योंकि असंग ने ही सर्वप्रथम अपने प्रमाण–लक्षण में अभ्रान्त–लक्षण को ग्रहण किया था।

जहाँ तक जैन–दार्शनिकों का प्रश्न है, उन्होंने मुख्य रूप से बौद्धों के प्रत्यक्ष–लक्षण में निर्विकल्पता को ही अपनी समीक्षा का आधार बनाया है, क्योंकि कुछ जैन–दार्शनिकों ने भी अपने प्रमाण के लक्षण में बाधविवर्जित और अभ्रान्त पद का प्रयोग किया है। प्रस्तुत प्रसंग में रत्नप्रभसूरि ने भी लक्षण में अभ्रान्त और अपूर्व लक्षण पर बल न देकर निर्विकल्पता को अपनी समीक्षा का आधार बनाया है।

निष्कर्ष –

इस प्रकार, हम देखते हैं कि बौद्धों ने प्रत्यक्ष को निर्विकल्प स्वीकार किया है। उसका आधार यह था कि उनके यहाँ जैन–दर्शन के समान 'दर्शन' अर्थात् निर्विकल्प–अनुभूति और ज्ञान अर्थात् सविकल्प–वस्तु बोध– ऐसा द्विविध वर्गीकरण नहीं था, इसलिए उन्होंने प्रत्यक्ष को निर्विकल्प और अनुमान को सविकल्प माना। जिस प्रकार जैन–दार्शनिक 'दर्शन' को मात्र अनुभूतिरूप तथा अनभिलाप्य मानते हैं, उसी प्रकार बौद्धों ने भी उसे निर्विकल्प और अनभिलाप्य माना है। (वस्तुतः, बौद्धदर्शन का प्रत्यक्ष जैन–दर्शन का 'दर्शन' ही है।) अन्तर यह है कि जहाँ जैन–दर्शन 'दर्शन' को सामान्य और जाति को अनुभूतिरूप मानता है, वहीं बौद्ध–दार्शनिक उसे जाति आदि की कल्पना से भी रहित मानते हैं। बौद्ध–दार्शनिक प्रत्यक्ष को मात्र निर्विकल्प ही कहते हैं, जबकि

जैन–दार्शनिक 'दर्शन' को सामान्य की अनुभूतिरूप मानते हैं, किन्तु बौद्धों के अनुसार, सामान्य भी काल्पनिक है, अतः, प्रत्यक्ष मात्र निर्विकल्प–अनुभूति से अन्य कुछ नहीं है।

जैन–दार्शनिकों ने बौद्धों के प्रत्यक्ष की अवधारणा की समीक्षा इसलिए की कि यदि प्रत्यक्ष–निर्विकल्प है और नाम, जाति आदि की कल्पना से रहित है, तो फिर वह निश्चयात्मक या व्यवसायात्मक नहीं होता और जो व्यवसायात्मक या निश्चयात्मक नहीं होता है, ऐसे बोध को प्रमाण की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। बौद्धों की कठिनाई यह भी थी कि यदि उनके अनुसार सम्पूर्ण सत्ता क्षणिक है, तो जब तक उसके स्वरूप का निश्चय होगा, तब तक तो वह बदल जाएगी। प्रत्यक्ष को मात्र वर्त्तमानकालीन ही कहा है, अतः, जो क्षणिक है, उसकी मात्र अनुभूति ही संभव है। उसके स्वरूप का निर्णय तो कालान्तर में होता है और इसलिए वह मात्र अनुमान ही हो सकता है। विकल्प मात्र अनुमान में ही संभव है, क्योंकि बौद्धदर्शन का मानना है कि विकल्प तो आरोपित है, अतः, वे वस्तु या सत्ता का स्पर्श नहीं कर सकते हैं। बौद्धदर्शन में जो प्रत्यक्ष को निर्विकल्प माना गया है, उसका मूल आधार उनके वस्तुसत् को निःस्वभाव ही मानना है। जो निःस्वभाव है, उसमें नाम, जाति आदि की कल्पना संभव ही नहीं है। बौद्धों ने अपनी ज्ञान–मीमांसा को तत्त्व–मीमांसा पर ही आधारित रखा था और इसलिए उनके पास प्रत्यक्ष को निर्विकल्प मानने के अतिरिक्त अन्य कोई चारा नहीं था, जबकि जैन–दर्शन के अनुसार, वस्तुसत् सामान्य–विशेषात्मक होता है, साथ ही परिणामी (परिवर्तनशील) होकर भी नित्य होता है, अतः, उनके लिए प्रत्यक्ष को निश्चयात्मक माना जा सकता था। यही कारण था कि जैनों ने प्रत्यक्ष को निश्चयात्मक मानकर बौद्धों के निर्विकल्प–प्रत्यक्ष की समालोचना की है। वस्तुतः, जैन–दर्शन और बौद्धदर्शन की तत्त्व मीमांसीय–अवधारणाएं भिन्न–भिन्न हैं, अतः, उनकी प्रमाण–मीमांसा में ऐसा अंतर आना स्वाभाविक है, तो भी हम बौद्धों की तत्त्व–मीमांसा को आधार मानकर कोई प्रमाण–मीमांसीय निर्णय लेंगे, तो उनकी दृष्टि से सत्य ही होगा। इसी प्रकार, जैन–दार्शनिकों के प्रमाण–मीमांसीय–निर्णय भी तत्त्व–मीमांसीय–आधार पर खड़े होने से उनकी दृष्टि से वे उचित ही होंगे। जैन–दर्शन और बौद्धदर्शन के तत्त्वमीमांसीय–आधार भिन्न–भिन्न हैं, अतः, उनकी प्रमाण–मीमांसा में जो आधार देखा जाता है, वह स्वाभाविक ही है। वस्तुतः, बौद्धों ने जिस निर्विकल्प–प्रत्यक्ष की अवधारणा को प्रस्तुत किया है, वह उनकी

तत्त्व–मीमांसा की ही परिणति है, जबकि जैनों ने जो उनके निर्विकल्प–प्रत्यक्ष की समालोचना की है, वह जैनों की तत्त्व–मीमांसीय–अवधारणा पर आधारित है, अतः, दोनों को अपने–अपने परिप्रेक्ष्य में ही समझने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

इस संदर्भ में डॉ. धर्मचंद जैन का यह मंतव्य विशेष रूप से दृष्टव्य है। वे लिखते हैं– 'शुद्ध प्रत्यक्ष की दृष्टि से यदि विचार किया जाए, तो बौद्धसम्मत निर्विकल्पक–प्रत्यक्ष समीचीन प्रतीत होता है, किन्तु प्रमाण द्वारा अर्थ–क्रिया में प्रवृत्ति या हेयोपादेय के ज्ञान की दृष्टि से यदि विचार किया जाए, तो वह सर्वथा अनुपयोगी एवं अव्यवहार्य है तथा जैनसम्मत सविकल्पक–प्रत्यक्ष उपयोगी एवं व्यवहार्य प्रतीत होता है। बौद्ध–दर्शन–सम्मत प्रत्यक्ष इसलिए अव्यवहार्य एवं काल्पनिक सिद्ध होता है, क्योंकि उसका विषय स्थूल एवं स्थिर दृष्टिगोचर होने वाले पदार्थ नहीं, अपितु निरन्तर गतिशील एवं सूक्ष्म व असाधारण स्वलक्षण–परमाणु हैं, जिनका किसी भी पुरुष को प्रत्यक्ष होता हुआ दिखाई नहीं देता है।'[302] इस प्रकार,, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निर्विकल्पक–प्रत्यक्ष, जिसे जैनों ने दर्शन कहा है, वह निश्चय ही प्रमाणज्ञान का पूर्व–तत्त्व है और उसके बिना सविकल्प और व्यवसायात्मक–प्रत्यक्ष सम्भव भी नहीं होता है, फिर भी यदि निश्चयात्मक–ज्ञान ही प्रमाण है– ऐसा माना जाए, तो फिर हमें निर्विकल्पक–प्रत्यक्ष को अव्यवहार्य या अप्रमाणरूप मानना ही होगा, क्योंकि प्रमाण निश्चयात्मक होता है और यह निश्चयात्मकता सविकल्प या विशेष ज्ञान के द्वारा ही सम्भव है।

---

[302] देखें – बौद्ध–प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा, डॉ. धर्मचन्द जैन, पृ. 207

अध्याय–8

प्रत्यभिज्ञा, तर्क एवं स्मृति की अप्रमाणता के संबंध में बौद्ध–मत की समीक्षा

(अ) प्रत्यभिज्ञा की अप्रमाणता का बौद्धों का पूर्वपक्ष

जैसा कि हमने पूर्व में निर्देश किया है कि बौद्ध–दार्शनिक जैनों के समान स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। यह भी हम स्पष्ट कर चुके हैं कि जैन–दर्शन में इन तीनों को प्रमाण मानने की परंपरा दिगंबर–आचार्य अकलंक और श्वेताम्बर–आचार्य सिद्धऋषि से ही प्रारंभ होती है और यही कारण रहा है कि प्राचीन–स्तर के बौद्ध–ग्रन्थों में इनके प्रमाण की समीक्षा भी उपलब्ध नहीं होती। सर्वप्रथम अर्चट् ने ही हेतुबिंदु–टीका में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि के प्रामाण्य का निरसन किया है। यह भी हम इंगित कर चुके हैं कि रत्नप्रभसूरि के रत्नाकरावतारिका में प्रत्यभिज्ञा आदि के खंडन हेतु पूर्वपक्ष के रूप में अर्चट् के हेतुबिंदु की टीका को ही आधार बनाया गया है। अर्चट् की हेतुबिंदु की टीका के अतिरिक्त बौद्ध–न्याय के आठवीं शताब्दी के पूर्व के किसी भी ग्रंथ में प्रत्यभिज्ञा आदि के प्रामाण्य का निरसन नहीं है। रत्नप्रभसूरि ने बौद्धों के द्वारा जैनों द्वारा मान्य प्रत्यभिज्ञा की प्रमाणरूपता का जो खंडन किया था, पुनः उसका भी खंडन करके रत्नाकरावतारिका में प्रत्यभिज्ञा की प्रमाणरूपता की सिद्धि की है। चूँकि बौद्ध–दार्शनिक प्रत्यभिज्ञा को स्वतंत्र प्रमाण स्वीकार नहीं करके उसे प्रत्यक्ष का ही एक भाग मानते हैं और इसी रूप में उनके पूर्वपक्ष का प्रस्तुतिकरण, जो अर्चट् की हेतुबिंदु की टीका में हुआ है, रत्नप्रभसूरि ने प्रायः उसी को प्रस्तुत किया है, अतः, हम यहाँ अलग से बौद्धों के पूर्वपक्ष का प्रस्तुतिकरण न करके रत्नाकरावतारिका में जिस रूप में उनके पूर्वपक्ष का उल्लेख है, उसी का प्रस्तुतिकरण करेंगे।

बौद्धों के प्रत्यभिज्ञा की प्रमाणता के खंडन की समीक्षा –

रत्नाकरावतारिका के तृतीय परिच्छेद में टीकाकार जैनाचार्य श्री रत्नप्रभसूरि प्रत्यभिज्ञा के संबंध में नैयायिक और मीमांसकों के मत का खंडन करने के पश्चात् बौद्धदर्शन का खण्डन करते हुए लिखते हैं –

बौद्धों का पूर्वपक्ष – बौद्ध–दार्शनिक जैनों पर आक्षेप लगाते हुए कहते हैं कि कटा हुआ नख, कटे हुए केश और कटी हुई चोटी के संबंध में यह कहना कि पुनः वह नख, केश या चोटी आ गई के समान ही आप जैनों की यह प्रत्यभिज्ञा की प्रमाणता भी मिथ्या या भ्रांत है, क्योंकि नख, केश और चोटी एक बार कटने के पश्चात् पुनः कटे हुए नख, केश या चोटी ही उत्पन्न नहीं होते हैं, अपितु नए–नए उत्पन्न होते हैं। व्यवहार में ऐसा बोलते हुए देखा जाता है कि जो नख कटा था, पुनः वही नख उत्पन्न हो गया, जो बाल कटे थे, पुनः वही बाल उत्पन्न हो गए, जो चोटी कटी थी, पुनः वही चोटी उत्पन्न हो गई, जिसको आप जैन संकलनात्मक–ज्ञान बताकर प्रमाणरूप मान रहे हैं।

बौद्ध कहते हैं कि वस्तुतः वह ज्ञान संकलनात्मक–ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि वे जो कट चुके हैं और वे जो नए–नए उत्पन्न हुए हैं, वे दोनों भिन्न–भिन्न हैं। इनके भिन्न–भिन्न होने से आपका यह संकलनात्मक–ज्ञान भ्रान्तिरूप है। इसी प्रकार, अनेक संदर्भों में होने वाली आप जैनों की प्रत्यभिज्ञा भी भ्रांतिरूप होने से प्रत्यभिज्ञा को प्रमाणरूप नहीं माना जा सकता है, अतः, हम बौद्धों की यह अवधारणा है कि संसार के प्रत्येक पदार्थ क्षणमात्रवर्ती हैं, अर्थात् विनश्वर स्वभाव वाले हैं। प्रतिक्षण नष्ट होने वाली वस्तु कट–कट कर पुनः–पुनः वही उत्पन्न नहीं हो सकती। 'यह वही है' ऐसा जो आप जैन कथन करते हैं, वह मिथ्या भ्रांति के कारण ही करते हैं।[303]

यदि यह मान भी लें कि दस वर्ष पहले किसी व्यक्ति को देखा, दस वर्ष पश्चात् पुनः वही व्यक्ति मिला, उसको देखकर आप कहते हैं कि 'यह वही है,' तो हम बौद्ध आप जैनों से पूछते हैं कि क्या यह वही व्यक्ति है, जिसे दस वर्ष पहले देखा था ? क्या उसमें अंतर नहीं आया ? जब वस्तु का लक्षण ही प्रतिक्षण बदलने का है, तो उस बदलने वाली वस्तु या व्यक्ति की प्रत्यभिज्ञा कैसे हो सकती है ? नदी में किसी ने दस बार

---

[303] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 385, 386

डुबकी लगाई। प्रथम बार की डुबकी में जो पानी था, दूसरी बार की डुबकी में दूसरा पानी आ गया, तो क्या यह कहेंगे कि यह वही पानी है ? पानी का तो सतत–प्रवाह चलता रहता है, अतः, हम आप जैनों के प्रत्यभिज्ञा–ज्ञान को प्रमाणरूप नहीं कह सकते।

जैन– इसके उत्तर में जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि क्या एक प्रत्यभिज्ञा के भ्रान्त होने पर सारी प्रत्यभिज्ञाएँ भ्रान्त मानी जाएगी ? यदि आप ऐसा ही कथन करते हैं कि किसी एक पदार्थ की प्रत्यभिज्ञा के भ्रान्त होने पर सभी पदार्थों या व्यक्तियों की सभी प्रत्यभिज्ञाएं भ्रान्त या मिथ्यारूप ही होती हैं, तिमिरादि रोग से ग्रस्त व्यक्ति को आकाश–मंडल में स्थित एक चन्द्र के स्थान पर दो चन्द्र दिखाई देते हैं, यह प्रत्यक्ष ज्ञान भ्रान्त होने पर क्या सभी प्रत्यक्ष ज्ञान भ्रान्तिरूप ही होगा ? वस्तुतः तो, आकाश में एक ही चन्द्रमा होता है, किन्तु रोगादि के कारण दो चन्द्र दिखाई देते हैं, तो क्या इस प्रत्यक्ष ज्ञान के मिथ्या होने के कारण सभी स्थानों के सभी प्रत्यक्षों को मिथ्या ज्ञान मान लिया जाएगा ? यद्यपि यह विदित है कि एक चन्द्र के स्थान पर दो चन्द्र दिखाई देना तिमिरादि रोग के कारण होता है, तो इसका मतलब यह तो नहीं हो जाएगा कि सभी प्रत्यक्ष ज्ञान मिथ्यारूप या भ्रान्तिरूप ही होते हैं। आप बौद्धों की मान्यतानुसार तो यह होना चाहिए कि एक प्रत्यक्ष के भ्रान्त होने पर सभी प्रत्यक्ष ज्ञानों को भ्रान्तिरूप मान लेना चाहिए। कदाचित् आप बौद्ध ऐसा ही मानते हैं, तो मृग–मरीचिका के भ्रान्त जल–ज्ञान के समान ही सरोवर–समुद्र आदि का जल–ज्ञान भी भ्रान्ति वाला हो जाना चाहिए, अतः, आप बौद्धों द्वारा हम जैनों पर जो दोष लगाया जाता है कि किसी एक प्रत्यभिज्ञा के भ्रान्त होने पर सभी प्रत्यभिज्ञाएँ भ्रान्त ही होती हैं, सर्वथा अनुचित है।[304]

बौद्ध – इस पर, बौद्ध–दार्शनिक जैनों से कहते हैं कि जो पदार्थ अपने यथार्थ लक्षण से युक्त होता है, उसमें किसी भी प्रकार का व्यभिचार–दोष उत्पन्न नहीं हो सकता है। आपके प्रत्यभिज्ञा का लक्षण क्या है, 'पूर्वापर की संकलना' वर्त्तमान की वस्तु को भूतकाल की वस्तु के साथ जोड़ना, अर्थात् 'यह वही है', 'यह तद्रूप है', 'यह गाय उस गाय के समान है', यही तो आपकी प्रत्यभिज्ञा का लक्षण है। डॉ. धर्मचन्द जैन 'बौद्ध–प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा' पुस्तक में लिखते हैं कि धर्मकीर्त्ति का मत है कि 'यह वही है' इस प्रकार, की एकत्व–विषयक

---

[304] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 386

प्रत्यभिज्ञान नामक कल्पना को प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष एवं प्रत्यभिज्ञान का विषय भिन्न है। प्रत्यक्ष में स्पष्ट अवभास (बोध) होता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञान में उसका भ्रम (संभावना) होता है। काटे हुए केशों एवं नवीन उत्पन्न केशों में, जादूगर द्वारा प्रदर्शित गोलों में तथा प्रतिक्षण नई तेल–बूंदों से जल रहे दीपक आदि में, यह वही दीपक है– ऐसा जो प्रत्यभिज्ञान होता है, वह स्पष्टावभासी प्रत्यक्ष से भिन्न है, इसलिए प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। ऐसे प्रत्यभिज्ञा से वर्णादि में एकत्व का निश्चय नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष एवं प्रत्यभिज्ञा– दोनों भिन्न हैं। प्रत्यभिज्ञान में पूर्वानुभूत अर्थ के धर्म का स्मरण के आधार पर वर्त्तमान अर्थ पर जो आरोप किया जाता है, ऐसा आरोप प्रत्यक्ष में नहीं होता।[305] रत्नाकरावतारिका में इसी संदर्भ में बौद्ध जैनों से कहते हैं कि नख, केश और चोटी आदि आपके अनुसार प्रत्यभिज्ञा के लक्षण से युक्त हैं, जैसे– यह वही नख है, यह वही केश है, यह वही चोटी है आदि में संकलनात्मक–लक्षण घटित होता है, तो आपके इस संकलनात्मक–लक्षण में हमें व्यभिचार–दोष प्रतीत होता है। आप यह किस प्रकार से सिद्ध करेंगे कि ये वही नख, केश, चोटी आदि हैं। क्योंकि ये सब तो कटने के पश्चात् कचरे में डल चुके हैं और शायद अभी कचरे में हो भी सकते हैं, तो फिर ऐसा कैसे कहा जा सकता है कि ये वही नख, केश, चोटी आदि हैं। अतः,, 'संकलना' रूप लक्षण व्यभिचार–दोष से ग्रस्त लक्षण होने के कारण प्रत्यभिज्ञा का आपका लक्षण ही दूषित सिद्ध होता है।[306]

पुनः, बौद्ध–दार्शनिक जैनों से कहते हैं कि आपने प्रत्यक्ष प्रमाण के संबंध में हमारे पर जो दोष लगाया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि हम ऐसा मानते हैं कि जहाँ व्यभिचार–दोष होता है, वहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण भी निर्दोष नहीं हो सकता है। हम बौद्ध यही कहते हैं कि दो चन्द्र–दर्शन में तो निर्दोषता नहीं रहती है, क्योंकि आकाश–मंडल में चन्द्रमा तो एक है, किन्तु यदि दो दिखाई देते हैं, तो यह समझना चाहिए कि यह प्रत्यक्ष दूषित है। यदि इसके विपरीत मान लें कि यह खम्भा है, खम्भा एक ही है और हमें भी एक ही दिखाई दे रहा है, तो समझना चाहिए कि यह प्रत्यक्ष निर्दोष है, बाधा आदि दोषों से रहित है।[307]

---

[305] देखें – बौद्ध–प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा, डॉ. धर्मचन्द जैन, पृ. 310

[306] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 386, 387

[307] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 386, 387

जैन – बौद्धों के इस तर्क की समीक्षा करते हुए जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि हम प्रत्यभिज्ञा की प्रमाणता का लक्षण मात्र 'संकलना' को ही नहीं मानते हैं, किन्तु 'स्व और पर' का निश्चय कराने वाला जो ज्ञान हैं, वही प्रमाण है। प्रमाण का ऐसा सामान्य–लक्षण जहाँ भी विद्यमान होता है, उसे ही प्रमाण मानते हैं। जो संकलनात्मक–ज्ञान है, वह प्रत्यभिज्ञान तभी कहलाता है, जब उसमें यह लक्षण घटित हैं, अर्थात् संकलनात्मक जो ज्ञान है, वह सामान्य लक्षण से युक्त होने पर ही प्रमाणरूप होता है। सामान्य लक्षण से युक्त होते हुए भी जो विशेष लक्षण होता है, वही लक्षण निर्दोष होता है। उदाहरणस्वरूप, 'सास्ना' यह गाय का विशेष–लक्षण है, परन्तु चेतना यह प्राणीमात्र का सामान्य लक्षण है। सामान्य गो जाति में सास्ना पाई जाती है और सास्ना के विशेष लक्षण से ही गाय की पहचान होती है। चेतना प्राणीमात्र का सामान्य लक्षण है, अर्थात् संसार के प्रत्येक प्राणी में चेतना पायी जाती है, किन्तु यदि मिट्टी की गाय में सास्ना विशेष के होने पर भी यदि चेतनत्व (सामान्य लक्षण) न हैं, तो उस मिट्टी की गाय को "चेतनायुक्त गाय" नहीं कह सकते हैं। ठीक इसी प्रकार सामान्य लक्षण के होते हुए जो विशेष लक्षण होता है, वही लक्षण 'लक्षण' कहलाता है।[308]

जैन – पुनः, जैन–दार्शनिक कहते हैं कि नख, केश, चोटी आदि के संबंध में हम जो कथन करते हैं, वह मात्र व्यवहार के आधार पर करते हैं, सामान्य लक्षण से नहीं करते हैं। वस्तुतः तो हम भी यह जानते हैं कि नख, केश, चोटी आदि कटने के बाद नवीन ही उत्पन्न होते हैं, किन्तु व्यवहार के आधार पर पुनः उन्हीं नियत स्थान पर उत्पन्न होने के कारण यह अवश्य कह देते हैं कि यह वही नख है, यह वही केश है, यह वही चोटी है, अर्थात् नख, केश, चोटी कटकर भी चाहे दूसरे भी आ जाएँ, तब भी व्यवहार के आधार पर यह वही नख, केश, चोटी आदि हैं– ऐसा कहा जाता है। किसी व्यक्ति को हमने दस साल बाद देखा है, तो दस साल में बदलकर भी वह 'वही' रहता है, किन्तु 'स्व–पर–व्यवसायीरूप ज्ञान' सामान्य लक्षण और उससे युक्त विशेष लक्षण (संकलना) जहाँ देखा जाता है, वही ज्ञान प्रमाणरूप होता है। नख, केश, चोटी आदि में निश्चयात्मक–ज्ञान न होने के कारण उन्हें प्रत्यभिज्ञा–प्रमाणरूप नहीं माना जाता है, किन्तु इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि संकलनात्मक–ज्ञान प्रत्यभिज्ञारूप

---

308 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 387

नहीं होता है। वह अवश्य ही प्रत्यभिज्ञारूप होता है। इतना अवश्य है कि अयथार्थ प्रत्यभिज्ञा में सामान्य लक्षण नहीं होने पर भले ही दोष उत्पन्न होते हों, किन्तु यथार्थ प्रत्यभिज्ञा तो सामान्य और विशेष–इन दोनों लक्षणों से युक्त होने पर उसमें किसी प्रकार का कोई भी दोष उत्पन्न नहीं होता है, 'यह वही गाय है' इत्यादि में कोई भी दोष उत्पन्न नहीं होता है, अतः, प्रत्यभिज्ञा अवश्य ही प्रमाणरूप सिद्ध होती है।[309]

बौद्ध – इसी सन्दर्भ में, बौद्ध–दार्शनिक अपने क्षणिकवाद की पुष्टि करने के लिए कहते हैं कि जगत् के सभी पदार्थों के क्षणभंगुर होने से प्रत्यभिज्ञा प्रमाणरूप नहीं होती है, एकता का जो ग्रहण है, वह भ्रान्तिरूप है, अर्थात् हमारे कहने का आशय यह है कि संकलनात्मक–ज्ञान एकत्वरूप होने से भ्रान्तिरूप ही है। प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण विनाशशील होते हैं। जब कोई भी पदार्थ दो क्षण के लिए भी स्थायी नहीं है, तो 'यह वही जिनदत्त है', 'यह वही गाय है' इत्यादि उदाहरण में वर्त्तमानकाल को भूतकाल से जोड़ना (तुलना करना), अर्थात् पूर्वापर की संकलनारूप प्रत्यभिज्ञानात्मक एकत्वरूप ज्ञान भ्रान्ति (मिथ्या) रूप ही है।[310]

जैन – इस पर, जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ द्रव्य और पर्याय से युक्त होता हैं, अतः, उसको क्षणभंगुर नहीं माना जा सकता है। प्रत्येक पदार्थ द्रव्य से नित्य और पर्याय से अनित्य होते हैं। आपके बौद्धदर्शन के क्षणिकवाद का खण्डन हमने अन्य स्थान पर कर दिया है, अतः, यहाँ उसका पिष्टपेषण उचित नहीं है, इसलिए क्षणभंगता का भंग, अर्थात् क्षणभंगता नहीं है, यह हमारा अभंग उत्तर है।[311]

पुनः, जैन–दार्शनिक कहते हैं कि यह ठीक है कि आप संसार के प्रत्येक पदार्थ को भले ही क्षणिक भी मान लें, किन्तु फिर भी सभी पदार्थों में संकलनारूप जो ज्ञान है, अर्थात् एकत्वरूप जो ज्ञान होता है, उसको मिथ्या (भ्रान्ति) रूप कहने से आपका क्या आशय है ? अर्थात् संकलनात्मक–ज्ञान को आप भ्रान्तिरूप क्यों कहते हैं ?[312]

---

309 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 387
310 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 388
311 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 388
312 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 388

बौद्ध – इसके उत्तर में बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक समय में नवीन–नवीन ही उत्पन्न होते हैं। चाहे गाय हो, चाहे महिष, किंवा अन्य कोई भी पदार्थ हो, वे एक क्षण के पश्चात् दूसरे क्षण में वही नहीं रहते हैं, अर्थात् दो क्षण भी स्थायी नहीं रहते हैं, तो यह वही गाय है, यह वही जिनदत्त है, इत्यादि में नित्यता (ध्रुवता) का ज्ञान सत्य कैसे हो सकता है ? इसलिए नए–नए उत्पन्न होने के स्वभाव वाले पदार्थों में जो सादृश्य ज्ञान होता है, अर्थात् सामान्य रूप जो ज्ञान होता है, उनकी वह एकता ही भ्रान्ति (मिथ्या) ज्ञान का कारण है, अर्थात् सादृश्यता ही भ्रान्ति का कारण है।[313]

जैन – बौद्धों के इस तर्क की समीक्षा करते हुए जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं– अच्छा आप यह बताइए कि पूर्वक्षण और उत्तरक्षण क्षणिक होने से दोनों ही भिन्न–भिन्न हैं। इन दोनों के मध्य एकतारूप–ज्ञान कराने वाला 'सादृश्य' नामक कोई पदार्थ है या नहीं है ? यदि आप सादृश्य नाम का पदार्थ मानते हैं, तो फिर तो पूर्वक्षण और उत्तरक्षण के साथ सादृश्य होगा। इसका तात्पर्य यह होगा कि पूर्वापर क्षणों–क्षणों के मध्य सदृशता (समानता) बताने वाली प्रत्यभिज्ञा प्रमाणरूप सिद्ध होगी। परिणाम यह होगा कि मृग–मरीचिका का जल अप्रमाणरूप है, क्योंकि वहाँ पर स्वाभाविक जल तो है नहीं, परन्तु सरोवर, नदी और समुद्र आदि का जल–ज्ञान तो प्रमाणरूप है, अर्थात् वहाँ पर वास्तविक विषय रूपी जल है। ठीक इसी प्रकार आप बौद्धों ने पूर्वापर–क्षणों के क्षणिक होते हुए भी इन दोनों के मध्य 'सादृश्य' (समानता) नामक पदार्थ को स्वीकार किया है, इसलिए उसको विषय करके उत्पन्न होने वाला सादृश्य ज्ञान स्वविषय का निश्चयात्मक होने से प्रत्यभिज्ञा भी प्रमाणरूप ही सिद्ध होगी।[314]

जैनाचार्य विद्यानन्द द्वारा भी प्रत्यभिज्ञा की प्रनाणता का स्थापन –

डॉ. धर्मचन्द जैन 'बौद्ध–प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा' में लिखते हैं कि विद्यानन्द ने दो प्रकार के प्रत्यभिज्ञान का निरूपण किया है– 1. एकत्व–प्रत्यभिज्ञान एवं 2. सादृश्य–प्रत्यभिज्ञान। 'वही यह है' इस प्रकार, का ज्ञान एकत्व–प्रत्यभिज्ञान तथा यह वैसा ही है' ऐसा ज्ञान

---

[313] रत्नाकरावतारिका भाग II रत्नप्रभसूरि पृ. 388

[314] रत्नाकरावतारिका भाग II रत्नप्रभसूरि पृ. 388, 389

सादृश्य–प्रत्यभिज्ञान है। वे इन दोनों प्रकार के प्रत्यभिज्ञानों को स्मृति एवं प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं।[315]

बौद्ध – प्रत्यभिज्ञान के इन दोनों प्रकारों को प्रमाण नहीं मानने वाले प्रतिपक्षी बौद्ध–दार्शनिकों का कथन है कि एकत्व–प्रत्यभिज्ञा का जो स्वरूप 'वही यह है' के रूप में निर्दिष्ट किया गया है, उसमें 'वही' पद अतीत का ज्ञान कराने से स्मृतिरूप है तथा 'यह' पद वर्त्तमान का ज्ञान कराने से प्रत्यक्षरूप है। इस प्रकार,, प्रत्यभिज्ञान कोई पृथक् प्रमाण नहीं है, अपितु इसमें प्रत्यक्ष और स्मृति दो ज्ञान हैं। सादृश्य–प्रत्यभिज्ञान में भी इसी प्रकार 'वैसा ही' यह स्मृति का विषय है तथा 'यह है'– यह प्रत्यक्ष का विषय है, इसलिए प्रत्यभिज्ञान को पृथक् प्रमाण मानने की कल्पना व्यर्थ है।[316]

जैन – जैन–दार्शनिक विद्यानन्द ने प्रतिपक्षी बौद्धों को उत्तर देते हुए प्रतिपादित किया है कि स्मरण और प्रत्यक्ष से जन्य अतीत और वर्त्तमान में अवस्थित एक द्रव्य को विषय करने वाला प्रत्यभिज्ञान सुप्रतीत है। स्मृति द्वारा 'वह' का ज्ञान होता है तथा प्रत्यक्ष द्वारा 'यह' का ज्ञान होता है, जबकि प्रत्यभिज्ञान इन दोनों के संकलनात्मकरूप एकत्व का बोधक होता है। जो मैं बालक था, कुमार हुआ, युवा हुआ, मध्यम हुआ, वही मैं अभी वृद्ध हूँ, ऐसी प्रतीति सबको होती है। प्रत्यभिज्ञान को स्वीकार किए बिना पूर्वोत्तर क्षणों में संतान की एकता भी सिद्ध नहीं की जा सकती। इसी प्रकार, पूर्वापर वस्तुओं में सादृश्य का ज्ञान करने के लिए प्रत्यभिज्ञान को प्रमाणरूप में स्वीकार करना आवश्यक है।[317]

बौद्ध – इसके उत्तर में बौद्ध कहते हैं कि पूर्वापर–क्षण में 'सादृश्य' नाम का कोई भी पदार्थ नहीं है, क्योंकि पूर्वक्षण से उत्तरक्षण तक तथा उस उत्तरक्षण से फिर अगले उत्तरक्षण तक के समस्त पदार्थों को हम विलक्षण–रूप ही मानते हैं, इसलिए सादृश्य नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है तो फिर सदृशता (समानता) को बताने वाली प्रत्यभिज्ञा प्रमाणरूप कैसे सिद्ध होगी? अर्थात् नहीं होगी।[318]

---

315 देखें – बौद्ध प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा – डॉ. धर्मचंद जैन पृ. 312

316 देखें – बौद्ध–प्रमाण मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा, डॉ. धर्मचंद जैन, पृ. 312

317 देखें – प्रमाण परीक्षा, पृ. 42

318 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 389

जैन – जैन–दार्शनिक बौद्धों पर आक्षेप लगाते हुए कहते हैं कि आप हमारे तर्कजाल से छूटकर कहाँ जाओगे ? यह ठीक है कि आप सादृश्य को मत मानो तथा सदृशता को बताने वाली प्रत्यभिज्ञा को भी प्रमाणरूप मत मानो, किन्तु फिर भी पूर्वापरक्षण में सदृशता नहीं है, अपितु विलक्षणता (विलक्षण) है, ऐसा आप मानते हैं, तो इस विलक्षणता को बताने वाली ऐसी प्रत्यभिज्ञा, अर्थात् 'यह उत्तरक्षण पूर्वक्षण से विलक्षण–रूप है' में विलक्षणता का बोध प्रत्यभिज्ञा–प्रमाण से ही प्राप्त होगा, अर्थात् प्रत्यभिज्ञा ही तो सिद्ध होगी। फलितार्थ यह है कि यदि आप पूर्वापर पदार्थों को भले ही क्षणिक मानें, तो भी दोनों के मध्य सदृशता मानेंगे, तो सदृशता को बताने वाली प्रत्यभिज्ञा प्रमाणरूप सिद्ध होगी और यदि पूर्वापर–क्षणों को विलक्षण मानेंगे, तो 'यह महिष, गाय से विलक्षण है'– इस विलक्षणता को बताने वाली प्रत्यभिज्ञा भी प्रमाणरूप ही सिद्ध होगी।[319]

बौद्ध – इस पर बौद्ध सादृश्य और वैसादृश्य को छोड़कर तीसरा तर्क देते हुए कहते हैं कि पूर्वापर–क्षणों में, अर्थात् प्रत्येक समय में नए–नए पदार्थों के उत्पन्न होने में सादृश्य अथवा वैसादृश्य– दोनों ही नहीं हैं, जिससे आपकी प्रत्यभिज्ञा सिद्ध हो, अपितु हमारी तो यह अवधारणा है कि समस्त पदार्थ परमाणुओं का प्रचय–मात्र ही हैं, अर्थात् परमाणुओं का पुंज (समूह) मात्र ही हैं– ऐसा हम मानेंगे।[320]

जैन – इस पर, जैन–दार्शनिक तुरंत बौद्धों को अगला तर्क देते हैं कि यदि आप पदार्थों को परमाणुओं का समूहमात्र मानते हैं, तो फिर यह छोटा घट, यह बड़ा घट, इन छोटे–बड़े घटों के संबंध में आपका क्या कथन होगा ? क्या छोटे घट से बड़े घट में परमाणु–प्रचय अधिक है और इस छोटे घट में बड़े घट की अपेक्षा परमाणु–प्रचय भी अल्प है, इत्यादि रूप प्रत्यभिज्ञा तो पूर्वापर की संकलनारूप और यथार्थ होने से प्रमाणरूप ही सिद्ध होगी।[321]

बौद्ध – अब बौद्ध–दार्शनिकों के सादृश्य–वैसादृश्य और परमाणु–प्रचयत्व आदि तर्क जैनों द्वारा खंडित हो जाने पर वे एक नया तर्क प्रस्तुत करते हुए जैनों से कहते हैं कि यह ठीक है कि जिस प्रकार सादृश्य भी नहीं, वैसादृश्य भी नहीं तथा परमाणुओं का प्रचयत्व भी नहीं है,

---

[319] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 389

[320] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 389

[321] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 389

ऐसे हम इन तीनों को भी नहीं मानते हैं, किंतु हम तो ऐसा कथन करते हैं कि यह नीलवर्ण वाला, यह पीतवर्ण वाला– ऐसे भिन्न–भिन्न परमाणु–मात्र ही हैं। यदि हम परमाणुओं का पुंज–विशेष कहेंगे, तो वहाँ पर छोटे–बड़े की कल्पना करनी पड़ेगी और प्रत्यभिज्ञा की प्रमाणता को भी स्वीकार करना पड़ेगा, किन्तु हमें तो आपकी प्रत्यभिज्ञा स्वीकार्य न होने के कारण हम तो ऐसा मानते हैं कि मात्र नील–पीत आदि वर्णवाले एक–एक तथा भिन्न–भिन्न परमाणु ही तात्त्विक या यथार्थ–पदार्थ हैं तथा सभी पदार्थ कद में एक समान होने से छोटे–बड़ों का भेद ही समाप्त हो जाता है, अतः, आपकी प्रत्यभिज्ञा किसी भी रूप से सिद्ध हो नहीं सकती।[322]

जैन – इस पर, जैन बौद्धों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं– अहो! यह कैसी आश्चर्यकारी बात है कि जिस प्रकार लेनदार से पकड़ा गया निर्धन देनदार जैसे स्वयं ही अपने कहे हुए पक्ष का अपलाप करके भी भागने की चेष्टा करता है, अर्थात् जिस प्रकार कोई देनदार निर्धन होने के कारण जब–जब उसको लेनदार व्यक्ति दिखाई देता है, तब–तब वह कहता है कि मैं पाँच–पच्चीस दिन में आपके पैसे लौटा दूँगा– ऐसा वायदा करके वह भाग जाता है, किन्तु वह देनदार हकीकत में एक भी वायदा पूर्ण नहीं करता है, उसी प्रकार आप बौद्ध भी कभी तो सदृशता को, तो कभी विसदृशता को, तो कभी परमाणु–प्रचयत्व–विशेष को– ऐसे भिन्न–भिन्न पक्षों की स्थापना करके हमारे जैनों के सिद्धांत में दोषों का आरोपण करते हैं, किन्तु अंत में सभी पक्षों को छोड़कर आप बौद्ध भाग जाते हैं, अतः, आपका एक भी पक्ष समुचित नहीं लगता है।[323]

पुनः, जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों पर आक्षेप लगाते हुए कहते हैं कि आप तो एक के बाद एक नए–नए सिद्धांतों को प्रस्तुत करते गए एवं बाद में उन्हीं सिद्धांतों को नकारते भी गए। जब आपने कहा कि हम सादृश्य को मानते हैं, तो हम जैनों ने आपके द्वारा मान्य सादृश्यता का खण्डन किया, तब आपने सादृश्य को छोड़कर वैसादृश्य को मान लिया, तो हमने उसका भी खण्डन कर दिया, फिर आपने परमाणु–प्रचयत्व का सहारा लिया, तो उसको भी हमने खंडित कर दिया। इस प्रकार,, आपने विभिन्न सिद्धांतों का सहारा लेकर अपने पक्ष को निर्दोष साबित करने का प्रयत्न किया, किन्तु अन्ततः आपके तर्क निर्दोष सिद्ध नहीं हो सके। अब आप यह

---

322 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 390

323 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 389

बताइए कि यदि आपका पदार्थ सदृशता, या विसदृशता, या परमाणु–प्रचयत्वरूप नहीं है और मात्र नील–पीतादि प्रत्येक परमाणु रेती के कण के समान स्वतंत्र रूप ही हैं, तो फिर यह बताइए कि आपने सादृश्य–वैसादृश्य या प्रचयत्व–विशेष आदि एक–एक पक्ष की स्थापना करके उन सबका उत्तर क्यों दिया ?[324]

बौद्ध – इस पर, बौद्ध–दार्शनिक जैनों से कहते हैं कि सादृश्य–वैसादृश्य और परमाणु–प्रचयत्व इत्यादि पक्षों की मानसिक–कल्पना मात्र आप जैनों को समझाने तक ही सीमित थी, किंतु वह घट–पट के समान तात्त्विक–ज्ञान से युक्त बाह्य–पदार्थरूप कुछ भी नहीं थी। तात्पर्य यह है कि जब आप हमारे सिद्धान्तों पर दोष बता रहे, तो हमने कहा कि ठीक है, नए–नए विकल्पों की कल्पना करके अपने पर लगाए गए दोषों का निवारण किया जाए, इसी हेतु हमने नए–नए सिद्धान्तों की स्थापना की, किन्तु जब आप जैनों ने हमारे द्वारा प्रस्तुत सादृश्य–वैसादृश्य एवं प्रचयत्व–विशेष– इस प्रकार, हमारे एक–एक पक्ष को दूषित (बाधित) बता दिया, तो फिर हमने कहा कि हम सदृशता आदि–रूप बाह्यार्थ की सत्ता को तो स्वीकार करते ही नहीं हैं।[325]

जैन – इस पर, जैन बौद्धों से कहते हैं कि जब जिस प्रकार आपने अपना बचाव करने के लिए पूर्व–काल्पनिक सादृश्य–वैसादृश्य और परमाणुओं के प्रचयत्व–विशेष के जो उत्तर दिए थे, उनके समान ही आपका यह उत्तर कि 'नील और पीत आदि वर्ण वाले प्रत्येक स्वतंत्र परमाणु तथ्यरूप हैं'– ऐसे उत्तर–रूप जो आपने अन्तिम पक्ष स्वीकार किया है, वह अन्तिम पक्ष भी पूर्वपक्षों के समान ही काल्पनिक है, ऐसा क्यों नहीं मान लेते हो ? उस पक्ष को तथ्यरूप मानने की क्या आवश्कता है ? अर्थात् आप बौद्धों को नील–पीतादि स्वतंत्र परमाणुओं को भी काल्पनिक ही मान लेना चाहिए।[326]

बौद्ध – इसके समाधान में बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि यदि बाह्य–परमाणुओं को, जो यथार्थ पदार्थरूप स्वीकार न करें और मात्र काल्पनिक मान लें, तो फिर तो ये परमाणु पीत ही हैं और ये परमाणु नील ही हैं– ऐसे भेद का उल्लेख कैसे संभव होगा ? जैसे मृग–मरीचिका का

---

[324] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 390

[325] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 390, 391

[326] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 391

जल काल्पनिक होता है, तो उसके संबंध में यह जल मीठा है, यह जल खारा है– ऐसा भेदोल्लेख करना भी संभव नहीं होता है, क्योंकि जब पानी ही नहीं होगा, तो खारे और मीठेपन की बात ही कैसे संभव होगी ? इसी प्रकार, जब परमाणु ही मिथ्यारूप या काल्पनिक होंगे, तो यह परमाणु नीला है, यह पीला है– ऐसा उल्लेख भी कैसे होगा ? अर्थात् नहीं होगा।[327]

जैन – इस पर, जैन कहते हैं कि यदि ऐसा ही है, तो फिर सादृश्य और वैदृश्य आदि में भी भेद (भिन्नता) का उल्लेख कैसे होगा ? अर्थात् गवय की गाय से सदृशता भी मिथ्या या काल्पनिक ही होगी, फिर भी वहाँ सदृशता का ही विकल्प क्यों होता है ? इसी प्रकार, महिष (भैंस) में गाय का वैदृश्य भी मिथ्या या काल्पनिक ही होने से वहाँ पर वैदृश्य का ही विकल्प क्यों होता है ? तब तो गवय से गाय की वैदृश्यता का और महिष से गाय की सदृशता का भी अनुभव होना चाहिए, जो कभी होता ही नहीं है।[328]

बौद्ध – इस पर, बौद्धों का कहना है कि सादृश्य और वैदृश्य आदि काल्पनिक होते हुए भी इन दोनों के मध्य विकल्प (भेद) की वासना (संस्कार) होने से उस वासना (संस्कार) के कारण ऐसा उल्लेख होता है, किन्तु नील–पीत आदि परमाणुओं को भी तथ्यरूप माने बिना उन्हें मात्र काल्पनिक मानकर वासना के बल से ही उनमें 'यह नील है और यह पीत है'– ऐसा भेद (विकल्प) करना संभव नहीं होता है, क्योंकि नील–परमाणुओं में पीत की और पीत–परमाणुओं में नील की वासना कदापि संभव नहीं होती है, परन्तु नील में नील की और पीत में पीत की वासना ही संभव होती है, इसलिए नियत रूप से होने वाली वासना का उद्‌बोधक (ज्ञापक) किसी न किसी बाह्य–पदार्थ को तो यथार्थ मानना ही पड़ेगा न ? बाह्यार्थ को तथ्यरूप माने बिना नियत–रूप वाली वासना का जन्म कैसे होगा ?[329]

जैन – इस पर, जैन कहते हैं कि आपके इस कथन से कि 'बाह्य–पदार्थ जो तथ्यरूप न हो, तो नियत–रूप से वासना भी नहीं होगी', हम जैनों का तो कोई विरोध नहीं है, परन्तु हमारा कहना है कि परमाणुओं के समान सादृश्यादि को भी आपको तथ्यरूप स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि सादृश्यादि को भी यदि वास्तविक पदार्थरूप नहीं मानेंगे और मात्र

---

327 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 391
328 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 391
329 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 391

काल्पनिक मानेंगे, तो फिर नियतरूप से जो वासना उत्पन्न होती है, वह घटित ही नहीं होगी, अतः, आप बौद्धों से हमारा अनुरोध है कि जिस प्रकार नील, पीत आदि परमाणु–विशेष यथार्थ हैं, अर्थात् तथ्यरूप हैं– ऐसा मानते हो, उसी प्रकार आपको सादृश्यादि को भी तथ्यरूप हैं– ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिए, अन्यथा आपके कथन में प्रामाणिकता नहीं मानी जाएगी।[330]

इस प्रकार,, जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि सादृश्य और वैदृश्य आदि सिद्ध होते हुए जब गवय या महिष दिखाई दे, तब पूर्व में देखी हुई गाय के आकार के साथ संकलना करके कि यह गवय पूर्व में देखी हुई गाय के समान है और यह महिष पूर्व में देखी हुई गाय से विसदृश (विजातीय) है– ऐसा बोध होगा। यह बोध तो पूर्वापर–संकलना के आधार पर होने से ही प्रत्यभिज्ञा–प्रमाणरूप कहलाता है। यदि हमने पूर्व में कभी गाय या महिष को देखा हो, उसके पश्चात् फिर कभी गाय या महिष को देखते हैं, तो हम कहते हैं कि 'यह गवय है' और 'यह महिष है'। मात्र इतना ही वर्त्तमानकालीन–ज्ञान होता है, किन्तु इसमें हमने पूर्व में देखी हुई गाय के साथ में संकलना नहीं की, तो वहाँ पर वह प्रत्यभिज्ञा नहीं होगी, अपितु वह चाक्षुष–ज्ञान होने से प्रत्यक्ष–प्रमाण ही कहलाएगा। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष में सिर्फ वर्त्तमान की ही वस्तु का बोध होता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञा में भूत एवं वर्त्तमान– दोनों का ही बोध होता है।

पुनः, जैनाचार्य बौद्धों से कहते हैं कि यह ठीक है कि आप बौद्धों के अनुसार 'सादृश्य–वैदृश्य' आदि को बाह्य–पदार्थरूप नहीं मानें या काल्पनिक ही मानें, तो भी प्रत्यभिज्ञा तो अनुमान के समान प्रमाणरूप ही सिद्ध होगी, क्योंकि अनुमान द्वारा जानने योग्य 'अग्नित्वादि सामान्य' भी आपके अनुसार तो काल्पनिक ही है, वह घट–पट के समान दृश्यमान बाह्य–पदार्थरूप नहीं है, अथवा जैसे भूमि पर घट–पट बाह्य–रूप से दृष्टिगोचर होते हैं, उसी प्रकार 'अग्नित्व' आदि सामान्य गुण धर्म तो कहीं पर भी दिखाई नहीं देते, जो दिखाई देता है, वह अग्नित्व न होकर अग्नि–विशेष ही है। इस आधार पर, 'यत्र–यत्र धूमस्तत्र–तत्र वह्निः' ,अर्थात् जहाँ–जहाँ धूम है, वहाँ–वहाँ अग्नि है– ऐसा सामान्य–रूप व्याप्ति–संबंध नहीं बनता है, किन्तु फिर भी धूम से अग्नि का ज्ञान तो होता ही है और आप बौद्ध भी उसको प्रमाणरूप मानते ही हैं। आप बौद्धों का कहने का

---

330 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 392

आशय यही है कि पदार्थ को यथार्थ माने बिना उसका हेतु या लिंग के साथ तादात्म्य और तदुत्पत्ति–रूप संबंध बनता नहीं है, जिससे व्याप्ति–सम्बन्ध की स्थापना हो सके। हम जैन आप बौद्धों से यह पूछते हैं कि यदि आप व्याप्ति में जो तादात्म्य और तदुत्पत्ति–संबंध मानते हैं, वह क्या कल्पनाजन्य मानते हैं ? इस आधार पर तो अग्नि में जो दाहकता का गुण है, क्या वह गुण कल्पनाजन्य है ? साथ ही, अग्नि से धुएँ की उत्पत्ति भी होती है, अतः, अग्नि और धुएँ में तदुत्पत्ति–संबंध भी है ? इस प्रकार,, तादात्म्य और तदुत्पत्ति– ये दोनों ही संबंध यथार्थ हैं, काल्पनिक नहीं हैं। कल्पना से कोई संबंध बनता भी नहीं है। इन दोनों प्रकार के संबंधों से युक्त लिंग (धुआँ), अर्थ (अग्नि) को यथार्थ माने बिना कोई संबंध संभव ही नहीं है। हेतु या लिंग (धुएँ) के बिना लिंगी (अग्नि) का ज्ञान होता नहीं है। लिंग के ज्ञान के बिना पूर्व में अनुभूत साध्य–साधन के संबंध का भी स्मरण नहीं होता है और पूर्व–संबंध के स्मरण के बिना व्याप्ति नहीं बनती है, व्याप्ति–संबंध के बिना अनुमान भी संभव नहीं है। इसका फलितार्थ यह है कि– 1. अर्थ (अग्नि) से लिंग (हेतु) के तदुत्पत्ति–संबंध का ज्ञान 2. लिंग (धुएँ) के द्वारा लिंगी (अग्नि) का ज्ञान तथा 3. लिंग–लिंगी के पूर्व–संबंध का स्मरण और 4. पूर्व–स्मरण द्वारा व्याप्ति–संबंध का ज्ञान और व्याप्ति–ज्ञान से अनुमान होता है। अनुमान की यही एक प्रक्रिया या क्रम है। इस क्रम के चलते क्रमशः अग्नि और धुएँ में रहने वाला अग्नित्व और धूमत्व–रूप सामान्य का विकल्प अग्नि और धूम–रूप स्वलक्षण में यथार्थ–संबंध वाला होने से जैसे अनुमान–प्रमाणरूप बनता है, इसी प्रकार सादृश्य और वैदृश्य तथा परमाणु–प्रचयत्व–विशेष आदि को आपके द्वारा यथार्थ नहीं मानने पर भी सादृश्यादि का स्वलक्षण से संबंध होने से प्रत्यभिज्ञा भी प्रमाणरूप कैसे नहीं बनेगी ? अर्थात् प्रत्यभिज्ञा भी प्रमाणरूप ही सिद्ध होगी।[331]

बौद्ध – इस पर, बौद्धों का जैनों से प्रश्न है कि 'यह इसके समान है' इस प्रकार, से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यभिज्ञा–प्रमाण कहलाता है ? या प्रत्यक्ष–प्रमाण कहलाता है ? अथवा दोनों से भिन्न अन्य कोई प्रमाण कहलाता है ? इसे स्पष्ट करें।[332]

---

[331] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 392, 393

[332] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 393

जैन – इसके उत्तर में जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि ऐसा सादृश्य–बोध कहीं प्रत्यभिज्ञा कहलाता है, तो कहीं प्रत्यक्ष भी कहलाता है, जैसे– सामने गाय दिखाई दे रही है, किन्तु पूर्व में अनुभूत गवय (नीलगाय) वर्त्तमान में नहीं दिखाई दे रही है, मात्र उसकी स्मृति है। ऐसी परोक्ष गवय के साथ उस समय उपस्थित गाय को देखकर उसकी स्मृति की गवय से सदृशता की कल्पना करना ही प्रत्यभिज्ञा कहलाती है।[333]

बौद्ध – इस संबंध में बौद्धों का प्रश्न यह है कि जो गवयादि पूर्व में अनुभूत हैं, अभी वर्त्तमान में प्रत्यक्ष नहीं हैं, सिर्फ मन से ही उसकी कल्पना होती है या उनके मानसिक–संस्कार हैं, तो उस गवयादि को जानने के लिए 'अनेन' शब्द का प्रयोग कैसे होगा ? एतद् और इदम्– ये दोनों तो सर्वनाम हैं। 'यह और वह' पूर्वानुभूत कोई भी वस्तु हो, चाहे वर्त्तमानकालीन हो या भूतकालीन, किन्तु वह प्रत्यक्ष–बोध को ही सूचित करती है। यथा– यह घट है, वह पूर्वानुभूत घट था– इन दोनों वाक्यों में 'यह' और 'वह'– ऐसे सर्वनामों का प्रयोग प्रत्यक्षानुभूति का ही बोधक होता है, परोक्ष वस्तु का बोधक नहीं होता है, तो यहाँ सादृश्य बताने हेतु 'अनेन' शब्द परोक्ष के गवयादि का बोधक कैसे होगा ?[334]

जैन – इस पर, जैन कहते हैं कि 'एतद् (वह)' और 'इदम् (यह)'– ये दोनों सर्वनाम शब्द चाहे प्रत्यक्ष पदार्थ के ही बोधक हों, फिर भी परोक्ष पदार्थ को भी अपने सामने साक्षात् के समान ही दर्शाते हैं। इस प्रकार, की कल्पना से परोक्ष पदार्थ में भी प्रत्यक्षसूचक 'सर्वनामों' का प्रयोग हो सकता है, जैसे 'यह धुआँ यहाँ अग्नि का अनुमान कराता है', इसका तात्पर्य यह होगा कि महानस आदि में जो अग्नि देखी थी वैसी ही 'यह अनुमानित अग्नि है', तो यहाँ 'एष' शब्द का जो प्रयोग हुआ है, वह प्रत्यक्षवर्ती होते हुए परोक्ष अग्नि को प्रत्यक्ष के समान दर्शाता है। 'इस वाक्य का यह अर्थ है', जिस समय ऐसा बोला गया है, उसके पश्चात् जब उसे समझाया जाता है, तो उस उच्चरित वाक्य के नष्ट हो जाने पर भी या उसके परोक्ष होने पर भी प्रत्यक्ष के समान उसका अर्थ होता है, 'अस्य' में होने वाला इदम् शब्द का अर्थ है। अतः,, प्रत्यक्ष अर्थ का सूचक एतद् और.इदम् सर्वनाम भी परोक्ष–पदार्थ के सूचक बन सकते हैं। इस गाय की

---

333 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 393

334 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 394

पूर्व में देखी हुई गाय के साथ सदृशता है। इसमें इदम् शब्द का अर्थ यथार्थ ही है। इस प्रकार, से, जहाँ पूर्वानुभूत का स्मरण होता है, वहाँ उसको प्रत्यभिज्ञा ही समझना चाहिए।[335]

दूसरे, जिस समय गाय भी सामने हो और गवय भी सामने हो, अर्थात् ये दोनों हमारे सामने ही विद्यमान हों और इन दोनों को हम प्रत्यक्ष–प्रमाण से देख रहे हैं, तो उस समय उन दोनों के मध्य सदृशता की अनुभूति भी 'प्रत्यक्ष' ही कहलाएगी, प्रत्यभिज्ञा नहीं कहलाएगी। कारण स्पष्ट ही है कि प्रत्यभिज्ञा में तो अनुभूति और स्मृति– दोनों हेतु बनते हैं, किन्तु यहाँ तो गाय और गवय– दोनों के प्रत्यक्ष होने के कारण मात्र अनुभूति ही कारण है, अतः, वह प्रत्यक्ष ही है, प्रत्यभिज्ञा नहीं है।[336]

(ब) जैनों के तर्क–प्रमाण की बौद्धों द्वारा समीक्षा

जैनों के प्रस्तुत तर्क–प्रमाण का स्वरूप –

बौद्धों द्वारा प्रत्यभिज्ञा को प्रमाण नहीं मानने की समीक्षा करने के पश्चात् बौद्धों द्वारा तर्क को भी प्रमाण नहीं मानने के सिद्धान्त की समीक्षा भी रत्नप्रभसूरि ने रत्नाकरावतारिका में की है। प्रस्तुत प्रसंग में परोक्ष–प्रमाण के तीसरे भेद तर्क की प्रमाणता को 1. कारण, 2. विषय और 3. स्वरूप के द्वारा स्पष्ट किया गया है। उपलम्भ और अनुपलम्भ से होने वाली तीनों काल संबंधी व्याप्ति को जानने वाला यह तर्क–प्रमाण – इसके होने पर ही यह होता है इत्यादि आकार वाला ज्ञान तर्क– प्रमाण कहलाता है। इसका दूसरा नाम 'ऊह' भी है।[337]

तर्क–प्रमाण का प्रथम आधार कारण–संबंधी बोध है। इसे उपलम्भ, अर्थात् यह होने पर यह होता है कहा जाता है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से इसका ग्रहण होता है। दूसरा, हेतु अनुपलम्भ है, अर्थात् इसके नहीं होने पर यह नहीं होता है, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ग्रहण नहीं होता हं। इस प्रकार,, उपलम्भ के ग्रहण से और अनुपलम्भ अर्थात् अभाव से– इन दोनों से जिसकी उत्पत्ति होती है, उसे तर्क–प्रमाण कहते हैं। महानस (रसोईघर) में धुएँ के ग्रहण के साथ अग्नि का ग्रहण और तालाब आदि में अग्नि के अनुपलम्भ अर्थात् नहीं होने से धुएँ का अनुपलम्भ या अभाव – ऐसा जो

---

335 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 394

336 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 394

337 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 394, 395

बोध होता है, वही तर्क–प्रमाण है। इस प्रकार,, उपलंभ अर्थात् विधि और अनुपलंभ अर्थात् निषेधरूप अनुभव पूर्व में हो जाने के कारण कालान्तर में पर्वतादि में धुएँ को देखने से वहाँ अग्नि होने का जो अनुमान किया जाता है, उसकी उत्पत्ति तर्क से होती है, इसलिए महानस आदि में पूर्व प्राप्त उपलंभ और द्रहादि में पूर्व प्राप्त अनुपलंभ का जो अनुभव है, वही तर्क की प्रमाणता का कारण है।[338] तात्पर्य यह है कि एक के होने पर एक का होना उपलम्भ है, जैसे– धुएँ के होने पर अग्नि का होना। एक के न होने पर दूसरे का नहीं होना अनुपलंभ है, जैसे– अग्नि के न होने पर धुएँ का भी न होना। यह, उपलम्भ और अनुपलम्भ के आधार से दो तथ्यों में व्याप्ति–संबंध का जो बोध है, वही जैनों का तर्क–प्रमाण है।

इसके पश्चात्, तर्क का विषय बताते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि तीनों काल में होने वाला साध्य और साधन का, अथवा गम्य और गमक का जो अविनाभाव–संबंध विशेष है, वह व्याप्ति कहलाता है। यह व्याप्ति सभी देश और सभी काल में अविनाभाव–सम्बन्ध रूप होती है। इसका ग्राहक तर्क–प्रमाण है, जैसे– जहाँ–जहाँ धुआँ है, वहाँ–वहाँ अग्नि होती है इत्यादि व्याप्तिसूचक वाक्य में जहाँ–जहाँ और वहाँ–वहाँ का अर्थ यह है कि जिस–जिस क्षेत्र में और जिस–जिस काल में धुआँ है, उस–उस क्षेत्र में और उस–उस काल में वहाँ अग्नि होती है। इस प्रकार,, सभी देश ओर सभी काल में साध्य अर्थात् अग्नि का और साधन अर्थात् धुएँ का जो अविनाभाव–संबंध बताया है, उसे ही तर्क–प्रमाण कहा जाता है। इसी प्रकार, शब्द (वाचक) और उसके अर्थ (वाच्य) के संबंध का जो बोध है, वह भी तर्क कहलाता है। संक्षेप में यदि कहें, तो साध्य–साधन–भाव अथवा वाच्य–वाचकभाव का जो अविनाभाव–संबंध है, वह तर्क–प्रमाण कहलाता है। इस प्रकार,, जैनों द्वारा तर्क–प्रमाण के स्वरूप का निरूपण किया गया है।[339]

यहाँ तर्क–प्रमाण के स्वरूप का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि सामने दिखाई देने वाला धूम अग्नि के होने पर ही दोनों में अन्वयरूप व्याप्ति बनाता है, अर्थात् जहाँ धुआँ होता है, वहाँ अग्नि होती है। ऐसे अन्वयरूप व्याप्ति–सम्बन्ध का बोध तर्क कहलाता है। साथ ही आग के अभाव में धुएँ का भी अभाव होना– ऐसा व्यतिरेकरूप

---

[338] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 395

[339] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 395

व्याप्ति–संबंध का बोध भी तर्क–प्रमाण ही है। प्रथम अन्वय–व्याप्ति का और दूसरा व्यतिरेक–व्याप्ति का ज्ञान है। जिन–जिन शब्दों का प्रयोग हम जिस अर्थ में करते हैं, वे शब्द अपने उस वाच्यार्थ का बोध करा देते हैं, जैसे– जब घट शब्द उच्चारित करते हैं, तो 'घ' और 'ट' के संयोग से बना हुआ घट शब्द घट नामक वस्तु का वाचक होता है। अब यह घट शब्द अपने वाच्यानुसार पृथु बुध्नोदरादि आकार वाले पदार्थ का ही बोध कराएगा, पटादि पदार्थ का नहीं। तात्पर्य यह है कि पृथु बुध्नोदरादि आकार वाला जो पदार्थ है, उसका बोध घट शब्द ही होगा, अतः, वाच्य वस्तु का वाचक–शब्द के साथ जो संबंध का बोध होता है, उसको भी अन्वयरूप तर्क–प्रमाण जानना चाहिए। इस प्रकार,, साध्य–साधन–संबंध के आलंबन वाला, अथवा वाच्य–वाचक–संबंध के आलंबन वाला जो अनुभव या ज्ञान है, वही तर्क–प्रमाण कहलाता है।[340]

तर्क–प्रमाण के खंडन हेतु बौद्धों का पूर्वपक्ष –

बौद्ध – बौद्ध–दार्शनिक तर्क की प्रमाणता को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका कहना है कि आपके तर्क–प्रमाण को प्रमाण नहीं मानने से प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों की अप्रमाणता की आपत्ति (दोष) क्यों आएगी?[341]

जैन – इसके उत्तर में जैन कहते हैं कि तर्क को अप्रमाण मानने के कारण अनुमान की प्रमाणता भी नहीं रहेगी, क्योंकि साध्य–साधन के संबंध की प्राप्ति के उपाय का ही अभाव होने से अनुमान की प्रमाणता सिद्ध नहीं होगी। अनुमान की सिद्धि तो व्याप्ति–ज्ञान से होती है और व्याप्ति–ज्ञान की प्राप्ति का उपाय तर्क–ज्ञान है। आप बौद्ध तर्क–ज्ञान को प्रमाण नहीं मानते हैं, तो तर्क–प्रमाण के अभाव में व्याप्ति–ज्ञान नहीं होगा और बिना व्याप्ति के अनुमान कैसे सिद्ध होगा ? और बिना अनुमान के प्रत्यक्ष–प्रमाण भी प्रमाण नहीं कहलाएगा ?[342]

प्रत्यक्ष–प्रमाण से पदार्थों को जानकर प्रवर्त्तित होता हुआ प्रमाता संवाद की अनुभूति कर 'यह ज्ञान–प्रमाण है'– ऐसा मानता है और विसंवाद की अनुभूति कर 'यह ज्ञान अप्रमाण है'– इस प्रकार, की व्यवस्था 'अनुमान'

---

340 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 395, 396

341 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 396

342 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 397, 396

के आधार पर करता है। यह ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण है– ऐसा निर्णय करने की शक्ति मात्र विवेक–ज्ञान से ही संभव नहीं है, क्योंकि उत्पत्ति के समय में तो प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व– ये दोनों ही ज्ञान समान स्वभाव वाले ही होते हैं। संवाद और विसंवाद द्वारा ही उनकी प्रमाणता और अप्रमाणता का निर्णय होता है तथा इसी से अनुमान की प्रमाणता का भी निश्चय हो जाता है।[343]

जैन–दार्शनिक कहते हैं कि मृग–मरीचिका के जल में और सरोवर के जल में 'यह जल है'– ऐसा ज्ञान तो दोनों में समान रूप से ही होता है, तत्पश्चात् स्नान, पान आदि अर्थक्रिया के रूप में जब उसमें हमारी प्रवृत्ति होती है, तब यह निर्णय होता है कि यह वास्तविक जल है या मृग–मरीचिकारूप मात्र भ्रान्ति है। जल के अभाव में स्नान, पान आदि अर्थक्रिया में प्रवृत्ति नहीं होती है, अतः, मृग–मरीचिका के जल में जल संबंधी क्रिया का विसंवाद होने से हम ऐसा अनुमान करते हैं कि यह जल–ज्ञान अप्रमाणरूप है 'जबकि सरोवर के जल में स्नान, पान आदि अर्थक्रिया से संवाद होने से ऐसा अनुमान करते हैं कि यह जल–ज्ञान प्रमाणरूप है। इस प्रकार, से, संवादिता और विसंवादिता– इन दोनों हेतुओं द्वारा ज्ञान के प्रमाण्य–अप्रमाण्य का निर्णय हो जाता है, इसलिए हम जैन कहते हैं कि यदि आप तर्क को प्रमाणरूप नहीं मानेंगे, तो व्याप्ति–ज्ञान की अप्रतिपत्ति होने से अनुमान भी प्रमाणरूप नहीं होगा और अनुमान के बिना संवादिता–विसंवादिता के ज्ञान से होने वाला प्रमाणत्व या अप्रमाणत्व का प्रत्यक्ष ज्ञान भी अप्रमाणरूप ही होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रमाण्य का निश्चय करने हेतु अनुमान की जरूरत होती है और अनुमान के लिए व्याप्ति–ज्ञान की जरूरत होती है, व्याप्ति–ज्ञान के लिए तर्क की जरूरत होती है। इस प्रकार,, यदि आप अनुमान के मूल आधार तर्क के प्रमाण्य का ही निषेध कर देंगे, तो फिर व्याप्ति–ज्ञान, अनुमानज्ञान और प्रत्यक्षज्ञान– ऐसे एक–एक करके सभी अप्रमाण हो जाएँगे, जिससे आप पर सर्वशून्यता के दोष का आरोपण होगा।[344] पुनः, आप बौद्ध अनुमान और प्रत्यक्ष के बिना प्रमेय की व्यवस्था भी कैसे कर सकेंगे ? क्योंकि तर्क के बिना व्याप्ति नहीं, व्याप्ति के बिना अनुमान नहीं, अनुमान के बिना प्रत्यक्ष नहीं और प्रत्यक्ष के बिना प्रमेय भी नहीं इत्यादि सर्वशून्यता आ जाएगी, किन्तु यह

---

[343] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 397

[344] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 397, 398

शून्यता भी तो आपके अपने मत में घटित नहीं होगी, क्योंकि शून्यता को भी सिद्ध करने के लिए आपको प्रमाण तो देना ही पड़ेगा। बिना प्रमाण के शून्यता की प्रतिपत्ति भी संभव नहीं होगी।[345]

बौद्ध – इस पर, बौद्ध–दार्शनिक जैन–दार्शनिक की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि हमारा तो यही मंतव्य है कि तर्क को प्रमाण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमारी अवधारणा यह है कि निम्न पाँच ज्ञानों से ही व्याप्ति–ज्ञान का भी निर्णय हो जाता है– 1. सर्वप्रथम, रसोईघर में भूतल पर धूम आदि के अभाव का ज्ञान 2. दूसरे, उसी रसोईघर में अग्नि के उत्पन्न होने पर अग्नि का ज्ञान (अग्नि की उपलब्धि) 3. तीसरे, उस अग्नि में से उत्पन्न धुएँ का ज्ञान (धूम की उपलब्धि) 4. चौथे, अग्नि के बुझ जाने से अग्नि का अभाव (अग्नि की अनुपलब्धि) और 5. पाँचवें, अग्नि के बुझ जाने से धुएँ का अभाव (धूम की अनुपलब्धि)। इस प्रकार, इन पाँचों ज्ञान में से क्रमशः दूसरा और तीसरा– ये दोनों उपलम्भरूप और शेष तीनों अनुपलम्भरूप– ऐसे कुल पाँच ज्ञानों में से व्याप्ति–ज्ञान हो जाता है, तर्क–प्रमाण की कोई आवश्यकता नहीं है।[346]

इन पाँचों में से दूसरा और तीसरा ज्ञान चाक्षुष–प्रत्यक्ष होने से उपलम्भरूप है, अर्थात् प्रत्यक्षरूप है और पहला, चौथा और पाँचवाँ– ये तीनों ज्ञान–अनुपलंभरूप हैं और यह अनुपलंभ (अनुपस्थित) रूप ज्ञान भी प्रत्यक्षरूप है। बिना अग्नि एवं धूम के मात्र भूतल दिखना भी अनुपलंभरूप प्रत्यक्ष ज्ञान है, इसलिए शेष तीन अनुपलंभ या अनुपलब्धिरूप ज्ञान भी रसोईघर में अग्नि एवं धूम से रहित भूतल के प्रत्यक्षरूप ही हैं, अतः, प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा भी जब अग्नि होगी, तभी धुआँ होगा और अग्नि के समाप्त होने पर धुआँ भी समाप्त हो जाएगा, अतः, प्रत्यक्ष ज्ञान से ही व्याप्ति–ज्ञान हो जाता है, तर्क को प्रमाणभूत मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है।[347]

जैन – बौद्ध–दार्शनिक द्वारा तर्क को प्रमाण न मानने पर जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि उपलंभ (विधि) और अनुपलंभ (प्रतिषेध) स्वरूप जो प्रत्यक्ष ज्ञान है, वह तो किसी निश्चित क्षेत्र और निश्चित काल के संबंध में ही उत्पन्न होता है, अर्थात् वह भी मात्र रसोईघर को और उसमें भी मात्र वर्त्तमानकाल को ही विषय कर सकता है और वहाँ धूम

---

[345] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 398

[346] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 398, 399

[347] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 399

तथा अग्नि की उपस्थिति या अनुपस्थिति को बताने वाला है, परंतु वह सभी देशों और सभी कालों में अग्नि और धुएँ के अविनाभाव–संबंध को ग्रहण नहीं करता है। अग्नि और धुएँ का यह संबंध भी मात्र रसोईघर तक और वह भी वर्त्तमानकाल तक ही सीमित है। प्रत्यक्ष की सीमा क्षेत्र–विशेष और काल विशेष ही हैं, उससे अनुमान भी रसोईघर और वर्त्तमानकाल तक ही हो सकता है। हम जैनों के अनुसार, प्रत्यक्ष तो किसी देश–विशेष और काल–विशेष तक ही सीमित होगा। ऐसी स्थिति में आप (बौद्ध) विशेष से सामान्य पर कैसे पहुँचेंगे ? दूसरे, व्याप्ति तो सामान्य होती है और आप सामान्य को तो काल्पनिक मानते हैं, यथार्थ नहीं, अतएव पर्वत पर धुएँ के दिखाई देने पर भी पर्वत की गुफा में रही हुई अग्नि का ज्ञान कैसे होगा ? अतः,, हम जैन यह मानते हैं कि इस प्रत्यक्ष से तो मात्र वर्त्तमानकालिक सम्बन्ध का ज्ञान होगा, जबकि व्याप्ति तो त्रैकालिक–ज्ञान है। जब तक आप बौद्ध अग्नि और धुएँ के संबंध के विषय में भूत और भविष्य का भी ज्ञान नहीं करेंगे, तब तक व्याप्ति–ज्ञान नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण नियत क्षेत्र और नियत काल को ही विषय करता है और इससे व्याप्ति–संबंध भी नियत–क्षेत्र और नियत–काल विषयक ही होगा। इस कारण से, पर्वत की गुफा में अग्नि का अनुमान मात्र पर्वत पर धुएँ के देखने से नहीं होता है, अपितु अग्नि और धुएँ के त्रैकालिक और सार्वदेशिक व्याप्ति–संबंध के ज्ञान से होता है।[348]

बौद्ध – इस पर, बौद्ध कहते हैं कि प्रत्यक्ष के बल (ज्ञान) पर किसी नियत क्षेत्र और काल वाले धुएँ और अग्नि के संबंध से मानसिक–विकल्प उत्पन्न होते हैं और उन विकल्पों के आधार पर त्रैकालिक–व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है, जिसके आधार पर अनुमान करके सभी देशों और सभी कालों में व्याप्ति–संबंध मान लिया जाता है, जिससे पर्वतादि पर धुएँ को देखकर गुफा आदि में भी अग्नि के होने का अनुमान कर लिया जाता है। पुनः, बौद्ध कहते हैं कि हम तो प्रत्यक्ष के बल पर सार्वदेशिक और सार्वकालिक अविनाभाव–संबंध (व्याप्ति–संबंध) का विकल्प कर लेते हैं।[349]

जैन – इस पर, जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों से कहते हैं कि अन्ततः तो आपने हमारे तर्क–प्रमाण को स्वीकार कर ही लिया है, क्योंकि

[348] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 399

[349] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 399, 400

बिना तर्क–ज्ञान के व्याप्ति सिद्ध नहीं होती और व्याप्ति के होने पर ही अनुमान प्रामाणिक होता है, अतः, हम जैन भी तो यही कहते हैं, जिसको आपने अब मान्यता दी है। चूंकि सभी देश और काल के विषय वाला तर्क–विकल्प पूर्व में अनुभवित उपलंभ और अनुपलंभ से उत्पन्न होता है, अतः, व्याप्ति–ज्ञान में इसी तर्करूप विकल्प को ही प्रमाण मानना होगा, यथा– 'अग्नि के होने पर धुआँ होता है' और 'अग्नि के नहीं होने पर धुआँ भी नहीं होता है'– इस प्रकार, हमारे अनुसार पूर्व में अनुभवित उपलंभ और अनुपलंभरूप प्रत्यक्ष प्रमाण से सभी देश और सभी काल में व्याप्ति–संबंध का जो विकल्प उत्पन्न होता है, वही तर्क है और इसी तर्क–प्रमाण से सभी देश और सभी काल के व्याप्ति–संबंध का ज्ञान होता है, इसलिए व्याप्ति की प्राप्ति के लिए तर्करूप विकल्प को ही प्रमाणरूप मानना चाहिए, किन्तु किसी एक नियत देश एवं काल को अनुभवित–रूप प्रत्यक्ष–प्रमाण नहीं मानना चाहिए।[350]

बौद्ध – इस पर, बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि नहीं, ऐसा नहीं होता है। तर्करूप विकल्प–ज्ञान पूर्व में हुए प्रत्यक्ष से जो ज्ञान प्राप्त किया था, उसी पूर्व में हुए प्रत्यक्ष से अनुभवित ज्ञान को ही पुनः प्रस्तुत करता है, अर्थात् पूर्व में जो प्रत्यक्ष ज्ञान किया था, उसी का पुनः बोध होता है, किन्तु उससे अधिक कुछ नहीं होता है, अतः, प्रत्यक्ष प्रमाण को ही व्याप्ति–ज्ञान में प्रमाण मानना चाहिए। इसके लिए अलग से तर्क को प्रमाण मानना उचित नहीं है।[351]

जैन – बौद्धों के इस तर्क की समीक्षा करते हुए जैनाचार्य कहते हैं कि यदि आप यही तर्क देते हैं कि पूर्व में अनुभवित प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय को ही तर्क–प्रमाण पुनः प्रस्तुत कराता है और इससे अधिक कुछ नहीं करता है और इस प्रकार, प्रत्यक्ष ज्ञान से ही व्याप्ति–ज्ञान हो जाता है, अलग से तर्क–प्रमाण की कोई आवश्यकता ही नहीं है आदि जो दलीलें आपने पेश की हैं, तो फिर तो व्याप्ति–ज्ञान होने के बाद उनसे होने वाला जो 'तस्मात् पर्वतो बह्निमान्नेव' इत्यादि रूप अनुमान–ज्ञान है, उसको भी पूर्व में हुए प्रत्यक्ष ज्ञान का परिणाम मानना होगा। इस प्रकार, तो, अनुमान–ज्ञान भी महानस (रसोईघर) आदि में पूर्व में अनुभूत धूमग्राही प्रत्यक्ष ज्ञान को ही विषय करता है, इससे अधिक कुछ भी नहीं करता है,

---

[350] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 400

[351] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 400

तो उसे भी आपको प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानना चाहिए, अनुमान को अलग से प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है ?[352]

बौद्ध – इस पर, बौद्ध–दार्शनिक जैनों द्वारा दिए गए उपर्युक्त तर्कों की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि आपके उपर्युक्त तर्क उचित नहीं हैं कि 'अनुमान भी लिंगग्राही प्रत्यक्ष को ही विषय करता है।' यह तो स्पष्ट है कि लिंगग्राही प्रत्यक्ष ज्ञान भी लिंग (धूम) को ही विषय करेगा, अर्थात् धुएँ का ही ज्ञान कराएगा, किंतु अनुमान तो धुएँ की जनक अग्नि (साध्य) का बोधक है। यहाँ अग्निज्ञान और धुएँ का ज्ञान– दोनों के विषय भिन्न–भिन्न हैं, अतः, अनुमान मात्र लिंगग्राही प्रत्यक्ष नहीं है।[353]

जैन – इसके उत्तर में जैन कहते हैं कि यदि लिंगग्राही प्रत्यक्ष ज्ञान, मात्र लिंग का ही ज्ञान कराता है और अनुमान अग्नि का ज्ञान कराता है, इस प्रकार, प्रत्यक्ष धूम और अनुमान का विषय अग्नि होने से अनुमान को आप प्रत्यक्ष से भिन्न स्वतंत्र प्रमाण मानते हैं, तो फिर पूर्व में महानस (रसोईघर) आदि में जो धूम–अग्नि के साथ–साथ होने का जो प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है, वह किसी एक विवक्षित क्षेत्र एवं काल में ही धूम एवं अग्नि का ज्ञान है, किन्तु इसके बाद होने वाला जो तर्करूप विकल्प–ज्ञान (व्याप्तिज्ञान) है, वह तो सभी क्षेत्रों और सभी कालों में होने वाले धूम–अग्नि के सह सम्बन्ध, अर्थात् उनके व्याप्ति–संबंध का ज्ञान है। इस प्रकार, से, जहाँ–जहाँ धुआँ है, वहाँ–वहाँ अग्नि है, यह अन्वय–व्याप्तिरूप सभी क्षेत्र और सभी काल में होने वाले सामान्य धर्म का बोधक होने से तर्क–ज्ञान भी अनुमान के समान ही स्वतंत्र प्रमाण है। आप बौद्ध इसको बाधित नहीं कर सकते। हमारा यह मानना कि 'तर्क' एक स्वतंत्र प्रमाण है– यह आपके किसी भी तर्क से खंडित नहीं होता है।[354]

बौद्ध – इस पर, बौद्ध–दार्शनिक जैनों से कहते हैं कि आप तो सभी देशों और सभी कालों में होने वाले 'सामान्य–ज्ञान' को ही तर्क–प्रमाण मानते हैं, किन्तु ऐसा 'सामान्य' तो हमको अमान्य है, क्योंकि हम बौद्धों के अनुसार सामान्य की तो कोई सत्ता ही नहीं है, वह तो आकाश–पुष्प या वन्ध्यापुत्र के समान असत् है। ऐसे असत्–सामान्य को आप तर्क–प्रमाण कैसे मान सकते हैं, अर्थात् ऐसा असत्–सामान्य प्रमाण

---

352 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 400

353 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 400, 401

354 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 401

कैसे बनेगा ? यहाँ यह ज्ञातव्य है कि बौद्धदर्शन के चार सम्प्रदाय हैं– 1. सौत्रान्तिक 2. वैभाषिक 3. योगाचार (विज्ञानवादी) और 4. माध्यमिक (शून्यवादी)। इनमें से तीसरे प्रकार के योगाचार या विज्ञानवादी बौद्ध–दार्शनिक तो मात्र ज्ञान (विज्ञान) को ही सत् मानते हैं, ज्ञेय या बाह्यार्थ को सत् नहीं मानते हैं। माध्यमिक नामक चौथे प्रकार के बौद्ध–दार्शनिक तो सबको शून्यरूप मानते हैं, इसलिए वे दोनों, अर्थात् योगाचार और माध्यमिक ज्ञेय– ऐसे घट–पटादि बाह्यार्थों को वस्तुसत् नहीं मानने के कारण धूम और अग्नि में रहे हुए सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक सामान्य सहसम्बन्ध को भी अमान्य करते हैं। सौत्रान्तिक और वैभाषिक– ये दोनों बौद्ध–सम्प्रदाय घट–पट आदि ज्ञेय पदार्थ को मानते हैं, किन्तु सभी को क्षणिक मानने के कारण प्रतिसमय बदलने वाले घट–पट आदि सब पदार्थ विशेष रूप ही हैं, सामान्य कुछ भी नहीं हैं– ऐसी उनकी मान्यता है। इस प्रकार,, बौद्धों के चारों सम्प्रदाय ही सामान्य को वस्तुसत् नहीं मानते हैं।[355]

जैन – इस पर, जैन–दार्शनिकों का बौद्धों से कहना है कि यदि आप सामान्य को नहीं मानेंगे, तो व्याप्ति–संबंध सिद्ध नहीं होगा और व्याप्ति के अभाव में अनुमान भी प्रमाण कैसे सिद्ध होगा ? क्योंकि अनुमान तो सामान्य का ही बोध कराता है। जैन कहते हैं कि आपके ही 'न्यायबिंदु' नामक ग्रन्थ में धर्मकीर्त्ति ने कहा भी है कि जो स्वलक्षण से अन्य है, वह सामान्य है और वह सामान्य ही अनुमान का विषय है। पदार्थ दो प्रकार के हैं– 1. स्वलक्षणरूप और 2. सामान्य लक्षणरूप। जो स्वलक्षणरूप पदार्थ हैं, वे प्रत्यक्ष–प्रमाण का विषय है और जो इससे भिन्न सामान्य लक्षणरूप हैं, वे अनुमान का विषय हैं। हमारे चक्षु के सामने रहा हुआ 'घट' पदार्थ स्वयं ही स्वयं का बोध कराने रूप स्वलक्षण से युक्त होने के कारण से 'घट' प्रत्यक्ष का विषय है और सभी कालों तथा सभी स्थानों के घटों में रहा हुआ जो 'घटत्व' है, वह सभी में पाया जाने वाला होने से और स्वलक्षण से अन्य होने के कारण सामान्य धर्म से युक्त होने से आपके अनुसार वह अनुमान का विषय है, प्रत्यक्ष का नहीं, किन्तु इस सामान्य का ज्ञान तो व्याप्ति–सम्बन्धरूप तर्क–प्रमाण के माने बिना संभव नहीं है।[356]

---

[355] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 401, 402

[356] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 402

बौद्ध – इसके उत्तर में बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि यद्यपि निश्चय में तो अनुमान भी सामान्य–रूप होने से अप्रमाण ही है, किन्तु व्यवहार में अनुमान को प्रमाण माना जाता है। शास्त्र–पुरुषों का भी यही मंतव्य (कथन) है कि 'सभी अनुमान और अनुमेय धर्म–धर्मीरूप में बुद्धिमात्र से कल्पित होने के कारण व्यवहार से ही प्रमाणरूप मानें गए हैं'। तात्पर्य यह है कि अनुमेय– यह धर्मी है और अनुमान– यह धर्म है, अतः, ये उपचार से कल्पित हैं, अर्थात् आरोपित हैं, वास्तविक (तात्त्विक) नहीं हैं। जिस प्रकार मृग–मरीचिका में जल न होने पर भी जल की प्रतीति होती है, वहाँ पर दूर–दूर से दिखाई देने वाला जल धर्मी है, इसमें, जल का ज्ञान– यह धर्म है, जो मात्र बुद्धि की कल्पना से आरोपित है, वहाँ वास्तविक जलरूपी पदार्थ नहीं है। ठीक इसी प्रकार, अनुमान और अनुमेय व्यवहार से कल्पित (उपचरित) हैं, यथार्थ नहीं हैं, इसलिए अनुमान को भी व्यवहार से ही प्रमाण मानना चाहिए, किंतु वास्तविक नहीं, अतः, आपका तर्क–प्रमाण भी अनुमान–प्रमाण के समान मात्र उपचरित या काल्पनिक ही होगा, यथार्थ नहीं।[357]

जैन – इस पर, जैन कहते हैं कि जब आप अनुमान को व्यवहार से प्रमाण कहते हैं, तो फिर तर्क को भी व्यवहार से तो प्रमाण मान लो। आपके द्वारा तर्क को सर्वथारूपेण अप्रमाण कहना तो उचित नहीं है।[358]

बौद्ध – इसके प्रत्युत्तर में बौद्ध कहते हैं कि यह तर्क तो व्यवहार से भी प्रमाण नहीं है, क्योंकि तर्क तो पदार्थ से सर्वथा भिन्न ही है तथा तर्क से होने वाले सामान्य धर्म का बोध भी व्यवहार से असत् है, अतः, तर्क तो व्यवहार से भी प्रमाणरूप सिद्ध नहीं होता है।[359]

जैन – इस पर, जैनों का कहना है कि तो फिर आप अनुमान को भी अप्रमाण ही मान लो। तात्त्विक–रूप से यदि उसे प्रमाण नहीं मानते हैं, तो फिर व्यवहार से उसे प्रमाण क्यों मानते हैं ? जब आप यह कहते हैं कि तर्कज्ञान तो पदार्थ (व्याप्ति) से सर्वथा भिन्न है, तो आपका अनुमान भी तो पदार्थ से सर्वथा भिन्न है, अर्थात् दो पदार्थों में व्याप्ति–संबंध का बोधक नहीं है। दूसरे, जैसे तर्क–प्रमाण सामान्य का बोधक है, वैसे ही आचार्य धर्मकीर्त्ति के अनुसार अनुमान भी तो सामान्य का ही बोधक है और आपके

---

357 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 402

358 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 402

359 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 402

मत में सामान्य असत् है, अतः, जिस प्रकार आप तर्क—ज्ञान को सामान्य का बोधक होने से व्यवहार से भी प्रमाण नहीं मानते हैं, ठीक उसी प्रकार अनुमान को भी असत्—सामान्य का बोधक एवं व्याप्ति—ज्ञान से पराङ्मुख होने के कारण व्यवहार से भी अप्रमाण क्यों नहीं मानते हैं, अर्थात् आप बौद्ध—दार्शनिकों को अनुमान को व्यवहार से भी अप्रमाण मानना चाहिए।[360]

बौद्ध – इसके उत्तर में बौद्ध कहते हैं कि अनुमान असत्—सामान्य का बोध कराने वाला होने पर भी परोक्ष रूप से पदार्थ के साथ संबंध वाला होने से उसको तो व्यवहार से प्रमाण मान सकते हैं, किन्तु तर्क को तो व्यवहार से भी प्रमाण नहीं मान सकते, क्योंकि वह परोक्ष रूप से विशेष रूप पदार्थ से संबंधित नहीं है।[361]

जैन – अन्त में, जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि जब आप अनुमान को परंपरा से पदार्थ का बोधक होने से प्रमाणरूप मानते हैं, तो ठीक इसी प्रकार, तर्क को भी तो परंपरा से सामान्यात्मक—पदार्थ के साथ संबंध वाला होने से उसको भी प्रमाण मान लेना चाहिए।

वस्तुतः तो, अनुमान और तर्क दोनों ही प्रमाणरूप होने से सामान्य को ही विषय करते हैं, तो फिर एक पदार्थ के सम्मुख है, दूसरा पदार्थ से पराङ्मुख है— ऐसा भिन्न कथन करना समुचित नहीं है।[362]

दूसरे, यदि आप 'सामान्य' को सर्वथा असत् कहकर अवस्तुरूप कहते हैं, तो इस पर भी आपको पुनः चिन्तन करना होगा, क्योंकि सामान्य कभी असत्रूप नहीं हो सकता, क्योंकि पदार्थ (वस्तु) सामान्य—विशेषात्मक ही है। जिस प्रकार शेर के बच्चे के मुख से दाढ़ के मूल भाग को निकालना भी दुष्कर है और निकालकर बेचना तो और भी दुष्कर है, ठीक उसी प्रकार, सामान्य को अवस्तुरूप सिद्ध करना भी दुष्कर है। सामान्य के बिना अकेले विशेष की भी कोई सत्ता नहीं है। नित्य—तत्त्व (ध्रुव—द्रव्य) के बिना प्रतिक्षण विनाशशील पर्यायरूप पदार्थ भी संभव नहीं है, इसलिए 'यह इसके सदृश है'— इस प्रकार, से सदृशता का सूचक सामान्य—प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जाना जाता है, अतः, प्रत्यक्ष प्रमाण के समान ही तर्क और

---

[360] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 403
[361] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 403
[362] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 403

अनुमान तात्त्विक–रूप से ही प्रमाण है। यह कथन पत्थर पर खींची हुई रेखा के समान अमिट है, जिसको ईश्वर भी बदल नहीं सकता है।[363]

व्याप्ति–सम्बन्ध की सिद्धि हेतु अविरुद्ध उपलब्धिरूप जैनों द्वारा मान्य हेतु के छः भेदों की बौद्धों द्वारा की गई समीक्षा

जैन–दार्शनिक वादिदेवसूरि ने व्याप्ति–संबंध की सिद्धि के सन्दर्भ में अविरुद्धोपलब्धि के छः भेदों का उल्लेख किया है। प्रमाणनयतत्त्वालोक के तृतीय परिच्छेद के 69 वें सूत्र में अविरुद्धोपलब्धि के निम्न छः भेद बताए हैं– 1. व्याप्यरूप हेतु की उपलब्धि, 2. कार्यरूप हेतु की उपलब्धि 3. कारणरूप–हेतु की उपलब्धि 4. पूर्वचर–हेतु की उपलब्धि 5. उत्तरचर–हेतु की उपलब्धि, 6. सहचर–हेतु की उपलब्धि।[364]

बौद्धों का पूर्वपक्ष –

जैन–दार्शनिक वादिदेवसूरि का कथन है कि उपर्युक्त छः अविरुद्ध हेतुओं में से किसी एक के होने पर व्याप्ति–संबंध सिद्ध हो जाता है, किन्तु जैनों की इस मान्यता से बौद्ध–दार्शनिक सहमत नहीं हैं। बौद्ध–दार्शनिक प्रज्ञाकर गुप्त ने इस संबंध में विस्तार से जैन–मान्यता की समीक्षा की है। उनका कहना है कि स्वभाव–हेतु और कार्य–हेतु– इन दोनों हेतुओं से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है, शेष चार हेतु, अर्थात् कारण–हेतु, पूर्वचर–हेतु, उत्तरचर–हेतु, और सहचर–हेतु साध्य की सिद्धि में समर्थ नहीं हैं।[365]

बौद्धों के पूर्वपक्ष की सिद्धि हेतु प्रज्ञाकर के तर्क –

(अ) कारण–हेतु की समीक्षा –

सर्वप्रथम, प्रज्ञाकर ने कारण–हेतु की समीक्षा करते हुए यह कहा है कि कारण के उपस्थित होने पर कार्य का होना आवश्यक नहीं है। दूसरे शब्दों में, कारण से कार्य की सिद्धि नहीं होती है। उदाहरण के रूप में, धूम की उत्पत्ति के लिए कारण अवश्य है, किंतु अग्निरूप कारण की उपस्थिति होने पर धूमरूप कार्य होता ही है– ऐसे अविनाभाव–संबंध या व्याप्ति–संबंध के अभाव में कारण–हेतु से साध्य की सिद्धि संभव नहीं होती है। इस

---

363 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 403

364 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 465

365 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 466

संबंध में प्रज्ञाकर का कथन है कि मुरमुर–अवस्था में अग्नि उपस्थित होती है, किन्तु वहाँ धूमरूप कार्य नहीं होता है। पर्वत अग्निवान् है, अतः, पर्वत धूमवान् है– यह अनुमान सत्य सिद्ध हो, ऐसा आवश्यक नहीं है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जहाँ अग्नि की उपस्थिति होने पर भी धूम रूप कार्य नहीं होता है, अतः, प्रज्ञाकर का कहना है कि जैन–दार्शनिकों द्वारा साध्य की सिद्धि के लिए कारण–हेतु को स्वीकार करना उचित नहीं है।[366]

बौद्धों के पूर्वपक्ष की पुष्टि की युक्तियों की रत्नप्रभसूरि द्वारा की गई समीक्षा –

जैन – इसके प्रत्युत्तर में, जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि रत्नाकरावतारिका में लिखते हैं कि हम सामान्य कारण को हेतु नहीं कहते हैं, अपितु विशिष्ट कारण या कारण–साकल्य को ही हेतु कहते हैं। धूम की उत्पत्ति में अग्नि ही एकमात्र कारण नहीं है, अग्नि के साथ–साथ आर्द्र ईंधन भी धूम की उत्पत्ति के लिए आवश्यक होता है। इस प्रकार,, जैन–दर्शन के अनुसार धूम की उत्पत्ति में आर्द्र ईंधनयुक्त अग्नि ही विशिष्ट कारण या कारण–साकल्य है। यहाँ रत्नप्रभसूरि यह भी स्पष्ट करते हैं कि आर्द्र ईंधन की उपस्थिति में ही अग्नि धूमरूप कार्य करने में समर्थ होती है। यहाँ जैन–दार्शनिक रत्नप्रभ का कहना यह है कि अप्रतिबद्ध सामर्थ्य वाली और उग्र सामग्री वाली अग्नि, अर्थात् आर्द्र ईंधन से युक्त अग्नि ही धूमरूप कार्य का कारण होती है। किसी भी कार्य के होने के लिए जो सामग्री आवश्यक है, वह सम्पूर्ण कारण–सामग्री ही कारण होती है, अतः, रत्नप्रभ का कहना है कि बौद्ध कारण–हेतु के स्वीकार करने में कोई दोष नहीं है।[367]

बौद्ध – इसके प्रत्युत्तर में, बौद्ध–दार्शनिक प्रज्ञाकर का कहना है कि अग्नि अप्रतिबद्ध सामर्थ्य वाली है, या प्रतिबद्ध सामर्थ्य वाली ? अथवा अग्नि उग्र अर्थात् आवश्यक सामग्री से युक्त है ? या आवश्यक कारण सामग्री से रहित है ? यह जानना सामान्य व्यक्ति के लिए संभव नहीं है। अग्नि की उपस्थिति में भी धूमरूपी कार्य का अभाव प्रत्यक्ष देखा जाता है,

---

[366] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 466

[367] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 466, 467

अतः, जैन–दार्शनिकों का साध्य की सिद्धि के लिए कारण को हेतु के रूप में स्वीकार करना उचित नहीं है।[368]

जैन – बौद्ध–दार्शनिक प्रज्ञाकर गुप्त के उपर्युक्त कथन की समीक्षा करते हुए जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि रत्नाकरावतारिका में पुनः लिखते हैं कि बौद्धदर्शन भी तो कारण–हेतु को स्वीकार करता है और कारण से कार्य का अनुमान भी करता है, अतः, उनके द्वारा कारण–साकल्य को साध्य की सिद्धि में हेतु के रूप में अस्वीकार करना उचित नहीं है। उदाहरण के रूप में घोर अंधकार में आम्रफल के रस का आस्वादन करते हुए उसके रूप का चाक्षुष–प्रत्यक्ष के बिना अनुमान तो होता ही है, क्योंकि कारण से ही कार्य की सिद्धि होती है। हाँ, इतना अवश्य है कि सम्पूर्ण कारण (कारण–साकल्य) ही कार्य की सिद्धि करता है, इसलिए हम जैन–दार्शनिक कारण के अंतर्गत अप्रतिबद्ध–शक्ति और कारण–साकल्य (कारण–समूह)– इन दोनों तत्त्वों से युक्त कारण को ही हेतु के रूप में स्वीकार करते हैं, अतः, कारण (सम्पूर्ण कारण) को साध्य की सिद्धि में हेतु के रूप में स्वीकार करने में कोई दोष नहीं है।[369]

बौद्ध – रत्नप्रभसूरि के इस तर्क के प्रत्युत्तर में बौद्ध–दार्शनिक अपने पक्ष का बचाव करते हुए कहते हैं कि यह तो कारण से कार्य की सिद्धिरूप अनुमान नहीं है, अपितु स्वभाव–हेतुरूप अनुमान ही है, क्योंकि अप्रतिबंधित आर्द्र ईंधनयुक्त अग्नि का स्वभाव ही धूम की उत्पत्ति करना है, अतः, बौद्ध–दार्शनिकों का कहना है कि जिसे आप (जैन) कारण–साकल्यरूप हेतु कह रहे हैं, वह तो वस्तुतः कारण–हेतु न होकर स्वभाव–हेतु ही है। इस प्रकार, बौद्ध–दार्शनिक कारण–साकल्य–हेतु का अन्तर्भाव स्वभाव–हेतु में करके किसी न किसी रूप में तो कारण–हेतु को स्वीकार कर ही लेते हैं, अतः, रत्नप्रभ की दृष्टि में बौद्धों का यह कहना कि कारण–हेतु कार्य या साध्य की सिद्धि के लिए आवश्यक नहीं है, उचित नहीं है।[370]

पुनः, प्रमाणनय–तत्त्वालोक के तृतीय परिच्छेद के 71 वें सूत्र में जैनों द्वारा पूर्वचर उत्तरचर को साध्य की सिद्धि में हेतु के रूप में स्वीकार किया गया है। रत्नप्रभसूरि लिखते हैं कि पूर्वचर–हेतु और उत्तरचर–हेतु

---

[368] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 467

[369] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 468

[370] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 469

साध्य का स्वभाव नहीं है और उनमें कोई कार्य–कारण संबंध भी नहीं हैं, फिर भी वे कार्य की सिद्धि में उपयोगी होते हैं। इस प्रकार,, जैन पूर्वचर और उत्तरचर–हेतुओं को स्वभाव–हेतु और कार्य–कारण–हेतु से अलग मानकर साध्य की सिद्धि में सहायक मानते हैं।[371]

जैनों के इस सिद्धांत की समीक्षा करते हुए बौद्ध–दार्शनिक प्रज्ञाकर गुप्त का कहना है कि पूर्वचर–हेतु और उत्तरचर–हेतु सम–समयवर्ती नहीं हैं, साथ ही व्यवहित भी हैं, अतः, वे साध्य की सिद्धि में सहायक नहीं हैं, क्योंकि उनका साध्य से अविनाभाव–संबंध ही नहीं होता है, अतः, उनको जैनों के द्वारा साध्य की सिद्धि में हेतुरूप स्वीकार करना उचित नहीं है।[372]

जैन – इसके प्रत्युत्तर में, जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि रत्नाकरावतारिका में लिखते हैं कि काल का व्यवधान होने पर भी कार्य–कारण–संबंध हो सकता है, जैसे– सोने से पहले का जो ज्ञान होता है, वह सोकर उठने के बाद जाग्रत–दशा में पूर्व–संवेदन के रूप में जाना जाता है तथा सोकर उठने के बाद का ज्ञान प्रबोध कहलाता है। प्रबोध, अर्थात् जाग्रत–दशा के संवेदन में पूर्व की अनुभूति कारण है और प्रबोध उसका कार्य है। ये दोनों भिन्नकालीन हैं, फिर भी इनमें कार्य–कारणभाव–संबंध रहा हुआ है। ध्रुव तारे का अदर्शन अमंगलरूप होता है। यहाँ पर अमंगल का घटित होना ध्रुव तारे के अदर्शन का कार्य है और वही भविष्यकालीन–मरण का कारण है, अतः, यह सिद्ध होता है कि व्यवहित काल वाले दो तथ्यों के बीच कार्य–कारण–संबंध संभव है, इसलिए यह मानना उचित नहीं है कि कार्य–कारण–संबंध काल की अपेक्षा से समकालीन अथवा अव्यवहित तथ्यों में ही होता है। घड़ा बनाने की प्रक्रिया और घट की उत्पत्ति– ये दोनों भिन्न कालों में होती हैं, फिर भी इनमें कार्य–कारणभाव–संबंध है, अतः, पूर्वचर और उत्तरचर व्यवहित अर्थात् भिन्नकाल में होने पर भी उनमें चाहे कार्य–कारण–भाव न भी हो, तो भी अविनाभाव–संबंध हो सकता है, अतः, जैनों का कहना यह है कि दो भिन्नकालीन तथ्यों को साध्य की सिद्धि में हेतुरूप स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं आती।[373]

---

[371] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 472

[372] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 475

[373] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 475

बौद्ध – इसके प्रत्युत्तर में, बौद्ध–दार्शनिक प्रज्ञाकर गुप्त का कहना यह है कि काल की अपेक्षा से व्यवधान वाले अतीत और अनागत पदार्थों में किसी संबंध की कल्पना करना उचित नहीं है, क्योंकि इससे अतिव्याप्ति नामक दोष होता है।[374]

जैन – इसके उत्तर में रत्नप्रभसूरि पुनः कहते हैं कि व्यवहित तथ्यों में सह–संबंध की कल्पना तभी संभव नहीं होती, जब वे एक दृष्टि से अति दूर हों, किन्तु पूर्वचर और उत्तरचर एक–दूसरे से इतनी दूर नहीं होते हैं, वे परंपरा से तो अव्यवहित होते हैं, क्योंकि एक के तुरन्त बाद दूसरे का आविर्भाव होता है, अतः, पंरपरा से एक–दूसरे के साथ जुड़े हुए हैं, उनमें कार्य–कारण–भाव संभव है, चाहे वे काल की अपेक्षा से व्यवहित ही क्यों न हों, **जैसे**– भूतकाल में हुए रावण और आगामी उत्सर्पिणी में होने वाले तीर्थंकर तथा शंख नामक चक्रवर्ती के बीच एक सह–संबंध अवश्य ही है, चाहे वे काल की दृष्टि से व्यवहित ही क्यों न हों।[375]

बौद्ध – इसके प्रत्युत्तर में बौद्ध–दार्शनिक प्रज्ञाकर गुप्त का तर्क है कि जो व्यवहित होते हैं, उनमें कार्य–कारण–भाव नहीं होता है और जो अव्यवहित होते हैं, उनमें ही कार्य–कारण–भाव होता है, अतः, व्यवहित में भी कार्य–कारण–भाव की जैनों की मान्यता उचित नहीं है, क्योंकि साध्य की सिद्धि में हेतु के रूप में अन्वय–व्यतिरेकरूप कार्य–कारण–भाव ही मुख्य होता है। यह अन्वय–व्यतिरेकरूप कार्य–कारण–भाव व्यवहित और अव्यवहित– दोनों में ही संभव है, अतः, अन्वय–व्यतिरेक–संबंध को ही साध्य की सिद्धि में हेतु माना जा सकता है।[376]

जैन – प्रज्ञाकर गुप्त के इस कथन के प्रत्युत्तर में जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि आप बौद्धों की यह बात सत्य है कि चाहे व्यवहित हो, चाहे अव्यवहित, जहाँ अन्वय–व्यतिरेक–संबंध होता है, वहीं कार्य–कारणभाव–संबंध होता है। यहाँ अन्वय का अर्थ है– जिसके होने पर जो होता है और व्यतिरेक का अर्थ है– जिसके नहीं होने पर नहीं होता है, किन्तु ऐसा अन्वय–व्यतिरेकरूप–संबंध एक–कालवर्ती या समकालवर्ती में ही होता हो, यह आवश्यक नहीं है। काल–भेद होने पर भी ऐसा अन्वयरूप–संबंध संभव है। अवसर्पिणी–काल का रावण और

---

[374] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 475

[375] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 475, 476

[376] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 476

उत्सर्पिणी–काल के शंख चक्रवर्ती भिन्न काल में होते हुए भी उनके मध्य अन्वय–संबंध तो हैं ही, क्योंकि रावण ही तो अवसर्पिणी–काल में शंख चक्रवर्ती होगा।[377]

बौद्ध – इस पर, बौद्ध–दार्शनिक प्रज्ञाकर गुप्त का कहना है कि चाहे रावण और शंख चक्रवर्ती में अन्वय–संबंध हो, किन्तु उनमें व्यतिरेक–संबंध नहीं है, अतः, उनमें कार्य–कारणभाव संभव नहीं है।[378]

जैन – इसके प्रत्युत्तर में, रत्नप्रभसूरि कहते हैं– हे प्रज्ञाकर गुप्त! आप व्यतिरेक–संबंध किसको कहते हैं ?[379]

बौद्ध – इस पर, प्रज्ञाकर गुप्त कहते हैं कि जिसके अभाव में जो नहीं होता है, उसको ही व्यतिरेक–संबंध कहते हैं। उदाहरण के रूप में यदि रावण नहीं होता, तो शंख चक्रवर्ती भी नहीं होता, इसे ही हम व्यतिरेक–संबंध कहते हैं। यह व्यतिरेक–संबंध उदाहरण में घटित नहीं होता है।[380]

जैन – इसके प्रत्युत्तर में, रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि यदि रावण जन्म नहीं लेता, तो भविष्य में उसी का जीव शंख चक्रवर्ती भी नहीं होता, क्योंकि शंख चक्रवर्ती होना– यह रावण के पुण्योपार्जन का ही फल है। यदि हम गम्भीरता से विचार करें, तो इसमें व्यतिरेक–संबंध भी स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। यदि रावण के जीव ने उस भव में विशिष्ट साधना नहीं की होती, तो न तो वह तीर्थंकर हो सकता था और न शंख चक्रवर्ती। वस्तुतः, जहाँ अन्वय–संबंध होता है, वहीं व्यतिरेक–संबंध भी अवश्य होता ही है, इसलिए आप बौद्धों को यह मान लेना चाहिए कि चाहे पूर्वचर और उत्तरचर भिन्नकालवर्ती हों, किन्तु उन दोनों के बीच अन्वय और व्यतिरेक–संबंध संभव होता है, अतः, पूर्वचर और उत्तरचर को साध्य की सिद्धि में हेतु के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।[381]

---

377 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 477
378 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 478
379 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 478
380 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 478
381 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 479

स्मृति की प्रमाणता का निषेध और उसकी समीक्षा

प्रमाण–चर्चा के प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि भारतीय–दर्शन में जैन–दर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जो स्मृति को प्रमाणरूप में स्वीकार करके चलता है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जैन–न्याय के प्रारंभिक–काल में स्मृति को स्वतंत्र प्रमाण के रूप में उल्लेखित नहीं किया गया है। जैन–न्याय के प्रथम ग्रन्थ सिद्धसेन के न्यायावतार में स्मृति के प्रमाण होने की कोई चर्चा नहीं है। स्मृति प्रमाणरूप है– इसका सर्वप्रथम उल्लेख दिगम्बर जैनाचार्य अकलंक के नामक ग्रन्थों में ही मिलता है। उसके पूर्व किसी भी जैनाचार्यों ने स्मृति के प्रमाण होने की कोई चर्चा नहीं की है। यहाँ तक की लगभग आठवीं शताब्दी में हुए आचार्य हरिभद्र ने भी अपने किसी भी न्याय के ग्रन्थ में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क के प्रमाण होने की कोई चर्चा नहीं की है। अकलंक के पश्चात् स्मृति के प्रमाण होने की चर्चा श्वेताम्बर–परंपरा में सर्वप्रथम हमें सिद्धसेन के न्यायावतार की सिद्धर्षि की टीका में मिलती है। सिद्धर्षि का काल लगभग नौवीं–दसवीं शताब्दी माना गया है।

उपर्युक्त ऐतिहासिक–आधारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन–दर्शन में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को प्रमाण के रूप में स्वीकार करने की परंपरा लगभग आठवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से ही प्रारंभ होती है। यही कारण है कि बौद्ध–न्याय के प्राचीन स्तर के ग्रन्थों तथा दिङ्नाग के न्याय–प्रवेश, वसुबन्धु की वाद–विधि, धर्मकीर्त्ति के प्रमाण–वार्त्तिक, प्रमाणविनिश्चय, न्यायबिंदु, हेतुबिंदु आदि ग्रन्थों में नहीं मिलती है। यहाँ तक की धर्मकीर्त्ति के शिष्य धर्मोत्तर ने भी इस संबंध में कोई चर्चा नहीं की है। हमें जो भी बौद्ध–न्याय के मूल ग्रन्थ उपलब्ध हो पाए हैं, उनमें हेतु–बिंदु की अर्चट् की टीका को छोड़कर स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञा के प्राभाण्य के निरास करने की कोई चर्चा नहीं मिलती है। सर्वप्रथम अर्चट् के हेतु–बिंदु की टीका में ही स्मृति के और प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य का निरास किया गया है। यद्यपि पं. सुखलालजी संघवी ने अर्चट् को धर्मकीर्त्ति के पश्चात् और धर्मोत्तर के पूर्व सातवीं शती के उत्तरार्द्ध और आठवीं शती के पूर्वार्द्ध में निर्धारित किया है, किन्तु हमारी दृष्टि में अर्चट् को धर्नकीर्त्ति और धर्मोत्तर के बाद का ही मानना होगा, क्योंकि जब जैन–न्याय में स्मृति, तर्क और प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य को स्थापित कर दिया होगा, तभी उसका खंडन संभव था, इसलिए डॉ. सागरमल जैन का मानना है कि अर्चट् नौवीं शताब्दी के पूर्व तो किसी भी स्थिति में नहीं हो सकते

हैं, क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम हेतु–बिंदु की टीका में स्पष्ट रूप से लिखा है– "स्मृतिरेवासाबिति न प्रामाण्यमिति"। इसी प्रकार, अर्चट् ने हेतुबिंदु की टीका में विस्तार से प्रत्यभिज्ञा के प्रामाण्य का भी निरसन किया है– "विस्तरश्च प्रत्यभिज्ञा प्रामाण्य निरासः"। इन आधारों पर यह फलित होता है कि जैन–दर्शनसम्मत स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि के प्रामाण्य का निरसन अर्चट् से ही शुरू होता है। हमारे समीक्ष्य ग्रन्थ रत्नाकरावतारिका में भी स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि के प्रामाण्य के निरसन हेतु बौद्ध–परंपरा का जो पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया गया है, वह भी अर्चट् की हेतु– बिंदु की टीका के आधार पर ही है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि रत्नप्रभसूरि ने अर्चट् की टीका का अध्ययन किया था और वह उनके समक्ष उपस्थित थी। उन्होंने अर्चट् की टीका को आधार बनाकर ही स्मृति की समीक्षा की है। रत्नप्रभसूरि ने स्मृति के प्रामाण्य के निरसन के लिए अर्चट् की हेतुबिंदु की टीका को ही आधार बनाया है, अतः, यहाँ स्वतंत्र रूप से बौद्धों के पूर्वपक्ष की स्थापना आवश्यक नहीं लगती है, क्योंकि यह कार्य स्वयं रत्नप्रभसूरि ने रत्नाकरावतारिका में कर दिया है।

निष्कर्ष –

यह सत्य है कि प्रमाण की संख्या को लेकर जैन–दर्शन और बौद्धदर्शन में मतभेद हैं। जहाँ बौद्धदर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान–ऐसे दो प्रमाण मानता है, वहीं जैन–दर्शन 1. प्रत्यक्ष 2. स्मृति 3. प्रत्यभिज्ञा 4. तर्क 5. अनुमान और 6. आगम (शब्द)– ऐसे छः प्रमाण मानता है। इस प्रकार,, बौद्धदर्शन में स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क और आगम (शब्द) प्रमाण नहीं माने गए हैं। प्रस्तुत अध्याय में हमने इस बात को विस्तार से जानने का प्रयत्न किया है कि बौद्ध–दार्शनिक क्यों स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को प्रमाणरूप में स्वीकार नहीं करते हैं ? इसका स्पष्ट कारण तो हमारी दृष्टि में बौद्धदर्शन की तत्त्व–मीमांसा ही है। बौद्ध–दार्शनिक अपनी ज्ञान–मीमांसा को अपनी तत्त्व–मीमांसा के आधार पर ही उपस्थित करते हैं। जब उनके अनुसार सत्ता क्षणिक है, तो ऐसी स्थिति में स्मृति और प्रत्यभिज्ञा कैसे प्रमाण हो सकते हैं। जिसकी एक क्षण से अधिक सत्ता नहीं है, उसकी स्मृति कैसे हो सकती है ? और पुनः यह कि प्रत्यभिज्ञा के रूप में, यह वही है– ऐसा बोध तो तभी संभव हो सकता है, जब सत्ता में किसी स्थायित्व को माना जाए, जो उत्पन्न होते ही विनष्ट हो गया, वह वही कैसे हो सकता है ? वह तो अन्य ही होगा, अतः, स्मृति और प्रत्यभिज्ञा– ये दोनों ही सत्ता में ध्रौव्य–पक्ष को माने बिना संभव नहीं होते हैं। जिसे

जैन–दार्शनिक स्मृति कह रहे हैं, वह तो मात्र चित्त–संतति का प्रवाह है। दूसरे, जब बौद्धदर्शन बाह्यार्थ की सत्ता का निषेध करता है, अथवा वस्तुसत् को निःस्वभाव और क्षणिक मानता है, तो फिर उसके दर्शन में स्मृति और प्रत्यभिज्ञा प्रमाणरूप नहीं हो सकते हैं। स्मृति का अर्थ है– किसी सत्–तत्त्व की स्मृति; किन्तु जब सत् स्वतः ही परिवर्तनशील हो और उसकी सत्ता क्षणिक हो, तो स्मृति कैसे हो ? विशेष रूप से जो ज्ञाता चित्त है, यदि वह भी दूसरे क्षण नहीं रहता हो– ऐसी स्थिति में बौद्धों के लिए यह संभव ही नहीं था कि वे स्मृति को प्रमाणरूप स्वीकार करें। इसी प्रकार, जब सत्ता दो समय भी एकरूप नहीं होती है, तो फिर यह वही है– ऐसी प्रत्यभिज्ञा कैसे संभव होगी ? क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में तो भूतकाल में अनुभूत सत् की ही वर्त्तमान में अनुभूत सत् के साथ समानता का अनुभव किया जाता है। अतः,, बौद्धों के क्षणिकवाद और संततिवाद में स्मृति और प्रत्यभिज्ञा प्रमाणरूप नहीं हो सकते। चूँकि बौद्ध–दार्शनिक अपनी तत्त्व–मीमांसा के प्रति सत्यनिष्ठ रहे और इसलिए उन्होंने स्मृति और प्रत्यभिज्ञा को प्रमाणरूप मानने से इंकार किया। इसके विरुद्ध, जैन–दार्शनिक सत् को उत्पाद–व्यय के साथ– 'थ ध्रौव्यात्मक भी मानते रहे, इसलिए उनके यहाँ ये दोनों प्रमाण स्वीकृत किए गए। जहाँ तक तर्क की प्रमाणता का प्रश्न है, बौद्ध–दार्शनिक उसे भी एक स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते। सच तो यह है कि तर्क–प्रमाण किसी सार्वकालिक और सार्वदेशिक–तथ्य की कल्पना करता है। दूसरे शब्दों में, वह सामान्य को स्वीकार करता है और वह सामान्य होता है, जबकि बौद्धदर्शन में सामान्य को केवल विकल्परूप ही माना गया है। उसे परमार्थ सत्य रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। यदि सामान्य को ही स्वीकार नहीं किया जाएगा, तो फिर व्याप्ति को ही यथार्थ प्रमाणरूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। यही कारण है कि बौद्धों ने तो अनुमान को भी केवल व्यवहार के स्तर पर ही सत् स्वीकार किया है और जब वे सामान्य को ही स्वीकार नहीं करते हैं, तो फिर उनके लिए व्याप्ति, जो कि सामान्य ही है, वह कैसे प्रमाण हो सकती है और ऐसी स्थिति में व्याप्ति को स्थापित करने वाले तर्क या ऊह की प्रमाणता को कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? अतः,, बौद्ध–दार्शनिकों ने जो स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को प्रमाणरूप नहीं माना है, उसका मुख्य कारण उनकी तर्क–मीमांसा ही है। पुनः, जैनों के लिए स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को प्रमाण मानने का कारण यह था कि नैयायिकों के समान जैनों ने प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद के रूप में

सामान्य–लक्षणा–प्रत्यासत्ति को नहीं माना था, इसलिए व्याप्ति की स्थापना के लिए उनको तर्क–प्रमाण को अलग से स्वीकार करना पड़ा और तर्क को प्रमाणरूप स्वीकार करने के लिए स्मृति और प्रत्यभिज्ञा की प्रमाणरूपता आवश्यक थी, क्योंकि स्मृति की प्रमाणता के अभाव में प्रत्यभिज्ञा प्रमाणरूप नहीं हो सकती और प्रत्यभिज्ञा को प्रमाणरूप हुए बिना तर्क या व्याप्तिबोध प्रमाणरूप नहीं होगा और बिना व्याप्तिबोध के अनुमान भी प्रमाण नहीं होगा, इसलिए हमारी दृष्टि में जैनों के द्वारा स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को प्रमाणरूप मानना आवश्यक था।

अध्याय–9

बौद्धों का श्रवणेन्द्रिय का अप्राप्यकारित्व

बौद्ध–सम्मत श्रवणेन्द्रिय की अप्राप्यकारिता की समीक्षा

ज्ञातव्य है कि जैनाचार्य रत्नप्रभ ने जहाँ एक ओर नैयायिकों के चक्षु के प्राप्यकारित्व का खण्डन किया, वहीं दूसरी ओर वे बौद्धों के श्रवणेन्द्रिय के अप्राप्यकारित्व का भी खण्डन प्रस्तुत ग्रन्थ रत्नाकरावतारिका में करते हैं। बौद्धों का मंतव्य है कि श्रवणेन्द्रिय भी अप्राप्यकारी है और वह भी अपने विषय को बिना संस्पर्श किए ही जान लेती है, वहीं दूरस्थ ध्वनि या शब्द को ग्रहण कर लेती है, अर्थात् दूरस्थ शब्द को भी श्रवण कर लेती है, किन्तु जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों के इस मंतव्य से सहमत नहीं हैं। वे नैयायिकों के समान ही श्रवणेन्द्रिय को प्राप्यकारी मानते हैं।

बौद्धों का पूर्वपक्ष – श्रवणेन्द्रिय को अप्राप्यकारी सिद्ध करने के लिए बौद्ध यह तर्क देते हैं कि जो इन्द्रिय प्राप्यकारी होती है, अर्थात् अपने विषय को संस्पर्श करके जानती है, वह अपने विषय को, चाहे वह दूर हो या निकट तथा किसी भी दिशा में हो, ग्रहण कर लेती है। जिस प्रकार जैन–दार्शनिकों की मान्यतानुसार चक्षु–इन्द्रिय अपने विषय को संस्पर्श किए बिना जानती है, उसी प्रकार हम बौद्ध–दार्शनिकों की मान्यतानुसार श्रवणेन्द्रिय भी अपने विषय को संस्पर्श किए बिना ही जान लेती है, अतः, वह भी अप्राप्यकारी है। उसे अपने विषय के दिग्देश का ज्ञान होता है, अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय अपने विषय–शब्द के दूरस्थ दिग्देश का ज्ञान होने से वह अप्राप्यकारी है।[382] ज्ञातव्य है कि दिग्देश, अर्थात् वस्तु कहाँ है– ऐसा बोध चक्षु और श्रोत्र– दोनों को हो जाता है। नैयायिकों के अनुसार, वस्तु जहाँ भी हो, चक्षु अपने विषय को संस्पर्श करके वस्तु का बोध कर लेते हैं। इसके विपरीत, बौद्धों की मान्यता है कि शब्द जहाँ से भी आते हों,

---

[382] रत्नाकरावतारिका, भाग I (एल.डी.संस्करण), रत्नप्रभसूरि, पृ. 156

श्रवणेन्द्रिय उनको, अर्थात् अपने विषय को बिना संस्पर्श किए ही जान लेती है।

बौद्ध – पुनः, बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि श्रोत्रेन्द्रिय अप्राप्यकारी होने के कारण, यह पूर्व दिशा के बादल के गरजने की आवाज है, यह दक्षिण दिशा से चातक पक्षी की आवाज आ रही है– ऐसे भिन्न–भिन्न दिशा से एवं भिन्न–भिन्न स्थानों से आने वाले उन शब्दों का श्रोत्रेन्द्रिय बिना संस्पर्श किए ही बोध कर लेती है, जैसे– यह आवाज कहाँ से आ रही है तथा किसकी है ? श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा सर्वानुभवसिद्ध दिग्देश का व्यवहार शब्द से तो नहीं होता है, अतः, यह मानना होगा कि श्रोत्रेन्द्रिय अप्राप्यकारी है।[383]

अपने पक्ष की सिद्धि हेतु बौद्ध–दार्शनिक पुनः कहते हैं कि जैसे प्राप्यकारी स्वभाव वाली रसनेन्द्रिय शकर के आस्वाद में दिग्देश का ज्ञान नहीं कर सकती, वैसे ही श्रोत्रेन्द्रिय को प्राप्यकारी मानने पर उसके शब्द–ज्ञान से भी दिग्देश का बोध नहीं होना चाहिए, जबकि शब्द–ज्ञान में दिग्देश का बोध होता है, अतः, वह अप्राप्यकारी है। रसनेन्द्रिय किसी भी वस्तु का स्वाद लेने के बाद ही अपने विषय का बोध करती है, किन्तु दिग्देश तो कोई स्वाद लेने की चीज नहीं है, अतः, रसनेन्द्रिय में दिग्देश का बोध नहीं होता है, जबकि श्रोत्रेन्द्रिय को दिग्देश का बोध होता है, अतः, मानना होगा कि श्रोत्रेन्द्रिय भी अपने विषय से संबंध बनाए बिना दूर से शब्द को ग्रहण कर लेती है। श्रवणेन्द्रिय को दिग्देश का ज्ञान होता है, अतः, श्रवणेन्द्रिय अप्राप्यकारी है।[384]

जैन – रत्नाकरावतारिका में आचार्य रत्नप्रभसूरि उपर्युक्त बौद्ध–मत की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय प्राप्यकारी हैं– ऐसा आप (बौद्ध) भी मानते हैं, किन्तु इन दोनों इन्द्रियों को अपने विषयों के दिग्देश का ज्ञान होता है। घ्राणेन्द्रिय यह जानती है कि किस फूल की सुगन्ध किस दिशा से आ रही है, जैसे– पूर्व दिशा से गुलाब की महक आ रही है, पश्चिम दिशा से चन्दन की खुशबू आ रही है। जिस प्रकार घ्राणेन्द्रिय के प्राप्यकारी होते हुए गन्ध के साथ दिग्देश का बोध हो सकता है, तो फिर श्रवणेन्द्रिय को भी प्राप्यकारी होते हुए भी दिग्देश का बोध होता है– यह मानने में आपको आपत्ति नहीं होना चाहिए।

---

[383] रत्नाकरावतारिका, भाग I (एल.डी.संस्करण), रत्नप्रभसूरि, पृ. 156

[384] रत्नाकरावतारिका, भाग I (एल.डी.संस्करण), रत्नप्रभसूरि, पृ. 156

नासिका को गन्ध के बोध के साथ, यह गन्ध अमुक दिशा से आ रही है– ऐसा भी बोध होता है। इसी प्रकार, स्पर्शनेन्द्रिय भी वायु के संस्पर्श से यह जान लेती है कि यह शीतल वायु किस दिशा से आ रही है। स्पर्शनेन्द्रिय को वायु का स्पर्श तो होता ही है, किन्तु उस स्पर्श का वायु से संबंध होने पर उसे उस वायु के स्पर्श के साथ दिग्देश का भी बोध होता है कि वन से चन्दन की सुगन्ध के साथ आ रही शीतल वायु का स्पर्श हो रहा है। यदि घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय दिग्देश का ज्ञान रखते हुए भी प्राप्यकारी हैं, तो फिर श्रवणेन्द्रिय दिग्देश का ज्ञान रखते हुए भी प्राप्यकारी क्यों नहीं हो सकती, अर्थात् हो सकती है।[385]

बौद्ध – इस पर, बौद्ध अपने पूर्वपक्ष की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि पूर्वोक्त गन्ध, स्पर्श आदि में दिग्देश का ज्ञान तो अनुमान से होता है, घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय (त्वगेन्द्रिय) का दिग्देश का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है। घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय तो अनुमान से ही दिग्देश का बोध करती हैं, क्योंकि घ्राणेन्द्रिय गन्ध के आने के बाद और स्पर्शनेन्द्रिय स्पर्श होने के बाद ही क्रमशः नासिका और स्पर्शनेन्द्रिय अपने–अपने विषय के दिग्देश का बोध अनुमान से करती हैं कि गन्ध अमुक दिशा से आ रही है तथा वायु अमुक दिशा से आ रही है, इसलिए घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय दिग्देश का बोध अनुमान से करने से प्राप्यकारी हो सकती हैं, किन्तु श्रवणेन्द्रिय प्राप्यकारी नहीं हो सकती।[386]

जैन – इसके उत्तर में, आचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्ध–मत की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि श्रोत्रेन्द्रिय दिग्देश का ज्ञान अनुमान से करती है– यह मानकर घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय के समान ही श्रोत्रेन्द्रिय को भी प्राप्यकारी क्यों नहीं मान लेते हैं ? वर्त्तमान के शब्द को सुनकर तत्काल अतीतकाल के सुने हुए शब्द का स्मरण कर हम कहते हैं कि यह शंख का शब्द है, यह घंटे की ध्वनि है आदि। यह शब्द–श्रवण स्मरण के व्याप्ति–ज्ञानपूर्वक होने से अनुमान ही तो हुआ, अर्थात् हमने अनुमान से ही जाना कि अमुक दिशा से अमुक प्रकार के शब्द सुनाई दे रहे हैं। इसका अर्थ तो यही हुआ कि श्रवण ने अपने शब्दरूपी विषय का संस्पर्श किया और तत्काल ही शब्द को पहचान लिया। इस ज्ञान से चाहे आप अनुमान को अलग ज्ञान कहकर श्रोत्रेन्द्रिय को अप्राप्यकारी सिद्ध करना चाह रहे हैं,

---

[385] रत्नाकरावतारिका, भाग I (एल.डी.संस्करण), रत्नप्रभसूरि, पृ. 157

[386] रत्नाकरावतारिका, भाग I (एल.डी.संस्करण), रत्नप्रभसूरि, पृ. 157

किन्तु वास्तव में तो श्रवणेन्द्रिय भी घ्राणेन्द्रिय या स्पर्शनेन्द्रिय के समान ही दिग्देश का ज्ञान करने पर भी प्राप्यकारी ही सिद्ध होती है। दूसरे, गन्ध और वायु भी यात्रा करके ही घ्राणेन्द्रिय या स्पर्शनेन्द्रिय के पास आती है। गन्ध और स्पर्श में भी दिग्देश का व्यवहार तो है। यह हवा इधर से आ रही है, यह गन्ध इधर से आ रही है, वैसे ही यह शब्द–ध्वनि इधर से आ रही है– ऐसा ही तो बोध होता है। जिस प्रकार घ्राणेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय में दिग्देश का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं, अपितु अनुमान से होता है, उसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय में भी दिग्देश का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं, अनुमान से ही होता है। जैसे हवा का झोंका स्पर्श तक पहुँचता है, गंध नासिका तक आती है, वैसे ही शब्द भी कान तक पहुँचते हैं। जैसे हवा, गंध आदि को नेत्र से देख नहीं सकते, अनुमान से ही जान सकते हैं, वैसे ही शब्द का भी नेत्र से प्रत्यक्ष नहीं होता है, अनुमान से ही होता है। दिग्देश को कान ग्रहण नहीं करता, क्योंकि दिग्देश शब्दरूप नहीं है। श्रोत्र तो शब्द को ग्रहण करता है, जबकि दिग्देश चक्षु का विषय है, कान, नाक एवं स्पर्शनेन्द्रिय विषय नहीं हैं।[387]

श्रोत्रेन्द्रिय के साथ शब्द का संस्पर्श हुए बिना ही शब्द का ज्ञान हो जाता हो, तो फिर जब अनुकूल वायु चलती है, तब तो दूर का शब्द भी सुनाई देता है तथा प्रतिकूल वायु चलती है, तब नजदीक का शब्द भी सुनाई नहीं देता है– ऐसा क्यों होता है ? जैसे– रात्रि में दूर से ही ट्रेन की आवाज सुनाई देती है तथा दिन के कोलाहल में नजदीक से भी ट्रेन की आवाज सुनाई नहीं देती है, इसलिए शब्द–ज्ञान भी श्रोत्र के साथ संस्पर्श होने पर ही होता है, अतः, श्रोत्रेन्द्रिय प्राप्यकारी ही सिद्ध होती है।

बौद्ध – इस पर, पुनः बौद्धों का तर्क यह है कि बन्द कमरे में बाहर के शब्द का ज्ञान कैसे हो जाता है ?[388]

जैन – इस संबंध में जैनाचार्य रत्नप्रभ का उत्तर यह है कि जिस प्रकार बन्द कमरे में वायु के सहारे कर्पूर, चन्दन, कस्तूरी आदि सुगन्धित द्रव्यों की गंध प्रवेश कर जाती है, वैसे ही वायु के सहारे शब्द–ध्वनि भी

---

[387] रत्नाकरावतारिका, भाग I (एल.डी.संस्करण), रत्नप्रभसूरि, पृ. 157 से 159

[388] रत्नाकरावतारिका, भाग I (एल.डी.संस्करण), रत्नप्रभसूरि, पृ. 159

बन्द कमरे में प्रवेश कर जाती है, अतः, घ्राणेन्द्रिय के समान श्रवणेन्द्रिय भी प्राप्यकारी है।[389]

बौद्धों के द्वारा मान्य श्रवणेन्द्रिय के अप्राप्यकारित्व की समीक्षा

भारतीय–दर्शन में प्राप्याकारी और अप्राप्यकारी की अवधारणा विशेष रूप से विवाद का विषय रही है। जहाँ न्याय–वैशेषिक–दर्शन यह मानता है कि सभी इन्द्रियाँ अपने विषयों को संस्पर्श करके ही जानती हैं, वहीं बौद्ध–दार्शनिक पाँच इन्द्रियों में से दो इन्द्रियों – 1. श्रवणेन्द्रिय और 2. चक्षुरिन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानते हैं और इसके विपरीत, तीन इन्द्रियों अर्थात् 1. स्पर्शनेन्द्रिय 2. नासिका 3. रसना– इन तीन इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं, जबकि जैन–दार्शनिक इन दो में से भी मात्र चक्षुरिन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानते हैं और शेष चार इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं। जैन–दार्शनिकों ने जहाँ एक ओर नैयायिकों के चक्षुरिन्द्रिय के प्राप्यकारित्व की समीक्षा की, वहीं उन्होंने बौद्धों के श्रवणेन्द्रिय के अप्राप्यकारी होने की भी समीक्षा की है। चूँकि हमारे शोध का विषय मुख्य रूप से बौद्धदर्शन की रत्नाकरावतारिका में की गई समीक्षा से ही संबंधित है, अतः, यहाँ तक नैयायिकों द्वारा चक्षुरिन्द्रिय के प्राप्यकारित्व की समीक्षा न करके मात्र बौद्धों द्वारा जो श्रवणेन्द्रिय को अप्राप्यकारी माना है, उसकी ही समीक्षा करेंगे और यह देखेंगे कि जैन–दार्शनिक किन आधारों पर श्रवणेन्द्रिय को प्राप्यकारी सिद्ध करेंगे।

निष्कर्ष –

भारतीय–दर्शन में प्राप्यकारित्व में अम्बिकादत्त शर्मा लिखते हैं– इस प्रकार, से हम देखते हैं कि प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व को लेकर भारतीय–दार्शनिक जैन, बौद्ध और न्याय–वैशेषिक–दर्शन के सिद्धान्त में भिन्नता है। यद्यपि सामान्यतया सभी दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि इन्द्रियाँ अपने–अपने विषय को ग्रहण करके ही जानती हैं, किन्तु फिर भी यह मूल प्रश्न रहा है कि क्या इन्द्रियों का अपने विषयों से निकटस्थ रूप में संस्पर्श होता है, या वे दूर से ही उन्हें ग्रहण कर लेती हैं। जहाँ एक ओर न्याय–दर्शन पाँचों इन्द्रियों और मन को प्राप्यकारी मानता है, वहीं जैन–दर्शन भी मन एवं चक्षु के अतिरिक्त शेष चारों इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानता है, अतः, जैन–दर्शन ने नैयायिक आदि की समीक्षा मात्र

---

[389] रत्नाकरावतारिका, भाग I (एल.डी.संस्करण), रत्नप्रभसूरि, पृ. 159

चक्षु–इन्द्रिय की प्राप्यकारिता के संबंध में की है, किन्तु दूसरी ओर बौद्ध श्रोत्रेन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानते हैं, अतः, जैनों ने बौद्धों की समीक्षा श्रोत्रेन्द्रिय की अप्राप्यकारिता के सम्बन्ध में की और यह सिद्ध किया कि घ्राणेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय के समान श्रोत्रेन्द्रिय भी प्राप्यकारी है।[390]

जहाँ बौद्ध–दार्शनिक यह मानते हैं कि श्रवणेन्द्रिय दूरस्थ क्षेत्र में उच्चरित शब्दों को बिना उनका संपर्क किए ही ग्रहण कर लेती है, वहीं जैनों का कहना यह है कि श्रवणेन्द्रिय भी अपने विषय–शब्दों को उनका संस्पर्श होने पर ही जानती है, अतः, वह अप्राप्यकारी नहीं हो सकती। इसका मूल कारण यह था कि जैन–दार्शनिकों ने शब्द को ध्वनिरूप माना और ध्वनि को पौद्‌गलिक–रूप माना कि ध्वनि लोकाकाश में गति करते हुए संपूर्ण लोक को व्याप्त करती है, अतः, दूरस्थ उच्चरित शब्द भी ध्वनिरूप में हमारी श्रवणेन्द्रिय का स्पर्श करते हैं और उस स्पर्श के माध्यम से ही शब्दों को जानते हैं। बौद्धदर्शन में 'शब्द पौद्‌गलिक और गतिशील हैं'– और यह अवधारणा उपस्थित नहीं थी और इसी आधार पर उन्होंने यह मान लिया था कि दूर क्षेत्रों में उच्चरित शब्दों को श्रवणेन्द्रिय बिना उनका संस्पर्श किए ही ग्रहण कर लेती है। बौद्ध–दार्शनिकों का कहना है कि चक्षुरिन्द्रिय और मन के समान ही श्रवणेन्द्रिय भी अप्राप्यकारी ही हैं, श्रवणेन्द्रिय द्वारा असन्निकृष्टः शब्द का ही ग्रहण होता है, तो शब्द में दूर, निकट आदि का व्यवहार संभव नहीं हो सकता है। जिस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय का अपने विषय में सन्निकर्ष न होने पर भी वह दूर स्थित वृक्ष आदि को जान लेती है, उसी प्रकार से श्रवणेन्द्रिय भी दूरस्थ क्षेत्र में उच्चरित शब्द को ग्रहण कर लेती हैं। यही कारण है कि हमें शब्दों में भी दूरी और समीपता का बोध होता है। जिस प्रकार प्रकाश के कारण दूर स्थित रूप का चक्षु में अभिघात होता है, उसी प्रकार दूर स्थित शब्द का उसकी तीव्रता आदि के कारण श्रवणेन्द्रिय में अभिघात होता है, अतः, बौद्धों के अनुसार श्रवणेन्द्रिय अप्राप्यकारी है। बौद्धों के इस पूर्वपक्ष का उल्लेख हमें उपलब्ध बौद्ध–न्याय के ग्रन्थों में देखने को नहीं मिला; किन्तु दिगम्बर–जैनाचार्य कुमुदचंद्र द्वारा रचित न्याय–कुमुदचंद्र तथा श्वेताम्बर–ग्रन्थ वादिदेवसूरिकृत स्याद्वादरत्नाकर में, अभयदेवकृत सन्मतितर्क की तत्त्वबोध–विधायिनी टीका में एवं रत्नप्रभ की रत्नाकरावतारिका में मिलता है। यहाँ इसी आधार पर उसका प्रस्तुतिकरण किया गया है और

[390] देखें – भारतीय–दर्शन में प्राप्याकारित्ववाद, आम्बिकादत्त शर्मा, पृ. 146, 147

यह देखने का प्रयत्न किया गया है कि रत्नाकरावतारिका में रत्नप्रभसूरि ने संबंध में बौद्धों के पूर्वपक्ष को किस रूप में प्रस्तुत कर उसका खंडन किया हैं।

अध्याय-10
बौद्धों के सामान्य के निषेध की अवधारणा की समीक्षा

जैनों की सामान्य की अवधारणा

रत्नाकरावतारिका के पाँचवें परिच्छेद में सामान्य और विशेष के स्वरूप का विश्लेषण किया गया हैं। जैन-दर्शन के अनुसार, वस्तु सामान्य, विशेष आदि अनेक धर्मों का समूह है। अनेक पदार्थों में एक-सी प्रतीति उत्पन्न करने वाला और उन्हें एक ही शब्द द्वारा वाच्य बनाने वाला धर्म सामान्य कहलाता है। इसके विपरीत, एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में भेद कराने वाला धर्म विशेष कहलाता है। बौद्ध-दार्शनिक सामान्य की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं। वे सामान्य को मात्र कल्पनाजन्य मानते हैं। उन्हें मात्र विशेष की सत्ता अभीष्ट है। जैन-दार्शनिक सामान्य और विशेष- दोनों को स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में सामान्य दो प्रकार से प्ररूपित किया गया है- तिर्यक्-सामान्य और ऊर्ध्वता-सामान्य। 1. जिसमें सब समान रूप से पाया जाए, उसको अनुवृत्ताकार-तिर्यक्-सामान्य कहते हैं, अर्थात् अनुवृत्ताकार-ज्ञान द्वारा जो बोध होता है, वह तिर्यक्-सामान्य है। 2. जिसमें एक में एक सब समा जाएँ, उसको अनुगताकार-ऊर्ध्वता-सामान्य कहते हैं, अर्थात् अनुगताकार ज्ञान द्वारा जो बोध होता है,,वह ऊर्ध्वता-सामान्य है।[391]

प्रमेयकमलमार्त्तण्ड के तीसरे भाग की हिन्दी व्याख्या में विदुषी आर्यिका जिनमतीजी तिर्यक्-सामान्य और ऊर्ध्वता-सामान्य का वर्णन करते हुए लिखती हैं कि अनेक वस्तुओं में पाया जाने वाला समान धर्म तिर्यक्-सामान्य कहलाता है, जैसे- अनेक गायों में गोत्व समान रूप से विद्यमान रहता है, इसी तरह पटों में पटत्व, मनुष्यों में मनुष्यत्व, जीवों में जीवत्व इत्यादि समान या सदृश धर्म दिखाई देते हैं, इसी को

[391] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभूसरि, पृ. 692

तिर्यक्–सामान्य कहते हैं। इस सामान्य धर्म या स्वभाव के कारण ही हमें वस्तुओं में सादृश्य का प्रतिभास होता है। एक ही पदार्थ के उत्तरोत्तर जो परिणमन होते रहते हैं, उनमें उस पदार्थ का 'व्यापक रूप से जो रहना है', वह ऊर्ध्वता–सामान्य है, जैसे– स्थान, कोश, कुशल आदि परिणमन या पर्यायों में मिट्टी व्यापक रूप से रहती है। तिर्यक्–सामान्य और ऊर्ध्वता–सामान्य में यह अन्तर है कि तिर्यक्–सामान्य तो अनेक पदार्थ या व्यक्तियों में पाया जाने वाला समान धर्म है और ऊर्ध्वता–सामान्य क्रम से उत्तरोत्तर होने वाली पर्यायों में द्रव्य का बने रहना है, अर्थात् अपने क्रमिक–पर्यायों में एक अन्वयी द्रव्य का अस्तित्व ऊर्ध्वता–सामान्य कहलाता है।[392]

प्रस्तुत ग्रन्थ रत्नाकरावतारिका में सर्वप्रथम तिर्यक्–सामान्य का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। सामान्य के प्रथम भेद तिर्यक्–सामान्य का स्वरूप सूत्र के माध्यम से इस प्रकार, प्रस्तुत किया गया है– "प्रति व्यक्ति तुल्या परिणतिस्तिर्यक् सामान्यम्, शबल शाबलेयादि पिण्डेषु गोत्वं यथा", (5–4) अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति में (दूसरे व्यक्तियों की अपेक्षा) जो तुल्य (समान) परिणाम या समान धर्म है, वह तिर्यक्–सामान्य कहलाता है, जैसे शबल और शाबलेय–बाडुलेय गायों में गोत्व समान रूप से रहता है। किसी भी एक व्यक्ति में दूसरे व्यक्ति के साथ जो समानता रहती है, उस समानता को तिर्यक्–सामान्य कहते हैं। जिस प्रकार शबल और शाबलेय– इन दोनों में गोत्व समान रूप से है, उसी प्रकार गाय से भिन्न अश्व, महिष, बैल, गधा आदि में यद्यपि गोत्व नहीं है, किन्तु पशुत्व तो सभी में समान रूप से होने के कारण इनको भी तिर्यक्–सामान्य कहते हैं। यद्यपि गाय–गाय में अपेक्षा भेद से अन्तर हो भी सकता है, क्योंकि कोई गाय काली हो सकती है, तो कोई सफेद भी हो सकती है, कोई चितकबरी भी हो सकती है आदि–आदि, किन्तु गोत्व की दृष्टि से सभी गाय समान स्वरूप वाली होती हैं, अतः, उन भिन्न–भिन्न रंग की गायों में गोत्व है, उसे तिर्यक्–सामान्य कहते हैं। 'तिर्यक्' नाम रखने का तात्पर्य यह है कि सामान्य को समझते समय जिज्ञासु को अपनी दृष्टि तिर्यक् करना पड़ती है, अर्थात् कुछ समान धर्म वाली अनेक वस्तुओं को देखना होता है, इसलिए इसको तिर्यक्–सामान्य कहा जाता है। शबल, शाबलेय, बाडुलेय– इन तीनों में से मान लो प्रथमतः शबल गाय को देखा, तत्पश्चात् शाबलेय

[392] देखें – प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, भाग III, आचार्य प्रभाचन्द्र, सम्पादक–साध्वी जिनमतीजी

को देखा, तत्पश्चात् बाडुलेय को देखा। क्रमशः एक-एक को देखते हुए निगाहें घूमती अर्थात् तिरछी होती जाती हैं, इसलिए यहाँ 'तिर्यक्' शब्द का प्रयोग करके इसको 'तिर्यक् सामान्य' कहा गया है।[393]

ज्ञातव्य है कि बौद्ध-दार्शनिक सामान्य की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं, वे मात्र विशेष को ही स्वीकार करते हैं। सामान्य तो मात्र अन्य का निषेध करता है, तो यहाँ सर्वप्रथम पूर्वपक्ष के रूप में बौद्ध-दार्शनिक धर्मोत्तर जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि के समक्ष समस्या रखते हैं कि 'यह गाय है', यह गाय है'- ऐसा अनुगत-आकार (सदृशाकार) का जो बोध होता है, वह बोध 'सामान्य' का बोध नहीं है, अपितु 'अन्य व्यावृत्ति' मात्र ही है। सभी व्यक्तियों में समान रूप से पाया जाने वाला अनुगत-आकार अर्थात् 'सदृशपरिणामात्मक' बोध अन्य की व्यावृत्ति करने से ही होता है। सदृश परिणाम को दर्शाने वाली सामान्य नाम की कोई वस्तु नहीं है, अन्य की व्यावृत्ति करना ही सामान्य है, कारण कि स्वयं की सजातीय से एवं अन्य पदार्थों से व्यावृत्ति करना ही वस्तु का स्वलक्षण है, यथा- किसी विवक्षित गाय का स्वलक्षण बताना ही है, तो सर्वप्रथम विवक्षित गाय से भिन्न समस्त गो-जाति से उसकी व्यावृत्ति करना होगी, अर्थात् भिन्नता बताना होगी, फिर अश्व, महिष, ऊँट आदि पशु-जाति से व्यावृत्ति करना होगी, अर्थात् भिन्नता स्थापित करना होगी, तो ही विवक्षित गाय का स्वलक्षण बनेगा। एक विवक्षित गाय के स्वलक्षण (स्वरूप) में न तो उस गाय की इतर अन्य सजातीय गायों से समानता है, न विजातीय पशु से भिन्नता है। समानता एवं भिन्नता की दृष्टि से विवक्षित गाय के स्वलक्षण में अन्य मात्रा में भी अन्य का मिश्रण नहीं है, इसलिए अल्प की व्यावृत्ति से ही अनुगत-आकार का बोध होने के कारण सामान्य नाम का कोई तत्त्व ही नहीं है और सामान्य नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। दूसरे शब्दों में, सदृशता नाम की कोई वस्तु नहीं है। अन्य की व्यावृत्ति से ही सामान्य (समानता) का बोध होता है।[394]

जैन - जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि उपर्युक्त बौद्ध-मत की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि मृग-मरीचिका के समान आपका कथन भी भ्रमात्मक है, क्योंकि जब मृग-मरीचिका का जल 'भ्रम' है, तो सूर्य की किरणों से चमकती रेती को जल समझकर उसे प्राप्त करने के लिए आगे बढ़ी हुई

---

393 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभूसरि, पृ. 693

394 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभूसरि, पृ. 693, 694

अंजली की प्रवृत्ति निरर्थक है, व्यर्थ का श्रम है। इसी प्रकार, आप बौद्धों का उपर्युक्त कथन किसी सार्थक तत्त्व को सिद्ध नहीं करता है, अतः, आपका उपर्युक्त कथन समुचित नहीं है।[395]

पुनः, रत्नप्रभसूरि बौद्धों से कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपेक्षा–भेद से दूसरे से भिन्न है, क्योंकि कोई काला है, कोई गोरा, कोई बुद्धिमान् है, तो कोई मूर्ख आदि। जहाँ एक ओर व्यक्ति–विशेष में एक–दूसरे से भिन्न है, तो वहीं मनुष्य जाति की अपेक्षा से उनसे अभिन्न भी है। आप बौद्ध–दार्शनिक, अनेक विशेष व्यक्तियों में रही हुई 'अन्य–व्यावृत्ति' एक है और वह अन्य व्यावृत्ति व्यक्ति–विशेष से भिन्न स्वरूप वाली है– ऐसा जो कहते हो, तो अन्यव्यावृत्ति तो सामान्य रूप ही तो हुई है, अतः, आप यदि सामान्य को नहीं मानेंगे, तो सामान्य की व्यावृत्ति कैसे करेंगे ? यद्यपि अन्य की व्यावृत्ति तो हम जैन भी करते हैं, जैसे– गो–जाति में मनुष्य–जाति की या मनुष्य–जाति में गो–जाति की व्यावृत्ति।

इसी प्रकार, यह गाय मनुष्य आदि नहीं है, या यह मनुष्य गाय आदि नहीं है, किन्तु आप बौद्ध–दार्शनिकों की मान्यता के अनुसार तो किसी एक वस्तु के स्वरूप को या वस्तु के लक्षण को सिद्ध करना हो, तो कितनी व्यावृत्ति करना होगी ? यदि संसार की प्रत्येक वस्तु की व्यावृत्ति करेंगे, तो वस्तु का सही स्वरूप कैसे सिद्ध होगा ? हम जैन जो व्यावृत्ति करते हैं, वह सीमित है, किन्तु आपकी व्यावृत्ति असीमित है। हम जैन जो कहते हैं कि वस्तु में समानता का बोध इसलिए होता है कि उसमें सामान्य का गुण रहा हुआ है। तात्पर्य यह है कि यदि आप बौद्ध–दार्शनिक व्यक्ति–विशेष में भिन्न–भिन्न व्यावृत्ति करेंगे, तो वे व्यावृत्तियाँ एक हैं या अनेक हैं? सबकी व्यावृत्ति भिन्न–भिन्न होगी ? या अभिन्न होगी ? यदि आप सबकी व्यावृत्ति को एक, भिन्न और बाह्यात्मक मानेंगे, तो फिर आपने सामान्य को ही स्वीकार कर लिया है। यदि आप अभिन्न मानेंगे, तो आप व्यावृत्ति (निषेध) कैसे करेंगे ? क्योंकि अभिन्न की व्यावृत्ति नहीं होती है। जिसे हम जैन सामान्य कहते हैं, उसी को तो आप बौद्ध व्यावृत्ति कहते हो। यदि आप अन्य–व्यावृत्ति को अन्तर्गत भी नहीं मानते हैं और बाह्यात्मक भी नहीं मानते हैं, तो आपका कथन तो मात्र शब्दाडम्बररूप ही है, अर्थात् कहने तक ही सीमित है, तात्त्विक–दृष्टि से कोई सारभूत नहीं है।[396]

---

[395] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभूसरि, पृ. 694

[396] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभूसरि, पृ. 694

पुनः, आप बौद्ध–दार्शनिक यह बताइए कि आप वस्तु का स्वरूप निश्चित करने के लिए अन्य की व्यावृत्ति करते हैं, तो आप यह सिद्ध करें कि वह अन्य की व्यावृत्ति क्या है ? अन्ततः तो, व्यावृत्ति का कोई न कोई आधार होना ही चाहिए, वह आधार क्या है ? अर्थात् अन्य की व्यावृत्ति क्या वस्तु है ? या अवस्तु है ? किंवा घट, पट आदि के समान अस्तिरूप है, या आकाश–पुष्प के समान नास्तिरूप है ? यदि आप यह कहते हो कि अन्य व्यावृत्ति 'कोई वस्तु है' तो वह वास्तविक पदार्थ होने से गो–विशेष में या तो अन्तर्वर्ती होना चाहिए ? या बहिर्वर्ती होना चाहिए ? यदि आप अन्तर्वर्ती और बहिर्वर्ती– इन दोनों को आधार मानकर अन्य की व्यावृत्ति को वस्तु स्वरूप कहते हैं, तो इनमें दोष उत्पन्न होगा, क्योंकि यदि आप व्यावृत्ति को बहिर्वर्ती मानते हैं, अन्य की व्यावृत्ति तो स्वयं ही सामान्य–रूप सिद्ध होगी और यदि आप उसे अन्तर्वर्ती मानते हैं, तो आप फिर व्यावृत्ति (निषेध) कैसे करेंगे ? फलितार्थ यह है कि यदि आप व्यावृत्ति को घट–पट आदि पदार्थों के समान वस्तु–स्वरूप या अस्तिरूप स्वीकार करते हैं, तो इसका तात्पर्य तो यही होता है कि आपने सामान्य की सत्ता को स्वीकार कर लिया है, क्योंकि वस्तु के स्वरूप में कथंचित्–विधान भी रहा हुआ है, तो कथंचित् निषेध भी रहा हुआ है, अर्थात् वस्तु में कथंचित्–भिन्नता भी है और कथंचित्–अभिन्नता भी है, यथा– गोत्व में अन्तर्वर्ती और बहिर्वर्ती– दोनों पक्ष हैं। उसमें अश्व, महिष आदि का निषेध रहा हुआ है तथा पशुत्व का विधान भी रहा हुआ है। दूसरा, यदि आप अन्य–व्यावृत्ति को असत्‌रूप (अवस्तुरूप) कहते हैं, तो वह असत् तो आकाश–पुष्प के समान, अथवा शशि–श्रृंग के समान, किंवा वन्ध्या–पुत्र के समान अभावरूप होगा, अभाव की व्यावृत्ति कैसे होगी ? व्यावृत्ति कभी भी सत्–पदार्थ की अथवा सद्भाव की ही होती है, अभाव की कभी व्यावृत्ति संभव ही नहीं है, अतः, असत्‌रूप कहेंगे, तो सदृशाकार (अनुगताकार) का बोध कैसे होगा ? यथा 'गाय है', तो इस गाय में गोत्व नाम की जो वस्तु है, इस अनुगताकार का बोध तो होना ही चाहिए, अतः, आप बौद्धों का कथन युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होता है।[397]

जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों से कहते हैं कि आप यह कहते हैं कि अनुगताकारता का बोध अन्य–व्यावृत्ति आदि किसी भी कारण से न होकर मात्र वासना (संस्कार) से, अर्थात् हमारी मानसिक–संकल्पना से ही हो

---

[397] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभूसरि, पृ. 695

जाता है। इसे ही सामान्य का बोध कहा जाता है। मान लो, मनुष्य किंवा गो, अश्व आदि किसी का भी बोध करते हैं, तो वह सिर्फ हमारी मानसिक–संकल्पना ही है, मानसिक–प्रतिबिंब है, कोई बाह्य–वस्तु नहीं है। सिर्फ संकल्पना के आधार से ही वस्तु का बोध हो जाता है। जैन–दार्शनिक कहते हैं कि आप बौद्ध समानता का ज्ञान संस्कार (विकल्प) जन्य मानते हैं और बाह्यार्थ या वस्तु की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु हमारी मानसिक–संकल्पना का आधार सत्तात्मक–पदार्थ ही बनता है। बिना किसी सत्–पदार्थ के हमारे मन में कभी किसी भी पदार्थ का आकार नहीं बनता है। यदि हमारे मन में गाय का कोई आकार बनेगा, तो यह निश्चित है कि कभी न कभी हमने पूर्व में गाय को प्रत्यक्ष में देखा हुआ होता है, तभी उसका संस्कार या Idea बनता है कि गाय नाम का पशु ऐसा होता है। कोई भी वस्तु की संकल्पना स्वयं की उत्पत्ति में उसके कारणभूत पदार्थ की ही अपेक्षा रखती है, यथा– अग्नि से उत्पन्न धुआँ अग्नि की ही अपेक्षा रखता है, सलिल आदि की अपेक्षा कभी भी नहीं रखता। यदि अनुगताकारता अर्थात् सदृशाकारता का बोध मात्र वासनाजन्य ही हो, तो फिर सदृशाकारता का बोध सिर्फ वासना की ही अपेक्षा रखेगा ? किन्तु ऐसा नहीं होता है, जब दो वस्तुओं की सत्ता होगी, तभी उसमें समानता या भिन्नता का बोध हो सकता है। प्रत्येक तुलनात्मक–वस्तु में कथंचित्–समानता भी रहती है, तो कथंचित्–भिन्नता भी रहती है। दो वस्तुओं में ही हम अन्तर या समानता ज्ञात कर सकते हैं। हमने एक जैसी दो गायें देखीं, उन दोनों में गोत्व की अपेक्षा से समानता (सदृशता–अनुगताकारता) है, तो अश्व, महिष आदि की अपेक्षा से अथवा सफेद, काली आदि की अपेक्षा से उनमें भिन्नता भी है। आप बौद्ध यह बताइए कि क्या वासनाजन्य ज्ञान में अनुगताकारता का बोध यथार्थ–बोध हो सकता है ? क्या पदार्थ की भिन्नता एवं समानता का बोध हो सकता है? संस्कार क्या शून्य से बन जाएगा ? अन्ततः तो, उसके पीछे कोई न कोई सत्ता तो होना ही चाहिए, इसलिए बाह्यार्थ को आप अस्वीकार नहीं कर सकते। वासनाजन्य ज्ञान में भी कहीं न कहीं बाह्यार्थ का यथार्थ–बोध रहा हुआ है। अनेकों में जो सदृशता है, उसको आप बौद्ध वासना कहते हैं और हम जैन उसे सामान्य कहते हैं। सामान्य को छोड़कर मात्र विशेष से ही पदार्थ का यथार्थ–बोध संभव नहीं है। अन्तर्वर्ती वस्तु (चैतसिक–संकल्पना) में ही सदृशाकारता का बोध हो सकता है, किन्तु बहिर्वर्ती वस्तु अथवा बाह्यार्थ में सदृशाकारता का बोध संभव नहीं है, अतः,

अनुगताकारता का बोध वासनाजन्य ही है– यह आपका कथन युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होता है।[398]

पुनः, जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों के समक्ष यह समस्या रखते हैं कि यदि आप अनुगताकारता (सदृशाकारता) का बोध मात्र वासनाजन्य ही मानते हैं, तो यह बताइए कि क्या अतीत में अनुभवित बोध ही वासनाजन्य ज्ञान का विषय बनता है ? क्योंकि कोई भी बोध, जो पूर्व में अनुभवित हो, जाना हुआ हो, अथवा सुना हुआ हो, वही हमारे मानसिक–प्रतिबिंब (अनुगताकारता) का विषय बन सकता है। अनुगत–आकारता का बोध यदि पूर्व में अनुभवित हो, तो यही वह कालान्तर में वासनाजन्य–ज्ञान का विषय बन सकता है, किन्तु आप बौद्ध तो न तो सामान्य की सत्ता को स्वीकार करते हो, और न बाह्यार्थ की सत्ता को, तो फिर वन्ध्या–पुत्र के समान जिसका अस्तित्व ही नहीं है, वह क्या उत्पन्न करेगा ? किसी भी पदार्थ का कौनसा आकार बनेगा ? इसकी मानसिक–संकल्पना भी तभी तो यथार्थ होगी, जब आप बाह्यार्थ की तथा सामान्य की सत्ता को भी स्वीकार करेंगे। सामान्य के अनुभव के बिना अनुगत–आकार का बोध भी संभव नहीं है, अतः, वासनाजन्य ज्ञान से अनुगत–आकार का बोध हो जाता है– यह आपका कथन सर्वथा खण्डित हो जाता है।[399]

पुनः, जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों से यह प्रश्न करते हैं कि यदि आप अनुगताकारता (सामान्य) का बोध वासनाजन्य ही स्वीकार करते हैं, तो यह बताइए कि क्या यह वासना तथाभूत–प्रत्यय को उत्पन्न करती है? दूसरे शब्दों में, यह गाय है, यह गाय है– इस प्रकार, के अनुगत–आकाररूप बोध को उत्पन्न करती हैं। दूसरे शब्दों में, वासना किसी न किसी पदार्थ को ही विषय बनाकर तथाभूत–प्रत्यय को उत्पन्न करती है ? किंवा, निमित्त कारण से तथाभूत–प्रत्यय को उत्पन्न करती है? यदि आप प्रथन पक्ष को स्वीकार करते हैं कि वासना तथाभूत–प्रत्यय को विषय बनाती है और तथाभूत–प्रत्यय को विषय बनाती हुई वासना तथाभूत–प्रत्यय को उत्पन्न करती है, यदि आप यह कहते हैं कि वासना किसी पदार्थ (विषय) से बनती है और वह पदार्थ अपने ही समान किसी तथाभूत–प्रत्यय को उत्पन्न करता है, तो पदार्थ तथा वह तथाभूत–प्रत्यय विषयभूत–वासना का ज्ञान कराता है। तात्पर्य यह है कि वासना सर्वप्रथम

---

398 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभूसरि, पृ. 695, 696

399 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभूसरि, पृ. 696

किसी बाह्यार्थ को विषय बनाती है और उस विषय (पदार्थ) से तथाभूत–प्रत्यय को उत्पन्न करती है और वह तथाभूत–प्रत्यय वासना का ज्ञान कराता है, तो जैन कहते हैं कि आपके इस प्रकार, के कथन में तो वासना और सामान्य में कोई अन्तर ही नहीं रहा, क्योंकि पदार्थ में रहा हुआ सामान्य ही तथाभूत–ज्ञान को उत्पन्न करता है। इसका कारण यह है कि सामान्य सदृशाकारता (अनुगताकारता) रूप होने से वह सामान्य ही तथाभूत–ज्ञान को उत्पन्न करता है और वह अनुगताकारतारूप उत्पन्न ज्ञान ही सामान्य का बोध कराता है, इसलिए हम जैन कहते हैं कि तथाभूत–प्रत्यय सामान्य का ज्ञान कराता है, तो वहीं आप बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि वह तथाभूत–प्रत्यय वासना का ज्ञान कराता है, अतः, वासना और सामान्य– इन दोनों में नाममात्र का ही अंतर है। वस्तुतः, आपने कहीं न कहीं बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार कर ही लिया है। बाह्यार्थ को या सामान्य को आप नकार नहीं सकते। बाह्यार्थ को स्वीकार किए बिना कोई भी पदार्थ वासनाजन्य नहीं हो सकता, इसलिए वासना सामान्य से पृथक् नहीं है, अतः, आपको सामान्य की सत्ता को स्वीकार कर लेना चाहिए।[400]

जैन–दार्शनिक बौद्धों के दूसरे पक्ष के संबंध में कहते हैं कि यदि आप यह कहते हैं कि निमित्त–कारण द्वारा वासना तथाभूत–प्रत्यय को उत्पन्न करती है, तो वह वासना तो निमित्त–कारण द्वारा तथाभूत–प्रत्यय (मानसिक–संकल्पना) को उत्पन्न कराकर कुम्भकार के दण्डादि के समान पृथक् हो जाएगी ? तो वासना से उत्पन्न तथाभूत–प्रत्यय से कौनसा ज्ञान उत्पन्न होगा ? तथाभूत–प्रत्ययरूप–ज्ञान तो एक प्रकार का अनुगताकार–रूप ज्ञान होता है, उससे कौनसा पदार्थ ज्ञेय बनेगा ? अनुगताकार से जो ज्ञान उत्पन्न हुआ है, उससे किसी न किसी पदार्थ का ज्ञान तो होना ही चाहिए, क्योंकि निर्विषयक–ज्ञान तो कभी भी होता नहीं है। ज्ञान का कोई न कोई विषय तो होना चाहिए। तथाभूत–प्रत्यय (अनुगताकार–सदृशाकार) रूप ज्ञान भी एक प्रकार का ज्ञान ही तो है। यदि तथाभूत–प्रत्यय से कोई ज्ञान शक्य ही न हो, तो फिर आप बौद्धों को 'सदृश–परिणामरूप सामान्य' को तो मानना ही पड़ेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि तथाभूत–प्रत्यय ''सदृश परिणाम'' अर्थात् समानता के बोध से उत्पन्न होता है, इतना तो आपको स्वीकार करना ही पड़ेगा। सामान्य को अन्य की व्यावृत्तिरूप या वासना–रूप मानने से तो पूर्वोक्त दोष ही उत्पन्न

---

[400] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 696

होंगे, अतः, 'सदृश परिणामस्वरूप सामान्य' को छोड़कर अन्य कोई भी विषय अनुगताकाररूप प्रत्यय का विषय ही नहीं बन सकता, इसलिए तथाभूत-प्रत्यय को उत्पन्न करने में निमित्त कारण 'वासना' नहीं, अपितु 'सामान्य' ही है। इस प्रकार, से, तथाभूत-पदार्थ के ज्ञान में सामान्य ही कारण होता है, साथ ही तथाभूत-प्रत्यय के ज्ञानात्मक होने से 'सामान्य' की ही सिद्धि होती है।[401]

जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्ध-मत की समीक्षा करते हुए पुनश्च कहते हैं कि आप यह बताइए कि अनुगताकार का बोध यदि अन्य-व्यावृत्तिरूप है, तो वह अन्य-व्यावृत्ति अपने-आप में असमान आकार वाले पदार्थों की होती है, या समान आकार वाले पदार्थों की होती है ? गो, अश्व, महिष, हाथी आदि में अन्य की व्यावृत्ति असमान आकार वाले पदार्थों से होती है ? या समान आकार वाले पदार्थों से होती है ? यदि आप प्रथम पक्ष में मानते हो कि अन्य की व्यावृत्ति असमान आकार वाले पदार्थ में होती है, तो फिर तो सबकी व्यावृत्ति भिन्न-भिन्न होने से अनेक व्यावृत्तियाँ होंगी। इस प्रकार,, व्यावृत्ति-विशेष बन जाएगी, तो फिर पदार्थ की यथार्थता का बोध कैसे होगा? अतः,, असमान आकार मानने से तो अतिव्याप्ति-दोष उत्पन्न हो जाएगा। दूसरे, यदि अन्य-व्यावृत्ति को समान आकार वाली मानेंगे, तो सब में समानता (सदृशता-परिणाम) होने के कारण आपको 'सामान्य' को स्वीकार करना होगा। इस प्रकार,, आप बौद्धों को तो सदृशपरिणामत्वरूप सामान्य को तो मानना ही पड़ेगा।[402]

जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्ध-मत की समीक्षा करते हुए पुनः यह प्रश्न उठाते हैं कि आप जो प्रत्यासत्ति-संबंध मान रहे हैं, वह प्रत्यासत्ति-संबंध क्या है ? (प्रत्यासत्ति-संबंध एक विशेष प्रकार का संबंध होता है)। आप सदृशता के आधार से प्रत्यासत्ति-संबंध मानते हैं ? या विसदृशता के आधार से प्रत्यासत्ति-संबंध मानते हैं ? अथवा आप समान आकार वाले में प्रत्यासत्ति-संबंध मानते हैं ? या असमान-आकार वाले में प्रत्यासत्ति-संबंध मानते हैं ? यदि आप यह कहते हैं कि हम तो समान आकार वाले (सजातीय) एवं असमान आकार वाले (विजातीय)- दोनों में प्रत्यासत्ति-संबंध मानते हैं, तो खुर, चार पैर आदि की अपेक्षा से गाय, ऊँट, महिष आदि में समानता होती है। इसी प्रकार, गो-जाति में काली, श्वेत,

---

401 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभूसरि, पृ. 696, 697

402 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभूसरि, पृ. 696

शबल (चितकबरी) आदि की अपेक्षा से भिन्नता होकर भी गोत्व की अपेक्षा से सदृश–परिणाम को भी धारण करती है। यही प्रत्यासत्ति–संबंध ही समान–आकार वाले में सदृशता के बोध को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार, अतदात्मक अर्थात् असमान आकार वाले में भी, जैसे– गाय, अश्व, महिष आदि असमान आकार वाले में भी यही प्रत्यासत्ति–संबंध सदृश–परिणामता को भी उत्पन्न करता है, क्योंकि वे सभी पशुजाति के भी सदस्य हैं। तात्पर्य यह है कि आप बौद्ध जो यह तर्क देते हैं कि चाहे समान आकार वाले हो, चाहे असमान आकार वाले सभी पदार्थों में प्रत्यासत्ति–संबंध के कारण सदृश–परिणामता का बोध होता है। दूसरे शब्दों में, आप बौद्धों का मंतव्य यह है कि जो खुर, ककुद, सास्नादि–रूप प्रत्यासत्ति से सदृश–परिणाम का बोध होता है, उसी प्रकार उसी प्रत्यासत्ति–संबंध से विसदृशता का भी बोध होता है। चाहे समान आकार वाले हो या असमान–आकार वाले, सभी पदार्थों में सदृश–परिणामता का बोध होता है। आपका इस प्रकार, का कथन युक्तिसंगत सिद्ध नहीं हो सकता है। परिणामस्वरूप, आप बौद्धों ने तो संसार की प्रत्येक वस्तु, चाहे वह जड़ हो, चाहे चेतन, सभी में एकरूपता मान ली, जबकि प्रत्यासत्ति–संबंध में तो सदृशता एवं विसदृशता– दोनों धर्म रहे हुए हैं। खुर, ककुद, सास्ना आदि की अपेक्षा से गायों में सदृशता भी है, तो काली, गोरी, पीली, चितकबरी की अपेक्षा से उसी गो–जाति में भिन्नता भी है। इसी प्रकार, गाय, महिष, ऊँट, गधा, अज, मनुष्य आदि में प्राणीत्व (आत्मा) के अस्तित्व की अपेक्षा से सदृशता है, तो वहीं सभी में शरीर–रचना, रंग आदि की अपेक्षा से भिन्नता भी है। सभी पदार्थों में एकरूपता (सदृश–परिणामता) स्वीकार करने में तो जड़ और चेतन के मध्य रहा हुआ भेद भी समाप्त हो जाएगा, संसार के सभी पदार्थ एक ही हो जाएंगे। फलितार्थ यह है कि आपके इस कथन से न तो आपके मत की सिद्धि होती है और न जैनमत की सिद्धि होती है, अपितु एक तीसरे ही मत अद्वैतवाद की पुष्टि होती है, क्योंकि अद्वैतवाद तो संसार की प्रत्येक वस्तु, चाहे वह जड़ हो, चाहे चेतन, सबको ब्रह्मस्वरूप मानता है। उनके अनुसार ब्रह्म ही सत् है, ब्रह्म के अतिरिक्त पदार्थ नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। ब्रह्माद्वैतवादी तो कहते हैं कि जिस प्रत्यासत्ति–संबंध से संसार के पदार्थ चेतन, अचेतन आदि भावों को प्राप्त होते हैं, उनका वह जड़–चेतन–स्वरूप वास्तविक नहीं है, क्योंकि वे मूलतः तो ब्रह्मस्वरूप हैं। ब्रह्म के कारण हमें चेतन–अचेतन पदार्थों का प्रतिभास (आभास) होता है। ब्रह्म के अतिरिक्त जड़–चेतन पदार्थ की कोई स्वतंत्र

सत्ता नहीं है। संसार के प्रत्येक पदार्थ एक समान हैं। एक ही ब्रह्म में अनेकता प्रतिबिंबित होती है। इस प्रकार, तो, आप ब्रह्माद्वैतवादियों के कथन को मिथ्या नहीं कह सकते, इससे तो उनका कथन सत्य ही सिद्ध होता है। आप बौद्धों की यह मान्यता ब्रह्माद्वैतवादियों के पक्ष को ही सिद्ध करती है।[403]

बौद्ध – ब्रह्माद्वैतवादी–मत का खण्डन करते हुए बौद्ध–दार्शनिक जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि से कहते हैं कि आपके द्वारा हमारे मत को ब्रह्माद्वैतवादियों के समान बताना समुचित नहीं है, क्योंकि जब जड़–चेतनरूप पदार्थों से भिन्न ब्रह्म नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है और जब ब्रह्म नाम का कोई तत्त्व ही नहीं है, तो फिर ऐसा कैसे कहा जा सकता है कि संसार के जड़ और चेतन–रूप सभी पदार्थ वास्तविक नहीं हैं, अथवा ब्रह्म का प्रतिभास (आभास) मात्र हैं, अतः, यह आप जैनों द्वारा हमारे मत को ब्रह्माद्वैतवादियों के समान बताना सर्वथा उचित नहीं है।[404]

जैन – इस पर, जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि विशेष के पक्षधर बौद्ध–दार्शनिकों की आलोचना करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार ब्रह्माद्वैतवाद के खण्डन में आपने जो यह तर्क दिया कि ब्रह्म नाम की कोई वस्तु नहीं है, उसी प्रकार आपके विरोध में हम जैनों का मंतव्य है कि सदृश–परिणामरूप सामान्य के बिना भी संसार में स्वलक्षण नाम का कोई पदार्थ ही नहीं है, तो फिर स्वलक्षण (पदार्थ का स्वलक्षण) मात्र अन्य–व्यावृत्तिरूप विशेष ही वास्तविक पदार्थ है और इस विशेष से ही सदृश–परिणाम (सामान्य) प्रतिभासित होता है– ऐसा आप (बौद्ध) का कथन भी तो उचित नहीं है। आप बौद्धों द्वारा कहा गया था कि ब्रह्म नाम का कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है। सत्‌रूप (भावरूप) ब्रह्म के आधार पर ही चेतन–अचेतनरूप बाह्य–पदार्थ प्रतिभासित होते हैं– ऐसा आप (बौद्ध) मानते नहीं हैं, क्योंकि आपके अनुसार ब्रह्म का अस्तित्व ही नहीं है, तो हम जैनों का फिर प्रश्न है कि जड़–चेतन पदार्थ किसके आधार पर प्रतिभासित होते हैं ? यदि पदार्थ 'सदृश–परिणामशून्य' अर्थात् सामान्य से रहित मात्र विशेष–रूप ही हैं, तो फिर सदृश–परिणाम का प्रतिभास किसमें होगा ? दूसरे, सदृश–परिणाम आभासमात्र है, किंतु ऐसा भी नहीं है। संसार में सदृश–परिणाम की शून्यता भी नहीं है, इसलिए सदृश (सामान्य) का जो

---

[403] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभूसरि, पृ. 698

[404] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभूसरि, पृ. 699

बोध होता है, वह आभासमात्र नहीं है, परंतु वास्तविक ही है। सदृश–परिणाम से शून्य (रहित) ऐसे विशेष पदार्थ का कोई स्वलक्षण बनता हो– ऐसा नहीं है, क्योंकि पदार्थ का विशेष लक्षण भी सामान्य के आधार पर ही प्रतिभासित होता है। आप बौद्ध सदृश–परिणाम (सामान्य) के बिना मात्र विशेषयुक्त पदार्थ को सिद्ध नहीं कर सकते हैं। विशेष में सामान्य प्रतिभासित भी नहीं होता है। सामान्य की तो स्वतंत्र सत्ता है। पदार्थ सर्वप्रथम सामान्य रूप में ही जाना जाता है, तत्पश्चात् ही वह विशेष रूप में जाना जाता है। दूसरे, आप तो संसार के प्रत्येक पदार्थ को शून्यरूप मानते हैं, तो विशेष को भी शून्यरूप ही मानना होगा, अतः, विशेष की स्वतंत्र सत्ता कैसे सिद्ध होगी ?[405]

बौद्ध – सामान्य का खण्डन करते हुए पुनः बौद्ध–दार्शनिक जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि से कहते हैं कि हमारे मत के अनुसार प्रतिक्षण विनश्वर पदार्थ विशेष रूप के ही लक्षित होते हैं। सामान्य तो विशेष में ही प्रतिभासित होता है। विशेष से अतिरिक्त सामान्य नाम की कोई सत्ता ही नहीं है। पदार्थ का लक्षण विशेष रूप ही है। जैनों का आपसे यह प्रश्न है कि आपके मत में पदार्थ का वास्तविक स्वरूप क्या है ?[406]

जैन – जैन–दार्शनिक बौद्ध–दार्शनिकों से प्रश्न करते हैं कि पदार्थ न तो एकान्त–सामान्यरूप होता है और न एकान्त–विशेषरूप होता है। दूसरे शब्दों में, पदार्थ सामान्य–विशेषात्मक होता है। प्रत्येक पदार्थ में कथंचित्–भिन्नता भी है, तो कथंचित्–समानता भी है। यदि पदार्थ विशेष रूप में ही लक्षित होगा, तो पदार्थ की निश्चयात्मकता सिद्ध नहीं होगी, यथा– मनुष्य में मनुष्यत्व, गो में गोत्व, पट में पटत्व, घट में घटत्व आदि सामान्य धर्म रहा हुआ है, तत्पश्चात् विशेष रूप में यह जाना जाता है, जैसे– यह मनुष्य भारतीय है, यह गाय काली है, यह पट श्वेत है, यह घट मिट्टी का है। इस प्रकार,, पदार्थ उभयात्मक–धर्म से युक्त होता है। जब दो गायों में या दो मनुष्यों में भिन्नता दिखानी हो, तो वहाँ विशेष धर्म ही महत्वपूर्ण होता है, जैसे– यह गाय इस गाय से भिन्न है। यह मनुष्य पाश्चात्य है और यह भारतीय है आदि।[407]

---

405 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभूसरि, पृ. 699

406 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभूसरि, पृ. 699

407 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभूसरि, पृ. 699

बौद्ध – बौद्ध–दार्शनिक पुनः अपने कथन की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। प्रतिक्षण नई–नई (अपूर्व–अपूर्व) पर्यायें उत्पन्न होती रहती हैं। प्रतिक्षण बदलती नई पर्याय विशेष रूप में ही लक्षित होती है। कोई भी एक गाय दूसरी गाय से विसदृश (विजातीय, असमान आकार वाली) होने से भिन्न–भिन्न ही होती है और भिन्न होना– यह विशेष स्वरूप ही पदार्थ का स्वलक्षण है। इस प्रकार,, विसदृशाकारता ही पदार्थ का यथार्थ लक्षण है। जिस प्रकार जड़ और चेतन, अर्थात् जड़ता और चेतन्ता में विसदृशता है, उसी प्रकार अत्यन्त भिन्न पदार्थों में 'सदृश–परिणामता' (सामान्य) मानना उचित नहीं है, इसी प्रकार एक गाय दूसरी गाय से भिन्न होने से विसदृश ही होती है, दोनों गायों में सदृश–परिणामता मानना युक्तिसंगत नहीं है।[408]

जैन – बौद्धों के इस कथन पर जैनाचार्य बौद्धों से प्रश्न करते हैं कि आप एक तरफ तो कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है और दूसरी तरफ आप विसदृशता को स्वीकार करते हैं। जब आप कहते हैं कि प्रत्येक पदार्थ विनश्वर स्वभाव वाला है, प्रतिक्षण नई–नई पर्याय उत्पन्न होती हैं, तो फिर यह गाय इस गाय से भिन्न है– ऐसी विसदृशता भी कैसे सिद्ध होगी ? क्योंकि प्रतिक्षण बदलती पर्याय एक–दूसरे के साथ भिन्नता का बोध भी कैसे करा सकेगी ? प्रतिसमय परिवर्तित होती हुई पर्याय को किस शब्द से वाच्य करेंगे ? उसे कौनसे शब्द का वाच्य बनाएँगे ? इस क्षण जो पर्याय है, वह अगले क्षण नहीं रहेगी, अगले क्षणवाली पर्याय उसके अगले क्षण नहीं रहेगी, तो प्रतिसमय बदलती हुई पर्यायों के लिए प्रत्येक नए–नए शब्दों का प्रयोग करना पड़ेगा। पुनः, जैन–दार्शनिक कहते हैं कि जैसे कोई ज्ञात विषय विचित्राकारता वाला होता है तथा वह सविकल्पक भी होता है और निर्विकल्पक भी होता है, उसी प्रकार संसार की प्रत्येक वस्तु को अपेक्षा–भेट से सामान्य–विशेषात्मक (उभयात्मक) मानने में भी कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता है। जिस प्रकार काले, नीले, लाल, श्वेत रंग का अलग–अलग ज्ञान होता है, उसी प्रकार विभिन्न विरोधी रंगों का ज्ञान एक ही चित्र में एक साथ भी होता है, उसमें कोई विरोध नहीं होता है। पुनः, एक ही ज्ञान अपने प्रथम उत्पत्तिकाल में बिना विकल्प के उत्पन्न होता है और वही ज्ञान कालान्तर में विकल्परहित बन जाता है। इस प्रकार,, एक ही ज्ञान में निर्विकल्पाकारता और सविकल्पाकारता– दोनों प्रकार का ज्ञान

---

[408] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभूसरि, पृ. 699, 700

होता है। इसमें किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं है। फलतः, प्रत्येक पदार्थ में सामान्य (सदृश–परिणामता) और विशेषता (विसदृश–परिणामता)– दोनों संभव हो सकते हैं, इन दोनों में किसी प्रकार का कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता है। किसी भी एक विवक्षित पदार्थ में यह वस्तु अन्य वस्तु से व्यावृत्त है, भिन्न है– इस प्रकार, की व्यावृत्ति में हेतुभूत–विसदृशाकारता होती है, उसी प्रकार यह वस्तु अन्य वस्तु से या अन्य धर्म की अपेक्षा से सदृश–परिणाम वाली है– ऐसा बोध भी हो सकता है। सारांश यही है कि आप बौद्ध–दार्शनिकों को पदार्थ की सदृश–परिणामता को भी स्वीकार कर लेना चाहिए, अर्थात् सामान्य की और बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार कर लेना चाहिए।[409]

बौद्धों के द्वारा सामान्य को काल्पनिक मानने की समीक्षा

भारतीय–दर्शनों में न्याय–वैशेषिक–दर्शन सामान्य और विशेष को तत्त्वरूप में स्वीकार करता है। उनके अनुसार, सामान्य और विशेष की पृथक्–पृथक् सत्ता है, जबकि जैन–दर्शन सामान्य और विशेष में उनकी सामान्य और विशेष को स्वीकार करते हुए भी पदार्थ से भिन्न उनकी सत्ता को नहीं मानता है। जैन–दार्शनिकों के अनुसार, वस्तु या सत्ता सामान्य–विशेषात्मक है। जैन–दार्शनिकों का कहना है कि जो सामान्य है, वही विशेष है और जो विशेष है, वही सामान्य है। सामान्य और विशेष वस्तु–सत् नहीं हैं, किन्तु वस्तु का स्वरूप अवश्य हैं और इसलिए वे वस्तु से अभिन्न भी हैं और इसी आधार पर उनकी मान्यता है कि वस्तु सामान्य–विशेषात्मक है। द्रव्यरूप से वस्तु सामान्य है, क्योंकि द्रव्य त्रैकालिक है, किन्तु पर्यायरूप से वस्तु विशेष ही है, क्योंकि पर्याय क्षणिक हैं। द्रव्य गुण–पर्यायात्मक या उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक है, अतः, उसमें सामान्य और विशेष– दोनों ही निहित हैं।

इसके विपरीत, बौद्ध–दार्शनिकों की मान्यता यह है कि वस्तु क्षणिक है, प्रति समय बदलती रहती है, अतः, वे क्षणिक परिवर्तनशील वस्तु को विशेष ही मानते हैं। उनके अनुसार, सामान्य तो मात्र काल्पनिक है।

बौद्धदर्शन के चार सम्प्रदाय हैं– 1. सौत्रान्तिक 2. वैभाषिक 3. योगाचार या विज्ञानवाद, 4. माध्यमिक या शून्यवादी। इन चारों सम्प्रदायों में यद्यपि सौत्रान्तिक और वैभाषिक बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार

---

[409] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभूसरि, पृ. 700

करते हैं, किन्तु उनके अनुसार, सभी पदार्थ क्षणिक होने के कारण क्षणजीवी होते हैं। सामान्य तो सार्वकालिक और सार्वदेशिक होता है। उनकी मान्यता है कि संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो त्रिकाल में परिवर्तन को प्राप्त ही न हो। यदि सभी पदार्थ परिवर्तनशील और क्षणिक हैं, तो फिर सार्वदेशिक और सार्वकालिक–सामान्य की कोई सत्ता ही नहीं होगी। इसी प्रकार, योगाचार या विज्ञानवादी और माध्यमिक या शून्यवादी ही बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं। जब बाह्यार्थ की कोई सत्ता ही नहीं है, तो फिर सामान्य की कल्पना ही निरर्थक है। इस प्रकार,, अन्य दार्शनिक–प्रश्नों पर मतभेद होते हुए भी सभी बौद्ध–दार्शनिक इस संबंध में एकमत हैं कि सामान्य मात्र काल्पनिक है, वह वास्तविक नहीं है। यही कारण था कि बौद्ध–न्याय के सभी ग्रन्थों में सामान्य को वस्तुसत् के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है, अपितु वे सामान्य को सादृश्य के रूप में ही स्वीकार करते हैं। हेतुबिन्दु की टीका में कार्यहेतु–निरूपण नामक तीसरे अध्याय में अर्चट् ने सामान्य धर्म की विशेष रूप से चर्चा की है।[410] बौद्ध–दार्शनिक यद्यपि अनुमान का विषय सामान्य को स्वीकार करते हैं, किन्तु वे परमार्थतः सामान्य की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार, सामान्य काल्पनिक ही है। काल्पनिक सत् ही है, यथार्थ नहीं है। उन्होंने स्वलक्षण को प्रत्यक्ष कहा है और सामान्य लक्षण को अनुमान का विषय बताया है, किन्तु अनुमान को कल्पनाजन्य मानने के कारण वे सामान्य को भी कल्पनारूप ही मानते हैं। बौद्ध–दार्शनिकों का स्पष्ट रूप से कहना है कि सामान्य प्रतीति का विषय नहीं है।[411]

जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि ने रत्नाकरावतारिका में बौद्धों द्वारा सामान्य को काल्पनिक मानने की अवधारणा की विस्तृत समीक्षा की है और यह बताने का प्रयास किया है कि यदि बौद्धदर्शन सामान्य को मात्र काल्पनिक मानता है, तो ऐसी स्थिति में उसके दर्शन में अनुमान की प्रमाणता भी सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि अनुमान सामान्य–बोध या व्याप्ति–ज्ञान पर निर्भर करता है। व्याप्ति–ज्ञान के अभाव में अनुमान–प्रमाण भी नहीं रह पाएगा, अतः, अनुमान को प्रमाण मानने पर सामान्य को स्वीकार करना होगा, क्योंकि व्याप्ति, जिस पर अनुमान आधारित है, वह सामान्य लक्षणवाली भी है। सामान्य को अस्वीकार करने पर व्याप्ति का ग्रहण नहीं होगा और

---

410 देखें – हेतुबिन्दु टीका, पृ. 150, 151

411 देखं – हेतुबिन्दु टीका, सामान्यं न प्रतीयते, पृ. 23

व्याप्ति के आधार पर अनुमान भी नहीं होगा। यही कारण है कि रत्नप्रभसूरि ने बौद्धों द्वारा सामान्य को मात्र काल्पनिक मानने की अवधारणा की समीक्षा की है।

बौद्धदर्शन की विशेष की अवधारणा की समीक्षा

प्रमाणनयतत्त्वालोक के पंचम परिच्छेद में विशेष के दो प्रकार बताते हुए यह कहा गया है कि गुण और पर्याय की अपेक्षा से विशेष दो प्रकार का होता है। इसमें गुण द्रव्य का सहभावी–धर्म है और पर्याय द्रव्य का क्रमभावी–धर्म माना गया है। इस सूत्र की व्याख्या में रत्नाकरावतारिका में नैयायिकों और बौद्ध–मंतव्यों की समीक्षा की गई है।[412]

बौद्ध–दार्शनिक जैन–मत की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि सामान्यतया द्रव्य सहकारी–कारणों की उपस्थिति में ही कार्य करता है, किन्तु सहकारी–कारणों के अभाव में भी वह जिससे निवृत्ति को प्राप्त नहीं होता है, वही उसका स्वभाव कहा जाता है, क्योंकि स्वभाव का परित्याग या वियोग संभव नहीं है। बौद्ध यह मानते हैं कि सहकारी–कारणों के नहीं होने पर भी, अर्थात् उनके अभाव में धर्मी–पदार्थ अपना कार्य नहीं कर सकता है। इसके विपरीत, यदि यह मानें कि सहकारी–कारणों के नहीं होने पर भी धर्मी नित्य–पदार्थ अपना कार्य कर सकता है, तो फिर उसे सहकारी–कारणों के साथ मिलकर कार्य करते समय स्व–स्वभाव का अर्थात् नित्यता–लक्षण का परित्याग करना पड़ेगा और यदि वह अपने नित्य स्व–स्वभाव का परित्याग करता है, तो वह नित्य नहीं हो सकता है, अतः, हम बौद्ध यह मानते हैं कि सहकारी–कारणों के अभाव में कोई नित्य–धर्मी पदार्थ भी कार्य कर नहीं सकता है–, इस मान्यता में कोई दोष नहीं है।[413]

जैन – इसके उत्तर में, जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि सहकारी–कारणों के समूह की उपस्थिति में ही कार्य करने के स्वभाव–विशेष वाला पदार्थ सहकारी–कारणों का त्याग करता नहीं है, अपितु उन सहकारी–कारणों को मजबूती से पकड़ कर रखता है, क्योंकि

---

412 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 730

413 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 737, 738

यदि वह सहकारी–कारणों को छोड़ दे, तो स्वभाव–हानि का प्रसंग उपस्थित होता है।[414]

यह ठीक है कि यदि स्वभाव का नाश हो जाए, तो धर्मी पदार्थ भी नित्य नहीं रहेगा और अनित्य हो जाएगा, किन्तु हम जैन–दार्शनिक स्वभाव का नाश मानते नहीं हैं। कोई भी पदार्थ सहकारी–कारणों के होने पर ही कार्य करता है और सहकारी–कारणों का अभाव होने पर कार्य नहीं करता है– ऐसा अन्वयव्यतिरेकरूप उभय–आलंबन वाला चौथा पक्ष स्वीकार करने पर तो पदार्थ के विरुद्ध–धर्मी होने का दोष आएगा, क्योंकि ऐसी स्थिति में पदार्थ को नित्य–स्वभाव वाला और सहकारी–कारणों की अपेक्षा रखने वाला– ऐसे विरोधी स्वभाव वाला मानना होगा। दूसरी ओर, यदि यह माना जाए कि पदार्थ कार्यकारी है और सहकारी–कारणों सहित है, तो फिर सहकारी–कारणों का अभाव कैसे संभव है ? सहकारी–कारणों और पदार्थों में भेद मानने पर पदार्थ की नित्यता की हानि होगी।[415]

बौद्ध – इस पर, बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि हम तो यह मानते हैं कि धर्मी पदार्थ किसी काल–विशेष में सहकारी–कारणों से युक्त होता है और वही पदार्थ किसी काल–विशेष में सहकारी–कारणों से रहित भी होता है और इस प्रकार,, काल–भेद के आधार पर सहकारी–कारणों के सहित और रहित होने से पदार्थ अनित्य ही है।[416]

जैन – इस पर, जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि आप बौद्ध–दार्शनिकों की यह बात उचित नहीं है। दोनों ही कालों में धर्मी द्रव्य सदैव एक ही रहता है। काल–भेद के होने पर, अथवा सहकारी–कारणों के संयोग और वियोग की अवस्था में धर्मी द्रव्य तो सर्वथा एक ही रहता है। धर्मी द्रव्य में सहकारी–कारणों का संयोग और वियोग होता है, किन्तु उससे उसका स्व–स्वरूप अप्रभावित रहता है, आपका यह मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि धर्मी द्रव्य में सहकारी–कारणों का संयोग और वियोग मानने पर धर्मी द्रव्य एक स्वभाव वाला नहीं रहेगा और इस आधार पर वह वस्तुतः अनित्य ही सिद्ध होगा। यदि आप (बौद्ध) सहकारी–कारणों के संयोग और वियोग में धर्मी द्रव्य में भेद मानेंगे, तो एक काल में धर्मी द्रव्य सहकारी–कारणों के संयोग वाला होगा और दूसरे काल में

---

414 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 738

415 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 739

416 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 739

सहकारी–कारणों के अभाव वाला होगा। इस प्रकार,, धर्मी–द्रव्य एक नहीं रहेगा और इस आधार पर वह नित्य भी नहीं होगा।[417]

बौद्ध – इसके प्रत्युत्तर में, प्रज्ञाकर गुप्त का कथन है कि धर्मी द्रव्य धर्मों से अत्यन्त भिन्न होने से धर्मों के बदलने पर धर्मी द्रव्य बदलता नहीं हैं, वह दोनों कालों में एक ही रहता है, अतः, धर्मी द्रव्य में भेद बताकर जो आप हम पर एकान्त–अनित्यता का दोष लगाते हैं, वह उचित नहीं है।[418]

जैन – इसके प्रत्युत्तर में, जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि धर्म से धर्मी द्रव्य एकान्त–भिन्न नहीं होता है। जो आप (बौद्ध) एकान्तभेद की कल्पना करते हैं, वह उचित नहीं है। धर्म और धर्मी में एकान्तभेद नहीं है, उनमें कथंचित्–भेद और कथंचित्–अभेद है। सहकारी–कारण की उपस्थिति और अनुपस्थिति में भी धर्मी–द्रव्य में अर्थक्रियाकारित्व नामक स्वभाव तो रहता ही है। उसके उस स्वभाव का नाश नहीं होता है। यह बात भिन्न है कि कारण सामान्य–साकल्य होने पर क्रिया के परिणाम होते हैं और कारण–साकल्य अर्थात् सहकारी–कारणों के अभाव में क्रियारूप–परिणाम होते हैं, किन्तु इससे द्रव्य के क्रिया–सामर्थ्य या अर्थक्रियाकारित्व में कोई भेद नहीं होता है। धर्मीद्रव्य में जो कर्त्तृतव–स्वभाव है, वह तो सहकारी–कारणों की उपस्थिति में और उनकी अनुपस्थिति में– दोनों ही अवस्थाओं में रहता है। अपने क्रियाकारित्वरूप स्वभाव की अपेक्षा से धर्मीद्रव्य नित्य है और सहकारी–कारण–साकल्य की उपस्थिति या अनुपस्थिति की अपेक्षा से वह भिन्न–भिन्न होने से वह कथंचित्–भेदरूप वाला, अर्थात् अनित्य भी है।[419]

बौद्ध – इसके प्रत्युत्तर में, अपने पक्ष के बचाव के लिए यदि बौद्ध–दार्शनिक यह कहते हैं कि सहकारी–कारण–साकल्य और सहकारी–कारण–वैकल्य– ऐसे परस्पर विरुद्ध धर्मो का योग होने से धर्मी एकान्त–नित्य नहीं रह सकता है, अर्थात् पूर्वकाल में रहे हुए सहकारी–कारण–वैकल्य से और परवर्ती–काल में होने वाले

---

417 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 739

418 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 740

419 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 740

सहकारी–कारण–साकल्य की उपस्थिति होने पर धर्मी में भेद मानने का प्रसंग उपस्थित होगा।[420]

जैन – इस पर, जैन–दार्शनिकों का कहना है कि क्या कारण–साकल्य की उपस्थिति में धर्मी द्रव्य में अर्थक्रियाकारित्व का गुण आ जाता है और कारण–साकल्य के अभाव में वह गुण नहीं रहता है ? किन्तु ऐसा मानना तो उचित नहीं है। सहकारी–कारणों की उपस्थिति में चाहे कार्य होता हो और उनकी अनुपस्थिति में चाहे कार्य नहीं भी होता हो, किन्तु धर्मी द्रव्य में अर्थक्रियाकारित्व का गुण तो दोनों स्थितियां में भी बना रहता है। इस प्रकार, यह सिद्ध होता है कि धर्मी द्रव्य चाहे एकान्ततः नित्य नहीं हो, किन्तु वह एकान्ततः अनित्य भी सिद्ध नहीं होता है। इस प्रकार,, रत्नप्रभसूरि यह सिद्ध करते हैं कि आप (बौद्धों) की एकान्त–अनित्यता या क्षणिकता की अवधारणा उचित नहीं है। वस्तुतत्त्व कथंचित्–नित्य और कथंचित्–अनित्य ही है। द्रव्य के उत्पाद–व्ययरूप स्वभाव के कारण कथंचित्–अनित्यता है और ध्रौव्य–स्वभाव के कारण कथंचित्–नित्यता भी है और इस प्रकार, अपेक्षा–भेद से कथंचित्–नित्यता और कथंचित्–अनित्यता में कोई विरोध भी नहीं है।[421]

जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि का कथन है कि वस्तुतत्त्व अभावात्मक–गुणों से भी युक्त रहता है, जैसे गाय में गोत्व–गुण का सद्भाव और अश्वत्व–गुण का अभाव होता है। वस्तु में स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अस्तित्व–गुण है और वस्तु में परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का अभाव होने से नास्तित्व–गुण भी है। यद्यपि अस्तित्व और नास्तित्व– ये दोनों प्रकार के गुण परस्पर विरोधी हैं, किंतु अपेक्षा–भेद से भावात्मक और अभावात्मक– दोनों प्रकार के गुण–धर्म वस्तु में होते हैं, लेकिन द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से वस्तु असत् ही है, ऐसा भी हम जैन नहीं मानते। हभ केवल इतना भानते हैं कि भावरूप वस्तु में परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का अभाव है, क्योंकि स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से वस्तु में सत्व या अस्तित्व–गुण भी है, क्योंकि परद्रव्यादि में वस्तु के अस्तित्व को नकारने की शक्ति नहीं होती है। वस्तु में परद्रव्य आदि का नास्तित्व उसको नास्तिरूप नहीं बनाता है। वस्तु में स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से अस्तित्व–गुण है और परद्रव्य, क्षेत्र, काल,

---

[420] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 741

[421] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 742

भाव का उसमें अभाव होने से उनकी अपेक्षा नास्तित्व–गुण है, अतः, वस्तु न तो आप बौद्धों के समान एकान्त–क्षणिक है और न वेदान्तियों के समान एकान्त–नित्य है। यहाँ जैन–दार्शनिक अपने पक्ष की सिद्धि के लिए कहते हैं कि कोई भी द्रव्य अपनी पर्यायों के रूप में ही उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, परन्तु द्रव्यरूप से न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। उदाहरण के रूप में, मृत्तिका–पिण्ड से घट उत्पन्न होता है और घट का नाश होने पर कपाल की उत्पत्ति होती है, किन्तु मृत्तिका–पिण्ड, घट और कपाल– इन तीनों अवस्थाओं में मृत्तिकारूप द्रव्य तो समान ही रहता है। व्यक्ति में बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था– तीनों स्पष्ट रूप से उद्भूत होती हैं। बाल्यावस्था नष्ट होकर युवावस्था उत्पन्न होती है और युवावस्था नष्ट होकर वृद्धावस्था उत्पन्न होती है, किन्तु इन सब अवस्थाओं में भी व्यक्ति तो वही रहता है, अतः, वस्तु केवल उत्पाद–व्यययुक्त नहीं है, अपितु वह ध्रौव्ययुक्त भी है। पर्यायों की उत्पत्ति और विनाश होता रहता है, किन्तु द्रव्य तो वही रहता है।[422]

बौद्ध – जैनों की इस स्थापना के विरोध में बौद्ध–दार्शनिकों का कथन है कि जिस प्रकार अंगुली में जो नाखून उत्पन्न होता है, वह अन्त में काटकर फेंक देने पर नष्ट हो जाता है, फिर भी व्यवहार में ऐसा कहा जाता है कि नाखून फिर से आ गया, किन्तु वह अन्वय की प्रतीतिरूप ही है, यथार्थ नहीं है, क्योंकि जो नाखून उत्पन्न होकर नष्ट हो चुका है, वह पुनः उत्पन्न नहीं होता है, अतः, वस्तु केवल उत्पाद–व्ययरूप है, उसमें अन्वय (एकात्मकता) या ध्रौव्यता मानना भ्रान्त है। बालक देवदत्त, युवा देवदत्त और वृद्ध देवदत्त में बालपन, युवापन और वृद्धपन वस्तुतः अन्वयरूप ही हैं, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा आदि से यह सिद्ध होता है, अतः, आप जैनों का यह मानना उचित नहीं है कि द्रव्य और उसकी पर्यायों में अन्वय देखा जाता है। पर्यायों की अपेक्षा वस्तु में उत्पाद–व्यय है और द्रव्य की अपेक्षा से ध्रौव्यत्व है– यह आप जैनों की मान्यता उचित नहीं है। हम बौद्धों का यह मानना है कि भिन्न–भिन्न पर्यायों में जो अन्वय देखा जाता है, वह भ्रान्त है, यह वास्तविक नहीं है। प्रत्येक पर्याय एक–दूसरे से भिन्न है और यह पर्याय ही द्रव्य है, पर्याय से पृथक् द्रव्य नहीं है।[423]

---

[422] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 742

[423] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 742

यहाँ बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि उत्पाद–व्यय और ध्रौव्य परस्पर विरोधी हैं, अतः, ऐसा कैसे माना जा सकता है कि वस्तु उत्पाद–व्यय–धर्मात्मक भी है और ध्रौव्यात्मक भी है। चूँकि उत्पत्ति, व्यय और ध्रौव्यता– ये तीनों भिन्न–भिन्न हैं, अतः, आप जैनों का वस्तु का त्रयधर्मात्मक मानना युक्तिसंगत नहीं हो सकता है।[424]

जैन – इसके उत्तर में, जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि आपका यह कथन उचित ही नहीं है। उत्पाद–व्यय और ध्रौव्य कथंचित् एक–दूसरे से भिन्न हैं, किन्तु एकान्तरूप से भिन्न नहीं हैं, क्योंकि शून्य (अभाव) से न तो उत्पत्ति संभव है और न नाश का ही पूर्ण विनाश होता है। यदि उत्पाद के पूर्व भी वस्तु की अन्य पर्याय के रूप में सत्ता रही हुई है और नाश के बाद भी वस्तु की अन्य पर्याय के रूप में सत्ता रहती है, तो फिर वस्तु को उत्पाद–व्यय–ध्रौव्ययुक्त मानने में क्या आपत्ति है ? उत्पाद और व्यय भी चाहे भिन्न–भिन्न हों, किन्तु द्रव्य की अपेक्षा से पूर्णतः भिन्न नहीं हैं। असत् से किसी भी प्रकार की उत्पत्ति संभव नहीं है और बिना उत्पत्ति के विनाश भी संभव नहीं है। उत्पत्ति के लिए पूर्व में किसी सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है, अन्यथा उत्पत्ति किससे होगी ? इसी प्रकार, विनाश भी पूर्ण नाश नहीं है, उसमें द्रव्य तो बना ही रहता है, जैसे– घट की उत्पत्ति के पूर्व मिट्टी और घट के विनाश के बाद भी मिट्टी तो रहती ही है। अतः, वस्तु को एकान्त–नित्य या एकान्त–अनित्य मानना उचित नहीं है। इस प्रकार, हम जैनों के अनुसार तो पदार्थ एकान्त–नित्य और एकान्त–अनित्य न होकर नित्यानित्य ही सिद्ध होता है।[425]

बौद्धों का पूर्वपक्ष – रत्नाकरावतारिका में प्रमाणनयतत्त्वालोक के पंचम परिच्छेद के आठवें सूत्र की टीका में बौद्धों का यह पूर्वपक्ष उपस्थित किया गया है कि वस्तु को परद्रव्य आदि की अपेक्षा से असत्व अर्थात् अभावरूप मानना उचित नहीं है। वस्तु स्वद्रव्य की अपेक्षा से अस्तिरूप है– यह बात तो बौद्धों को स्वीकार है, किन्तु परद्रव्य की अपेक्षा से वस्तु नास्तिरूप है– यह बात बौद्धों को स्वीकार नहीं है।[426]

जैन – बौद्धों की इस मान्यता की समीक्षा करते हुए रत्नप्रभसूरि लिखते हैं कि यदि वस्तु में परद्रव्य का असत्व स्वीकार नहीं किया जाएगा,

---

424 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 742

425 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 743, 744

426 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 747

तो फिर वस्तु के सर्वात्मक और सर्वमय होने का प्रसंग उपस्थित होगा। ऐसी स्थिति में गुड़ और गोबर एक ही हो जाएँगे। घट और पट में कोई अन्तर नहीं रहेगा, घट पटरूप होगा और पट घटरूप होगा और इस प्रकार, भिन्न–भिन्न पदार्थों की समस्त व्यवस्था ही समाप्त हो जाएगी। वस्तु में पर के गुण धर्मों का अभाव होने का अर्थ उसका असत् होना नहीं है। वस्तु में पर के गुण–धर्मों का अभाव होने से वस्तु का स्वयं का अभाव नहीं होता है। दूसरे यह कि जिन गुण–धर्मों का जिस वस्तु–विशेष में अभाव बताया गया है, वे गुण–धर्म भी सर्वथा असत्रूप नहीं हैं, क्योंकि अन्य किसी वस्तु में वे अस्तित्वरूप है हीं, अतः, अभाव भी एकान्तरूप से अभाव नहीं है। इसी प्रकार, मृत्तिका–पिण्ड के घटरूप में परिणत होते समय उसके साथ सहकारी–कारणों का सद्भाव होता है। मृत्तिका का घट बनने के बाद उसके साथ उन सहकारी–कारणों का वियोग हो जाता है, किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि वे सहकारी–कारण अस्तित्व में ही नहीं हैं। उदाहरणार्थ, घड़ा बनाते समय चक्र, दंड आदि सहकारी–कारणों का मिट्टी–द्रव्य के साथ संयोग होता है, किन्तु कालान्तर में वह संयोग भी वियोग में बदल जाता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि उन सहकारी–कारणों का सर्वथा अभाव हो गया।[427]

बौद्ध – इस पर, बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि हम भी पर के असत्व को स्व–सत्व से पृथक् नहीं मानते हैं, साथ ही पर का असत्व सर्वथा अभावरूप है– ऐसा भी हम नहीं मानते हैं, अपितु हमारी मान्यता यह है कि जो स्व–सत्व है, वही पर–असत्व है। स्व–सत्व से पृथक् पर–असत्व जैसी कोई वस्तु नहीं है।[428]

जैन – बौद्धों के इस कथन पर जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि आपका यह कथन इन्द्रजालिक के समान ही है, क्योंकि आप जो यह कहते हैं कि जो स्व–सत्व (स्व की सत्ता) है, वही पर–असत्व (पर का अभाव) है, जिसका अर्थ यह हुआ कि पर की अपेक्षा वाला ऐसा स्व से भिन्न कोई असत्व (अभाव) नहीं है, किन्तु घट में पट के गुण–धर्मों का असत्व (अभाव) है, पर इससे यह फलित नहीं होता है कि पर की सत्ता (अस्तित्व) ही नहीं है। घट में पटत्व का अभाव या असत्व है, किन्तु पट में पटत्व की सत्ता (सत्व) तो है ही। घट में पट का अभाव, पट के अभाव

---

427 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 747, 748

428 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 748

(असत्व) को सिद्ध नहीं कर सकता है। घट में पट का असत्व (अभाव) पट का असत्व (अभाव) नहीं है, अपितु अन्य देश–काल में उसकी सत्ता (सत्व) का ही सूचक है। इस प्रकार से, वस्तु न तो सर्वथा अभावरूप है और न सर्वथा भावरूप है, अतः, आपका यह कहना कि जो स्व–सत्व (स्व की सत्ता) है, वही पर का असत्व (पर का अभाव) है– ऐसा सिद्ध नहीं होता है। एक वस्तु में दूसरे का अभाव होता है, किन्तु वह अभाव भी उस वस्तु की अपेक्षा से सत् ही होता है। अतः, आप बौद्धों को यह बात स्वीकार कर लेना चाहिए कि वस्तु एक–दूसरे की अपेक्षा से ही सत्–असत्रूप होती है, एकान्त–सत्व या एकान्त–असत्वरूप नहीं है, अतः, जो स्व–सत्व है, वही पर–असत्व है– ऐसा नहीं हैं, अपितु स्व भी सत्व–असत्वरूप है और पर भी सत्व–असत्वरूप है। द्रव्यों में एक–दूसरे का अभाव होता है, किन्तु जिनका अभाव होता है, वे भी मात्र अभावरूप नहीं होते हैं। स्व में पर का अभाव एकान्तरूप से पट का अभाव नहीं है, वह तो सापेक्षिक–अभाव ही है, इसलिए आप बौद्धों का वस्तु में पर का अभाव मानना उचित है, किन्तु वस्तु में स्व के सत्व के साथ ही पर का असत्व (अभाव) होता है, अतः, आप बौद्धों को यह भी मानना चाहिए और यह 'पर' भी स्व की अपेक्षा से ही असत् होता है, किन्तु वह 'पर' भी अपनी अपेक्षा से सत् भी होता है। आपको यह स्वीकार करना होगा कि यह अनेकान्तरूप वस्तुस्वरूप की व्यवस्था ही है, सम्यक् कही जा सकती है। वस्तु एकान्तरूप से न तो भेदरूप है और न अभेदरूप है। अनेकान्त–दृष्टि एकान्तभेद और एकान्त–अभेद का तिरस्कार करती है, किन्तु सापेक्ष रूप से भेद और अभेद– दोनों को स्वीकार करती है।[429]

---

[429] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 748

अध्याय–11

बौद्धों के त्रिलक्षण–हेतु की समीक्षा

प्रमाणनयतत्त्वालोक की रत्नाकरावतारिका नामक टीका के तीसरे परिच्छेद में जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि ने हेतु–लक्षण की समीक्षा की है। प्रमाणनय तत्त्वालोक के तृतीय परिच्छेद के ग्यारहवें सूत्र में हेतु का लक्षण इस प्रकार, दिया गया है– 'निश्चितान्यथानुपपत्येक लक्षणो हेतुः', अर्थात् निश्चित रूप से साध्य के बिना नहीं होना, यही एकमात्र हेतु का लक्षण है। (निश्चित–निश्चित रूप से, अन्यथा–साध्य के बिना, अनुपपत्ति– नहीं होना, यही हेतु का एकमात्र लक्षण है)। निश्चित ही साध्य के बिना जिसका अस्तित्व संभव न हो, अर्थात् जो साध्य के बिना कदापि नहीं होता हो, वही हेतु कहलाता है,[430] जैसे– अग्नि (साध्य) के बिना धूम कदापि संभव नहीं है, अर्थात् आग के सिवाय धुआँ अन्य किसी से होता ही नहीं है, अतएव धूम हेतु है। इसमें मुख्यता हेतु की उपलब्धि की है। हेतु का ग्रहण होने पर ही साध्य का अनुमान होता है। हेतु–धुएँ के सद्भाव में साध्य–अग्नि का सद्भाव तथा साध्य–अग्नि के अभाव में हेतु–धुएँ का अभाव– यही एकमात्र हेतु का लक्षण है, अर्थात् जो जिसके बिना नहीं होता, उसका वही हेतु है, जैसे–माँ के बिना पुत्र नहीं होता, पुत्र है, तो माँ अवश्य होगी ही। जिसके बिना अन्य किसी भी प्रकार से साध्य की सिद्धि संभव नहीं होती हो, वही हेतु कहा जाएगा, अन्य किसी भी रूप में हेतु का अस्तित्व सिद्ध होता ही नहीं है।

यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या हेतु कहीं अति–व्याप्त होता है, तो कहीं अल्पव्याप्त भी होता है ? यद्यपि मूल सूत्र में 'साध्य के बिना'– ऐसा स्पष्ट उल्लेख तो नहीं किया गया है, किन्तु हेतु का प्रसंग होने के कारण यहाँ अन्यथानुपपत्ति साध्य–धर्म के साथ ही होना चाहिए, अर्थात् हेतु को साध्य के बिना होना ही नहीं चाहिए, इसलिए साध्य से

[430] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 413

इतर (अन्य) पदार्थों के साथ अन्यथानुपपत्ति से ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञानादि में हेतु के इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती।[431]

पर्वतो वह्निमान् धूमात् महानसवत् – इस अनुमान में धूम–हेतु, साध्य–अग्नि के साथ अन्यथानुपपत्ति वाला है। यहाँ धूम– ये हेतु का लक्षण घटित होने के कारण ही वह हेतु कहलाता है। इसी प्रकार, साध्य (अग्नि) से इतर (अन्य) जो घट–पट आदि पदार्थ हैं, इनका चाक्षुष–प्रत्यक्षरूप ज्ञान होता है। यदि घट–पट आदि पदार्थ नहीं हों, तो उन विषयों का चाक्षुष–ज्ञान (प्रत्यक्ष) भी नहीं होगा, अतः, यह कहा भी जाए कि प्रत्यक्ष ज्ञान में भी घट–पट आदि के साथ अन्यथानुपपन्न नामक लक्षण पाया जाता है, लेकिन वह हेतु नहीं कहलाता है, क्योंकि परोक्ष वस्तु को सिद्ध करने में जो अविनाभाव–संबंध वाला हो, वही हेतु बनता है। प्रत्यक्ष में साक्षात् पदार्थ को दिखाई देने से हेतु–हेतुमद्भाव नहीं होता है। वस्तुतः, अनुमान से जिसे सिद्ध किया जाता है, ऐसे साध्य के साथ ही जिसका अविनाभाव–संबंध निश्चित हो, वही हेतु कहलाता है।[432]

डॉ. धर्मचन्द जैन 'बौद्ध प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा' नामक पुस्तक में लिखते हैं कि जैन–दर्शन में सर्वप्रथम सिद्धसेन के न्यायावतार में अन्यथानुपपत्ति को हेतु का लक्षण कहा गया है।[433] संभव है, सिद्धसेन के पूर्व भी किसी अन्य जनो–आचार्य ने हेतु का लक्षण अन्यथानुपपन्नत्व या अविनाभावित्व प्रतिपादित किया हो, किन्तु उसका उल्लेख सम्प्रति अनुपलब्ध है। हेतु–लक्षण की यह परिभाषा माणिक्यनन्दी, देवसूरि, हेमचन्द्रादि उत्तरवर्ती जैन–दार्शनिकों द्वारा भी अपनायी गई है। इन दार्शनिकों ने अकलंककृत 'निश्चय' अथवा 'निश्चित' शब्द के प्रयोग का भी हेतु–लक्षण में समावेश कर लिया है, यथा– माणिक्यनन्दी एवं हेमचन्द्र के अनुसार, जिसका साध्य के साथ अविनाभावित्व निश्चित हो, वह हेतु है।[434] देवसूरि के शब्दों में, निश्चित–अन्यथानुपपत्तिरूप एक लक्षण वाला हेतु होता है।[435]

---

[431] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 413

[432] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 413, 414

[433] देखें – अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोलक्षणमीरितम् – **सिद्धसेन–न्यायावतार**, 22

[434] देखें – साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः। – **परीक्षामुख**, 3.11

[435] देखें – निश्चितान्यथानुपपत्येक लक्षणो हेतुः। **प्रमाणनयतत्त्वालोक** 3.11

जैन–दार्शनिकों ने इसी लक्षण द्वारा हेतु के अन्वय एवं व्यतिरेक– दोनों रूपों को ग्रहण कर लिया है। अन्वय का ग्रहण वे हेतु के तथोपपत्ति–रूप द्वारा करते हैं तथा व्यतिरेक का ग्रहण अन्यथानुपपत्तिरूप द्वारा करते हैं। साध्य के अभाव में हेतु का अभाव अन्यथानुपपत्ति–प्रयोग है तथा साध्य के होने पर ही हेतु का होना तथोपपत्ति–प्रयोग है।[436]

रत्नाकरावतारिका में जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि 'साध्य के साथ निश्चितान्यथानुपपत्ति'– यही एकमात्र हेतु का लक्षण मानते हैं। वे 'न तु त्रिलक्षणकादिः' सूत्र से बौद्धों द्वारा मान्य हेतु के 'त्रिलक्षण' और नैयायिकों द्वारा मान्य हेतु के पाँच लक्षण को अनावश्यक मानते हैं।[437]

बौद्धों का पूर्वपक्ष –

बौद्ध–दार्शनिकों का यह मंतव्य है कि जो पक्षधर्मत्व, सपक्ष–सत्व और विपक्ष–असत्व– इन तीन लक्षणों से युक्त हो, वही हेतु कहलाता है।[438]

वहीं दूसरी तरफ, हम यह देखते हैं कि सूत्र में उल्लिखित आदि शब्द से यौगिक (नैयायिक और वैशेषिक) बौद्धों के त्रिलक्षण सहित अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व– इन दो लक्षणों को मिलाकर हेतु को पाँच लक्षणों वाला प्रतिपादित करते हैं।[439]

डॉ. धर्मचन्द जैन बौद्ध–प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा पुस्तक में लिखते हैं कि बौद्ध एवं जैन–दार्शनिकों में अनुमान–प्रमाण के संबंध में सबसे अधिक विवाद हेतु–लक्षण को लेकर है। बौद्ध–दार्शनिक हेतु में पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व एवं विपक्षासत्व– इन तीन रूपों का होना आवश्यक मानते हैं। जो हेतु इन तीन रूपों से युक्त नहीं होता, उसे वे असत्–हेतु अथवा हेत्वाभास कहते हैं। पक्षधर्मत्व का अर्थ है– धूमादिरूप हेतु का पक्ष, अर्थात् वह्नि विशिष्ट पर्वतादि में रहना, सपक्षसत्व का अर्थ है– धूमादि हेतु का महानस आदि सपक्ष में रहना एवं विपक्षासत्व का अर्थ है– उस हेतु का जलाशय आदि विपक्ष में नहीं रहना।"[440]

---

[436] देखें – बौद्ध प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा, डॉ. धर्मचंद जैन

[437] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 414

[438] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 414

[439] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 415

[440] देखें–बौद्ध प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा, डॉ. धर्मचंद जनो, पृ. 218, 219

जैन – रत्नप्रभसूरि रत्नाकरावतारिका में त्रिरूप हेतु–लक्षण और पंचरूप हेतु–लक्षण का खण्डन करते हैं। इसी सम्बन्ध में डॉ. धर्मचन्द जैन 'बौद्ध प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा' नामक पुस्तक में लिखते हैं– 'जैन–दर्शन में त्रैरूप्य एवं पाँच रूप्य का निरसन कर हेतु का एक ही लक्षण स्वीकार किया गया है और वह है– उसका साध्य के साथ निश्चित अविनाभाव। साध्य के अभाव में हेतु का न रहना ही अविनाभाव है। अविनाभाव के लिए जैन–दार्शनिकों ने अन्यथानुपपत्ति शब्द का भी प्रयोग किया है। समस्त जैन–दार्शनिक साध्य के साथ अविनाभाव या अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का एकमात्र लक्षण प्रतिपादित करते हैं। जैन–दार्शनिकों का मंतव्य है कि यदि हेतु में साध्य के साथ अविनाभावित्व है, तो त्रैरूप्य एवं पाँच रूप्य के अभाव में भी हेतु साध्य का गमक होता है और यदि उसमें अविनाभावित्व नहीं है, तो त्रैरूप्य एवं पाँच रूप्य के होने पर भी वह साध्य का गमक नहीं होता है।'[441]

बौद्धों का पूर्वपक्ष –

इस सम्बन्ध में बौद्धों के पूर्वपक्ष को प्रस्तुत करते हुए डॉ. धर्मचन्द जैन लिखते हैं– 'बौद्ध–दार्शनिक भी हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव–रूप प्रतिबन्ध तो स्वीकार करते ही हैं तथा उसके अभाव में हेतुओं को हेत्वाभास कहते हैं; किन्तु वे अविनाभाव की परिसमाप्ति त्रिरूपता में करते हैं। उनका मंतव्य है कि जो हेतु त्रिरूपसम्पन्न होता है, वही साध्य का अविनाभावी होकर साध्य का ज्ञान कराता है।'[442]

रत्नाकरावतारिका में बौद्धों एवं नैयायिकों का पूर्वपक्ष –

रत्नाकरावतारिका में जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों के त्रिलक्षण एवं नैयायिकों के पाँच लक्षणों का उल्लेख निम्नानुसार करते हैं–

बौद्धों के हेतु के त्रिलक्षण एवं नैयायिकों के पंचलक्षण का विवेचन

1. **पक्षधर्मत्व** – ज्ञातव्य है कि हेतु का पक्ष में होना ही पक्षधर्मत्व कहलाता है। अनुमान में निर्देशित हेतु का पक्ष में होना अवश्यम्भावी है और पक्ष में होने पर ही वह पक्ष का धर्म कहलाता है। जब हम ऐसा कथन करते हैं कि 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्', अर्थात् धूमवान् होने से पर्वत वह्निमान्

---

[441] देखें–बौद्ध प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा, डॉ. धर्मचन्द जैन, पृ. 220.
[442] देखें–बौद्ध प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा, डॉ. धर्मचन्द जैन, पृ. 220.

है, यहाँ अग्नि साध्य है और धूमत्व–हेतु पर्वतरूपी पक्ष का धर्म है। दूसरे शब्दों में, अग्नि साध्य है, धूम हेतु है और पर्वत पक्ष है, अतः, बौद्धों के अनुसार, हेतु की विशेषता इसी में है कि वह पक्ष में अवश्य हो। ज्ञातव्य है कि जहाँ साध्य की सिद्धि की जाती है, वह पक्ष कहलाता है। हेतु यदि पक्ष में विद्यमान न हो, तो वह पक्ष का धर्म कहलाने योग्य नहीं बनता है। हेतु कहीं ओर हो, पक्ष कहीं ओर हो, तो साध्य की सिद्धि नहीं होती है, यथा– 'शब्दः नित्यः चाक्षुषत्वात्' यहाँ शब्द नामक पक्ष में चक्षु ग्राह्यत्व हेतु विद्यमान नहीं है। चूंकि शब्द श्रोत्र–ग्राह्य हैं, अतः, यह चाक्षुषत्व ऐसे पक्ष का धर्म नहीं कहला सकता। जो यथार्थ हेतु होता है, वह पक्ष का धर्म होता है, परंतु शब्द में चाक्षुषत्व के नाम का धर्म नहीं होता है, अतः, चाक्षुषत्व से शब्द की नित्यता की सिद्धि नहीं हो सकती है। बौद्धों के अनुसार, हेतु का पक्ष में होना– यह हेतु का पहला लक्षण है।[443]

2. **सपक्षसत्व** – जहाँ पर धुआँ और आग साथ–साथ देखे जाते हैं, उसको सपक्षसत्व कहते हैं। सपक्षसत्व, अर्थात् अपने पक्ष में दोनों को होना चाहिए, अर्थात् अपने पक्ष में साध्य और हेतु– दोनों की सत्ता होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, जहाँ पर भी साध्य की सिद्धि की जा रही है, या जहाँ पर हेतु और साध्य की व्याप्ति बता रहे हैं, जैसे – रसोईघर, वहाँ हेतु अर्थात् धुएँ का होना जरूरी है, पाकशाला अर्थात् सपक्ष हो गया, व्याप्ति सार्वकालिक होती है। जैसा धुआँ रसोईघर में है, वैसा ही धुआँ पर्वत पर हो, तो ही साध्य की सिद्धि हो सकती है; किन्तु रसोईघर से भिन्न धुआँ हो, तो सिद्धि नहीं होगी, यथा– शीतऋतु में जलाशय पर दिखाई देने वाला धुआँ, रसोईघर जैसा धुआँ नहीं होता है, अतः, उनसे साध्य की सिद्धि भी नहीं होती है। सपक्षसत्व में पक्ष में अग्नि के सद्भाव के साथ–साथ धुएँ का भी सद्भाव अवश्य होना चाहिए; किन्तु 'शब्दः नित्यः श्रावणत्वात् शब्दत्ववत्'– प्रभाकर इस प्रकार, जो अनुमान प्रस्तुत करते हैं, उसमें श्रावणत्व–हेतु नित्यत्व–धर्म वाले आकाश में जिस प्रकार व्यावृत्त है, उसी प्रकार यथार्थ–हेतु भी सपक्ष में व्यावृत्त हो ही, यह आवश्यक नहीं है। हेतु का मात्र सपक्ष में विद्यमान होना ही हेतु का दूसरा लक्षण है।[444]

3. **विपक्ष–असत्व** – पक्ष का विपक्ष जलाशय में असत्व अर्थात् अभाव होना चाहिए। जहाँ आग का अभाव हो, वहाँ धुएँ का भी अभाव होना विपक्ष

---

[443] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 415

[444] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 415

कहलाता है। यहाँ पर जलाशय विपक्ष है। यद्यपि जलाशय में धुआँ अवश्य निकलता है, किंतु वहाँ आग के अभाव में अकेले धुएँ से हेतु की सिद्धि नहीं हो जाती, अर्थात् साध्य के अभाव वाले स्थान में हेतु का अभाव होना विपक्षासत्व है, परन्तु यदि 'पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्' इस प्रकार, पर्वत रूप पक्ष में अग्नि की सिद्धि के लिए धूम के बदले यदि प्रत्येक हेतु दिया जाए, तो वह प्रमेयत्व–हेतु विपक्ष में भी विद्यमान है, इसलिए वह यथार्थ–हेतु नहीं कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि प्रमेयत्व–हेतु साध्याभाव अर्थात् अग्नि के अभाव वाले जलाशय आदि स्थानों में विद्यमान है, किन्तु यथार्थ–हेतु का तो आग के अभाव में कदापि न होना ही विपक्ष–असत्व–हेतु का तीसरा लक्षण है।[445]

4. **अबाधित–विषयत्व** – जो भी वस्तु है, अर्थात् जो भी प्रमेय है, अथवा जिसको भी सिद्ध करना है, वह अबाधित होना चाहिए। अनुमान से युक्त हेतु प्रत्यक्ष–अनुमान आगम आदि प्रमाणों से खंडित (बाधित) नहीं होना चाहिए। यथा 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' यहाँ पर यदि वह्नि (अग्निरूपी साध्य) अबाधित है, तो वहाँ धूम (हेतु) को भी किसी प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित नहीं होना चाहिए। अग्नि जल के समान एक द्रव्य होने से (जल के समान ही) शीतल है। यहाँ इस अनुमान में अग्नि में शीतलतारूपी साध्य की सिद्धि, जो द्रव्यत्व–हेतु द्वारा की गई, वह प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है। चूंकि अग्नि शीतल नहीं होती है, इसलिए हेतु (द्रव्यत्व) भी बाधित होगा, अतः, अग्नि की शीतलता प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित हो जाती है। ब्राह्मण को शराब पीना चाहिए, क्योंकि वह भी जल के समान ही एक तरल पदार्थ है। यहाँ 'ब्राह्मण को शराब पीना चाहिए' यह साध्य आगम–प्रमाण से बाधित है, इसलिए द्रव्यत्व–हेतु भी बाधित विषय वाला ही होगा। ब्राह्मण मदिरा नहीं पीते हैं और जो पीते हैं, वे ब्राह्मण नहीं हैं– यह आगम–प्रमाण से सिद्ध है। इस प्रकार से, प्रथम अनुमान में द्रव्यत्त–हेतु और दूसरे अनुमान में द्रवत्व (तरलता) हेतु– ये दोनों हेतु जिस प्रकार प्रत्यक्ष और आगम–प्रमाण से बाधित हैं, उससे इनका साध्य भी बाधित विषय वाला बन जाता है, लेकिन हेतु को भी बाधित नहीं होना चाहिए। आशय यह है कि साध्य बाधित विषय वाला बन भी जाए, किन्तु 'हेतु' को तो प्रत्यक्ष आदि किसी भी

प्रमाण से बाधित नहीं बनना चाहिए। न्याय–दर्शन के अनुसार, हेतु का यह चौथा लक्षण है।[446]

5. **असत्–प्रतिपक्षत्व** – न्याय–दर्शन ने हेतु का पाँचवाँ लक्षण असत्प्रतिपक्षत्व दिया है, अर्थात् हेतु का प्रतिपक्ष में नहीं होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि अग्निरूपी साध्य का धुएँरूपी जो हेतु है, वह अग्नि से इतर अर्थात् अन्य किसी के साथ नहीं होना चाहिए। आग का प्रतिपक्षी अन्य कुछ भी हो सकता है, किन्तु धुएँ (हेतु) को आग (साध्य) के साथ ही होना चाहिए, अर्थात् प्रतिपक्षरूप जो इतर पदार्थ हैं, उनमें हेतु का अभाव होना चाहिए। जिस प्रकार पक्ष का सद्भाव होना चाहिए, वैसे ही प्रतिपक्ष का अभाव भी होना चाहिए। तात्पर्य यह है कि पर्वत पर धूम दिखाई देने के कारण वहाँ अग्नि है ही, किन्तु अग्नि के अभाव को सिद्ध करने वाला कोई भी प्रतिस्पर्धी अनुमान नहीं है, इसलिए हेतु का पाँचवाँ लक्षण असत्–प्रतिपक्षत्व कहलाता है।[447]

इस प्रकार, हेतु को प्रतिपक्ष में सत् नहीं होना चाहिए, जैसे– शब्द नित्य है, क्योंकि उसमें अनित्य–धर्म नहीं है। यह अनुमान सत्–प्रतिपक्ष वाला है, क्योंकि इस अनुमान में साध्य को जो नित्य कहा गया है, उसी को प्रतिपक्षरूप अनित्यता–धर्म को सिद्ध करने वाला प्रतिस्पर्धी अनुमान भी सम्भव है, जैसे– 'शब्द–अनित्य है, क्योंकि वह नित्यता–धर्म से रहित है।" इस प्रकार, के प्रतिपक्षी अनुमान के संभव होने हेतु सत्–प्रतिपक्ष वाला होगा, किन्तु यदि हेतु सत्–प्रतिपक्ष वाला होगा, तो अनुमान दूषित होगा, अतः, असत् को प्रतिपक्ष वाला होना चाहिए– यह हेतु का पाँचवाँ लक्षण है। इस प्रकार, बौद्ध–दार्शनिक हेतु को त्रिलक्षण वाला और न्याय–दार्शनिक हेतु को पाँच लक्षण वाला सिद्ध करते हैं।[448]

इस प्रकार, से बौद्ध–दार्शनिकों एवं न्याय (न्याय–वैशेषिक) दार्शनिकों ने क्रमशः तीन और पाँच लक्षणों से युक्त हेतु को ही साध्य का गमक माना है। उनके अनुसार, इन्हीं तीन या पाँच लक्षणों से युक्त हेतु (लिंग) निर्दोष है। यहाँ इस प्रकार, उनके पूर्वपक्ष को स्पष्ट किया गया है।[449]

---

[446] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 415, 416

[447] रत्नाकरावतारिका, भाग II रत्नप्रभसूरि, पृ. 416

[448] रत्नाकरावतारिका, भाग II रत्नप्रभसूरि, पृ. 416

[449] रत्नाकरावतारिका, भाग II रत्नप्रभसूरि, पृ. 416

भारतीय–दर्शन में 'न्याय–दर्शन' के विशिष्ट विद्वान् पं. बलदेव उपाध्याय लिखते हैं– हेतु के द्वारा ही अनुमान की सिद्धि होती है, अतः, हेतु की निर्दोषता के विषय में नैयायिकों का विशेष आग्रह रहता है। हेतु निम्न पाँच लक्षणों से युक्त होने पर ही सद्हेतु कहा जाता है–

1. पक्षेसत्ता (हेतु का पक्ष में रहना) 2. सपक्षेसत्ता (हेतु का सपक्ष में विद्यमान होना) 3. विपक्षाद्–व्यावृत्ति (हेतु का पक्ष से विपरीत विपक्ष के दृष्टान्तों में, यथा– कूप, जलाशय आदि में नहीं होना) 4. असत्प्रतिपक्षत्वम् (साध्य से भिन्न प्रतिपक्ष में साध्य की सिद्धि के लिए अन्य हेतु का अभाव होना) 5. अबाधितविषयत्व (हेतु का प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा बाधित न होना)। अनुमान की सत्यता हेतु के इन लक्षणों पर अवलम्बित रहती है। यदि इन लक्षणों में से किसी भी एक में त्रुटि लक्षित होती है, तब वह हेतु सद्हेतु न होकर हेतु का आभासमात्र होता है। आपाततः, हेतु में निर्दुष्टता लक्षित होती हो, परन्तु वास्तव में जब वह दोष से संबंधित रहता हो, तो ही उसे हेत्वाभास कहते हैं।'[450]

रत्नाकरावतारिका में बौद्धों के त्रिलक्षण एवं नैयायिकों के पंचलक्षण हेतुवाद की समीक्षा –

जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि बौद्धों के त्रिलक्षण हेतुवाद एवं नैयायिकों के पाँच लक्षण हेतुवाद में जो हेतु के लक्षण हैं, वे सद्हेतु के प्रतिपादक न होकर हेत्वाभास ही हैं। बौद्धों एवं नैयायिकों के सद्हेतु के लक्षण में अतिव्याप्ति–दोष है, अर्थात् वे अपनी स्थापना में लक्षण तो सद्हेतु का करते हैं, किन्तु वह सद्हेतु न होकर हेत्वाभास ही सिद्ध होता है, उसमें अतिव्याप्ति–दोष है।[451]

डॉ. धर्मचन्द जैन 'बौद्ध प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा' में कहते हैं– 'अन्यथानुपपन्न ही सद्हेतु का लक्षण है, त्रिलक्षण हेतु नहीं, क्योंकि तत्पुत्रत्वादि हेतुओं में त्रिलक्षण के होने पर भी अन्यथानुपपन्न के अभाव में सद्हेतुता नहीं है, अतः, (हेतु की) त्रिलक्षणता निष्फल (दोषयुक्त) है।''[452]

---

[450] देखें – भारतीय दर्शन, पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. 259

[451] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 417

[452] देखें – अन्यथानुपपन्नत्वे, ननु दृष्टा सुहेतुता।
नासति त्र्यंशकस्यापि तस्मात् क्लीबास्त्रिलक्षणाः – तत्त्वसंग्रह, 1363

जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि आप बौद्धों एवं नैयायिकों के हेतु–लक्षण में अतिव्याप्ति–दोष आता है। अन्य दार्शनिक–परम्पराओं में इस प्रकार, का एक अनुभव प्रसिद्ध है। 'मित्रा' नाम की एक स्त्री थी। उसके कुल आठ पुत्र थे, जिनमें से सात पुत्र श्याम वर्ण के और आठवाँ पुत्र गौर–वर्ण था, किन्तु फिर भी आठवें पुत्र को उद्देश्य करके ही यह अनुमान किया जाता कि यह आठवाँ पुत्र भी मित्रा का पुत्र है। चूंकि मित्रा के सात पुत्र श्याम वर्ण हैं, अतः, मित्रा का यह आठवाँ पुत्र भी श्याम वर्ण है। चूँकि उसके अन्य सात पुत्र श्याम वर्ण के देखे गए हैं, अतः, मित्रा का पुत्र होने से उसका आठवाँ पुत्र उसके अन्य पुत्रों के समान ही श्याम वर्ण का होना चाहिए।[453]

डॉ. धर्मचन्द जैन 'बौद्ध प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा' नामक पुस्तक में लिखते हैं– 'यह हेतु त्रिलक्षणयुक्त होकर भी साध्य का निश्चय नहीं करा पाता है, अतः, अविनाभाव नामक लक्षण के अभाव में त्रिरूपता निरर्थक है।'[454]

रत्नाकरावतारिका में रत्नप्रभसूरि सर्वप्रथम उपर्युक्त उदाहरण में नैयायिकों द्वारा मान्य हेतु के पाँच लक्षणों के होने की पुष्टि करते हुए कहते हैं– 1. तत्पुत्रत्व (मित्रा के अन्य पुत्रों के समान) श्यामवर्ण आठवें पुत्र में है– यह पक्षधर्मता है। 2. प्रथम सात पुत्र श्याम वर्ण के होने से सातों पुत्र साध्य–विशिष्ट हैं, इसलिए वह सपक्षसत्व कहलाता है। इसमें तत्पुत्रत्व है, (सातों पुत्र हेतु हैं), इसलिए इसमें सपक्षसत्व भी है। 3. जिसमें श्यामत्व नहीं हो– ऐसा साध्याभाव से युक्त जो रक्तघट, श्वेत पट इत्यादि हैं, वह विपक्ष है, वहाँ पर तत्पुत्रत्व हेतु नहीं है, इसलिए इसमें विपक्षासत्व भी है। यद्यपि यहाँ विपक्ष में भी हेतुसत्व हो सकता है, अर्थात् मित्रा के अलावा किसी अन्य को भी तो पुत्र हो सकते हैं और वह काला भी हो सकता है। 4. अतः, उपर्युक्त अनुमान में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं होने से अबाधित विषयत्व है। 5. यहाँ श्यामत्व के अभाव को सिद्ध करने के लिए अन्य प्रतिस्पर्धी हेतु नहीं होने से असत्–प्रतिपक्षत्व भी है। इन पाँचों–लक्षणों के होते हुए भी हेतु सद्हेतु नहीं है, अतः, इस अनुमान में

---

[453] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 417

[454] देखें – बौद्ध प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा, डॉ. धर्मचन्द जनो, पृ. 225

बौद्धों एवं नैयायिकों द्वारा कथित हेतु के समग्र लक्षण होते हुए भी यह सद्हेतु नहीं है, अर्थात् हेतु के पाँचों लक्षण होने पर भी दोषयुक्त है।[455]

बौद्ध – इस पर बौद्ध–दार्शनिक अपना मंतव्य प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि 'विपक्ष–असत्व' नाम का यह तीसरा लक्षण अनुमान में होना निश्चित नहीं है, क्योंकि श्यामाभाव वाला रक्त घट और श्वेत पट आदि कुछ भी हो सकते हैं; किन्तु इसमें 'तत्पुत्रत्व' (मित्रा के सात पुत्र) हेतु का अभाव है, इसलिए जैनों का घट में विपक्षासत्व दिखाना प्रमाणभूत नहीं है। वस्तुतः, हमारा हेतु तो, जहाँ–जहाँ श्यामत्व नहीं है, वहाँ–वहाँ सर्वत्र तत्पुत्रत्व भी नहीं है– ऐसा है, अर्थात् हेतु में श्यामत्व भले ही न हो, परन्तु तत्पुत्रत्व (मित्रा के सातों पुत्र) तो अवश्य होना चाहिए, इसलिए विपक्ष–असत्व घट–पटादि में भले ही हो, परन्तु वह निश्चित विपक्ष–असत्व नहीं है, अतः, हेतु के तीन या पाँच लक्षण होना आवश्यक हैं। आप जैनों के रक्तघट के उदाहरण में तीसरा विपक्षासत्व–लक्षण तत्पुत्र के साथ घटित नहीं होता है, इसलिए रक्त घट हेतु में सद्हेतु का लक्षण घटित नहीं होता है और इसीलिए हमारे हेतु–लक्षण में अतिव्याप्ति–दोष भी नहीं आता है। चूँकि आपका रक्तघट में विपक्षासत्व दिखाना हेत्वाभास है, इसलिए हम बौद्ध के अनुसार जहाँ पर तीन लक्षण हों और नैयायिकों के अनुसार पाँच लक्षण हों, वहीं निश्चित रूप से सद्हेतु है, इसलिए हम बौद्धों द्वारा प्रतिपादित हेतु के त्रिलक्षण का सिद्धांत उचित है।[456]

जैन – इस पर, जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि अन्ततः यहाँ आप बौद्धों ने शब्दान्तर से तो 'निश्चितान्यथानुपपत्तिः' का ही सहारा लिया है। चाहे त्रिलक्षण हों, चाहे पाँच लक्षण हों; किन्तु 'निश्चित–अन्यथानुपपत्तिः' को तो स्वीकारना ही पड़ा है और इसके बिना आपका मंतव्य सिद्ध भी नहीं होता है, तो फिर आप 'निश्चितान्यथानुपपत्तिः' ही हेतु का एकमात्र सम्यक् एवं निर्दोष लक्षण है– ऐसा क्यों नहीं मानते हैं।[457]

पुनः, जैन–दार्शनिक नैयायिकों से भी कहते हैं कि आप नैयायिक भी निश्चितान्यथानुपपत्ति से अतिरिक्त तो अन्य कुछ मानते नहीं हैं।

---

[455] रत्नाकरावतारिका – भाग II रत्नप्रभसूरि – पृ. 417

[456] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 417, 418

[457] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 418

शब्दान्तर से या परोक्ष रूप से तो अन्ततः आप भी इसी को स्वीकार करते हैं, तो फिर हेतु के इन पाँच लक्षणों को मानने की क्या आवश्यकता है?[458]

बौद्ध – बौद्ध–दार्शनिक जैनों से कहते हैं कि यदि आप हेतु के प्रथम लक्षण 'पक्षधर्मता' को नहीं मानकर मात्र अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का लक्षण मानेंगे, तो फिर किसी को रसोईघर के धुएँ को देखकर ही पर्वत पर रही हुई अग्नि का बोध क्यों नहीं हो जाता है ? क्योंकि आप जैन–दार्शनिक, पक्ष में हेतु का होना चाहिए– ऐसी 'पक्षधर्मता' को हेतु का लक्षण मानते ही नहीं हैं। जब दूरस्थ धुआँ से दूरस्ध अग्नि का बोध हो सकता है, तो फिर रसोईघर के धुएँ से भी पर्वत की अग्नि का बोध हो जाना चाहिए।[459]

जैन – इसके प्रत्युत्तर में, जैन–दार्शनिक कहते हैं कि रसोईघर के धुएँ से पर्वत पर आग की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि दोनों जगह रही हुई आग अलग–अलग है। यदि आप पक्ष–धर्मता को हेतु का लक्षण सिद्ध करते हैं, तो फिर रसोईघर के धुएँ में पर्वत को अग्नि की सिद्धि क्यों नहीं होती है ?[460]

बौद्ध – इस पर, बौद्ध कहते हैं कि यह सत्य है कि हम पक्ष–धर्मता को हेतु का लक्षण अवश्य स्वीकार करते हैं। पर्वत (पक्ष) के धुएँ से ही पर्वत (पक्ष) में रही हुई अग्नि की सिद्धि होगी, रसोईघर के धुएँ से पर्वत (पक्ष) पर रही हुई अग्नि की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि प्रथम तो रसोई का धुआँ तो पर्वत पर नहीं है, दूसरे रसोईघर के धुएँ में पक्षधर्मत्व भी नहीं है। वह धुआँ तो रसोईघर मे ही है, पर्वत पर नहीं है, इसलिए रसोईघर का धुआँ पर्वत की अग्नि को सिद्ध करने वाला कैसे हो सकता है?[461]

जैन – बौद्धों के इस तर्क की समीक्षा करते हुए रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि जब आप (बौद्ध) यह कहते हैं कि रसोईघर के धुएँ से पर्वत पर की अग्नि की सिद्धि नहीं हो सकती, तो फिर आपके अनुसार जल–स्थित चंद्रमा के प्रतिबिंब से आकाश में स्थित चंद्रमा की सिद्धि कैसे हो सकती

---

458 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 419
459 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 419
460 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 419
461 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 419

है, जबकि जल में रहा हुआ चंद्रमा का प्रतिबिम्ब जल का धर्म है, आकाश का धर्म नहीं है, आपके इस अनुमान में पक्षधर्मत्व कहाँ है ? जब आप जल के चन्द्र से आकाश के चंद्र की सिद्धि मानते हैं, तो फिर आपको रसोईघर के धुएँ से पर्वत पर अग्नि की सिद्धि भी मान लेना चाहिए; किंतु वह तो आप मानते नहीं हैं, अतः, आपका यह कथन युक्तिसंगत नहीं लगता है। एक ओर, आप जलगत चंद्रमा के प्रतिबिंब से तो आकाश में चंद्रमा की सिद्धि में पक्षधर्मत्व मान लेते हैं और दूसरी ओर, रसोईघर के धुएँ से पर्वत पर अग्नि की सिद्धि में पक्षधर्मत्व को अस्वीकार करते हैं। इस प्रकार,, आपका यह कथन युक्तिसंगत नहीं है।[462]

बौद्ध – इसके उत्तर में, बौद्ध कहते हैं कि जल–चंद्र और आकाश–चंद्र– दोनों का आकाश–द्रव्य एक ही है, क्योंकि आकाश सर्व–व्यापक और अखंड द्रव्य है। आकाश–द्रव्य के सर्वव्यापक होने से जलचंद्र और आकाशचंद्र एकरूप धर्म के धर्मी होने के कारण जल स्थित चंद्र से आकाश स्थित चंद्र की सिद्धि संभव है, क्योंकि दोनों चन्द्र एक ही धर्मी का धर्म है। जल–चंद्र भले ही जल में हो, नभ–चंद्र भले ही नभ में हो, किंतु दोनों स्थानों पर एक ही आकाश–द्रव्य होने से आकाश के पक्षधर्मत्व हो जाने से जल के चन्द्र से आकाश के चंद्र की सिद्धि हो जाती है, अतः, जल–चंद्ररूप हेतु आकाश–चन्द्र का गमक बन जाता है, इसलिए हेतु–लक्षण में पक्षधर्मत्व मानना युक्तिसंगत है।[463]

जैन – इसकी समालोचना करते हुए रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि जब आप जल–चंद्र और नभ–चंद्र– दोनों में एक ही आकाश–द्रव्य में स्थित होने के आकाश–कारण के पक्षधर्मत्व को स्वीकार करते हैं, तो फिर रसोईघर की पृथ्वी और पर्वतीय–पृथ्वी में रहा हुआ आकाशरूप धर्मी भी एक ही होना चाहिए, अतः, यहाँ भी आकाश की पक्षधर्मता को स्वीकार करके रसोईघर के धुएँ से पर्वतीय–अग्नि की सिद्धि क्यों नहीं हो जाती है? अर्थात् अवश्य हो जाना चाहिए। जिस प्रकार आप आकाश में पक्षधर्मता को स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार पर्वतीय–पृथ्वी में भी पक्षधर्मता को स्वीकार कर लेना चाहिए। यदि आप आकाश में पक्षधर्मता मानते हैं, तो फिर पर्वतीय–अग्नि की सिद्धि में पृथ्वी की पक्षधर्मता क्यों नहीं मानते हैं ? जबकि साध्य को सिद्ध करने में, दोनों में पक्षधर्मता समान रूप से है। पुनः,

---

462 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 420

463 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 420

रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि चाहे पृथ्वी–द्रव्य एक हो, या आकाश–द्रव्य एक हो, किंतु दोनों उदाहरणों में वे दूर–दूर स्थित हैं, अर्थात् रसोईघर के धुएँ से पर्वतीय–अग्नि दूर है तथा जलचंद्र से आकाशचंद्र भी दूर है, अतः, जहाँ धुआँ होगा, वहीं आग होगी। रसोईघर के धुएँ से रसोईघर की आग की सिद्धि होगी और पर्वत के धुएँ से पर्वत की आग की सिद्धि होगी। आकाश में रहे हुए चंद्र से आकाश–चंद्र की ही सिद्धि होगी और जल में रहे हुए चंद्र से जल–चंद्र की सिद्धि होगी। जल के चंद्र से नभ–चंद्र की सिद्धि नहीं होगी। जिस प्रकार रसोईघर और पर्वत के बीच क्षेत्र की दूरी है, इसी प्रकार जल और नभ में भी क्षेत्रगत दूरी है, अतः, इन उदाहरणों से हेतु–लक्षण में पक्षधर्मता की अनिवार्यता सिद्ध नहीं होती है, इसलिए हम जैनों का यह कथन उचित है कि निश्चित–अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का एकमात्र निर्दोष लक्षण है। इसी से अविनाभाव–संबंध या व्याप्ति–संबंध निश्चित हो जाता है। आप बौद्धों का पक्षधर्मता नामक हेतु का लक्षण दोषयुक्त होने से समुचित नहीं है।[464]

बौद्ध – अपने पक्ष की सिद्धि हेतु बौद्ध–दार्शनिक जैनों से कहते हैं कि सिर्फ पक्षधर्मता ही अनुमान में साध्य की सिद्धि में साधक होती है, अथवा साध्य की सिद्धि का कारण है– ऐसा भी नहीं है, अपितु पक्षधर्मता होते हुए भी हेतु और साध्य में कार्य–कारण–भाव भी होना चाहिए। पुनः, यह कार्य–कारण–भाव भी विचित्र–विचित्र प्रकार का होता है, जैसे– जहाँ अग्निरूप कारण समीप प्रदेश में ही धूमात्मक–कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होता है, वहीं आकाश में रहा हुआ चंद्र तो दूरस्थ देश में भी जल–चंद्रात्मक–कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होता है, इसलिए रसोईघर के धुएँ में और पर्वतीय–अग्नि के मध्य एक आकाशरूप पक्षधर्मता होते हुए भी कार्य–कारण–भाव नहीं है। यही कारण है कि रसोईघर का धुआँ पर्वत की अग्नि का ज्ञान नहीं करा सकता है, किन्तु जल–चंद्र और नभ–चंद्र के मध्य पक्षधर्मता भी है और साथ ही कार्य–कारण–भाव भी है, अतः, वह साध्य की सिद्धि में गमक बन सकता है।[465]

जैन – इसके उत्तर में रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि यदि आप बौद्ध–दार्शनिक कार्य–कारण–भाव को मानते हैं, तो यह कार्य–कारण–भाव भी तो विचित्र–विचित्र प्रकार का होता है। इसका तात्पर्य तो यही होता है

---

[464] रत्नाकरावतारिका, भाग II रत्नप्रभसूरि, पृ. 420, 421

[465] रत्नाकरावतारिका, भाग II रत्नप्रभसूरि, पृ. 421, 422

कि धूमात्मक–कार्य उसी देश में अग्नि के साथ में अन्यथानुपपत्ति वाला है और जल–चंद्र चाहे आकाश के चंद्र से दूर हो, फिर भी आकाश–चंद्र के साथ अन्यथानुपपत्ति वाला है। इस प्रकार, दोनों में ही 'निश्चितान्यथानुपपत्ति' का निर्णय हो जाने से साध्य की सिद्धि हो जाती है। जल–चंद्र और नभ–चंद्र के मध्य क्षेत्रगत दूरी के लिए आकाश की पक्ष–धर्मता को मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं है, अतः, हेतु का लक्षण तो निश्चित–अन्यथानुपपत्ति ही होता है।

इस प्रकार, जैन कहते हैं कि बौद्ध एवं न्याय–दार्शनिकों द्वारा पक्षधर्मता को हेतु का लक्षण मानना निरर्थक है।[466]

बौद्धों ने पक्षधर्मत्व के अतिरिक्त सपक्षसत्व और विपक्षअसत्व– ऐसे हेतु के दो लक्षण और मानें हैं। इन लक्षणों की निरर्थकता बताते हुए जैन–दार्शनिक कहते हैं कि हमने निश्चित–अन्यथानुपपत्ति वाला हेतु का जो लक्षण बताया है, वह सार्वदेशिक और त्रिकालिक है, इसलिए वह सपक्ष में भी लागू होता है। बौद्ध–दार्शनिक जब 'सर्वं क्षणिकम् सत्वात्'– ऐसा सत्–रूप हेतु के आधार पर जो अनुमान करते हैं, तो उनका यह अनुमान भी अन्यथानुपपत्तिरूप ही तो है। चूंकि सर्व शब्द का प्रयोग करने पर सर्व को पक्ष होने के कारण उसके अतिरिक्त या उससे भिन्न कोई अन्य सपक्ष नहीं हो सकता, इसलिए सपक्षसत्व और विपक्ष–असत्वरूप दृष्टांत की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती है। सर्वं क्षणिकम् सत्वात्– इस अनुमान में सपक्षसत्व और विपक्षअसत्व–लक्षण की कहाँ सिद्धि होती है, अतः, आप बौद्धों को सपक्षसत्व नामक हेतु–लक्षण का त्याग करके निश्चित–अन्यथानुपपत्ति– ऐसा एकमात्र हेतु–लक्षण स्वीकार कर लेना चाहिए।[467]

बौद्ध – इस पर, बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि जो साध्य–धर्मवाला होता है, वही सपक्ष कहलाता है। इस पर, जैन–दार्शनिक कहते हैं कि यदि आपके अनुसार सपक्ष और पक्ष– इन दोनों से कोई विरोध नहीं है, तो फिर जिस प्रकार पक्षधर्मत्व–लक्षण निरर्थक सिद्ध होता है, उसी प्रकार सपक्षसत्व–लक्षण भी निरर्थक ही सिद्ध होगा, क्योंकि जो साध्य–धर्म पक्ष में है, वही साध्य–धर्म सपक्ष में भी है। सपक्ष में भी हेतु का सद्भाव होता है और विपक्ष में हेतु का अभाव होता है, इसी प्रकार पक्ष में भी हेतु का

---

[466] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 422

[467] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 424

सद्भाव होता है, अतः, आपके सपक्ष और पक्ष में कोई अन्तर नहीं रहता है, इसलिए हेतु के सन्दर्भ में सपक्षसत्व– यह लक्षण भी आवश्यक प्रतीत नहीं होता है। निश्चित–अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का मात्र एक ऐसा लक्षण है, जिसमें पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षअसत्व– ये तीनों हेतु–लक्षण समाहित हो जाते हैं, अतः, पृथक् से इन तीन लक्षणों का मानना आवश्यक नहीं है। वस्तुतः, बौद्धों के अनुसार हेतु के तीन लक्षण और नैयायिकों के अनुसार पाँच लक्षण निश्चितअन्यथानुपपत्तिरूप एक ही लक्षण के विस्तारमात्र हैं, अतः, इन लक्षणों की उपयोगिता नहीं रह जाती है। एकमात्र निश्चित–अन्यथानुपपत्तिरूप लक्षण को स्वीकार करने पर सभी समस्याएँ हल हो जाती हैं।[468]

उपसंहार –

भारतीय–दर्शन में अनुमान के पाँच अंग माने जाते हैं– 1. साध्य 2. हेतु 3. दृष्टांत 4. उपनय 5. निगमन। अनुमान के इन पाँच अंगों में सबसे प्रमुख अंग हेतु को माना गया है। वस्तुतः, साध्य की सिद्धि के लिए हेतु ही सबसे महत्वपूर्ण अंग होता है। उदाहरण के रूप में, पर्वत पर अग्नि को सिद्ध करने के लिए यह कहा जाता है कि पर्वत पर धुआँ है। धूम के होने पर ही अग्नि की सिद्धि संभव है, अतः, इस उदाहरण में पर्वत पक्ष है, अग्नि साध्य है और धुआँ हेतु है। प्रायः, सभी भारतीय–दार्शनिक अनुमान के लिए हेतु की उपलब्धि आवश्यक मानते हैं, किन्तु उस हेतु का स्वरूप या लक्षण क्या है, इसको लेकर भारतीय–दर्शन में विवाद देखा जाता है। न्याय–दर्शन हेतु के पाँच लक्षण मानता है। उसके अनुसार, हेतु के पाँच लक्षण निम्न हैं– 1. पक्ष–धर्मत्व 2. सपक्षसत्व 3. विपक्षासत्व 4. असत्–प्रतिपक्षत्व और 5. अबाधित–विषयत्व। नैयायिकों के विरुद्ध बौद्ध–दार्शनिक हेतु को त्रैरूप्य–लक्षण वाला मानते हैं। बौद्ध–दार्शनिकों के अनुसार, हेतु में पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षासत्व– ये तीन लक्षण ही आवश्यक हैं। वैशेषिक–दर्शन और सांख्यदर्शन में भी हेतु के इन्हीं तीन लक्षणों को स्वीकार किया गया है। यद्यपि यह बात विवादास्पद ही है कि त्रैरूप्य हेतु की अवधारणा सर्वप्रथम किसने प्रस्तुत की ? स्वैरवात्स्की के अनुसार, वैशेषिकों की अपेक्षा बौद्धों के त्रैरूप्य लक्षण की कल्पना प्राचीन है, जबकि इसके विरुद्ध पं. सुखलाल संघवी का कहना है कि त्रैरूप्य लक्षण का प्रतिपादन वैशेषिकों ने ही किया था, फिर भी इतना तो निश्चित है कि

---

[468] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 424

हेतु के त्रैरूप्य लक्षण की प्रसिद्धि मुख्यतः बौद्धों के संदर्भ में ही है। नैयायिकों के पँचरूप हेतु बौद्धों के त्रैरूप्य हेतु के विरुद्ध जैनों ने हेतु का एक ही लक्षण माना है। जैन–दर्शन के अनुसार, अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का एकमात्र लक्षण है। जैन–दर्शन में सर्वप्रथम सिद्धसेन ने अपने जैन–न्याय के प्रथम ग्रंथ न्यायावतार में अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का लक्षण बताया है। जैनों ने अपने अन्यथानुपपत्तिरूप हेतु की सिद्धि के लिए बौद्धों के त्रैरूप्य लक्षण का खंडन किया है। सर्वप्रथम जैन–दार्शनिक पात्रस्वामी ने बौद्धों के त्रैरूप्य लक्षण हेतु के खंडन के लिए त्रिलक्षणकदर्शन नामक एक स्वतंत्र ग्रंथ ही लिखा था। यद्यपि यह ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है, किन्तु ऐसा लगता है कि उनके परवर्ती जैन–न्याय के आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में उसी ग्रन्थ का आधार लेकर बौद्धों के त्रैरूप्य लक्षण का खंडन किया होगा।

जैन–दर्शन में हेतु को अन्यथानुपपन्न–लक्षण वाला बताने की परंपरा अत्यन्त प्राचीन है। जैसा हमने पूर्व में उल्लेख किया, यह परंपरा सिद्धसेन दिवाकर के न्यायावतार से प्रारंभ होती है। उसके पश्चात्, अकलंक, विद्यानंद, कुमारनंदी, माणिक्यनंदी, वादिदेवसूरि आदि ने भी इसी का अनुसरण किया। हमारे समीक्ष्य ग्रंथ रत्नाकरावतारिका में भी रत्नप्रभसूरि ने विस्तार से बौद्धों के त्रैरूप्य हेतु–लक्षण की समीक्षा की है, किन्तु इस समीक्षा के पूर्व बौद्धों के त्रैरूप्य हेतु–लक्षण का पूर्वपक्ष के रूप में स्पष्टीकरण आवश्यक है।

बौद्धदर्शन में हेतु की त्रैरूप्यता का सर्वप्रथम प्रतिपादन दिङ्नाग ने न्याय–प्रवेश में किया है। दिङ्नाग अपनी रचना न्याय–प्रवेश में लिखते हैं कि हेतु त्रिरूप लक्षण वाला होता है। हेतु के त्रैरूप्य लक्षण कौनसे हैं, इसको स्पष्ट करते हुए वे पुनः लिखते हैं कि पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्षासत्व– ये ही हेतु के तीन लक्षण हैं।[469] धर्मकीर्त्ति ने हेतुलक्षण में स्पष्ट किया है कि जिसका विशेष धर्म जानना इष्ट हो, वह अनुमेय ही हेतु कहा जाता है।[470]

---

469 देखें–हेतुस्त्रिरूपः। किं पुनस्त्रैरूप्यम्? पक्षधर्मत्वं, सपक्षेसत्त्वं, विपक्षे चासत्त्वमिति।
–न्यायप्रवेश पृ. 1

470 देखें – अनुमयोऽयं जिज्ञासित विशेषो धर्मी – न्यायबिन्दु 2/9

न्यायबिन्दु में इसे स्पष्ट करते हुए पुनः कहा गया है कि साध्य–धर्म की समानता रखने वाले अर्थ को सापेक्ष कहा जाता है।[471] सपक्ष अनुमेय होता है। इसके विरुद्ध, जो सपक्ष एवं अनुमेय नहीं होता है, उसे विपक्ष कहा जाता है। धर्मकीर्त्ति के अनुसार, सपक्ष से विरुद्ध या सपक्ष के अभाव वाला जो अन्य है, वह विपक्ष कहलाता है।[472] धर्मकीर्त्ति के पश्चात् धर्मोत्तर और अर्चट् आदि ने भी इसी मत की पुष्टि की। धर्मोत्तर ने धर्मकीर्त्ति के न्याय–बिन्दु की टीका में इस संबंध में विस्तार से प्रकाश डाला है। उन्होंने धर्मकीर्त्ति के न्याय–बिन्दु के द्वितीय परिच्छेद के सूत्र क्रमांक 4, 5, 6, और 7 की टीका में इसे स्पष्ट किया है। यहाँ संक्षेप में– 1. पक्षधर्मत्व का अर्थ है कि हेतु को पक्ष में उपस्थित होना चाहिए।[473] जैसे, पर्वत पर अग्नि है– इस साध्य की सिद्धि के लिए जो धूम हेतु दिया जाता है, वह हेतु भी पर्वत पर उपस्थित होना चाहिए। अगर पर्वत पर धुआँ नहीं होगा, तो पर्वत पर अग्नि की सिद्धि नहीं होगी, इसलिए बौद्ध–दार्शनिकों का कहना है कि जहाँ अनुमेय की सिद्धि की जाती है, वहाँ हेतु की सिद्धि आवश्यक है। यदि पर्वत पर अग्नि की उपस्थिति को सिद्ध करना है, तो उसकी सिद्धि के लिए जो धूम हेतु है, उसे भी पर्वत पर होना चाहिए। यदि पर्वत पर धूम नहीं होगा, तो उससे पर्वत पर अग्नि की सिद्धि नहीं होगी– यही पक्षधर्मत्व है। 2. दूसरा हेतु सपक्षसत्व है। इसका अर्थ है कि हेतु को सपक्ष अर्थात् साध्य के साथ ही अविनाभाव रूप से होना चाहिए। साध्य के अभाव में उसे न होना चाहिए। यदि हेतु सपक्ष अर्थात् अग्नि के अतिरिक्त भी अन्यत्र पाया जाता है, तो वह हेतु सपक्ष में न होने के कारण साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ होता है।[474] 3. तीसरे,

---

[471] देखें – साध्यधर्म सामान्येन समानोऽर्थः सपक्षः। – न्यायबिन्दु 2/10

[472] देखें – न सपक्षोऽसपक्षः। – न्यायबिन्दु 2/11

[473] देखें – एवकारेण पक्षैक देशासिद्धो निरस्तः यथा चेतनास्तरवः स्वापाद् इति पक्षीकृतेषु तरूषु पत्र संकोचलक्षणः स्वाप एकदेशे न सिद्धः। न हि सर्वे वृक्षा रात्रौ पत्र संकोच भाजः, किन्तु केचिदेव।

– न्यायबिन्दु टीका 2.5, पृ. 105

[474] देखें – 1. प्रमाणमीमांसा, 1.2.9, पृ. 39–40

2. तुलनीयं–तस्मिन् एव सत्यं निश्चितमिति द्वितीयं रूपम्। इहापि सत्त्वग्रहणेन विरुद्धो निरस्तः। स हि नास्ति सपक्षे। एवकारेण साधारणानैकान्तिकः। स हि न सपक्ष एव वर्तते किन्तुभयत्रापि। सत्त्वग्रहणात् पूर्वावधारण वचनेन सपक्षाव्यापिसत्ताकस्यापि प्रयत्नानन्तरीय कस्य हेतुत्वं कश्चितम्। पश्चाद् अवधारणे त्वयमर्थः स्यात्–सपक्षे सत्त्वमेव यस्य स हेतुरिति प्रयत्नानन्तरीयकत्वं न हेतुः स्यात् निश्चितवचनेन सन्दिग्धान्वयोऽनैकान्तिको निरस्तः। यथा सर्वज्ञः कश्चिद् वक्तृत्वात्। वक्तृत्वं हि सपक्षे सर्वज्ञे सन्दिग्धम्।

– धर्मोत्तर, न्यायबिन्दु टीका 2.5, पृ. 107

हेतु का विपक्ष में अभाव होना चाहिए। यदि हेतु विपक्ष में भी उपस्थित रहता है, तो वह हेतु साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ है। यदि धूम नामक हेतु अग्नि के साथ-साथ तालाब में भी पाया जाए, तो वह अग्नि की सिद्धि करने में समर्थ नहीं माना जा सकता है।[475]

बौद्ध-मत में जो हेतु के त्रैरूप्य लक्षण बताए गए हैं, वे वस्तुतः असिद्ध, विरुद्ध और अनेकान्तिक-हेत्त्वभास के निराकरण के लिए आवश्यक माने जाते हैं।[476] इसी दृष्टि से, बौद्धों ने हेतु को त्रैरुप्य लक्षण वाला बताया था, वैसे जैनों के हेतु के 'अन्यथा-अनुपपत्ति' नामक लक्षण से उनका कोई विरोध नहीं है।

---

[475] देखें – 1. प्रमाणमीमांसा 1.2.9, पृ. 40

2. तुलनीयं – तस्मिन् असत्त्वमेव निश्चितं तृतीयं रूपम्। तत्रासत्त्वग्रहणेण विरूद्धस्य निरासः। विरूद्धो हि विपक्षेऽस्ति। एवकारेण साधारणस्य विपक्षैकदेशवृत्तेर्निरासः। प्रयत्नानन्तरीयकत्वे साध्ये ह्यनित्यत्वं विपक्षैकदेशे विद्युदादौ अस्ति। आकाशादौ नास्ति। ततो नियमेनास्य निरासः। असत्त्वशब्दाद् हि पूर्वस्मिन् अवधारणेऽयमर्थः स्यात्विपक्ष एव यो नास्ति स हेतुः। तथा च प्रयत्नानन्तरीयकत्वं सपेक्षऽपि सर्वत्र नास्ति। ततो न हेतुः स्यात्। ततः पूर्वं न कृतम्। निश्चितग्रहणेन सन्दिग्धविपक्ष व्यावृत्तिकोऽनैकान्तिको निरस्तः।

– धर्मोत्तर, न्यायबिन्दु टीका 2.5, पृ. 108–109

[476] देखें – बौद्ध प्रमाण-मीमांसा की जैन-दृष्टि से समीक्षा, डॉ. धर्मचन्द जैन, पृ. 222

अध्याय–12

अनुमान में पक्ष की आवश्यकता के संबंध में बौद्धमत की समीक्षा

जैनों द्वारा प्रस्तुत बौद्धों का पूर्वपक्ष –

ज्ञातव्य है कि अनुमान में जहाँ बौद्ध 'पक्ष' को अनावश्यक मानते हैं, वहीं जैन 'पक्ष' को आवश्यक मानते हैं। जैन–दार्शनिकों के अनुसार, धुएँ से अग्नि की सिद्धि के लिए पर्वत या रसोईघर का होना आवश्यक नहीं है। इस संबंध में जैन सर्वप्रथम यह प्रश्न उठाते हैं कि धर्मी का ज्ञान कैसे होता है? जैन–दार्शनिकों का मानना है कि ज्ञान हेतु सर्वप्रथम तो जिज्ञासा का होना आवश्यक है। धर्मी के ज्ञान–संबंध में जैनों का कहना है कि धर्मी का ज्ञान कभी विकल्प से होता है, कभी प्रमाण से होता है तथा कभी विकल्प और प्रमाण–उभय से होता है। यहाँ सर्वप्रथम यह बताते हैं कि विकल्प क्या है ? विकल्प मात्र मन का अध्यवसाय या मानसिक–संकल्पना है। विकल्प में पदार्थ के नहीं होने पर भी पदार्थ की मानसिक–कल्पना करके उसका प्रस्तुतिकरण किया जाता है, यही विकल्प है। जब हम यह अनुमान करते हैं कि 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्', तो इसमें पर्वतरूपी धर्मी चाक्षुषादि प्रत्यक्ष से ग्राह्य होता है, अर्थात् पर्वत चक्षु आदि से प्रत्यक्ष का विषय बनता है। इस प्रकार, यहाँ प्रमाण से धर्मी (पर्वत) की सिद्धि होती है, किन्तु जब पर्वतरूपी धर्मी चक्षु आदि से प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं बनता है, तब मानसिक–कल्पना से भी साध्य की सिद्धि करने के लिए पक्ष को प्रस्तुत करना ही पड़ता है, अतः, वह पक्ष विकल्प से प्रसिद्ध धर्मी कहलाता है, यथा– किसी अनुमान के द्वारा सर्वज्ञ पुरुष का अस्तित्व सिद्ध किया जाता है। यद्यपि प्रत्यक्ष में सर्वज्ञ–पुरुष नहीं है, फिर भी मानसिक–कल्पना (विकल्प) से सर्वज्ञ को सिद्ध किया जाता है।[477]

---

[477] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 431

रत्नप्रभसूरि द्वारा प्रस्तुत बौद्धों का पूर्वपक्ष और उसकी समीक्षा

ग्रन्थकार जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि पक्ष (धर्मी) की सिद्धि को दृष्टांत द्वारा निम्न तीन प्रकार से समझाते हैं[478] –

1. सर्वप्रथम पक्ष (धर्मी) का ज्ञान विकल्प से होता है, जैसे – 'इस संसार में समस्त वस्तुओं को जानने वाले किसी सर्वज्ञ पुरुष का अस्तित्व है।' इस अनुमान में 'समस्त' हेतु के प्रयोग से सर्वज्ञ के 'अस्तित्व' को सिन्द्ध करना है, किंतु वर्त्तमान में सर्वज्ञ के अस्तित्व की सिद्धि चाक्षुष–ज्ञान का विषय नहीं बन सकती है, इसलिए मात्र विकल्प (मानसिक–कल्पना) से ही सर्वज्ञ की सिद्धि संभव हो सकती है। जिस समय धूम हेतु का प्रयोग करते समय अग्नि साध्यमान् होने से भले ही वह अग्नि चाहे चक्षु का विषय न बने, अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण से अग्नि सिद्ध न हो, किंतु फिर भी जिसमें अग्नि को सिद्ध करना है तथा जिसमें धूम को देखा है, वह पर्वत (धर्मी) तो प्रत्यक्षरूप से सिद्ध ही है, किन्तु सर्वज्ञ की सिद्धि में ऐसा संभव न होने से, सर्वज्ञ की सिद्धि मात्र विकल्प से ही होती है, प्रत्यक्ष, आगम आदि किसी भी अन्य प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि संभव नहीं है।[479]

दूसरे प्रकार से, धर्मी का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है, यथा– यह पर्वत का शिखर (पक्ष) अग्नि वाला है, क्योंकि वहाँ धूम दिखाई दे रहा है। इस अनुमान में 'पर्वत' नाम का जो धर्मी (पक्ष) है, वह चाक्षुष–प्रत्यक्ष से ग्राह्य होने से यहाँ विकल्प (कल्पना) की कोई आवश्यकता ही नहीं है।[480]

इसी प्रकार, अन्य तीसरे अनुमान में 'धर्मी' (पक्ष) का ज्ञान प्रत्यक्ष और विकल्प–उभय से होता है। वक्ता के द्वारा उच्चारित शब्द श्रोता के द्वारा श्रवणीय होने से श्रोता संबंधी ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है, किंतु जिन शब्दों को भूतकाल में बोला जा चुका है तथा जो शब्द दूर व्यवधान वाले स्थान में वर्त्तमान में बोले जा रहे हैं, वे शब्द हमारे लिए श्रोत्र ग्राह्य नहीं होने के कारण वे शब्द प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से बोधक न होने से विकल्प–मात्र से ही बोधक बन सकते हैं, अतएव श्रूयमान शब्द प्रत्यक्ष प्रमाण से और शेष शब्द विकल्प से जाने जाते हैं, अर्थात् शब्दरूप धर्मी (पक्ष) का ज्ञान अंशतः विकल्प से और अंशतः प्रत्यक्ष प्रमाण से– ऐसे उभय

---

478 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 431

479 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 432

480 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 432

से होता है। इस प्रकार, धर्मी (पक्ष) का ज्ञान 1. विकल्प से 2 प्रत्यक्ष प्रमाण से और 3. उभय से– ऐसे तीनों प्रकारों से होता है।[481]

बौद्ध – जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि द्वारा धर्मी (पक्ष) के ज्ञान के संबंध में उपर्युक्त तीन प्रकारों का उल्लेख किए जाने पर बौद्ध–दार्शनिक यह प्रश्न उत्पन्न करते हैं कि मात्र विकल्प से धर्मी की सिद्धि संभव नहीं है। यदि विकल्प अर्थात् मानसिक–संकल्पना से ही धर्मी की सिद्धि होती हो, तो फिर मानसिक–संकल्पना (विकल्प) मात्र से किसी भी पदार्थ की सिद्धि हो सकती है। परीक्षक व्यक्ति को किसी भी पदार्थ की सिद्धि के लिए किसी भी प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, मानसिक–कल्पनामात्र से सबकी सिद्धि हो जाएगी।[482]

पुनः, बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि दूसरे, यदि आप पक्ष की सिद्धि प्रमाणमूलक मानते हैं, तो यह भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि आपने पक्ष की सिद्धि में एक तरफ तो विकल्प (कल्पना) को पहला प्रकार और प्रमाण को दूसरा प्रकार बताया है, अर्थात् दोनों को भिन्न–भिन्न बताया है, तो वहीं दूसरी तरफ आपने विकल्प को प्रमाणयुक्त बता दिया, लेकिन यह कथन तो विरोधाभासपूर्ण लगता है। इसी प्रकार, धर्मी (पक्ष) को विकल्प एवं प्रमाण– इन दोनों से सिद्ध बताना भी विरोधाभासपूर्ण है, या तो विकल्प को भी प्रमाण–सिद्ध धर्मी (पक्ष) नामक दूसरे प्रकार के अंतर्गत ही मानना होगा, भिन्न मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी, क्योंकि विकल्प या तो प्रमाणरूप होगा या अप्रमाणरूप। यदि उसे अप्रमाणरूप मानेंगे, तो वह निरर्थक होगा।[483]

जैन – जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों के इन तर्कों की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि बौद्ध–दार्शनिक स्वयं ही तो विकल्पसिद्ध धर्मी (पक्ष) को स्वीकार करते हैं, तो फिर हमारे द्वारा प्रतिस्थापित विकल्पसिद्ध धर्मी (पक्ष) के सिद्धांत का खंडन क्यों करते हैं ? यदि आप विकल्पसिद्ध धर्मी (पक्ष) का निषेध करेंगे, तो फिर अनुमान ही कैसे कर पाएँगे ? क्योंकि आप जो अनुमान करते हो, उसमें विकल्पसिद्ध धर्मी का निषेध करने के लिए आपको विकल्पसिद्ध धर्मी को ही पक्ष बनाना पड़ेगा।[484]

---

481 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 432
482 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 433
483 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 433
484 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 433

जैन कहते हैं कि यदि कदाचित् आप बौद्ध–दार्शनिक 'विकल्पसिद्ध धर्मी नहीं हैं'– ऐसा सिद्ध करने के लिए भी अनुमान करते हैं, तो उस अनुमान में उसको पक्ष–रूप में छोड़ नहीं सकते और यदि छोड़ते हैं, तो उसका खंडन कैसे करते हैं ?[485]

पुनः, यदि बौद्ध यह कहते हैं कि हम बौद्ध तो विकल्पसिद्ध धर्मी को मानते तो नहीं हैं, किंतु जैनों द्वारा मान्य होने से उसका खण्डन करते हैं।[486]

जैन – इस पर, जैन–दार्शनिक कहते हैं कि धर्मी (पक्ष) में धर्म (साध्य) की सिद्धि अनुमान से ही तो होती है। इसके प्रत्युत्तर में, बौद्ध यह कह सकते हैं कि धर्मी (पक्ष) तो प्रत्यक्ष का विषय होता है, पर्वत और धूम– दोनों दिखाई देंगे, तो ही पर्वत पर अग्नि की सिद्धि होगी, अतः, पक्ष को तो प्रत्यक्ष से ही मानना पड़ेगा। यदि पक्ष (पर्वत) को विकल्प (कल्पना) से मानेंगे, तो फिर पूरा अनुमान ही काल्पनिक हो जाएगा। जैनों का कहना है कि यदि आप बौद्ध धर्मी (पक्ष) को विकल्पसिद्ध मानते हैं, तो हमारा खण्डन कैसे करते हैं? और यदि आप बौद्ध–दार्शनिक यह कहते हैं कि धर्मी (पक्ष) विकल्पसिद्ध नहीं है, तो फिर सर्वज्ञ को अनुमान से कैसे सिद्ध करेंगे ? चाहे जगत् में सर्वज्ञ हों या न हों, चाहे उसका विधान करना हो या निषेध करना हो– दोनों में विकल्पमात्र से धर्मी (पक्ष) की कल्पना करके ही उसके विधि–निषेध के लिए अनुमान होगा। यदि सर्वज्ञ की सिद्धि या खण्डन करना हो, किन्तु सर्वज्ञ का अस्तित्व या नास्तित्व प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम– इन तीनों प्रमाणों में किसी से भी सिद्ध नहीं हो सकता है, उसको विकल्प (मानसिक–कल्पना) से ही मानना होगा। सर्वज्ञ का अस्तित्व या नास्तित्व, कुछ भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध नहीं हो सकता है, इसलिए यह मानना होगा कि सर्वज्ञ विकल्पसिद्ध धर्मी है।[487]

इसके विपरीत, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि किसी भी अन्य प्रमाण से, जिसके अस्तित्व या नास्तित्व का निश्चय हो गया हो, वह प्रमाणसिद्ध धर्मी कहलाता है, जैसे– 'यह पर्वत वह्निमान् है।'[488]

---

485 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 434

486 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 434

487 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 434

488 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 434

शब्द अनित्य हैं– इस अनुमान में धर्मी शब्द उभयसिद्ध है, क्योंकि वर्त्तमानकालीन शब्द श्रोत्र ग्राह्य होने से प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध हैं तथा भूत एवं भविष्य के शब्द अविद्यमान होने से विकल्पसिद्ध हैं, इसलिए अनित्य–शब्द उभयसिद्ध धर्मी कहलाता है। इस प्रकार, से, स्वार्थानुमान में धर्मी विकल्पसिद्ध, प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध– इन तीनों में से किसी भी प्रकार का हो सकता है, यह जैन–दर्शन की मान्यता ही न्यायसंगत है।

जैन – स्वार्थानुमान के प्रतिपादन के पश्चात् अब ग्रन्थकार परार्थानुमान का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि पक्ष और हेतु वाले वचन को परार्थानुमान कहते हैं। पक्ष और हेतु से श्रोता को किस प्रकार से बोध होता है, उसे स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि श्रोता तीन प्रकार के होते हैं– 1. अतिव्युत्पन्नमति वाले (अति–बुद्धिमान्) 2. व्युत्पन्नमति वाले (बुद्धिमान्) और 3. मन्दमति वाले। इन तीनों प्रकार के श्रोताओं के आधार पर भिन्न–भिन्न प्रकार की अनुमान की प्रक्रिया का प्रयोग किया गया है– 1. अतिव्युत्पन्नमति वाले श्रोता को तो मात्र 'यहाँ धूम दिखाई दे रहा है', वक्ता के मात्र इस हेतु–वचन से ही परार्थानुमान हो जाता है, उसे दृष्टान्त आदि के कथन की आवश्यकता नहीं रहती है, क्योंकि वह अति बुद्धिमान् है, उसको यह बताने की आवश्यकता नहीं होती कि जहाँ–जहाँ धुआँ होता है, वहाँ–वहाँ अग्नि होती है। वह तो मात्र हेतु (धूम) के कथन से ही अग्नि का अनुमान लगा लेता है। उसके लिए पक्ष और दृष्टान्त के कथन की आवश्यकता नहीं होती है, किन्तु संसार में अतिव्युत्पन्नमति वाले व्यक्ति बहुत कम होते हैं। दूसरे प्रकार के व्युत्पन्नमति वाले श्रोताओं के लिए पक्ष और हेतु– इन दोनों से युक्त कथन ही परार्थानुमान के लिए आवश्यक होता है, किन्तु तीसरे प्रकार के मन्दमति वाले श्रोताओं के लिए पक्ष, हेतु, दृष्टान्तादि पाँचों अवयव परार्थानुमान के लिए आवश्यक होते हैं, अर्थात् पक्ष, हेतु, दृष्टांत, उपनय और निगमन– इन पाँचों अवयवों द्वारा धूमवान् पर्वत पर अग्नि का ज्ञान होता है।[489]

जैन – यहाँ ग्रन्थकार रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि जिस प्रकार डंडे के मध्य भाग को पकड़ लेने से उसके दोनों सिरों का ज्ञान हो जाता है, उसी प्रकार अतिव्युत्पन्नमति वाले श्रोता के लिए तो मात्र निश्चितान्यथानुपपत्ति नामक एकमात्र हेतु–लक्षण ही पर्याप्त होता है, किंतु मन्दमति वाले व्यक्तियों को साध्य की सिद्धि के लिए पाँचों अवयवों का

---

[489] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 435

ज्ञान कराना होता है, अतः, इसे यहाँ पर उपाचार से समझ लेना चाहिए।[490]

बौद्ध – यहाँ पर बौद्ध–दार्शनिक यह प्रश्न करते हैं कि 'पक्ष और हेतु को बताने वाला वचन परार्थानुमान होता है'– ऐसा जो निरूपण आप जैनों ने किया है, तो वह वचन तो आपके अनुसार भाषा–वर्गणा के पुद्‌गलरूप होने से जड़ या अचेतन होता है, जबकि जो स्व–पर–व्यवसायात्मक–ज्ञान होता है, वह चेतनात्मक है, अतः, आपका जो वचन–व्यवहार है, वह प्रमाण कैसे कहा जा सकता है ? अतः, पक्ष और हेतु को बताने वाला वचन–व्यवहार प्रमाणरूप न होने से आपका परार्थानुमान का लक्षण भी प्रमाण कैसे हो सकता है ?[491]

जैन – इसके उत्तर में, जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि उस वचन–व्यापार को भी उपचार से तो प्रमाण कह सकते हैं। पक्ष और हेतु को बताने वाले लक्षण चाहे जड़रूप हों, किंतु फिर भी उनसे श्रोता के हृदय में उत्पन्न होने वाला ज्ञान चेतनात्मक होने से वह प्रमाणरूप होता है। पक्ष–हेतुरूप ये वचन कारणरूप होते हैं और उनसे उत्पन्न होने वाला बोध कार्यरूप होता है और वह चेतन होता है, इसलिए कारण में कार्य का उपचार करके वचन–व्यापार को भी प्रमाणरूप कह सकते हैं। जिस प्रकार वक्ता के हृदय में रहा हुआ स्वार्थानुमानरूप ज्ञान प्रमाणरूप होता है, उसी प्रकार पक्ष–हेतु आदि पाँचों वचनरूप अवयवों से श्रोता के हृदय में उत्पन्न होने वाला ज्ञान भी प्रमाणरूप होता है, क्योंकि वह ज्ञान भी उन शब्दों का कार्य होता है। कार्य में कारण का उपचार होता है। इस प्रकार से, श्रोता (प्रतिपाद्य) के आश्रय से 'कारण में कार्य का उपचार होता है' और वक्ता (प्रतिपादक) के आश्रय से 'कार्य में कारण का उपचार होता है'– इस प्रकार, दोनों अपेक्षाओं से जड़ात्मक शब्द–व्यवहार भी उपचार से परार्थानुमानरूप प्रमाण कहलाता है।[492]

बौद्ध – अब बौद्ध–दार्शनिक परार्थानुमान में पक्ष की आवश्यकता के विरोध में अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए जैनों से कहते हैं कि परार्थानुमान में, अर्थात् दूसरों के लिए जो अनुमान किया जाता है, उसमें पाँचों अवयवों में से प्रथम अवयव पक्ष के प्रयोग करने की कोई आवश्यकता

---

490 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 436

491 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 436

492 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 436

नहीं है। साध्य की सिद्धि तो मात्र व्याप्ति–संबंध, हेतु की पक्षधर्मता और उपनय द्वारा हो जाती है।[493]

जैन – इसके उत्तर में, जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्ध–मत का खंडन करते हुए कहते हैं कि जहाँ–जहाँ धुआँ होता है, वहाँ–वहाँ अग्नि होती है– ऐसी व्याप्ति करते हुए जब हम यह कहते हैं कि जहाँ–जहाँ धुआँ है, तो इस धूम नामक हेतु का कोई न कोई आधार तो चाहिए, क्योंकि सामान्य रूप से व्याप्ति का ज्ञान होने पर भी अन्ततः तो हमको यह तो बताना ही पड़ेगा कि हेतु का आधाररूप धुआँ कहाँ है ? क्या वह धुआँ रसोईघर में है, या चौराहे पर है ? या पर्वत पर है ? यह तो बताना ही होगा, अन्यथा स्थान–विशेष का बोध तो होगा ही नहीं और उसके अभाव में साध्य की सिद्धि किस स्थान पर की जाएगी ? जहाँ–जहाँ धुआँ, वहाँ–वहाँ अग्नि– इस व्याप्तिरूपी सामान्य के कथन के साथ में हमें स्थान–विशेष का भी कथन तो करना ही पड़ेगा कि धुआँ कहाँ पर है ? धुआँ किस स्थान पर है, यह बताने के लिए स्थान–विशेष का कथन तो करना ही पड़ेगा कि धूम 'पर्वत' पर है, अतः, पक्ष का प्रयोग तो अवश्यंभावी होगा। आप बौद्ध जिस प्रकार पक्ष–धर्मतारूप उपसंहारात्मक–वचन मानते हैं, उसी प्रकार साध्य की सिद्धि हेतु परार्थानुमान अर्थात् किसी दूसरे व्यक्ति को साध्य की सिद्धि कराते समय 'पक्ष' का प्रयोग भी अवश्य ही करना चाहिए।[494]

बौद्ध – बौद्ध–दार्शनिकों की अवधारणा यह है कि जब हम ऐसी व्याप्ति करते हैं कि जहाँ–जहाँ धुआँ है, वहाँ–वहाँ अग्नि है, तो हमें इस व्याप्ति–ज्ञान से ही धूम के साथ अग्नि के अविनाभाव–सम्बन्ध का निश्चय हो जाता है, साथ ही यह भी निश्चय हो जाता है कि यह धुआँ किसी स्थान विशेष पर्वत आदि पर ही है, अन्यत्र नहीं है। इस प्रकार, हेतु विशिष्टधर्मी (पक्ष–पर्वत) का बोध अपने–आप ही हो जाता है, अतः, यहाँ पर्वत पर आग है– ऐसा पक्षात्मक–कथन करना कोई जरूरी नहीं होता है, सामान्य में ही विशेष का उपसंहार हो जाता है, अतः, हम बौद्धों का मंतव्य है कि परार्थानुमान में पक्ष का प्रयोग करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है।[495]

---

493 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 437

494 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 437

495 रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 437

जैन – इसके उत्तर में, जैन–दार्शनिक कहते हैं कि जब हम व्याप्ति (जहाँ–जहाँ धुआँ है, वहाँ–वहाँ अग्नि है) करते हैं, तो उससे हेतु और साध्य में अविनाभाव–संबंध का बोध करते हैं, जो सामान्य ज्ञानरूप ही होता है, अतः, किसी स्थान विशेष पर साध्य की सिद्धि करते समय अत्र अर्थात् पर्वत पर ऐसे पक्ष का प्रयोग तो करना ही पड़ता है, अर्थात् यह बताना होता है कि वह अग्नि पर्वत (पक्ष) पर ही है, अन्यत्र नहीं है, अर्थात् रसोईघर में अथवा चौराहे पर नहीं है।[496]

उपर्युक्त सम्पूर्ण कथन का फलितार्थ तो यह होता है– 1. व्याप्ति ग्रहण के समय में धूम का आधार सामान्य बताते हैं, जबकि अनुमान में पक्ष के प्रयोग द्वारा उसका आधार विशेष बताया जाता है। 2. उपसंहार के समय में तो आधार के विशेष होने का 'अत्र' शब्द द्वारा सूचन तो आप भी करते ही हैं। 1. व्याप्ति ग्रहण के समय में अग्नि का सामान्य आधार बताया जाता है। 2. परार्थानुमान के समय अग्नि का विशिष्ट आधार बताने के लिए 'अत्र' शब्द का प्रयोग किया जाता है। वह 'अत्र' शब्द पक्ष का सूचक होता है, अतः, उसका प्रयोग अवश्य करना चाहिए।[497]

बौद्ध – इस पर, बौद्ध–दार्शनिक जैनों से कहते हैं कि तीन प्रकार के हेतु के अन्तर्गत ही पक्ष का प्रयोग हो जाता है। वे तीन प्रकार के हेतु निम्न हैं– 1. कार्य–हेतु 2. स्वभाव–हेतु और 3. अनुपलब्धि (अभाव) हेतु। 1. हेतुरूप जो पदार्थ होता है, वह साध्य का कार्य होता है, अर्थात् अग्नि में से ही उत्पन्न होने वाला धूम कार्य–हेतु कहलाता है, अतः, धुएँ को देखकर अग्नि का अनुमान करना कार्य–हेतु के आधार पर अनुमान करना है, यथा– 'पर्वतो वह्निमान् धूमात् महानसवत्'– यहाँ जो धूम–हेतु है अग्नि का कार्य होने से उसे कार्य–हेतु कहते हैं। 2. हेतुरूप जो धूम नामक पदार्थ है, वह भी दाहात्मकता के समान ही साध्य अग्नि का स्वभाव है, अर्थात् धूम और दाहात्मकता– ये दोनों अग्नि के स्वभाव हैं। इस प्रकार, जिसका जो स्वभाव होता है, वह स्वभाव–हेतु कहलाता है। 3. जो पदार्थ हमारे प्रत्यक्षीकरण का विषय हैं, उनमें से किसी का अभाव होना, जैसे– इस कमरे में यह घट नहीं है, वह अनुपलब्धि (अभाव) रूप हेतु कहलाता है।[498]

---

[496] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 437, 438

[497] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 438

[498] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 438, 439

ये तीनों प्रकार के हेतु तभी सद्हेतु बनते हैं, जब वे अपने साध्य की सिद्धि करने में समर्थ होते हैं। ऐसे हेतु सामर्थ्य वाले हेतु भी कहलाते हैं। असिद्धता, व्यभिचार एवं बाधित आदि हेत्वाभासों से रहित जो हेतु होते हैं, वे सद्हेतु और सामर्थ्य वाले हेतु कहलाते हैं, किन्तु इसके विपरीत, असिद्धता, व्यभिचार और बाधित–इन दोषों से युक्त हेतु असद्हेतु या असमर्थ हेतु कहलाते हैं, क्योंकि ये हेतु साध्य सिद्ध करने में असमर्थ होते हैं। जब हम कहते हैं कि 'ह्रदो वह्निमान् धूमवत्वात्', अर्थात् यह तालाब अग्नि से युक्त है, क्योंकि 'यह धूमयुक्त है– इस अनुमान में असिद्धता नाम का दोष रहा हुआ है। 'पर्वतो वह्निमान् प्रमेयत्वात्', अर्थात् पर्वत अग्नियुक्त है, क्योंकि वह प्रमेय है– यह हेतु व्यभिचार–दोष से ग्रसित है, क्योंकि पर्वत अग्नियुक्त हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है। 'वह्निः अनुष्णः द्रव्यत्वात्', अग्नि ऊष्ण नहीं है, क्योंकि वह द्रव्य है, यह अनुमान में बाधित–दोष से ग्रसित है, क्योंकि द्रव्य–हेतु अनुष्ण भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि असिद्ध, व्यभिचारी और बाधित आदि हेतु–दोषों से रहित हेतु ही सद्हेतु या सामर्थ्यवाले हेतु कहलाते हैं।[499]

जैन – जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों की इस स्थापना का फलितार्थ बताते हुए कहते हैं कि इन सबका तात्पर्य तो 'पक्ष' से असम्बद्धता ही है, जैसे– 'असिद्धता' का तात्पर्य भी यही होता है कि हेतु का पक्ष में नहीं होना, जैसे कि शब्द का गुण श्राव्य होना है, किन्तु यदि यह कहें कि शब्द का गुण देखना है, तो यह गुण हेतु के पक्षभूत 'शब्द' में नहीं रहना है, अतः, असिद्धता–दोष से ग्रसित कहलाता है। इन असिद्धतादि दोषों से रहित हेतु पक्ष में रहता है, इसलिए अनुमान में पक्ष का प्रयोग अवश्य करना चाहिए और पक्ष में निहित हेतु सद्हेतु या समर्थ–हेतु होता है, जो स्वतः अपनी सिद्धि कर सकता है, अतः, आप बौद्धों को हेतु के लिए पक्ष की आवश्यकता को स्वीकार कर लेना चाहिए, अन्यथा आपको असमर्थ हेतु को ही हेतु के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा।[500]

बौद्ध – इसके उत्तर में, बौद्ध कहते हैं कि असमर्थ हेतु को समर्थ हेतु कैसे कह सकते हैं ? और यदि हेतु ही सद् नहीं है, तो पक्ष कहाँ होगा ?[501]

---

[499] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 439

[500] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 439

[501] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 439

जैन – इस पर, जैनों का कहना है कि आपने जो तीन प्रकार के हेतु बताए हैं, वे हेतु किसमें रहते हैं ? वस्तुतः, जहाँ साध्य की सिद्धि करना हो, वहीं तो हेतु रहेगा और यदि वहाँ नहीं होगा, तो वहाँ साध्य की सिद्धि भी नहीं होगी। दूसरे, यदि आप बौद्ध–पक्ष की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करेंगे, तो हेतु का विधान या निषेध पक्ष के अभाव में किससे करेंगे ? अतः, तीनों प्रकार के हेतुओं में कौनसा हेतु कहाँ स्थित है, इसके लिए तो पक्ष बताना ही पड़ेगा ? पक्ष प्रयोग किए बिना, मात्र विवाद (चर्चा) से ही पक्ष स्पष्ट नहीं हो पाता है।[502]

पुनः, जैन कहते हैं कि यदि आप यह कहते हैं कि पक्ष तो हेतु–कथन से समझ में आ जाता है, तो फिर इसी प्रकार हेतु को भी कथन से ही समझ में आ जाना चाहिए। बिना हेतु के भी साध्य की सिद्धि हो जाना चाहिए।[503]

बौद्ध – इस पर, बौद्ध कहते हैं कि यद्यपि यह ठीक है कि अति बुद्धिशाली श्रोता को हेतु भी कथन से ही समझ में आ जाता है, उसे हेतु को बताने की भी कोई आवश्यकता नहीं होती है। हम तो हेतु कथन भी मंदमति वालों के लिए ही करते हैं।[504]

जैन – इस चर्चा के अंत में, जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों से कहते हैं कि जिस प्रकार आप मंदबुद्धि वालों के लिए हेतु का प्रयोग आवश्यक मानते हैं, उसी प्रकार हम भी पक्ष का प्रयोग मंदबुद्धि वालों के लिए ही करते हैं, अतः, आप बौद्धों को परार्थानुमान में हेतु के समान ही पक्ष के प्रयोग को भी अवश्य स्वीकार कर लेना चाहिए।[505]

अनुमान में पक्ष की अनावश्यकता संबंधी बौद्ध–मंतव्य की समीक्षा

(अ) भारतीय–दर्शन में अनुमान के अवयव–

भारतीय–दर्शन में चार्वाक–दर्शन को छोड़कर सभी दर्शनों में अनुमान को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। सामान्यतया, न्याय–दर्शन में अनुमान के पाँच अवयव या अंग माने हैं, ये निम्न हैं– 1. प्रतिज्ञा या साध्य 2. हेतु 3. दृष्टांत 4. उपनय और 5. निगमन, किन्तु जब

---

[502] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 439
[503] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 440
[504] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 440
[505] रत्नाकरावतारिका, भाग II, रत्नप्रभसूरि, पृ. 440

साध्य की सिद्धि की जाती है, तो साध्य की सिद्धि किसी पक्ष में होती है। यद्यपि हेतु की चर्चा में बौद्धों ने भी पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्ष–असत्व– ऐसे तीन कारण मानें हैं और यह कहा था कि असिद्ध, विरुद्ध एवं अनेकान्तिक–दोषों का परिहार करने के लिए यह त्रैरूप्य हेतु–लक्षण आवश्यक हैं। इस प्रकार, बौद्धदर्शन भी अनुमान में हेतु–लक्षण निर्धारण करते हुए पक्ष को स्वीकार करता है, फिर भी उनका यह मानना है कि पक्ष की आवश्यकता केवल हेतु–लक्षण में है, वह अनुमान का आवश्यक अंग नहीं होगा।

(ब) पक्ष की अनावश्यकता के संबंध में बौद्धों का पूर्वपक्ष–

अनुमान के पाँच अंगों को लेकर बौद्ध–दार्शनिकों में भी मतभेद देखा जाता है। डॉ. धर्मचन्द जैन लिखते हैं कि बौद्धदर्शन में परार्थानुमान के अवयवों पर विचार करने के अनन्तर विदित होता है कि बौद्ध–दार्शनिक न्यायदर्शन में प्रतिपादित प्रतिज्ञा, उपनय एवं निगमन का खंडन करते हैं। उनके मत में पंचावयव–परंपरा अंगीकृत नहीं है।[506] यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सामान्यतया जिसे प्रतिज्ञा या साध्य कहा जाता है, उसे कुछ दार्शनिकों ने पक्ष भी माना है। सामान्यतया पक्ष उसको कहते हैं, जिसमें साध्य की सिद्धि की जाती है, किन्तु साध्य की सिद्धि करने वाला सम्पूर्ण वाक्य भी पक्ष के रूप में स्वीकार किया जाता है। बौद्ध–दार्शनिकों ने पदार्थ–अनुमान के अवयवों की संख्या के संबंध में चार प्रकार के मंतव्यों का उल्लेख किया है– प्रथमतः, दिङ्नाग ने अपने ग्रन्थ न्याय–प्रवेश में पक्ष, हेतु और दृष्टांत– ऐसे तीन अंगों को स्वीकार किया है। यहाँ वे उपनय और निगमन को परार्थानुमान का आवश्यक अंग नहीं मानते, क्योंकि उपनय–हेतु वाक्य की पुनरावृत्ति है और निगमन पक्ष की ही पुनरावृत्ति है। न्यायप्रवेश में दिङ्नाग लिखते हैं कि पक्ष, हेतु और दृष्टांत–वचनों से प्राश्निकों को अप्रतीत अर्थ का ज्ञान कराया जाता है।[507] बौद्ध–न्याय के इतिहास में दिङ्नाग के पश्चात् धर्मकीर्त्ति का क्रम आता है। धर्मकीर्त्ति ने दिङ्नाग द्वारा मान्य तीन अवयवों में से पक्ष को अलग करके शेष दो अवयवों को ही आवश्यक माना है। वे न्यायबिन्दु में लिखते हैं कि साधर्म्य एवं वैधर्म्य– दोनों प्रकार के अनुमान में पक्ष का निर्देश करना आवश्यक नहीं है।[508] इसका फलित यह

---

[506] बौद्ध प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा, डॉ. धर्मचन्द जैन, पृ. 273, 274

[507] देखें – पक्ष हेतु दृष्टान्त वचनैर्हि प्राश्निकानामऽप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यत इति–न्यायप्रवेश पृ. 1

[508] देखें – द्वयोरप्यनयोः प्रयोगयोर्नाविश्यं पक्ष निर्देशः। –न्यायबिन्दु 3.24

है कि धर्मकीर्त्ति के अनुसार, अनुमान में प्रतिज्ञा या पक्ष का उल्लेख आवश्यक नहीं है। यद्यपि मोक्षाकर गुप्त आदि कुछ बौद्ध–दार्शनिक न्यायदर्शन के पंच अवयवों का तो खंडन करते हैं, किंतु वे पक्षधर्मता और व्याप्ति को परार्थानुमान के लिए आवश्यक मानते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्धदर्शन में पक्ष या प्रतिज्ञा को अनुमान का अवयव मानने के संबंध में ही परस्पर मतभेद हैं। मात्र धर्मकीर्त्ति ही एक ऐसे व्यक्ति हैं, जो प्रतिज्ञा या पक्ष को आवश्यक मानते हैं। मात्र यही नहीं, धर्मकीर्त्ति ने तो यहाँ तक कहा है कि विशिष्ट मति वाले अधिकारी के लिए तो केवल एक हेतु ही अनुमान के लिए पर्याप्त है। इस प्रकार, धर्मकीर्त्ति ने तो पक्ष या प्रतिज्ञा को अनुमान का अवयव मानने से इंकार कर दिया था।

जहाँ तक जैन–दार्शनिकों का प्रश्न है, उन्होंने अनुमान के अवयवों की संख्या को लेकर दो, पाँच और दस अवयव माने हैं। दशवैकालिकनिर्युक्ति में इन तीनों प्रकार की मान्यताओं का उल्लेख मिलता है। जैन–दार्शनिक यह मानकर चलते हैं कि प्रबुद्ध व्यक्तियों के लिए तो केवल प्रतिज्ञा और हेतु– ये दो ही अवयव अनुमान करने के लिए पर्याप्त हैं, फिर वे सामान्य बुद्धि के लिए न्यायदर्शनसम्मत पांच अंग मानते हैं, किन्तु विशेष स्पष्टीकरण के लिए तो उन्होंने दस अवयव ही माने हैं। जैन–दर्शन में इन दस अवयवों का उल्लेख दो प्रकार से मिलता है। प्रथम प्रकार में– 1. प्रतिज्ञा, 2. प्रतिज्ञा–विशुद्धि 3. हेतु 4. हेतु–विशुद्धि 5. दृष्टांत 6. दृष्टांत–विशुद्धि 7. उपनय 8. उपनय–विशुद्धि 9. निगमन 10. निगमन–विशुद्धि। अन्यत्र, वे न्याय–भाष्य का अनुमान करते हुए प्रकारान्तर से निम्न दस अंगों का भी निर्देश करते हैं– 1. प्रतिज्ञा, 2. प्रतिज्ञा–विभक्ति, 3. हेतु, 4. हेतु–विभक्ति, 5. विपक्ष, 6. विपक्ष–प्रतिषेध, 7. दृष्टांत 8. आशंका, 9. आशंका–प्रतिषेध और 10. निगमन।[509] यद्यपि जैन–दार्शनिक सिद्धसेन, अकलंक आदि भी बौद्ध–दार्शनिक धर्मकीर्त्ति के समान ही व्युत्पन्नमति के लिए दो अवयवों को स्वीकार करते हैं, फिर भी जहाँ बौद्ध–दार्शनिक धर्मकीर्त्ति पक्ष को अनुमान का आवश्यक अवयव नहीं मानते हैं, वहीं जैन–दार्शनिक पक्ष और हेतु– ऐसे दो अवयवों को तो अवश्य ही स्वीकार करते हैं। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि बौद्ध–दार्शनिकों में धर्मकीर्त्ति ही एक ऐसे दार्शनिक हैं, जो स्पष्ट रूप से परार्थानुमान के अवयवों में पक्ष या प्रतिज्ञा को आवश्यक नहीं मानते हैं। जैन–दार्शनिकों में

---

[509] देखें – बौद्ध प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा, डॉ. धर्मचन्द जैन, पृ. 275

वादिदेवसूरि ने स्याद्वादरत्नाकर में और रत्नप्रभसूरि ने रत्नाकरावतारिका में धर्मकीर्त्ति द्वारा पक्ष को अनुमान का आवश्यक अवयव नहीं मानने की अवधारणा की विस्तृत रूप से समीक्षा की है। अग्रिम पृष्ठों में हम रत्नाकरावतारिका में प्रस्तुत धर्मकीर्त्ति के पक्ष को और रत्नप्रभसूरि द्वारा उसके खंडन को विस्तार से प्रस्तुत करेंगे।

अध्याय 13

बौद्धों के शून्यवाद की समीक्षा

विषय–स्थापन

प्रमाणशास्त्र में प्रमाण के अतिरिक्त प्रमेय, अर्थात् ज्ञान के विषय और प्रमाता, अर्थात् ज्ञाता के स्वरूप का निर्णय करना भी आवश्यक होता है। ज्ञान के विषय को लेकर जैन–दर्शन यह मानता है कि ज्ञान का विषय ज्ञान से भिन्न (पदार्थ) है। जिस प्रकार नंगे पैर चलते हुए व्यक्ति को तृण का स्पर्श–ज्ञान होता है, उसी प्रकार ज्ञाता को ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञेय ज्ञाता और ज्ञान से भिन्न है। इस प्रकार, रत्नाकरावतारिका में जैन–दार्शनिक आचार्य रत्नप्रभसूरि ज्ञाता और ज्ञान से भिन्न ज्ञेय पदार्थ की सत्ता को स्वीकार करते हैं, जबकि शून्यवादी बौद्धों के अनुसार प्रमाता और प्रमेय– दोनों की यथार्थ (वस्तुगत) सत्ता नहीं है। रत्नाकरावतारिका के सोलहवें सूत्र में प्रमाण के लक्षण में उल्लेखित 'पर' शब्द की व्याख्या करते हुए रत्नप्रभसूरि कहते हैं– "ज्ञानादन्योऽर्थ परः", अर्थात् ज्ञान से भिन्न पदार्थ 'पर' कहलाते हैं। 'पर', अर्थात् जिसके निमित्त से ज्ञाता के ज्ञान में परिणमन होता है, अर्थात् जिसमें अर्थक्रिया होती है, वह पदार्थ 'पर' कहलाता है और वह सचेतन या अचेतन– दोनों प्रकार का हो सकता है।[510]

शून्यवादी बौद्ध–दर्शन का पूर्वपक्ष –

जैन–दर्शन में प्रमाण का लक्षण बताते समय कहा गया था कि जो ज्ञान 'अपना' और 'पर' का निश्चय करता है, वह प्रमाण है, अतः, यहाँ 'पर' से तात्पर्य बाह्यार्थ से है। ज्ञातव्य है कि जैन–दर्शन ज्ञान को वास्तविक मानता है और ज्ञान द्वारा प्रतीत होने वाले घट–पट आदि अन्य पदार्थों की भी वास्तविक स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करता है, किन्तु बौद्धों का विज्ञानवादी सम्प्रदाय बाह्यार्थ की स्वतन्त्र सत्ता का निषेध करता है, जबकि शून्यवादी

---

[510] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 77

माध्यमिक–सम्प्रदाय घट आदि बाह्य–पदार्थों को और ज्ञानरूप आन्तरिक–पदार्थों को मिथ्या मानता है। शून्यवादियों के अनुसार, यह समस्त जगत् प्रपंचरूप अर्थात् मिथ्या है। वास्तव में कोई भी पदार्थ सत् नहीं है। अनादिकालीन मिथ्या संस्कार के कारण हमें पदार्थ की प्रतीति होती है, अतः, पदार्थ की (पर की) त्रैकालिक वास्तविक सत्ता नहीं है।[511] यहाँ शून्यवादी अपने पूर्वपक्ष की सिद्धि हेतु जैन–दार्शनिक से यह प्रश्न करते हैं कि आप यदि पर की सत्ता को स्वीकार करते हैं, तो वह पर (पदार्थ) क्या है ? आप सर्वप्रथम यह सिद्ध करें कि पर (पदार्थ)– 1. अणुरूप है ? या 2. स्थूलरूप है? या 3. अणु और स्थूलरूप, अर्थात् उभयरूप है ? या 4. अनुभयरूप है ? शून्यवादी आचार्य रत्नप्रभसूरि से प्रश्न करते हैं कि आपके सिद्धांतानुसार यदि पदार्थ अणुरूप है, तो उस पदार्थ का ज्ञान हमें– 1. प्रत्यक्ष से होता है ? या 2. अनुमान से होता है ? यदि आप यह तर्क देते हैं कि पदार्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है, तो वह पदार्थ का प्रत्यक्ष–ज्ञान– 1. योगज–प्रत्यक्ष से होता है ? या 2. स्वयं के ऐन्द्रिक–प्रत्यक्ष से होता है ? यदि योगज–प्रत्यक्ष के आधार पर यह मानते हैं कि पदार्थ अणुरूप है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि आपको अतीन्द्रिय–ज्ञान से उसके अणुरूप होने का प्रत्यक्ष–बोध हुआ है, किन्तु शून्यवादियों का यह प्रश्न है कि इसको आपने (जैनों ने) कैसे जाना? आपमें तो अतीन्द्रिय–ज्ञान नहीं है। आप तो मात्र श्रद्धा के कारण ऐसा कहते हैं कि योगज–प्रत्यक्ष से अणुरूप पदार्थ का ज्ञान होता है। यदि आप यह कहें कि स्वयं के प्रत्यक्ष से पदार्थ के अणुरूप होने का ज्ञान होता है, किन्तु यह बात तो अनुभव से ही खण्डित हो जाती है, क्योंकि अणु का कोई भी अनुभव होता ही नहीं है। अणु तो इतना सूक्ष्म होता है कि हम अपनी इन्द्रियों से उसका प्रत्यक्ष ज्ञान कर ही नहीं सकते हैं। आपके (जैनों के) अनुसार भी परमाणु को केवली के अतिरिक्त कोई भी नहीं देख सकता है। स्वप्न में भी अणु का प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं होता है। ज्ञान तो इसी रूप में होता है कि यह स्तंभ है या यह कुंभ (घट) है, या यह पट है आदि, अतः, प्रत्यक्ष प्रमाण से 'यह अणु है'– ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता है। पुनः, यदि आप जैन यह मानते हैं कि अणुरूप पदार्थ का ज्ञान अनुमान से होता है, तो इस अनुमान से संबंधित दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं– 1. क्या साध्य–साधक संबंध के आधार पर अनुमान से अणु का ज्ञान होता है ? या 2. साध्य–साधक के संबंध के बिना ही अनुमान से अणु का ज्ञान हो जाता

---

[511] देखें – प्रमाणनयतत्त्वालोक, वादीदेवसूरि, पृ. 8

है ? (साध्य–अणु, साधन या हेतु–पदार्थ)। सर्वप्रथम, साध्य–साधन के मध्य संबंध का निश्चय किए बिना ही अनुमान से अणु का ज्ञान संभव नहीं होगा, क्योंकि अनुमान व्याप्ति पर निर्भर होता है, जबकि अणु और पदार्थ में व्याप्ति–संबंध नहीं होता है और यदि व्याप्ति–संबंध मान लें, तो अतिप्रसंग–दोष आ जाएगा। यदि बिना व्याप्ति–संबंध के ही अनुमान से अणु का ज्ञान संभव मानेंगे, तो फिर चाहे किसी भी हेतु से किसी भी साध्य की सिद्धि हो जाएगी, जो युक्तिसंगत नहीं है। इस प्रकार, अविनाभाव अर्थात् व्याप्ति–संबंध के बिना अर्थात् साध्य–साधन के संबंध के निश्चय के बिना अनुमान से अणु–ज्ञान संभव नहीं होगा। दूसरे, यदि यह कहते हैं कि साध्य–साधक संबंध के आधार पर अनुमान से अणु का ज्ञान होता है, तो यह बताइए कि उस साध्य–साधक–संबंध का ज्ञान– 1. प्रत्यक्ष से होता है? या 2. अनुमान से होता है ? प्रत्यक्ष से तो अणु और उसके ज्ञान के मध्य साध्य–साधक–संबंध का निश्चय असंभव है, क्योंकि अणु अतीन्द्रिय होने से वह पदार्थ ज्ञान का हेतु या लिंग बनने में समर्थ नहीं होता है, साथ ही अविनाभाव–संबंध के ज्ञान के बिना व्याप्ति–संबंध नहीं होगा और व्याप्ति के बिना अनुमान संभव नहीं होगा। दूसरे, यदि अनुमान से व्याप्ति–संभव का निश्चय मानेंगे, तो इसमें परस्पराश्रय–दोष उत्पन्न होता है, अर्थात् अविनाभाव–संबंध का निश्चय होने पर अनुमान सम्भव होगा और अनुमान के आधार पर अविनाभाव–संबंध या व्याप्ति–संबंध का निश्चय होगा, इस प्रकार तो, उनमें परस्पराश्रय–दोष उत्पन्न होगा, अथवा यदि अनुमान मानते हैं, तो फिर अनुमान का संबंध गृहीत है ? या अगृहीत है ? इस प्रकार, पुनः–पुनः उन्हीं प्रश्नों की आवृत्ति होने से अनवस्था–दोष उत्पन्न होगा, अतः, अनुमान से भी परमाणु की प्रतीति संभव नहीं होगी।[512]

इस प्रकार, न तो प्रत्यक्ष से और न अनुमान–प्रमाण से अणु (परमाणु) का ज्ञान संभव है। इस प्रकार, यदि हम पदार्थ को अणुरूप मानते हैं, तो उसका ज्ञान न तो प्रत्यक्ष से ही संभव होता है और न अनुमान से ही संभव होता है। इस आधार पर शून्यवादी बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि परमार्थतः न कोई ज्ञान है और न कोई ज्ञान का विषय (ज्ञेय) है, अतः, पदार्थ की कोई सत्ता नहीं है।

पुनः, शून्यवादी बौद्ध अपने पूर्वपक्ष की सिद्धि हेतु जैनों से यह प्रश्न करते हैं कि आप परमाणु को– 1. नित्य मानते हैं ? या 2. अनित्य मानते

[512] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 77, 78

हैं? यदि आप परमाणु को नित्य (अपरिणामी) मानते हो, तो वह नित्य–परमाणु अर्थक्रियाकारी है ? या नहीं है ? अर्थात् अर्थक्रिया करने में समर्थ है? या अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं है ? यदि परमाणु अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं है, अर्थात् कुछ भी क्रिया करने वाला नहीं हं, तो वह आकाश–पुष्प के समान असत् हो जाएगा। पुनः, यदि उस परमाणु की कोई सत्ता ही नहीं है, तो फिर परमाणु ज्ञान का विषय कैसे बनेगा ? अर्थात् नहीं बनेगा। इस प्रकार, हमारे शून्यवाद के सिद्धांत को ही स्वीकार करना होगा। इस प्रकार से, जब कोई भी पदार्थ सत् नहीं है, तो फिर किसी भी प्रमाण से पदार्थ की सत्ता सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि जिसकी सत्ता ही नहीं है, वह ज्ञान का विषय कैसे हो सकता है ? दूसरे, यदि आप यह कहते हैं कि परमाणु अर्थक्रिया करने में समर्थ है, तो वह परमाणु अर्थक्रिया– 1. क्रम से करता है, या 2. युगपत् रूप से अर्थक्रिया करता है ? यदि अणु अर्थक्रिया क्रम से करता है, तो वह– 1. स्वभाव के भेद के बिना अर्थक्रिया करता है या 2. स्वभाव का भेद करके अर्थक्रिया करता है ? स्वभाव के भेद के बिना अर्थक्रिया करता है, यदि ऐसा कहते हैं, तो वह– 1. जिस स्वभाव से पहले जो क्रिया की, अर्थात् जो कार्य पहले किया, उसी स्वभाव से वह उत्तरकालीन–क्रिया या कार्य करता है, अथवा जिस स्वभाव से उत्तरकालीन–क्रिया करता है, उसी स्वभाव से पूर्वकालीन–क्रिया भी की है? प्रथम पक्ष में तो पूर्वकालीन–क्रिया करते समय ही उत्तरकालीन–क्रिया होने का प्रसंग आ जाएगा। क्योंकि चाहे पूर्व की क्रिया हो, चाहे उत्तर की क्रिया– दोनों की एक ही स्वभाव से निष्पत्ति (उत्पत्ति) होती है। इसी प्रकार, दूसरे पक्ष में भी उत्तर–कार्योत्पत्ति के समय ही पूर्व–कार्योत्पत्ति का प्रसंग आ जाएगा। पुनः, अर्थक्रिया में स्वभाव–भेद से परमाणुओं की क्षणिकता समाप्त हो जाएगी, क्योंकि स्वभाव–भेद होना ही क्षणभंगुरता का लक्षण है, अतः, नित्य परमाणुओं में क्रम से अर्थक्रियाकारित्व सिद्ध नहीं हो सकता और यदि युगपत् अर्थक्रियाकारित्व मानो, तो परमाणु स्वयं ही सम्पूर्ण कार्यों को एक साथ ही सम्पन्न करने में समर्थ हो जाएंगे, तो फिर दूसरे क्षण में अर्थक्रियाकारित्व का अभाव हो जाने से परमाणु असत् की कोटि में आ जाएंगे। इस प्रकार, शून्यवादी जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि से यह तर्क करते हैं कि आप परमाणु में अर्थक्रियाकारित्व मानने पर तो उसे नित्य भी नहीं कह सकते हैं,[513] क्योंकि यदि परमाणु को नित्य मानते हैं, तो उसमें अर्थक्रियाकारित्व (परिर्वतन) सम्भव ही होगा, क्योंकि अर्थक्रियाकारित्व

---

[513] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 77, 78

का अर्थ ही परिवर्तन होता है। इसके विपरीत, यदि परमाणु को अनित्य मानते हो, तो वह परमाणु– 1. क्षणिक है ? अथवा कालान्तर स्थायी है ? अर्थात् सदा रहने वाला नित्य–पदार्थ है। एक क्षण के पश्चात् दूसरे, तीसरे आदि क्षणों में भी स्थायी रहने वाले पदार्थ को ही नित्य कहते हैं। यदि क्षणिक मानते हैं, तो क्या– 1. अकस्मात् ही, अर्थात् बिना किसी कारण के ही परमाणुओं की उत्पत्ति हो जाती है ? अथवा 2. किसी कारण से परमाणुओं की उत्पत्ति हो जाती है ? पुनः, यदि परमाणु की अकस्मात् उत्पत्ति होती है, तो या तो– 1. कारण का प्रतिषेध मानना चाहिए ? या 2. उत्पत्ति (कार्य) का प्रतिषेध मानना चाहिए ? 3. स्वात्म–हेतुत्व मानना होगा, अर्थात् स्वयं ही स्वयं का हेतु (कारण) होता है– ऐसा कहना चाहिए ? अथवा फिर परमाणु की न कोई आदि है और न कोई अन्त है, इस प्रकार, उसको 4. शाश्वत कहना चाहिए? इस प्रकार, शून्यवादी बौद्धों ने पूर्वपक्ष के रूप में जैनों के समक्ष चार विकल्प रखे हैं– 1. प्रथम विकल्प, परमाणुओं की उत्पत्ति में किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं होने से वह परमाणु अहेतुक अर्थात् किसी बिना कारण के होने से उसे या तो सत् माना जाएगा, या असत् माना जाएगा। इस प्रकार, परमाणुओं को अहेतुक मानने पर उसे नित्य–सत् या नित्य–असत् मानने का प्रसंग उत्पन्न हो जाएगा। दोनों स्थितियों में उसमें अर्थक्रियाकारित्व संभव नहीं होगा। 2. यदि दूसरा विकल्प यह मानते हैं कि परमाणुओं की उत्पत्ति न पूर्व में होती है, न पश्चात् होती है, अर्थात् परमाणुओं की उत्पत्ति ही नहीं होती है। इसका अर्थ होगा कि उनकी कोई सत्ता नहीं है, अर्थात् वे शून्यरूप हैं। 3. तीसरा, विकल्प स्वात्म–हेतुत्व मानने पर परमाणुओं की उत्पत्ति होगी, कैसे ? क्योंकि यदि पदार्थ स्वयं ही अविद्यमान हो, तो स्वयं की उत्पत्ति कैसे करेगा, अर्थात् अविद्यमान पदार्थ स्वयं की उत्पत्ति में निमित्त नहीं बन सकता। 4. चौथा विकल्प, यदि परमाणु को शाश्वत मानों, तो वह तो सनातन अर्थात् नित्य की कोटि में आ जाएगा, अतः, अकस्मात् ही, अर्थात् बिना किसी कारण के ही परमाणु की उत्पत्ति हो गई– ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि किसी कारण से परमाणु की उत्पत्ति मानी जाए, तो प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि परमाणु की उत्पत्ति का कारण कोई– 1. स्थूल पदार्थ है ? 2. स्वयं परमाणु ही अपनी उत्पत्ति का कारण है ? 'अर्थ (वस्तु) परमाणुरूप है'– यह स्वीकार करने से परमाणु का कारण स्थूल पदार्थ नहीं कहा जा सकता। स्थूल तो स्कन्ध अर्थात् परमाणुओं का समूहरूप होता है। दूसरे शब्दों में, स्थूल की सत्ता परमाणुओं से भिन्न भी नहीं होती है। यदि

परमाणु को स्वयं ही अपना कारण मानते हैं, तो यह बताइए कि सत्‌रूप परमाणु स्वयं ही कार्यरूप में परिणत होता है ? या असत्‌रूप परमाणु स्वयं कार्यरूप परिणत होता है ? या 3. सत्–असत् (उभय) रूप परमाणु स्वयं ही कार्यरूप में परिणमन करता है ? ऐसा कहते हैं, तो वह परमाणु को उत्पन्न करते समय ही स्वयं कार्यरूप में परिणमन करता है, या द्वितीय क्षण में कार्यरूप में परिणमन करता है ? उत्पत्ति के समय में परमाणु को कार्यरूप में परिणमन करता हुआ मानें, तो यह उचित नहीं है, क्योंकि अपनी उत्पत्ति के समय तो परमाणु स्वयं ही स्वयं की उत्पत्ति में व्यस्त होते हैं, इसलिए वे स्वयं ही कार्यरूप में परिणमन करने में असमर्थ होते हैं।[514]

पुनः, शून्यवादी बौद्ध–दार्शनिक यह समस्या उठाते हैं कि जो पदार्थ उत्पन्न होता है, उसकी जो उत्पत्ति है, वह उत्पत्ति ही उस पदार्थ की क्रिया है और वह क्रिया ही उस पदार्थ का कारण है। इस तर्क के आधार पर ही बौद्ध–दार्शनिक यह कहते हैं कि पदार्थ की उत्पत्ति ही उसका कारण है और वही उसका कार्य भी है, अर्थात् पदार्थ, उसका कारण और उसका कार्य– ये स्वतंत्र सत् नहीं हैं, अर्थात् शून्य ही हैं।[515]

जैन – बौद्धों के इस कथन की समीक्षा करते हुए रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि पदार्थ अपने उत्पत्तिकाल में ही कार्य (क्रिया) और कारण– दोनों होते हैं, यदि ऐसा मानें, तो रूपाणु रसाणुओं का और रसाणु रूपाणुओं का उपादान–कारण बन जाएगा। चूँकि दोनों की उत्पत्ति में कोई भेद नहीं है, अतः, यह तर्क उचित नहीं हैं। पुनः, सत्ता अपने उत्पत्ति–क्षण से भिन्न दूसरे क्षण में कार्योत्पत्ति करती है, अर्थात् परमाणु अपने उत्पत्ति के दूसरे क्षण में कार्योत्पत्ति करता है, यह दूसरा पक्ष भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से तो आपके क्षणिकता के सिद्धांत में भी दोष आ जाएगा और वस्तु की क्षणिकता सिद्ध नहीं होगी।[516]

सत्‌रूप परमाणु कार्य का उत्पादक होता है– यदि ऐसा कहते हैं, तो सत्‌रूप परमाणु अपने उत्पत्तिकाल को छोड़कर हमेशा ही कार्योत्पत्ति करता रहेगा– यह मानना होगा, क्योंकि सत्‌रूप परमाणु का प्रथम समय (क्षण) को छोड़कर शेष समय में उसकी सत्‌रूपता में कोई विशेष परिवर्तन (अंतर) नहीं आएगा। असत्‌रूप परमाणु कार्योत्पत्ति करता है– यह कथन

---

514 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 80

515 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 81

516 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 81

भी उचित नहीं है, क्योंकि यह तो शशकश्रृंग जैसी कल्पना होगी। यदि तीसरा पक्ष सत्–असत् (उभय) रूप परमाणु ही स्वयं का कार्य करता है– यह मानें, तो इस पक्ष में दोनों में परस्पर विरोध का प्रसंग आएगा, क्योंकि जो परमाणु सत् होगा, वह असत् कैसे बन सकेगा और जो असत् होगा, वह सत् नहीं बन सकेगा। चौथा पक्ष, अनुभयरूप भी उचित नहीं है, क्योंकि विधि और प्रतिषेध (निषेध)– दोनों में से किसी एक के प्रतिषेध से दूसरे की अवश्य सिद्धि होती है, इस पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें, तो अणु (परमाणु) की क्षणिकता की सिद्धि नहीं हो सकती।[517]

बौद्ध – शून्यवादी पुनश्च अपने पक्ष की पुष्टि हेतु आचार्य रत्नप्रभसूरि से प्रश्न करते हैं– क्या आप परमाणु को क्रियाशील मानते हैं ? या अक्रियाशील मानते हैं ? यदि क्रियाशील मानते हैं, तो क्रियाशीलता का काल भी स्थायी भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि क्षणिक परमाणु की क्रियाशीलता का काल स्थायी नहीं हो सकता है। पुनः, यदि यह बताएँ कि क्रियाशीलता के काल में नित्य–परमाणु 1. अर्थक्रियारहित होते हैं या 2. अर्थक्रियाकारी होते हैं ? यदि अर्थक्रियारहित मानते हैं, तो आकाश के फूल की सुगंध के समान उनकी असद्रूपता की आपत्ति आएगी। यदि अर्थक्रियाकारी मानते हैं, तो पुनः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वे परमाणु 1. असत्रूपता से कार्य करते हैं? या 2. सत्रूप से कार्य करते हैं ? या 3. उभयरूप से कार्य करते हैं ? या 4. अनुभयरूप से कार्य करते हैं ? 1. यदि असत्रूप से कार्य करते हैं, तो फिर असत् शशकश्रृंग कार्य करने में समर्थ क्यों नहीं होता है ? 2. यदि परमाणु अपने सत्रूप से कार्य को करते हैं– ऐसा मानें, तो वे सत्रूप से कौनसा कार्य करते हैं ? क्या वे सत्रूप परमाणु उन्हीं सत्कार्यों को सदैव करते रहते हैं ? या फिर जिस कार्य को करते हैं, उसमें विराम देते हैं? तीसरा और चौथा विकल्प उभयरूप परमाणु या अनुभयरूप परमाणु– ये दोनों पक्ष परस्पर विरुद्ध होने से बुद्धिमान् पुरुषों द्वारा स्वीकार करने योग्य नहीं हैं, अतः, अणुरूप पदार्थ का अस्तित्व किसी भी युक्ति द्वारा सिद्ध नहीं होता है।[518]

रत्नप्रभसूरि द्वारा शून्यवाद की समीक्षा

शून्यवादी दार्शनिकों ने आचार्य रत्नप्रभसूरि के समक्ष पदार्थ की सत्ता को अस्वीकार करते हुए सर्वप्रथम चार प्रश्न रखे थे कि आप ज्ञेय

[517] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 81
[518] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 81

पदार्थ को अणुरूप मानते हैं ? या स्थूलरूप मानते हैं ? पुनः, यदि स्थूलरूप मानते हैं, तो वे स्थूल पदार्थ– 1. नित्य हैं ? या 2. अनित्य हैं ? पुनः, यदि आप ज्ञेय पदार्थ को नित्य मानते हैं, तो जिस प्रकार नित्य–परमाणु अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं होता, उसी प्रकार नित्य स्थूल पदार्थ भी नित्य होने के कारण अर्थक्रिया करने में असमर्थ होगा। इस प्रकार, प्रथम पक्ष भी खण्डित हो जाता है। यदि स्थूल पदार्थ को अनित्य मानते हैं, तो यह बताइए कि स्थूल पदार्थ की उत्पत्ति में– 1. स्थूल पदार्थ कारण बनता है ? या 2 परमाणु कारण बनता है ? अत्यन्त स्थूल पदार्थ तो कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि वह अत्यन्त स्थूल पदार्थ तो विश्व को व्याप्त करेगा। ऐसा स्थूलाद्वैतवाद तो निरर्थक है, क्योंकि स्थूल का अर्थ सूक्ष्म के बिना सम्भव नहीं है। सूक्ष्म की अपेक्षा ही किसी स्थूल की सिद्धि होती है, जैसे– चने की अपेक्षा बैर बड़ा होता है। यदि यह कहें कि सूक्ष्म परमाणु कारण बनता है, तो यह भी उचित नहीं हैं, क्योंकि ऐसा मानने पर पदार्थ सम्भवतः उभयरूप होगा, क्योंकि पदार्थ कारण की अपेक्षा सूक्ष्म होगा और कार्य की अपेक्षा स्थूल। पुनः, प्रश्न उत्पन्न होता है कि एक–एक परमाणु स्थूल पदार्थ को उत्पन्न करता है, या बहुत सारे परमाणु स्थूल पदार्थ को उत्पन्न करते हैं? पहला तर्क मानते हैं, तो स्वर्ग, मृत्युलोक और पाताललोक– इन तीनों लोकों की गुफाओं में ठसाठस भरे हुए एक–एक परमाणु से भी हमेशा स्थूल कार्य (स्थूल पदार्थ) के उत्पन्न होने का प्रसंग उत्पन्न होगा, जो उचित नहीं है। यदि दूसरा तर्क कि अनेक परमाणु स्थूल पदार्थ को उत्पन्न करते हैं, तो समूह (स्कन्ध) में रहते हुए वे कौनसे परमाणु माने जाएंगे, जो स्थूल पदार्थ को उत्पन्न करते हैं ? क्या– 1. एक देश में रहने वाले ? या 2. संयोग रूप से रहने वाले ? या 3. क्रियारूप में रहे हुए परमाणु स्थूल पदार्थ को उत्पन्न करते हैं ? यदि एक देश (भाग) में स्थित परमाणु से स्थूल पदार्थ की उत्पत्ति मानें, तो पृथ्वी के किसी एक देश (भाग) में, अर्थात् पृथ्वी के किसी भी एक स्थान पर रहने वाले परमाणुओं से एक ही स्थूल पदार्थ के उत्पादन का प्रसंग आ जाएगा, क्योंकि सम्पूर्ण पृथ्वी भी विश्व के एक देश–रूप ही तो है।[519]

जैन – बौद्धों के इस कथन पर जैनों द्वारा यह स्पष्टीकरण किया गया है कि देश में रहने वाले जितने परमाणु एक कार्य को उत्पन्न करते

---

[519] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 82, 83

हैं, वह एक देश कहलाता है, परन्तु सम्पूर्ण पृथ्वीमण्डल को एक देश नहीं कहा जा सकता।[520]

बौद्ध – इस पर, बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि ऐसा मानने पर तो इतरेतराश्रय–दोष आ जाएगा, क्योंकि कार्य की सिद्धि होने के बाद एक देश की सिद्धि होगी, अथवा एक देश की सिद्धि होने के बाद कार्य की सिद्धि होगी।[521] 2. यदि आप (जैन) परमाणुओं के संयोग से ही स्थूल पदार्थ की उत्पत्ति मानें, तो वह संयोग– 1. नित्य है या 2. अनित्य है ? यदि आप संयोग को नित्य मनेंगे, तो नित्य–संयोग से तो हमेशा कार्योत्पत्ति का प्रसंग आएगा, क्योंकि अनेक परमाणुओं के संयोग से ही पदार्थ स्कन्ध–रूप में निर्मित होता है। यदि आप संयोग को अनित्य (क्षणिक) मानेंगे, तो फिर पदार्थ का निर्माण किससे हुआ? पदार्थ किसी अन्य पदार्थ के संयोग से उत्पन्न होता है, या फिर परमाणु के संयोग से ही उत्पन्न होता है ? यदि ऐसा कहा जाए कि पदार्थ की रचना किसी अन्य पदार्थ से होती है, तो फिर प्रश्न यह होगा कि वह अन्य पदार्थ किससे उत्पन्न हुआ और इस प्रकार, अनवस्था–दोष की स्थिति बन जाएगी। यदि ऐसा कहते हो कि संयोगरूप स्कन्ध–विशेष किसी अन्य पदार्थ से उत्पन्न होता है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से तो संयोग का आधार परमाणु नहीं बन सकता, अर्थात् घट में रहे हुए रूप आदि की उत्पत्ति में केवल चाक, डंडा, कुम्हार, अग्नि आदि ही निमित्त–कारण नहीं बनते, अपितु घट स्वयं भी घटरूप बनने में उपादान–कारण होता है। इसी प्रकार तो परमाणु में रही हुई संयोगरूपी विशेषता (अतिशय) में भी परमाणु भी स्वयं उपादान–कारण होगा। दूसरा प्रश्न यह है कि क्या संयोगरूपी विशेषता (अतिशय) की उत्पत्ति में– 1. निरतिशय (अलग–अलग रहे हुए) परमाणु कार्य करते हैं ? या 2. सातिशय (स्कन्धरूप में रहे हुए) परमाणु कार्य करते हैं ? 1. यदि निरतिशय, अर्थात् अलग–अलग रहे हुए परमाणुओं को कार्य का कर्त्ता माना जाए, तो इससे निरंतर कार्योत्पत्तिरूप दोष उत्पन्न हो जाएगा। यदि संयोग की विशेषतायुक्त सातिशय, अर्थात् संगठित परमाणुओं को कार्य करने वाला माना जाए, तो फिर तो एक विशेषता (अतिशय) की उत्पत्ति में दूसरी

---

[520] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 83

[521] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 83

विशेषता (अतिशय) चाहिए, दूसरे अतिशय की उत्पत्ति में तीसरे अतिशय की आवश्यकता होगी। इस प्रकार, से तो अनवस्था–दोष की प्राप्ति होगी।

यदि स्थूल पदार्थरूप कार्य की उत्पत्ति में परमाणुओं को संयोजित करने रूप जो अतिशय अर्थात् वैशिष्ट्य--हेतु है, वह 1. परमाणुओं के स्वभावरूप है ? या 2. परमाणुओं से भिन्न है ? यदि परमाणु अपने स्वाभाविक रूप से ही पदार्थ में परमाणु–रूप से रहता है, अर्थात् परमाणु किसी अन्य के संयोग से पदार्थ की उत्पत्ति नहीं करता है, तो फिर उस परमाणु से पदार्थ की उत्पत्तिरूप कार्य होगा ही नहीं। दूसरे, स्थूल पदार्थ की उत्पत्ति में यदि संयोग नामक अतिशय (वैशिष्ट्य या गुण) को परमाणु से भिन्न मानें, तो प्रश्न उठता है कि वह– 1. सर्वथा भिन्न है या 2. कथंचित्–भिन्न है ? यदि कथंचित्–भिन्न कहें, तो इसका अर्थ हुआ कि कथंचित्–भिन्न है, या कथंचित्–अभिन्न है, किन्तु यह पक्ष तो विरोध से बाधित हो जाता है। सर्वथा भिन्न कहें, तो परमाणु का संयोगातिशय अर्थात् संयोग नामक गुण परमाणु से 1. सम्बद्ध है ? या 2. असम्बद्ध है ? असंबद्ध मानें, तो "परमाणुओं का यह संयोग है"– ऐसा नहीं कह सकते। यदि सम्बद्ध मानें, तो वह संयोगातिशय– 1. संयोग–संबंध या 2. समवाय–संबंध या 3. तादात्म्य–संबंध या 4. तदुत्पत्ति–संबंध या 5. अविष्वग्भाव–संबंध– ऐसे ज्ञान के पाँच संबंधों में से कौनसे संबंध से संबद्ध है ? 1. संयोग–संबंध से संबद्ध नहीं कह सकते, क्योंकि 'गुण में गुण तो होता नहीं है', अर्थात् एक गुण में दूसरा गुण संयोगरूप से भी नहीं रहता है। 2. समवाय–संबंध भी नहीं हो सकता, क्योंकि सब परमाणुओं में समवाय एक ही होने से जिस समय एक पदार्थ में एक संयोग–संबंध कराता है, उसी समय दूसरा संयोग–संबंध कैसे हो सकता है ? 3. परमाणु में संयोगातिशय, अर्थात् संयोग नामक गुण सर्वथा भिन्न रूप से रहता है, यदि ऐसा भेद किया जाए, तो उसमें तादात्म्य–संबंध अर्थात् अभेद भी नहीं कहा जा सकता। 4. परमाणुओं से संयोग की उत्पत्ति होती हो– ऐसा तदुत्पत्ति–संबंध भी खंडित हो जाता है। 5. अविष्वग्भाव–संबंध भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें 'कथंचित्' शब्द का प्रयोग होने से इसमें उभय संबंध अर्थात् तादात्म्य–संबंध और तदुत्पत्ति–संबंध– दोनों को मानने से विरोध उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार से, शून्यवादी कहते हैं कि 'पर'

अर्थात् ज्ञान के विषयरूप पदार्थ की सत्ता किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होती है।[522]

पुनः, शून्यवादी जैनों से यह प्रश्न करते हैं कि– 1. संयोग नामक वैशिष्ट्य समग्र परमाणु में रहता है ? या 2. परमाणु के एक भाग में रहता है ? 1. यदि सम्पूर्ण परमाणु में रहता है– ऐसा मानें, तो परमाणुओं का पिंड मात्र अणुरूप ही हो जाएगा। 2. यदि संयोग एक देश से मानें, तो एक परमाणु के साथ एक साथ ही छः परमाणुओं का संयोग–संबंध होने से परमाणुओं के छः अंशों की, अर्थात् छः भागों की कल्पना करना पड़ेगी, अर्थात् परमाणु के छः भाग हो जाएंगे, अन्ततः परमाणु ही समाप्त हो जाएगा, क्योंकि जिसमें विभाग हो, वह परमाणु हो ही नहीं सकता है, इसलिए परमाणु में संयोग–गुण हो ही नहीं सकता है। संयोग–शक्ति (संयोग–गुण) का अभाव हो जाने पर सभी प्रकार का वैशिष्ट्य समाप्त हो जाएगा, परिणामस्वरूप, पदार्थ ज्ञान का विषय नहीं बन सकता है– इससे तो शून्यवाद का सिद्धांत सत्य सिद्ध होता है।[523]

पुनः, शून्यवादी यह तर्क देते हैं कि स्थूल अवयवी 1. आधाररहित है? या 2. आधारयुक्त है ? यदि स्थूल पदार्थ को आधाररहित मानेंगे, तो प्रत्यक्ष से बाधा होगी, क्योंकि पदार्थ तो आधारयुक्त होता है, बिना आधार के कोई पदार्थ होता नहीं है। दूसरे, यदि पदार्थ को आधारयुक्त मानेंगे, तो प्रश्न उत्पन्न होगा कि वह आधार– 1. एक अवयव से युक्त है ? या 2. अनेक अवयवों से युक्त है ? प्रथम पक्ष, अर्थात् एक अवयवी का आधार तो संभव नहीं है, क्योंकि 'अनेक अवयवों में एक अवयवी' की संभावना तो होती है, किन्तु एक अवयवी में अनेक अवयवों की संभावना नहीं हो सकती। यदि दूसरा पक्ष, अनेक अवयवों का आधार मानें, तो प्रश्न उठेगा कि 1. अविरोधी अनेक अवयव आधार बनेंगे ? या 2. विरोधी अनेक अवयव आधार बनेंगे ? प्रथम पक्ष तो उचित नहीं है, क्योंकि चल–अचल, स्थूल–अस्थूल, नील–अनील आदि ये एक–दूसरे के परस्पर विरोधी हैं, अतः, अनेक अवयवों के परस्पर विरोधी होने से यह पक्ष युक्तिसंगत नहीं है। दूसरा पक्ष यह है कि अवयवी में विरुद्ध धर्मी का आश्रय स्वीकार करने से स्थूल अवयवी एक जैसे सिद्ध नहीं होंगे।[524]

---

[522] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 84

[523] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 84, 85

[524] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 85

पुनः शून्यवादी अपने पक्ष के समर्थन में कहते हैं कि यदि स्थूलावयवी अपने किसी एक अवयव में– 1. सम्पूर्ण रूप से व्याप्त होकर रहता है– ऐसा मानेंगे, तो वह एक ही अवयव में व्याप्त होकर समाप्त हो जाएगा, तो फिर तो अनेक अवयवों में, अर्थात् दूसरे अन्य अवयवों में तो रह ही नहीं पाएगा। दूसरे, स्थूल अवयवी– 1. अवयव के एक देश में भी नहीं रह सकता है, क्योंकि आप (जैन) तो अवयवी को निरंश अर्थात् अखण्ड मानते हैं, तो फिर उसमें विरोध उत्पन्न होगा और यदि स्थूल अवयवी को निरंश न मानकर सांश मानें, तो फिर नया प्रश्न उत्पन्न होता है कि वे अंश अवयव से– 1. भिन्न हैं ? या 2. अभिन्न हैं ? यदि भिन्न मानेंगे, तो वे आंशिक–अवयवी पुनः उन्हीं अवयवों में– 1. सम्पूर्ण रूप से व्याप्त हो जाते हैं? या 2. एक देश से व्याप्त होते हैं ? इस प्रकार से, उन्हीं प्रश्नों की पुनः–पुनः पुनरावृत्ति होने से अनवस्था–दोष उत्पन्न हो जाएगा। यदि उन अंशों को अवयव से अभिन्न मानेंगे, तो फिर अवयव के अंश ही कैसे होंगे? अर्थात् अवयवी अंश से अभिन्न भी नहीं हैं– ऐसा मानना होगा। यदि तदुभय पक्ष मानें, तो वह भी परस्पर विरोधयुक्त होने से शशकश्रृंगवत् असत् होने से खंडित हो जाता है।[525]

अनुभय पक्ष भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि परमाणु और स्थूल पदार्थ परस्पर एक–दूसरे के निषेधक होने से अभावरूप होंगे। एक–दूसरे का निषेध करने से वे दोनों ही असत् सिद्ध होंगे, अतः, अनुभय पक्ष की भी सिद्धि नहीं होगी। इस प्रकार,, शून्यवादी कहते हैं कि ज्ञान के विषय अर्थात् पदार्थ की कोई सत्ता सिद्ध नहीं होती है। जब ज्ञान का विषय, जो पदार्थ है, वही सिद्ध नहीं होता है, ज्ञाता (प्रमाता), अर्थात् उस विषय को जानने वाला अर्थात् ज्ञायक आत्मा भी कैसे सिद्ध होगा, अर्थात् दोनों ही असिद्ध हैं।[526]

पुनः, शून्यवादी अपने पक्ष की सिद्धि हेतु आचार्य रत्नप्रभ से यह प्रश्न करते हैं कि आप ज्ञान को और ज्ञान के विषय अर्थात् पदार्थ को– 1. समकाल में मानते हैं या 2. भिन्न काल में मानते हैं ? यदि आप प्रथम प्रश्न के पक्ष में उत्तर देते हैं कि ज्ञान और ज्ञान के विषय समकाल में होते हैं, अर्थात् एक साथ और एक समय में ही होते हैं, तो फिर तो तीनों लोक में रहे हुए समग्र पदार्थों का बोध समान रूप से एक साथ और एक ही

---

525 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 86
526 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 87

समय में हो जाना चाहिए। यदि दूसरा पक्ष, अर्थात् उनका समकाल में होना न मानकर भिन्न काल में होना मानते हैं, तो यह भी संभव नहीं है। इससे तो यह सिद्ध होगा कि आप ज्ञान को अलग वस्तु मानते हैं और ज्ञेय पदार्थ को अलग वस्तु मानते हैं, यह सिद्धांत भी उचित नहीं है। यदि आप दोनों को भिन्न काल में ही मानते हैं, तो यह बताएँ कि ज्ञान– 1. निराकार है ? 2. साकार है ? यदि ज्ञान को निराकाररूप मानेंगे, तो वह निर्विषय ळोगा, क्योंकि निर्विषय का कोई आकार तो नहीं होता है, किन्तु यह निर्विषय ज्ञान का विषय कैसे ब्नेगा ? यदि ज्ञान को साकार मानते हैं, तो यह बताएँ कि वह आकार ज्ञान से– 1. भिन्न है या 2. अभिन्न है ? प्रथमतः, ज्ञान से भिन्न कोई आकार सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ का कोई न कोई आकार तो होगा ही। पदार्थ आकारयुक्त ही होता है और उसका वह आकार ही ज्ञान का विषय होता है, अतः, आप पदार्थ को ज्ञान से भिन्न नहीं कह सकते हैं। पुनः, यदि ज्ञान का आकार ज्ञान से भिन्न है– ऐसा मानते हैं, तो फिर यह बताएँ कि ज्ञान का वह आकार– 1. चित्रूप है ? या 2. अचित्रूप है ? यदि चित्रूप मानेंगे, तो वह चित्रूप आकार भी ज्ञान के समान वेदक (जानने वाला), अर्थात् ज्ञाता बन जाएगा, अर्थात् ज्ञाता और ज्ञेय भिन्न–भिन्न नहीं होंगे। दूसरे शब्दों में, ज्ञान ही ज्ञाता होगा। यदि अचिद्रूप आकार मानेंगे, तो वह अचित् आकार अज्ञानरूप होगा और ऐसा अज्ञानरूप आकार– 1. स्वयं ही अज्ञात होगा। पुनः, यह प्रश्न उठेगा कि ऐसा आकार– 1. अर्थ, अर्थात् पदार्थ का ज्ञाता है ? या 2. स्वयं का ज्ञाता होकर अर्थ का ज्ञापक है, अर्थात् अर्थ को प्रकट करने वाला है ? इस प्रकार, से, पुनः–पुनः इन्हीं विकल्पों की पुनरावृत्ति होने से अनवस्था–दोष आ जाएगा। इस प्रकार, शून्यवादी यह सिद्ध करते हैं कि परमार्थतः अर्थात् निरपेक्षतः न कोई ज्ञान है, न ज्ञाता है और न कोई ज्ञान का विषय है, अतः, पदार्थ की भी कोई निरपेक्ष स्वतंत्र सत्ता नहीं है, सब कुछ शून्य ही है, इसालेए 'सर्वशून्यता'– यही एक परमतत्त्व है।[527]

जैन – रत्नाकरावतारिका के रचयिता जैन–दार्शनिक आचार्य रत्नप्रभसूरि शून्यवादी दार्शनिकों के पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत इन समस्त तर्कों की समीक्षा (आलोचना) करते हुए कहते हैं कि सर्व–अपलापी शून्यवादी बौद्धों के ये समस्त तर्क उस निस्सार भूसे के ढेर के समान हैं, जिसे अग्नि का मात्र एक कण ही समाप्त कर देता है। रत्नप्रभसूरि कहते

---

[527] रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 87

हैं कि तुम्हारा यह शून्यवाद प्रमाण से सिद्ध है ? या अप्रमाण से सिद्ध है ? यदि आप यह कहते हैं कि प्रमाण से सिद्ध है, तो आपने प्रमाण की सत्ता को स्वीकार कर लिया है, फलतः आपका शून्यवाद खण्डित हो गया। पुनः, यदि इसे प्रमाण से सिद्ध मानते हैं, तो आपको यह भी सिद्ध करना होगा कि वह प्रमाण ज्ञानरूप है ? या पदार्थरूप है ? यदि ज्ञानरूप मानेंगे, तो ज्ञान की सत्ता सिद्ध होगी। यदि पदार्थरूप मानेंगे, तो पदार्थ की सत्ता सिद्ध होगी। इस प्रकार, आपका शून्यवाद तो खण्डित हो जाएगा। यदि अप्रमाण से सिद्ध करना चाहें, तो यह भी असंभ्व है, क्योंकि अप्रमाण से तो कुछ भी सिद्ध नहीं होता है। इस प्रकार, से आपका शून्यवाद खण्डित हो जाता है।[528]

बौद्ध – इस पर, यदि शून्यवादी यह तर्क करते हैं कि हम तो प्रमाण को भी शून्यरूप ही मानते हैं, क्योंकि हमारे अनुसार तो शून्य ही परमतत्त्व है।

जैन – इसके प्रत्युत्तर में, आचार्य रत्नप्रभ कहते हैं कि यदि आप प्रमाण को भी शून्यरूप मानेंगे, तो ऐसी स्थिति में उससे आपकी शून्यता की सिद्धि भी संभव नहीं होगी, क्योंकि जो स्वयं शून्य है, वह अन्य को सिद्ध ही कैसे करेगा।[529]

इसके प्रत्युत्तर में, पुनः शून्यवादी यह तर्क देते हैं कि हमारे सिद्धांतानुसार तो उपर्युक्त किसी भी प्रमाण से पदार्थ की सत्ता सिद्ध नहीं होती, अतः, शून्यता ही एकमात्र परमतत्त्व है।[530]

इसके प्रत्युत्तर में, आचार्य रत्नप्रभसूरि शून्यवादियों पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि आपका शून्यवाद तो एक ऐसे व्यक्ति के समान है, जो सांकल से जकड़ा होकर कूदने का अभ्यास करे। आप शून्यवाद को ही परमतत्त्व मानते हैं, तो वह शून्यवादीरूपी परमतत्त्व कोई वस्तु है ? या विचार है ? यदि तुम उसे विचार कहते हो, तो तुमने विचार की सत्ता तो मान ही ली है, किन्तु यदि 'विचार' को सद्वस्तु मानेंगे, तो शून्यवाद कैसे सिद्ध होगा ? और यदि 'विचार' को सद्वस्तु नहीं मानेंगे, तो भी शून्यता की सिद्धि कैसे होगी ? असत् से कुछ भी सिद्ध नहीं होता है। पुनः, यदि

---

528 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 88

529 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 88

530 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 88

तुम शून्य को परमतत्त्व कहते हो, तो भी शून्यरूप परमतत्त्व की सत्ता तो तुमने मान ही ली है, अतः, तुम्हारा शून्यवाद खण्डित हो गया। फलतः, प्रमाण को सद्वस्तु मानकर शून्यता की सिद्धि संभव नहीं है और प्रमाण असद्वस्तु हो, तो उससे भी शून्यता की सिद्धि संभव नहीं है। इस प्रकार से, किसी भी स्थिति में तुम्हारा शून्यवाद युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि 'शून्य' तो ज्ञान का विषय ही नहीं बन सकता है। ज्ञान का विषय तो सद्वस्तु (पदार्थ) ही होती है, असद्वस्तु किसी की सिद्धि या असिद्धि कर ही नहीं सकती है, अतः, शून्यवाद से न तो शून्यवाद का मण्डन हो सकता है और न किसी अन्य मत का खण्डन हो सकता है।[531]

आचार्य रत्नप्रभसूरि शून्यवादियों से कहते हैं कि आपने ज्ञान और ज्ञान के विषय (पदार्थ) को 'शून्य' सिद्ध करने में जो भी तर्क प्रस्तुत किए हैं, वे सारे तर्क युक्तिसंगत नहीं हैं। सर्वप्रथम, आपके द्वारा उठाए गए चार प्रश्नों, अर्थात् पदार्थ अणुरूप हैं ? या स्थूलरूप हैं ? या उभयरूप हैं ? या अनुभयरूप हैं ? का उत्तर देते हुए कहते हैं कि पदार्थ न तो अणुरूप हैं, न स्थूलरूप हैं और न अनुभयरूप है, अपितु पदार्थ उभय स्वरूप वाले हैं, अर्थात् पदार्थ अणुरूप भी हैं और स्थूलरूप भी हैं। यदि स्थूल की उत्पत्ति में अणु को ही कारण मानेंगे, तो अणु और स्थूल में अपरिहार्य रूप से कार्य-कारण-भाव नहीं है। पुनः, अणु स्थूल से एकांतरूप से भिन्न भी नहीं है और एकान्तरूप से अभिन्न भी नहीं है। अणु से ही स्थूल की उत्पत्ति होती हो, यह भी कोई आवश्यक नहीं हैं। स्थूल पदार्थ से भी स्थूल की उत्पत्ति हो सकती है, जैसे- मोटे सूत्र-समूह से भी मोटे वस्त्र की उत्पत्ति होती है। पुनः, आत्मा, आकाश आदि को हम (जैन) कार्यरूप में भी स्वीकार नहीं करते हैं। जहाँ अणुओं से कार्योत्पत्ति होती है, वहाँ भी काल, स्वभाव, नियति, कर्म, पुरुषार्थ आदि कारण-सामग्री से उत्पन्न क्रिया द्वारा संयोगरूप से रहे हुए विशिष्ट परमाणुओं से कथंचित्-भिन्न रूप से और कथंचित्-अभिन्न रूप से कार्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार, संयोग-रूप से रहे हुए सूक्ष्म परमाणुओं से स्थूल कार्य की उत्पत्ति मानने में कोई विरोध नहीं है।[532]

पुनः, आचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि आपने (शून्यवादी बौद्धों ने) जो यह आपत्ति उठायी थी कि संयोग को कथंचित्-भेदरूप और कथंचित्-

---

531 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 88

532 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 89

अभेदरूप कैसे कहा जा सकता है ? तो जैन–दर्शन कहता है कि प्रत्येक पदार्थ में किसी अपेक्षा से भेद भी है और किसी अपेक्षा से अभेद भी है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ द्रव्य और पर्याय से युक्त या सामान्य–विशेषात्मक होता है। पर्याय की अपेक्षा से पर्याय में भेद होता है, किन्तु द्रव्य की अपेक्षा से अभेद होता है। पुनः, जब आप 'प्रमाण और प्रमेय नहीं'– इस प्रकार, का कथन करते हैं, तो वह कथन स्वपक्ष की अपेक्षा से साधक है और परपक्ष की अपेक्षा से बाधक है। जब एक ही कथन के साधक और बाधक– दोनों होने में कोई विरोध नहीं है, तो फिर प्रत्येक पदार्थ में से द्रव्य की अपेक्षा से अभेद और पर्याय की अपेक्षा से भेद मानने में कोई बाधा नहीं है। आप भी अपेक्षा–भेद को तो स्वीकार करते ही हैं।[533]

पुनः, ज्ञान के विषय को अस्वीकार करते हुए आप शून्यवादियों ने जो यह आपत्ति उठाई थी कि परमाणु के छः भाग हो जाने से वह निरंश (अखण्ड) न होकर अंशवाला हो जाएगा, तो आप उन अंशों को शक्तिरूप में स्वीकार करते हैं, या अवयवरूप से स्वीकार करते हैं ? हम तो उन परमाणु के छः अंशों को भी शक्तिरूप में ही स्वीकार करते हैं। दूसरा, एक परमाणु का अनेक परमाणु के साथ संबंध होने मात्र से वे सावयव हो गए– ऐसी व्याप्ति भी नहीं बनती है। बिना अवयव के भी उनका शक्ति से अनेक परमाणु के साथ संबंध हो सकता है। यदि शक्ति ही अवयव का दूसरा नाम हो, तो भी हमें कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि शक्ति के कारण ही एक परमाणु का अन्य परमाणु के साथ संबंध होने से शक्ति से भिन्न अवयव मानना अनावश्यक है।[534]

निराधार या साधार के संबंध में शून्यवादियों ने जो यह प्रश्न उठाया है, उसके संबंध में हम जैनों का कहना है कि कथंचित्–विरोधी और कथंचित्–अविरोधी– ऐसे अनेक अवयव अविष्वक्–भाव से, अर्थात् कथंचित्–अभेदरूप से एक साथ रहते हैं। इस संबंध में, विरोधी अनेक अवयवों को एक साथ रहने में आपने विरुद्ध–धर्म के आश्रय की आपत्ति उठाई है, किन्तु हम (जैन) तो अपेक्षा–भेद से विरुद्ध धर्मों का एक साथ रहना सम्भव मानते हैं, क्योंकि अनेक परस्पर विरोधी अवयव भी अवयवात्मक–अवयवी में कथंचित्–भेदरूप से तो रहते ही हैं। इसी प्रकार, हम यह मानते हैं कि 'अवयवी' में प्रत्येक अवयव कथंचित्–सर्वदेश से तथा

---

533 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 89, 90

534 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 90, 91

कथंचित्–एकदेश से रहता है, अर्थात् तादात्म्य–रूप से रहे हुए अवयवों में अवयवी की वृत्ति तो हम (जैन) मानते ही हैं।[535]

पुनः, शून्यवाद का निरसन (खण्डन) करते हुए रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि शून्यवादियों का यह कहना कि 'ज्ञान और ज्ञान का विषय' समकाल में भी नहीं हो सकते, उसी प्रकार ये दोनों भिन्न काल में भी संभव नहीं हैं, क्योंकि जिस काल में ज्ञान होगा, उसी काल में ज्ञान का विषय भी हो– ऐसा इसलिए आवश्यक नहीं है कि जिस समय ज्ञान की चेतना होती है, उसी समय उसके विषय की चेतना भी नहीं होती है, क्योंकि दो चेतना (जैनों की दृष्टि से दो उपयोग) एक साथ नहीं होते हैं। इस प्रकार, हम जैनों के अनुसार तो ज्ञान और ज्ञान का विषय– दोनों भिन्न काल में हों, तो भी ज्ञान संभव है।[536]

इसी प्रकार, ज्ञान का विषय जो पदार्थ है, वह शून्य है। बौद्धों के इस तर्क का उत्तर देते हुए रत्नप्रभसूरि का कहना है कि शून्यवादियों का यह तर्क युक्ति–युक्त नहीं है। ज्ञान और उसका विषय, अर्थात् ज्ञेय पदार्थ समकाल में भी हो सकते हैं और भिन्न काल में भी हो सकते हैं, क्योंकि ज्ञान अलग वस्तु है और उसका विषय अलग वस्तु है। ज्ञान और ज्ञान का विषय, जब दोनों की स्वतंत्र सत्ताएँ हैं, तो फिर उनके भिन्न–भिन्न काल में होने में और समकाल में होने में कोई बाधा नहीं है, शून्यवादियों की कमी यह है कि वे ज्ञान और ज्ञान के विषय में एकान्तरूप से तादात्म्य मानकर अपना तर्क प्रस्तुत करते हैं, जबकि जैन–दर्शन ज्ञान और ज्ञान के विषय को अपेक्षा–भेद से भिन्न और अभिन्न– दोनों ही मानते हैं। वस्तुतः, ज्ञान और ज्ञान का विषय अपेक्षा–भेद से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं, अतः, ज्ञान से स्वतंत्र ज्ञेय की सत्ता को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं आती है।[537]

पुनः, शून्यवादी का खण्डन करते हुए आचार्य रत्नप्रभसूरि अन्त में कहते हैं कि ज्ञान और ज्ञान के विषय समकाल में होते हैं या भिन्न काल में होते हैं आदि जो विकल्प शून्यवादियों ने प्रस्तुत किए हैं, वे सारे विकल्प हमें स्वीकार्य हैं, क्योंकि जब ज्ञेय पदार्थ हमारे चर्म–चक्षुओं से प्रत्यक्ष होता है, उस समय ज्ञान और ज्ञेय पदार्थ समकाल में होते हैं, किन्तु जब ज्ञेय

---

535 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 91

536 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 82

537 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 92

पदार्थ स्मृति का विषय होता है, अर्थात् हम अतीत काल के पदार्थों का स्मृति के द्वारा वर्त्तमानकाल में ज्ञान करते हैं, तो इस स्थिति में ज्ञेय पदार्थ और ज्ञान भिन्न काल में भी होते हैं। इसी प्रकार, केवली आदि को भविष्यत्–काल के पदार्थ भी ज्ञान के विषय बनते हैं, वे भी भिन्न काल में होते हैं। इस प्रकार से, शब्द–प्रमाण (आगम), अनुमान–प्रमाण और प्रत्यक्ष–प्रमाण से तीनों काल में रहे हुए पदार्थ हमारे ज्ञान का विषय बनते हैं। ज्ञाता अपने ज्ञान से त्रैकालिक ज्ञेय पदार्थों का ज्ञान करने में समर्थ होता है। पुनः, आगम और अनुमान– दोनों निराकार हैं। शून्यवादियों के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि दर्शन की अपेक्षा वे निराकार हैं, किन्तु ज्ञान की अपेक्षा से वे साकार भी हैं। प्रथमतः, अनुमान और आगम– दोनों ज्ञान के भिन्न–भिन्न रूप हैं, अतः, हमें अतिप्रसंग का दोष भी सम्भव नहीं है। पुनः, ज्ञान को 'अर्थ–ग्रहण–परिणाम' रूप मानने से ज्ञान के विषय का आकार ही ज्ञान है– यह सिद्ध होता है, अतः, ज्ञान साकार है– ऐसा भी हम स्वीकार करते हैं, क्योंकि ज्ञानावरणीय और वीर्यान्तराय–कर्म के क्षयोपशम–विशेष से हम ज्ञेय पदार्थ का एक नियत आकार के रूप में निश्चित ज्ञान करते हैं। शेष आपके द्वारा उठाए गए सारे तर्क हमें अस्वीकार्य हैं, क्योंकि ये निस्सार हैं। वस्तुतः, जैन–दर्शन तो प्रमाण के अतिरिक्त प्रमाता अर्थात् ज्ञाता की और प्रमेय अर्थात् ज्ञान के विषय (पदार्थ) की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करता है, अतः, शून्यवादियों का यह मत समुचित नहीं है कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान शून्यरूप हैं।[538]

बौद्धों के शून्यवाद की तार्किक–समीक्षा –

बौद्ध–धर्मदर्शन की विकासयात्रा में बौद्ध–धर्म चार सम्प्रदायों में विभाजित हो गया। ये चार सम्प्रदाय क्रमशः– 1. वैभाषिक 2. सौत्रान्तिक 3. विज्ञानवाद और 4. माध्यमिक या शून्यवाद के नाम से जाने जाते हैं। सामान्यतया, इनके मतभेद का आधार बाह्यार्थ की सत्ता को लेकर है। वैभाषिक बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार करते हुए उसकी अनुभूति को यथार्थ मानते हैं। इसके विपरीत, सौत्रान्तिकों का कहना है कि बाह्यार्थ की सत्ता तो है, किन्तु वह प्रत्यक्ष का विषय न होकर अनुमान का विषय ही है। दूसरे शब्दों में, बाह्यार्थ अनुमेय है। चैतसिक–संवेदनाओं के आधार पर हम उनका अनुमान करते हैं। इसके विपरीत, विज्ञानवादी या योगाचार–

---

538 रत्नाकरावतारिका, भाग I, रत्नप्रभसूरि, पृ. 92

सम्प्रदाय का कहना है कि यदि बाह्यार्थ की सत्ता मात्र अनुमेय है, तो उसको यथार्थ कैसे माना जा सकता है ? अतः, वे बाह्यार्थ की सत्ता को निषेध कर चित्त और चैतसिक की सत्ता को ही स्वीकार करते हैं, जिसका समग्र नाम विज्ञान है। विज्ञानवाद के अनुसार, विज्ञान ही परमार्थ सत् है। विज्ञानवाद के पश्चात् उद्भूत शून्यवाद या माध्यमिक–दर्शन तो उससे भी एक कदम आगे बढ़कर यह कहता है कि वस्तुसत् तो निःस्वभाव है, क्योंकि वह सापेक्ष है और क्षणिक है। जो सापेक्ष और क्षणिक हो, उसे न सत् कहा जा सकता है और न असत् कहा जा सकता है, इसलिए माध्यमिक–दर्शन के अनुसार जो सत्, असत्, उभय और अनुभय– इन चारों कोटियों से रहित है, उसे शून्य के अलावा क्या कहा जा सकता है ? माध्यमिक–दर्शन या शून्यवाद का कहना यही है कि क्षणिक और सापेक्ष–सत्ता को सत्, असत्, उभय या अनुभय– इन चारों कोटियों में नहीं बाँधा जा सकता है। इस प्रकार,, बौद्धदर्शन की विकास–यात्रा वैभाषिकों से प्रारंभ होकर शून्यवाद में अपनी चरम स्थिति को प्राप्त होती है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अन्य दार्शनिकों ने शून्यता के अर्थ को यथार्थ रूप में न समझकर उसे मात्र अभाव के रूप में देखा है और यही कारण है कि शून्यता की जो भी समीक्षाएँ की गई हैं, वे केवल सत्ता का निषेध मानकर ही की गई हैं, जबकि वास्तविकता इससे भी भिन्न है, इसलिए सर्वप्रथम यह समझ लेना आवश्यक है कि बौद्धों के अनुसार शून्य का क्या अर्थ है ? शून्यवाद का मानना है कि वस्तु के स्वरूप का निर्णय करने के लिए चार ही कोटियाँ होती हैं– 1. अस्ति 2. नास्ति 3. अस्ति और नास्ति (तदुभय) और 4. न अस्ति और न नास्ति (अनुभय)। जो दर्शन परमतत्त्व को इन चारों कोटियों से परे मानता है, वही शून्यता का सूचक है।[539] इस प्रकार,, बौद्ध–दर्शन में शून्य शब्द सत्ता के निषेध का सूचक न होकर उसकी क्षणिकता और सापेक्षता का ही सूचक है। वस्तुतः, शून्यवाद का विकास अस्तित्ववादी और अनास्तित्ववादी दृष्टियों की अस्वीकृति में ही होता है,[540]

---

[539] देखें – भारतीय दर्शन, बलदेव उपध्याय, पृ. 683
नसन् नासन् न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटि–विनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदुः।। – माध्यमिककारिका 1/7

[540] देखें – भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ. 683
अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता,
शुद्धी अशुद्धीति इमेऽपि अन्ता।
तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा,
मध्ये हि स्थानं प्रकरोति पण्डितः।। – समाधिराजसूत्र

इसीलिए भगवान् बुद्ध ने भी कहा था– मैं न तो शाश्वतवाद को मानता हूँ, न उच्छेदवाद को। सत्ता न तो शाश्वत है और न उच्छिन्न। वस्तुतः, वह क्या है और कैसी है, इसे किसी एक दृष्टि के आधार पर व्यक्त करना संभव नहीं है, इसीलिए शून्यवादियों का कहना है कि हम तो इस संदर्भ में मध्यम–मार्ग का अनुसरण करते हैं और यह मानते हैं कि सत्ता अस्तित्व, नास्तित्व, उभय और अनुभय– इन चारों कोटियों से परे है। इस प्रकार, शून्यवाद सभी एकान्त–दृष्टियों का निषेध करता है। एकान्तिक–दृष्टियों का निषेध ही शून्यवाद का मूल उत्स (सार तत्त्व) है। शून्यवादी दार्शनिक भी जैनों के समान ही एकान्तवाद के विरोधी हैं, फिर भी जैन–दर्शन और शून्यवाद में यह अन्तर है कि जैन–दार्शनिक सत्ता के सत्, असत्, उभय और अनुभय– इन चारों पक्षों को स्वीकार करते हैं, जबकि शून्यवादी इन चारों पक्षों का निषेध करते हैं। शून्यवाद कहता है कि परम–तत्त्व न सत् है, न असत् है, न उभय है, न अनुभय है।[541] इसके विपरीत, जैन–-दर्शन सत्ता को सत्, असत्, उभय और अनुभय–इन चारों रूपों में स्वीकार करता है। वस्तुतः, निषेधात्मक–भाषा के प्रयोग के कारण बौद्धदर्शन का चरम विकास शून्यवाद के रूप में हुआ, तो विधानात्मक–भाषा को महत्त्व देने के कारण जैन–दर्शन का विकास अनेकान्तवाद या स्याद्वाद के रूप में हुआ। संक्षेप में कहें, तो जहाँ शून्यवाद सत्ता को चतुष्कोटि– विनिर्मुक्त कहता है, वहीं जैन–दर्शन सत्ता को चतुष्कोटि या सत्व–कोटि से युक्त मानता है। अग्रिम पृष्ठों में हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि रत्नप्रभसूरि ने रत्नाकरावतारिका में शून्यवाद को किस रूप में प्रस्तुत कर उसकी समीक्षा की है।

निष्कर्ष –

इस प्रकार, हम देखते हैं कि रत्नप्रभसूरि ने रत्नाकरावतारिका में बौद्धों के शून्यवाद का प्रस्तुतिकरण और उसकी समीक्षा विस्तार से की है। उन्होंने इस तथ्य को भी ध्यान में रखा है कि शून्यवादी अपने पक्ष के समर्थन में किस–किस प्रकार के तर्क उपस्थित कर सकते हैं, उनको भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, किन्तु यदि हम गहराई से चिंतन करें, तो रत्नप्रभसूरि ने शून्यवाद के खंडन के लिए उसी शैली का सहारा लिया है,

---

541 देखें – भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ. 683
अतो भावाभावान्तद्वयरहितत्वात् सत् स्वभावानुत्पत्ति लक्षणा शून्यता
मध्यमा प्रतिपत् मध्यमो मार्ग इत्युच्यते। – चन्द्रकीर्ति प्रसन्नपदा।।

जिस शैली के आधार पर शून्यवादी अपने मत का प्रस्तुतिकरण करते हैं। जिस प्रकार शून्यवादी अपने पक्ष के समर्थन में यह कहते हैं कि वस्तु न सत्रूप हो सकती है, न असत्रूप, न उभयरूप हो सकती है, न अनुभयरूप, उसी प्रकार रत्नप्रभसूरि भी उसी शैली का आश्रय लेते हुए उसका खंडन निम्न रूप में करते हैं। वे कहते हैं कि आपका यह शून्यवाद प्रमाण से सिद्ध है ? या अप्रमाण से सिद्ध है ? या प्रमाण और अप्रमाण– दोनों से सिद्ध है ? या प्रमाण और अप्रमाण–दोनों से सिद्ध नहीं है ? यदि आप यह कहते हैं कि प्रमाण से सिद्ध है, तो प्रमाण की सत्ता को स्वीकार करने से आपका शून्यवाद खंडित हो जाता है। यदि आप यह कहते हैं कि अप्रमाण से सिद्ध है, तो अप्रमाण से तो कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता, अतः, शून्यवाद भी सिद्ध नहीं होगा। यदि आप कहें कि प्रमाण और अप्रमाण– दोनों से ही सिद्ध है, तो आपके अनुसार ही परस्पर विरोध होगा, क्योंकि प्रमाण और अप्रमाण– दोनों परस्पर विरोधी हैं और यदि आप यह कहें कि प्रमाण और अप्रमाण– दोनों से सिद्ध नहीं है, तो इसका अर्थ तो यही हुआ कि आपका शून्यवाद दोनों से सिद्ध नहीं है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि जहाँ–जहाँ शून्यवादियों ने उभयतोपाश खड़ा करके जैनों का खंडन किया है और शून्यवाद को पुष्ट करने का प्रयत्न किया है, वहाँ–वहाँ रत्नप्रभसूरि ने भी उस उभयतोपाश को निरस्त करने के लिए उसका विरोधी उभयतोपाश खड़ा करके शून्यवाद का खंडन कर दिया है। इस प्रकार,, हम देखते हैं कि शून्यवादी अपने पक्ष को सिद्ध करने में जिस उभयतोपाश को उपस्थित करते हैं, उसके ठीक विरोधी उभयतोपाश को प्रस्तुत करके रत्नप्रभसूरि उसका खंडन कर देते हैं। इससे यह फलित होता है कि रत्नप्रभसूरि बौद्धों के सिद्धांतों की समीक्षा के लिए उसी शैली का अनुसरण करते हैं, जो शैली बौद्ध–दार्शनिक अपने पक्ष की पुष्टि के लिए प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार, सिद्धांतगत विरोध होते हुए भी दोनों में शैलीगत समानता प्रतीत होती है।

पुनः, जैसा हमने पूर्व में संकेत किया था कि प्रायः सभी भारतीय–दार्शनिक शून्यवाद की समीक्षा करते हुए उसे अभावरूप मानकर ही समीक्षा करते हैं, जबकि शून्यवाद में शून्यता शब्द अनस्तित्व या अभाव का सूचक न होकर भाव, अभाव, उभय और अनुभय– इन चारों कोटियों से रहित माना गया है। हमें यह स्वीकार करने में कोई भी आपत्ति नहीं है कि जिस प्रकार अन्य भारतीय–दार्शनिकों ने शून्यता का अर्थ अभाव या अस्तित्व का निषेध माना है, उसी प्रकार रत्नप्रभसूरि ने भी शून्यता का

ग्रहण अनस्तित्व या अभाव के रूप में ही किया है, जबकि सत्य यह है कि बौद्ध–दार्शनिक उसे भाव और अभाव– दोनों से परे मानते हैं। माध्यमिक–कारिका के प्रारंभ में ही बुद्ध की वंदना करते हुए कहा गया है कि तत्त्व न शाश्वत है, न उच्छेदरूप है, न वह एक है, न वह अनेक है, न वह नित्य है, न वह अनित्य है। इस प्रकार,, यह तो स्पष्ट ही है कि शून्यवाद एकान्त–शाश्वतवाद या एकान्त–उच्छेदवाद को स्वीकार नहीं करता है। दुर्भाग्य यही रहा है कि जिस प्रकार अन्य भारतीय–दार्शनिकों ने स्याद्वाद या अनेकान्तवाद को सम्यक् प्रकार से न समझकर पागलों का प्रलाप कहा है, उसी प्रकार से बौद्धों के शून्यवाद को भी सम्यक् प्रकार से न समझकर उच्छेदवाद के अर्थ में ही ग्रहण कर लिया गया है, जबकि अनेकान्तवाद और शून्यवाद किसी अन्य स्थिति के द्योतक हैं। यह सत्य है कि स्याद्वाद और शून्यवाद– दोनों ही एकान्तवाद के निषेधक होकर अनेकान्त–दृष्टि के समर्थक हैं, फिर भी जैन–दार्शनिक इसके हेतु जहाँ सकारात्मक–भाषा का उपयोग करते हैं, वहीं बौद्ध–दार्शनिक नकारात्मक–भाषा का उपयोग करते हैं। वे केवल इतना ही कहते हैं कि सत्ता न सत् है, न असत् है, न उभय है, न अनुभय है, जबकि जैन–दार्शनिक सत्ता को अपेक्षाभेद से सत्, असत्, उभय और अनुभय– इन चारों पक्षों से स्वीकार करते हैं। संक्षेप में कहें, तो तत्त्व के स्वरूप के संदर्भ में बौद्ध और जैन–दोनों किसी सीमा तक साथ–साथ खड़े हुए प्रतीत होते हैं, किन्तु जैनों की सकारात्मक–भाषा और बौद्धों की नकारात्मक–भाषा उन दोनों को एक–दूसरे से विमुख बना देती है।

अध्याय–14

आत्मा की अनित्यता और क्रिया तथा क्रियावान् की अभिन्नता की समीक्षा

(अ) आत्मा की अनित्यता की समीक्षा

रत्नाकरावतारिका में प्रमाणनयतत्त्वालोक के छठवें परिच्छेद के 53 वें सूत्र की टीका में दो सिद्धान्तों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है– एक, सांख्यदर्शन के कूटस्थ–आत्मवाद की और दूसरी, बौद्धदर्शन के आत्म–अनित्यतावाद की। आत्मा के संदर्भ में सांख्य–दर्शन नित्यतावादी है और बौद्धदर्शन अनित्यतावादी अर्थात् क्षणिकवादी है।

सांख्य एवं बौद्धों के पूर्वपक्ष –

सांख्यदर्शन आत्मा को नित्य मानता है। उसकी अवधारणा है कि प्रत्यभिज्ञा और स्मरणादि जो होते हैं, वह अनुभवावस्था में भी और स्मरणावस्था में भी एक ही नित्य आत्मा में होते हैं। अनुभवावस्था और स्मरणावस्था में दो भिन्न–भिन्न आत्माएं नहीं होती हैं। एक ही आत्मा अनुभव भी करती है और कालान्तर में उसका स्मरण भी, किन्तु बौद्ध–दार्शनिक आत्मा को अनित्य मानते हैं। उनकी अवधारणा यह है कि अनुभवावस्था और स्मरणावस्था– दोनों अवस्थाओं में आत्मा एकरूप या नित्य कैसे रहेगी ? क्योंकि दोनों अवस्थाएँ भिन्न–भिन्न हैं। किसी भी पदार्थ का अनुभव करना भिन्न विषय है और उसकी स्मृति होना भिन्न विषय है। अनुभव करने वाली आत्मा भिन्न है तथा स्मरण करने वाली आत्मा भिन्न है। अनुभवावस्था और स्मरणावस्था– ये दोनों अवस्थाएँ भिन्न–भिन्न होने से दोनों अवस्थाओं में चेतना की स्थिति भिन्न–भिन्न होती है, उसमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है और इसी प्रतिक्षण परिवर्तनशील अनित्य–आत्मा में स्मरण, प्रत्यभिज्ञादि प्रमाण संभव हो सकते हैं। प्रत्यभिज्ञा, अर्थात् 'यह वही है'– यह स्मरणयुक्त अनुभवावस्था है। चित्त

की अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, अतः, चित्त या आत्मा अनित्य या क्षणमात्र स्थायी होती है।[542]

बौद्धों द्वारा अपने पूर्वपक्ष की स्थापना और रत्नप्रभ द्वारा उसकी समीक्षा –

बौद्ध – बौद्ध–दार्शनिक सांख्य–मत की अवधारणा की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि आत्मा को नित्य कैसे माना जा सकता है ? नित्य आत्मा में अनुभवावस्था और स्मरणावस्था– दोनों अवस्थाओं का एक साथ रहना संभव नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों भिन्न–भिन्न अवस्थाएं हैं। अनुभव वर्त्तमानकाल का विषय है, तो स्मरण भूतकाल का। स्मरण जो होता है, वह भूतकाल में जिन पदार्थों का अनुभव हुआ है, उन भूतकाल के अनुभूत पदार्थों का स्मरण वर्त्तमानकाल में होता है, जिसको हम स्मरणावस्था कहते हैं। जो अनुभव होता है, वह वर्त्तमान के पदार्थों का होता है, जिसको हम अनुभवावस्था कहते हैं। जब दोनों अवस्थाओं का ज्ञान भिन्न–भिन्न समय में होता है, तो दोनों अवस्थाओं की चेतना भी तो भिन्न–भिन्न होगी। जिस चित्त (आत्मा) ने अनुभव किया, उसको स्मरण संभव नहीं है और जिस चित्त (आत्मा) ने स्मरण किया, उसको अनुभव संभव नहीं है, अतः, दोनों अवस्थाओं में दो भिन्न–भिन्न चित्त होते हैं। बौद्ध सांख्यों से कहते हैं कि नित्य तो सदा स्थिर और एकरूप रहने वाला होता है, जो बदलता है, वह नित्य नहीं हो सकता है, अतः, आपके द्वारा मान्य नित्य स्थित एकरूप वाली कूटस्थ–आत्मा में परिवर्तन संभव नहीं होगा। अतः, आत्मा अनित्य या परिवर्तनशील है और अनित्य होने के साथ–साथ क्षणिक भी है, ऐसी सतत परिवर्तनशील आत्मा (चेतना) में ही परिवर्तन संभव होता है, अतः, आत्मा स्थिर और सदैव एकरूप, अर्थात् कूटस्थ–नित्य नहीं हो सकती।[543]

जैन – जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि सर्वप्रथम सांख्य–मत के कूटस्थ–नित्य–आत्मवाद की समीक्षा करने के पश्चात् बौद्ध–मत की समीक्षा करते हुए रत्नाकरावतारिका में लिखते हैं– आप बौद्धों ने एकान्त–अनित्य की सिद्धि में जो हेतु प्रस्तुत किया है, वह सद्हेतु नहीं, अपितु मात्र विरुद्ध–हेत्वाभास है, क्योंकि आप बौद्ध चित्त–सत्ता की एकान्त–अनित्यता की सिद्धि के लिए जिस हेतु का प्रयोग करते हैं, वह हेतु साध्य के अभाव

---

542 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 100

543 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 102

में अपने विरोधी 'परिणामी नित्य' पुरुष के साथ ही व्याप्त है, जैसे– जो आत्मा अत्यन्त उच्छेदधर्मी ही हो, इसलिए कि एकान्त–अनित्य अर्थात् क्षणमात्रवर्ती ही हो, तो प्रत्येक क्षण में भिन्न–भिन्न आत्मा होने से जिसने पूर्व में अनुभव किया है, वह आत्मा तो स्मरणकाल में नहीं है। जिस प्रकार चैत्र का अनुभव मैत्र के स्मरण में नहीं आता है, वैसे ही दोनों समयों की आत्मा अत्यन्त भिन्न होने से प्रत्यभिज्ञा और स्मरण आदि तो घटित ही नहीं हो सकते हैं।[544]

बौद्ध – इस पर, बौद्ध–दार्शनिक जैनों से कहते हैं कि जिस प्रकार चैत्र और मैत्र– दोनों अत्यन्त भिन्न व्यक्ति हैं, उसी प्रकार प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाली आत्मा भी दो भिन्न क्षणों में भिन्न–भिन्न होती है, किन्तु एक सन्तानवर्ती (एकधारा प्रवाही) होने से चैत्र और मैत्र में स्मरण और प्रत्यभिज्ञान संभव हो सकते हैं।[545]

जैन – इस पर जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि बौद्धों से कहते हैं कि एक संतानवर्ती होने से चैत्र और मैत्र में स्मरण और प्रत्यभिज्ञान संभव हो सकते हैं– ऐसा जो कथन आप बौद्धों ने किया है, वह समुचित नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार चैत्र के चित्त से मैत्र का चित्त अत्यन्त भिन्न है, इसलिए चैत्र द्वारा किया गया अनुभव का स्मरण और प्रत्यभिज्ञान मैत्र में संभव नहीं हो सकता, उसी प्रकार आत्मा को चाहे एक संतानवर्ती मानेंगे, तो भी स्मरण और प्रत्यभिज्ञा संभव नहीं होगी, क्योंकि आप बौद्ध तो पूर्वक्षणवर्ती और उत्तरक्षणवर्ती– दोनों को अत्यन्त भिन्न–भिन्न मानते हैं और यदि पूर्वक्षणवर्ती आत्मा से उत्तरक्षणवर्ती आत्मा अत्यन्त भिन्न है, तो दो भिन्न–भिन्न क्षणवर्ती आत्माओं में स्मरण और प्रत्यभिज्ञा कैसे घटित होंगे ? यदि आत्मा को एक संतानवर्ती कहकर स्मरण और प्रत्यभिज्ञा मानेंगे, तो फिर तो आपका क्षणिकवाद खंडित हो जाएगा, क्योंकि आप तो पूर्वक्षण से उत्तरक्षण को भिन्न मानते हैं, पूर्वक्षण ने जो अनुभव किया उसका स्मरण आदि उत्तरक्षण को कैसे संभव होगा ? पूर्वक्षण तो सर्वथा नष्ट हो चुका, तो उसका अनुभव भी नष्ट हो चुका, इसलिए उत्तरक्षण को जो अनुभव होगा, वह उसको अपने नवीन विषय का अनुभव होगा, अतः, स्मरण और प्रत्यभिज्ञा तक पहुँचना आपके सिद्धान्तानुसार तो संभव ही नहीं है, क्योंकि

---

[544] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 102, 103

[545] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 103

स्मरण और प्रत्यभिज्ञा में होने वाला ज्ञान तो भूत और वर्त्तमानकाल से जुड़ा हुआ होता है।[546]

पुनः, रत्नप्रभ बौद्धों से कहते हैं कि पूर्वक्षणवर्ती और उत्तरक्षणवर्ती आत्मा के मध्य द्रव्य–तत्त्व रहा हुआ है, अतः, द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा कथंचित्–नित्य है और पर्याय की अपेक्षा से पूर्वक्षणवर्ती आत्मा से उत्तरक्षणवर्ती आत्मा भिन्न हो सकती है, अतः, पर्याय की अपेक्षा से आत्मा अनित्य भी है। इस प्रकार, से, नित्यानित्य अर्थात् परिणामी–नित्य आत्मा में स्मरण और प्रत्यभिज्ञा आदि निर्दोष रूप से घटित हो सकते हैं, किन्तु ऐसा मानने पर आप बौद्धों का एकान्त–क्षणिकवाद तो खण्डित हो जाता है, क्योंकि एकान्त–अनित्य नामक साध्य को साधने में जिस हेतु का प्रयोग किया है, वह हेतु एकान्त–अनित्यत्व नामक साध्य के साथ घटित न होकर साध्याभावात्मक– ऐसे परिणामी–नित्य (आत्मा) के साथ व्याप्त–रूप से रहता है, इसलिए बौद्धों को भी यह हेतु विरुद्ध–हेत्वाभास के रूप में मानना होगा।[547]

उपर्युक्त कथन का फलितार्थ यह है कि रत्नप्रभ रत्नाकरावतारिका में लिखते हैं– आत्मा को एकान्त–नित्य मानने में और एकान्त–अनित्य मानने में– दोनों स्थितियों में स्मरण और प्रत्यभिज्ञान संभव नहीं होंगे। सांख्य के एकान्त–नित्य की सिद्धि में और बौद्धों के एकान्त–अनित्य की सिद्धि में जो हेतु दिए हैं, वे दोनों विरुद्ध–हेत्वाभास से ग्रस्त हैं, क्योंकि उनके एकान्त–नित्य और एकान्त–अनित्य– ऐसे साध्य से सर्वथा विपरीत ऐसे परिणामी–पुरुष में ही स्मरण और प्रत्यभिज्ञा संभव है।[548]

इससे यही सिद्ध होता है कि स्याद्वाद (अनेकान्त) मानने में किसी भी प्रकार का दोष उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु एकान्त–नित्यवाद अथवा एकान्त–अनित्यवाद मानने में विरुद्ध–हेत्वाभासरूप दोष उत्पन्न होता है, इस कथन को सांख्य और बौद्ध–दार्शनिक क्यों नहीं समझते ?[549]

वस्तुतः, स्याद्वाद के विरोधियों ने स्याद्वाद को परस्पर विरोधी दिखाकर गलत तरीके से प्रस्तुत किया है। नित्य–अनित्य में 'विरोध' को

---

546 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 103
547 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 103
548 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 103
549 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 103, 104

मानकर सांख्य और बौद्ध स्याद्वाद को स्वीकार नहीं करते हैं। वे ऐसा मानते हैं कि जहाँ अंधकार होगा, वहाँ प्रकाश नहीं होगा और जहाँ प्रकाश होगा, वहाँ अंधकार नहीं होगा। प्रकाश और अंधकार को एकत्र (एक साथ) मानने में उन्हें परस्पर 'विरोध' दिखाई देता है, वैसे ही वे यह भी मान लेते हैं कि जहाँ नित्य होता है, वहाँ अनित्य नहीं होता है, और जहाँ अनित्य होता है, वहाँ नित्य नहीं होता है। नित्य और अनित्य को एक साथ मानना तो 'विरोध–दोष' से युक्त होता है। यही कारण है कि सांख्य और बौद्ध स्याद्वाद–सिद्धान्त को नहीं मानते हैं।[550]

नित्यानित्य में परस्पर विरोध को देखकर स्याद्वाद या अनेकांतवाद से अप्रीति रखने वाले सांख्यों और बौद्धों को समझा सके– क्या ऐसा कोई उदाहरण जैनों के पास है, जिसमें परस्पर विरोधी गुण वाली वस्तुओं को सांख्यों या बौद्धों ने एक ही साथ स्वीकार किया हो ?[551]

जैन – इसका समाधान करते हुए रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि सांख्य घट–पटादि वस्तुओं को सामान्य और विशेष– ऐसे परस्पर विरोधी गुण–धर्म से युक्त मानते हैं और बौद्ध भिन्न–भिन्न अनेक वर्णों (रंगों) से युक्त पदार्थ को 'चित्र रूप' में मानते हैं, अतः, उनकी इन मान्यताओं में भी स्याद्वाद के समान ही परस्पर विरोध का दोष संभव है।[552]

सभी गायें गोत्व–धर्म से युक्त होने से सामान्य (समान) हैं और शाबलेय तथा बाडुलेय आदि–रूप में विशेष भी हैं। इसी प्रकार, सभी घट घटत्व के रूप में सामान्य हैं तथा सोने का, चाँदी का, मिट्टी का इत्यादि की अपेक्षा से विशेष भी हैं। तात्पर्य यह है कि जगत् के सभी पदार्थ सामान्य–विशेषात्मक हैं। इस प्रकार, सांख्यदर्शन वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों को स्वीकार करते हुए भी अपेक्षा–भेद के होने से उनमें परस्पर विरोधरूप दोष नहीं मानता है। उसी प्रकार, स्याद्वाद में भी द्रव्यार्थिक–नय की अपेक्षा से नित्यत्व और पर्यायार्थिक–नय की अपेक्षा से अनित्यत्व में अपेक्षा–भेद होने के कारण विरोधरूप दोष संभव नहीं है।[553]

---

550 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 104
551 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 104
552 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 104
553 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 104

इसी प्रकार, बौद्धों के अनुसार भी एक ही चित्र–रूप वस्तु में रहे हुए कृष्ण, नील, पीत, श्वेत आदि भिन्न–भिन्न रंगों का ज्ञान हमें होता है। तात्पर्य यह है कि बौद्धों की धारणा के अनुसार, एक ही वस्त्र में भिन्न–भिन्न रंग एक साथ रहते हैं और उनका ज्ञान भी एक ही साथ होता है, किन्तु इसमें किसी भी प्रकार का विरोधरूप दोष नहीं रहता।[554]

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों को प्रस्तुत करने का कारण यह है कि सांख्य प्रत्येक पदार्थ को सामान्य–विशेषात्मक मानते हैं तथा बौद्ध भी विरोधी रंगों के चित्र–ज्ञान को एक साथ संभव मानते हैं। इस प्रकार, दोनों दार्शनिकों ने अपेक्षा–भेद से विरोधी प्रतीत होने वाले तथ्यों का विरोध नहीं माना है। इसी को समझाने के लिए जैनों ने उपर्युक्त उदाहरण दिए हैं, ताकि वे यह मान लें कि अपेक्षा–भेद से एक वस्तु में एक ही साथ नित्यत्व–अनित्यत्व आदि परस्पर–विरोधी प्रतीत होने वाले गुणधर्म रह सकते हैं और इसी आधार पर वे जैनों के अनेकांतवाद या स्याद्वाद की निर्दोषता भी समझ लें।[555]

क्रिया और क्रियावान् के भिन्नत्व और अभिन्नत्व का प्रश्न

बौद्ध एवं वैशेषिक–पूर्वपक्ष – रत्नप्रभसूरि का कथन है कि बौद्ध–दर्शन क्रिया को क्रियावान् पदार्थ से अभिन्न मानते हैं। उनके अनुसार, क्रिया से भिन्न क्रियावान् पदार्थ और क्रियावान् पदार्थ से भिन्न क्रिया नहीं होती। इसके विपरीत, वैशेषिक–दर्शन की मान्यता है कि क्रिया और क्रियावान् पदार्थ भिन्न–भिन्न हैं। दोनों के अपने–अपने तर्क हैं। रत्नप्रभसूरि ने रत्नाकरावतारिका में इन दोनों मतों का खण्डन करके जैन–दर्शन के अनेकान्त के सिद्धांत के अनुसार क्रिया और क्रियावान् पदार्थ में कथंचित्–भिन्नत्व और कथंचित्–अभिन्नत्व माना है।[556]

जैन – सर्वप्रथम, रत्नप्रभसूरि बौद्धदर्शन के क्रिया और क्रियावान् पदार्थ के एकान्त–अभेदवाद का खण्डन करते हुए लिखते हैं कि यदि क्रिया और क्रियावान् पदार्थ अभिन्न हैं, तो फिर या तो क्रियावान् पदार्थ रहेगा या क्रिया रहेगी। पारमार्थिक–दृष्टि से इनमें से किसी एक को ही स्वीकार करना होगा। ये दो हैं– ऐसा कहना संभव नहीं होगा, क्योंकि यदि

---

[554] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 104
[555] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 104, 105
[556] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 21

क्रिया और क्रियावान् पदार्थ– इन दोनों को अलग–अलग स्वीकार करेंगे, तो क्रिया और क्रियावान् पदार्थ में जो एकान्त–अभेद माना है, वह खंडित हो जाएगा। क्रिया और उसका कर्त्ता– इन दोनों को अभिन्न नहीं कहा जा सकता है और यदि इनमें भेद माना जाए, तो एकान्त–अभेदवाद तो अवश्य ही खंडित हो जाता है। अन्त में, रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि वस्तु और उसकी क्रिया– ये एकान्तरूप से न तो भिन्न हैं और न एकान्तरूप से अभिन्न ही हैं।[557]

जैनों द्वारा वैशेषिक–मत की समीक्षा – इसी प्रसंग में, रत्नप्रभसूरि ने वैशेषिकों के एकान्तभेदभाव की भी समीक्षा विस्तार से की है, किन्तु हमारा शोध का विषय बौद्ध–दर्शन तक सीमित होने के कारण यहाँ उसकी चर्चा अपेक्षित नहीं है।

जैनों द्वारा इस क्रिया और क्रियावान् पदार्थ के संबंध में कथंचित्–भेद और कथंचित्–अभेद की अवधारणा की बौद्धदर्शन के विज्ञानवादी और शून्यवादी दार्शनिकों ने समीक्षा की।

बौद्ध – विज्ञानवादी यह कहते हैं कि सर्वसत्ता मात्र ज्ञान (विज्ञान)–रूप है, ज्ञेयरूप कुछ भी नहीं है, अतः, क्रिया और क्रियावान् पदार्थ– दोनों ही ज्ञानरूप होने से अभिन्न ही हैं।

इसी प्रकार, बौद्धों के शून्यवादी–सम्प्रदाय के आचार्यों का कहना है कि कोई भी निरपेक्ष–सत्ता है ही नहीं। सभी प्रतीतमान सत्ताएँ सापेक्ष रूप या शून्यरूप ही हैं, अतः, क्रिया और क्रियावान् में भेद की कल्पना उचित नहीं है।

उपसंहार –

इन दोनों मतों की समीक्षा करते हुए रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि चाहे विज्ञानवादी बौद्धों की तरह विज्ञानाद्वैत को स्वीकार किया जाए, या शून्यवादी माध्यमिकों की तरह शून्याद्वैत को स्वीकार किया जाए– दोनों ही स्थितियों में क्रिया और क्रियावान् का भेद समाप्त हो जाएगा। इसी प्रकार, यह भी सत्य है कि क्रिया के बिना कर्त्ता और कर्त्ता के बिना क्रिया संभव नहीं है, क्रिया और कर्त्ता एक ही हैं– यह मान्यता भी उचित नहीं है, किन्तु कर्त्ता के अभाव में क्रिया कैसे होगी ? इसी प्रकार, बिना क्रिया किए कर्त्ता

---

557 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 21

कैसे होगा? अतः, क्रिया और कर्त्ता के एकान्त–अभेद का पक्ष या एकान्तभेद का पक्ष समुचित नहीं है। क्रिया और कर्त्ता– दोनों कथंचित्–भिन्न हैं और कथंचित्–अभिन्न हैं– यही मान्यता जैन–दर्शन के अनेकान्तवाद–सिद्धांत के आधार पर तर्कसंगत सिद्ध होती है।

अध्याय–15

पक्षाभास एवं हेत्वाभास के संबंध में बौद्ध–मन्तव्यों की समीक्षा

बौद्धों का पूर्वपक्ष – बौद्ध–दार्शनिकों ने अप्रसिद्ध विशेषण, अप्रसिद्ध विशेष्य और अप्रसिद्ध उभय– इन तीनों को पक्षाभास के रूप में स्वीकार किया है; किन्तु जैनों की दृष्टि में उनकी यह मान्यता युक्तिसंगत नहीं है।

जैन – जैनों का कहना है कि अप्रसिद्ध विशेषण को सिद्ध करना तो उचित माना जा सकता है; किन्तु जो स्वयं प्रसिद्ध (सिद्ध) है, उसको सिद्ध करने का कोई औचित्य ही नहीं रहता है। यदि प्रसिद्ध को सिद्ध किया जाएगा, तो सिद्ध–साध्यता नाम का दोष उत्पन्न होगा। चाहे पर्वत पर अग्नि हो या न हो, किन्तु यह अनुभवसिद्ध है कि अग्नि में उष्णता नामक गुण–धर्म रहा हुआ है, अतः, अग्नि उष्ण होती है, इसको सिद्ध करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती है, इसलिए ऐसे पक्षाभास का कथन करना युक्तिसंगत नहीं है।[558]

बौद्ध – इस पर बौद्ध–दार्शनिक कहते हैं कि आप जैनों ने हमारे कथन को समझने का प्रयत्न ही नहीं किया है। हमारा कथन तो यह है कि अग्नि की विद्यमानता या अविद्यमानता पर्वत में प्रसिद्ध नहीं है। भले ही, पक्ष (पर्वत) में अग्नि अप्रसिद्ध हो, परन्तु जगत् में अग्नि तो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है और मात्र विवक्षित स्थान पर जो अप्रसिद्ध हो– ऐसे साध्य को सिद्ध करने को हम पक्षाभास नहीं कहते हैं; अपितु संसार में पक्ष, सपक्ष और विपक्ष– इन तीनों स्थानों में जो अप्रसिद्ध होता है, उसे हम पक्षाभास कहते हैं। तात्पर्य यह है कि साध्य को सिद्ध करने के तीन स्थान ही होते हैं– पक्ष, सपक्ष और विपक्ष। विपक्ष में साध्य के अविद्यमान होने से तथा पक्ष में संदेह होने से तथा अन्वयव्याप्ति में सपक्ष का उदाहरण नहीं मिलने से–

[558] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 50

इन तीनों में सार्वत्रिक अप्रसिद्ध–साध्य वाले पक्ष को ही हम बौद्ध पक्षाभास कहते हैं। उदाहरणस्वरूप, सांख्यदर्शन समस्त पदार्थों को नित्य मानता है, उनके मत में विनाशत्व किसी भी धर्मी में प्रसिद्ध नहीं है, क्योंकि सांख्यदर्शन ने विनाश को पूर्वावस्था का तिरोभावमात्र ही कहा है, इसलिए विशेष रूप से सपक्ष में अप्रसिद्ध ऐसे विनाशत्व गुण वाले साध्य को सिद्ध करने में सांख्यदर्शन में पक्षाभास का दोष उत्पन्न हो सकता है– ऐसी हम बौद्धों की मान्यता है।[559]

जैन–आचार्य रत्नप्रभसूरि की समीक्षा – बौद्धों के इस मंतव्य का खण्डन करते हुए रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि आपका (बौद्धों का) उपर्युक्त कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि सार्वत्रिक–अप्रसिद्धि को यदि अप्रसिद्ध विशेषणादि पक्षाभास कहेंगे, तो आपके सिद्धान्त में भी तो दोष आएगा, क्योंकि 'सर्वं क्षणिकं सत्वात्', अर्थात् सभी पदार्थ सत्व होने से क्षणिक हैं– ऐसा आपका अनुमान–प्रमाण है और इस अनुमान–प्रमाण से आप सर्वत्र क्षणिकता की सिद्धि भी करते हैं, जबकि क्षणिकता कहीं पर भी प्रसिद्ध नहीं है और यदि क्षणिकता प्रसिद्ध हो, तो फिर उसको सिद्ध करने की भी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। दूसरे, सभी वस्तुएँ पक्ष–रूप में स्थापित होने के कारण यह क्षणिकता किसी भी पक्ष में प्रसिद्ध नहीं है। इस प्रकार, से, सपक्ष में और विपक्ष में भी प्रसिद्ध न होने के कारण आपके अनुमान–प्रमाण में क्षणिकता की जो सिद्धि की जाती है, वह अप्रसिद्ध विशेषण– रूप ही होगी, जिसको मानने पर तो आपका अनुमान ही दूषित होगा और विशेष्य अर्थात् पक्ष (धर्मी) की प्रसिद्धि तो विकल्पमात्र से भी होती है– ऐसा प्रतिपादन पूर्व में हो चुका है, तो फिर यह विशेष्य की अप्रसिद्धि कैसे कहलाएगी ? क्योंकि विकल्प से तो विशेष्य की प्रसिद्धि हो सकती है।[560]

इस प्रकार, से, अप्रसिद्ध विशेषण और अप्रसिद्धि विशेष्य– ऐसे दोनों पक्ष खण्डित (असिद्ध) हो जाने से उभय–अप्रसिद्ध वाला तीसरा पक्ष भी अपने–आप ही खंडित हो जाता है।[561]

अनुमान में पक्ष, हेतु, दृष्टांत, उपनय और निगमन– ऐसे पाँच अंग होते हैं। यदि इन पाँचों में से किसी का भी विपरीत रूप में कथन किया

---

559 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 50
560 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 51
561 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 51

जाए, तो अनुमान–आभास होगा। अनुमान के इन पाँचों प्रकारों के आभासों में से प्रथम साध्याभास (पक्षाभास) के तीन भेद होते हैं– 1. प्रतीत–साध्य 2. निराकृत–साध्य 3. अनभीप्सित–साध्य।

विरुद्ध–हेत्वाभास के संदर्भ में बौद्धों के मंतव्य की समीक्षा

जैन, नैयायिक, वैशेषिकादि कितने ही दार्शनिकों के अनुसार जो हेतु साध्य के विरुद्ध (विरोधी) तथ्य को सिद्ध करता हो, तो वह हेतु विरुद्ध–हेत्वाभास कहलाता है– ऐसी उपर्युक्त दार्शनिकों की मान्यता है, किन्तु बौद्ध–दार्शनिकों की मान्यता इससे कुछ भिन्न है। रत्नप्रभसूरि, प्रथम बौद्धों के पूर्वपक्ष का प्रस्तुतिकरण करके, पश्चात् उसका खण्डन करते हैं।[562]

बौद्ध–पूर्वपक्ष – जिससे धर्मी (पक्ष) के स्व–स्वरूप से विपरीत स्वरूप की सिद्धि हो, वह, अथवा जिससे धर्मी (पक्ष) के किसी विशेष–धर्म से विपरीत धर्म की सिद्धि हो, वे दोनों विरुद्ध–हेत्वाभास कहलाते हैं, ऐसा बौद्ध–दार्शनिक मानते हैं; किन्तु वे वस्तुतः हेत्वाभास नहीं हैं– ऐसा जैनों का मानना है, क्योंकि जो मात्र साध्य के स्वरूप के विपर्यय (विरुद्ध) का साधक होता है, उसी को अन्य सभी दार्शनिक विरुद्ध–हेत्वाभास कहते हैं, अन्यथा तो बौद्धों के उपर्युक्त दोनों विरुद्ध–हेत्वाभास मानने पर तो अनुमान का भी उच्छेद होने की आपत्ति आएगी और यथार्थ अनुमान भी मिथ्या हो जाएँगे।[563] शब्दः (पक्ष), अनित्यः (साध्य), कृतकत्वात् (हेतु) घटवत्–इस अनुमान का कृतकत्व–हेतु हेत्वाभास के समस्त दोषों से रहित होने से अनित्यता नामक स्वयं के साध्य की सिद्धि करने वाला होने से सद्हेतु है। फिर भी, यदि बौद्धों की विरुद्ध–हेत्वाभास की उपर्युक्त व्याख्या मान्य करते हैं, तो यह सद्हेतु भी विरुद्ध–हेत्वाभास ही सिद्ध होता है, जैसे– 'जो–जो कृतक होते हैं, वे सभी शब्द होते हैं'– ऐसा अनुमान उचित नहीं है, जैसे– घट कृतक है, परन्तु वह शब्दात्मक नहीं है। यहाँ कृतकत्व–हेतु शब्दात्मक–पक्ष के विपरीत शब्दभावात्मक–पक्ष की भी सिद्धि करता है। इस प्रकार, प्रथम व्याख्या असत्य सिद्ध हो गई। इसी प्रकार, जो–जो कृतक होता है, वह– वह श्रोता अग्राह्य होता नहीं', जैसे– पट। यहाँ पर कृतकत्व–हेतु है, परंतु पक्ष जो शब्द है, उसका जो विशेष–धर्म श्रावणत्व अर्थात् सुनाई देना है, उसके विरोधी अश्रावणत्व की पट के उदाहरण से

---

[562] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 112

[563] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 112

सिद्धि की गई है, जिससे दूसरी व्याख्या भी असत्य सिद्ध हो गई। इस प्रकार से, यह कृतकत्व–हेतु धर्मी (शब्द) के स्वरूप के विपरीत की और धर्मी के विशेष स्वरूप के विरोधी की सिद्धि भी करता है, इस प्रकार, उसके स्वभाव की भी सिद्धि कर देता है, इसलिए यह सद्हेतु भी अहेतु अर्थात् हेत्वाभास बन जाता है, अतः, बौद्धों का यह मानना युक्तिसंगत नहीं है। अनुमान–प्रमाण में धूम–हेतु अग्निरूप यथार्थ साध्य की सिद्धि करने से सद्हेतु है, किन्तु फिर भी धूमहेतु को इस प्रकार, प्रयोग करना कि जहाँ–जहाँ धुआँ होता है, वहाँ–वहाँ पर्वत नहीं होता, अथवा जहाँ–जहाँ धूम होता है, वहाँ–वहाँ पर्वत का जो पाषाणत्व–रूप विशेष धर्म है, वह नहीं होता, यह उचित नहीं होता है। धूमहेतु से घास की अग्नि की भी सिद्धि होती है, किन्तु पर्वतरूपी पक्ष की सिद्धि नहीं होती, साथ ही पाषाणत्व रूप पक्ष के विशेष–धर्म की भी सिद्धि नहीं होती है। हेतु का ऐसा प्रयोग सद्हेतु को भी विरुद्ध–हेत्वाभास बना देता है, अतः, बौद्धों की विरुद्ध–हेत्वाभास की उपर्युक्त व्याख्या उचित नहीं है।[564]

इस प्रसंग में, रत्नप्रभसूरि ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कृतक है। यह सद्हेतु होते हुए भी बौद्धों की व्याख्या के अनुसार विरुद्ध–हेत्वाभास का ही एक रूप सिद्ध हो जाता है। चूंकि जो भी कृतक होता है, वह शब्द ही हो– यह आवश्यक नहीं है, अतः, इस प्रसंग में रत्नप्रभसूरि का कहना है कि विरुद्ध–हेत्वाभास के संदर्भ में बौद्धों की जो व्याख्या है, वह उचित नहीं है।[565]

दृष्टान्ताभास के संदर्भ में बुद्ध की आप्तता की समीक्षा

रत्नाकरावतारिका के छठवें परिच्छेद के 74, 75 एवं 76 वें सूत्र में जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि लिखते हैं कि बौद्ध–दार्शनिक क्षणिकेकान्तवादी हैं। उनके इस सिद्धान्त से बुद्ध की असर्वज्ञता और अनाप्ततारूप साध्य की सिद्धि संभव है। रत्नप्रभसूरि बौद्धों का पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि जो–जो सर्वज्ञ और आप्त हैं, वे क्षणिक–एकान्तवादी हैं, जैसे– बौद्ध। बौद्धों के इस उदाहरण में साध्य क्षणिक–एकान्तवादिता होने के कारण अक्षणिक–एकान्तवादिता का अभाव निश्चित रूप से रहा हुआ है, किन्तु किसी की सर्वज्ञता और आप्तता इन्द्रिय–ज्ञान का विषय न होने के कारण बुद्ध में भी सर्वज्ञता और आप्तता है या नहीं– यह शंका का विषय है।

---

564 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 112, 113

565 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 113

असर्वज्ञता और अनाप्तता की व्यावृत्ति को जाना नहीं जा सकता है, इसलिए साध्य–धर्म की व्यावृत्ति शंका का विषय है, इसीलिए यह 'संदिग्ध–साध्य व्यतिरेक' नामक चौथा वैधर्म्य का उदाहरण है।[566]

वस्तुतः, देखा जाए तो, 'असिद्ध–साध्य व्यतिरेक' नामक प्रथम वैधर्म्य के उदाहरण में ही इसका भी समावेश हो चुका है। चूंकि बौद्धों द्वारा मान्य 'क्षणिकेकान्तवाद' प्रत्यक्ष प्रमाणादि से खंडित है, इसलिए उस मिथ्या क्षणिकेकान्तवाद को कहने वाले बौद्ध–दार्शनिक असर्वज्ञ और अनाप्त हैं, यह बात स्वतः ही सिद्ध हो जाती है। सिर्फ बुद्ध की सर्वज्ञता और आप्तता का खंडन करने वाले प्रमाणों के हार्द को समझने के लिए शून्यवाद को मानने वाले सर्वथा अल्पज्ञ ऐसे प्रमाता के आश्रय से यहाँ 'संदिग्ध–साध्य व्यतिरेक' को चौथा आभास के रूप में समझाया है, अन्यथा इसका समावेश तो प्रथम वैधर्म्य के उदाहरण में ही हो चुका है।[567]

वैधर्म्य–अनुमान के पाँचवें उदाहरण में व्यतिरेक–व्याप्ति इस प्रकार, से है– 'जो–जो अनादेय–वचन वाला नहीं है, वह–वह पुरुष रागादिवाला भी नहीं है, अर्थात् जो–जो पुरुष आदेय–वचन वाला है, वह–वह पुरुष वीतराग है, जैसे कि बुद्ध। इस उदाहरण में, बुद्ध में अनादेय–वचनता का अभाव हो सकता है, परन्तु रागादि के अभावरूप वीतरागता इन्द्रियगोचर ज्ञान से नहीं जानी जा सकती, इसलिए उनमें रागादि के अभावरूप वीतरागता विषय है, इस प्रकार, यह 'संदिग्ध–साधन व्यतिरेक' नामक पाँचवाँ वैधर्म्य का उदाहरण है।[568]

टीकाकार रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि बुद्ध के क्षणिकेकान्तरूप वचन प्रमाण से बाधित होने से आदेय नहीं हैं, फिर भी उनके दर्शन के अनुरागी व्यक्तियों को बुद्ध की आदेय–वचनता मान्य हो सकती है, परन्तु रागादि अभावरूप वीतरागता तो उसको सिद्ध करने वाले प्रमाण की विकलता के कारण संदेह का विषय ही रहती है, इसलिए यह संदिग्ध–साधन व्यतिरेक का उदाहरण यथार्थ ही है।[569]

---

566 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 142
567 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 142
568 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 143
569 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 143

संदिग्धोभय व्यतिरेक नामक अनुमान के छठवें उदाहरण में तपन–बन्धु बुद्ध के व्यतिरेक–व्याप्ति (वैधर्म्य) का उदाहरण निम्न रूप में दिया गया है। वीतरागता इन्द्रियजन्य ज्ञान का विषय न होने के कारण यह सिद्ध नहीं हो सकता है कि बुद्ध रागादि से युक्त हैं या वीतराग हैं ? इसलिए वीतरागता अभावरूप में ही साध्य हो सकती है, अर्थात् उनकी वीतरागता में संदेह बना रहता है। इसी प्रकार, करुणाशील बुद्ध ने जीवों पर करुणा करके स्वयं के शरीर के मांस के टुकड़ों को समर्पित किया था, या नहीं ? यह बताने वाले किसी भी प्रमाण का अभाव होने से इस कथन की प्रामाणिकता को नहीं माना जा सकता, इसलिए 'अनर्पित निज मांस पिरित' के अभाव में भी शंका बनी रहती है। इस प्रकार से, साध्याभाव और साधनाभाव की शंका के होने से कुछ भी निर्णय न होने के कारण यह संदिग्धोभय व्यतिरेक नाम का छठवां वैधर्म्य का उदाहरण है।[570]

साध्याभास (पक्षाभास) एवं दृष्टान्ताभास के पश्चात् अब 'हेत्वाभास' का वर्णन किया जा रहा है।[571]

हेत्वाभास के सम्बन्ध में जैन–दृष्टिकोण –

जैन – ग्रन्थकार जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि कहते हैं– जो हेतु साध्य के बिना नहीं होता है, उसको निश्चितान्यथानुपपत्ति कहते हैं और यही एकमात्र सद्हेतु का यथार्थ लक्षण है; किन्तु जो हेतु निश्चितान्यथानुपपत्ति से विकल (रहित) होगा, वह वस्तुतः अहेतु या मिथ्या हेतु होता है। जब यथार्थ हेतु के स्थान पर मिथ्या हेतु का प्रयोग किया जाता है, तो उसे हेत्वाभास कहते हैं। दूसरे शब्दों में, जहाँ मिथ्या हेतु, हेतु के समान दिखाई देता है, उसी को हेत्वाभास कहते हैं। यथार्थ हेतु के स्थान पर मिथ्या हेतु का प्रयोग ही हेत्वाभास कहलाता है।[572]

हेत्वाभास के सम्बन्ध में बौद्धों का पूर्वपक्ष –

पुनः, जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि लिखते हैं– बौद्धों द्वारा सद्हेतु के मान्य तीन लक्षण हैं– 1. पक्षसत्व 2. सपक्षसत्व और 3. विपक्षअसत्व। नैयायिक इन तीनों लक्षणों के साथ–साथ अबाधित विषयत्व और असत्–प्रतिपक्ष– ऐसे सद्हेतु के पाँच लक्षण मानते हैं; किन्तु जैनों के अनुसार,

---

[570] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 143

[571] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 51

[572] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 52

निश्चितान्यथानुपपत्ति– यही एकमात्र सद्हेतु का लक्षण है। उनके अनुसार, जब हेतु निश्चितान्यथानुपपत्तिरूप न होकर भी हेतु जैसा आभासित होता हो तो जैन उसको हेत्वाभास कहते हैं। वह हेत्वाभास तीन प्रकार का है– 1. असिद्ध 2. विरुद्ध और 3. अनेकान्तिक,[573] जिसका वर्णन ग्रन्थकार रत्नप्रभसूरि क्रमशः निम्न प्रकार से करते हैं–

1. निश्चितान्यथानुपपत्ति– यह सद्हेतु का लक्षण है, किन्तु यह निश्चितान्यथानुपपत्ति साध्य के साथ हेतु की होना चाहिए, किन्तु यदि यह निश्चितान्यथानुपपत्ति साध्य के साथ न होकर उससे विपरीत किसी अन्य के साथ हो, तो उसको विरुद्ध–हेत्वाभास कहते हैं, अर्थात् साध्य से विपरीत किसी अन्य के साथ जिसकी व्याप्ति निश्चित हो, वह विरुद्ध–हेत्वाभास कहलाता है।[574]

2. साध्य के साथ हेतु की निश्चित रूप से अन्यथानुपपत्ति होना चाहिए, किन्तु उसके स्थान पर वह अन्यथानुपपत्ति साध्य के साथ भी हो तथा साध्य से इतर किसी अन्य के साथ भी हो, तो ऐसी अनिश्चित रूप वाली अन्यथानुपपत्ति से अनेकान्तिक–हेत्वाभास का उद्भव होता है, अर्थात् जिस हेतु की अन्यथानुपपत्ति (व्याप्ति) में संदेह हो, वह अनेकान्तिक–हेत्वाभास कहलाता है।[575]

असिद्ध–हेत्वाभास की जैन–दर्शन की समीक्षा का बौद्धों का प्रत्युत्तर

जो हेतु, वादी और प्रतिवादी– दोनों को ही सिद्ध अर्थात् मान्य नहीं होता है, उसको असिद्ध–हेत्वाभास कहते हैं। जब हेतु की अन्यथानुपपत्ति पक्ष में प्रतीत नहीं होती हो, अर्थात् अप्रतीत होती हो, तो वह असिद्ध–हेत्वाभास होता है। असिद्ध–हेत्वाभास में पक्ष में हेतु की अन्यथानुपपत्ति की जो अप्रतीति होती है, वह अज्ञान से, संदेह से, अथवा विपर्यय से होती है। असिद्ध–हेत्वाभास का एक तात्पर्य यह भी हो सकता है– हेतु और साध्य में जो व्याप्ति–संबंध होना चाहिए, किन्तु जिसका साध्य से व्याप्ति–संबंध न हो– ऐसे हेतु के द्वारा साध्य को सिद्ध करने के प्रयास को असिद्ध–हेत्वाभास कहते हैं, जैसे– जहाँ–जहाँ धुआँ होता है, वहाँ–वहाँ अग्नि होती है, इसमें तो व्याप्ति–संबंध है, किन्तु यदि कोई यह कहे कि

[573] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 52

[574] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 52

[575] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 52, 53

जहाँ–जहाँ अग्नि होती है, वहाँ–वहाँ धुआँ होता है, देखो पर्वत पर अग्नि है, इसलिए पर्वत पर धुआँ है, तो वह असिद्ध–हेत्वाभास है, क्योंकि अग्नि की धुएँ से व्याप्ति बनती ही नहीं है। यह असिद्ध–हेत्वाभास भी दो प्रकार का है– 1. उभयासिद्ध और अन्यतरासिद्ध।

1. जो हेतु वादी और प्रतिवादी– दोनों को मान्य नहीं है, उसे हेतु के रूप में प्रस्तुत करना उभयासिद्ध–हेत्वाभास है, जैसे– शब्द परिणामी हैं, क्योंकि शब्द चाक्षुष हैं। यहाँ शब्द का चाक्षुषत्व दोनों को सिद्ध नहीं है, क्योंकि शब्द आँख से नहीं दिखता, बल्कि कान से सुनाई देता है, अतः, यह हेतु उभयासिद्ध है, क्योंकि वादी और प्रतिवादी– दोनों को मान्य नहीं है।[576]

2. ऐसा हेतु, जो वादी या पक्ष को तो मान्य होता है, किन्तु प्रतिवादी या विपक्ष को मान्य नहीं होता है, उसे अन्यतरासिद्ध–हेत्वाभास कहते है, जैसे– वृक्ष अचेतन है, क्योंकि वह ऐन्द्रिक–ज्ञान से रहित है, ऐसा हेतु वादी (पक्ष) अर्थात् जैनों को तो मान्य या सिद्ध है; किन्तु प्रतिवादी (विपक्ष) अर्थात् बौद्धों को मान्य सिद्ध नहीं है। जैन वृक्ष को चेतन मानते हैं, इसलिए वे वृक्ष में ऐन्द्रिक–ज्ञान का होना स्वीकार करते हैं, अतः, केवल प्रतिवादी बौद्धों को अमान्य या असिद्ध होने के कारण यह अन्यतरासिद्ध–हेत्वाभास है।[577]

जैन असिद्ध–हेत्वाभास के उभयासिद्ध और अन्यतरासिद्ध– इन दो भेदों को ही स्वीकार करते हैं, जबकि नैयायिक, सांख्य आदि अन्य दार्शनिक असिद्ध–हेत्वाभास के स्वरूप–असिद्ध, व्याप्यत्व–असिद्ध, आश्रय–असिद्ध आदि अन्य भेद ही स्वीकार करते हैं; किन्तु जैन–दार्शनिकों का कहना है कि ये सभी भेद उभय–असिद्ध और अन्यतरा–असिद्ध में समाहित हो जाते हैं; किन्तु बौद्ध–दार्शनिक असिद्ध–हेत्वाभास के निम्न अन्य भेद भी स्वीकार करते हैं–[578]

1. स्वरूप–असिद्ध
2. विरुद्ध–असिद्ध
3. विशेष्य–असिद्ध

---

576 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 53
577 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 54
578 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 54

4. विशेषण–असिद्ध
5. पक्ष–एकदेश–असिद्ध
6. आश्रय–असिद्ध
7. आश्रय–एकदेश–असिद्ध
8. संदिग्ध–आश्रय–असिद्ध
9. संदिग्ध–आश्रय–एकदेश–असिद्ध
10. आश्रय–संदिग्ध–वृत्यसिद्ध
11. आश्रय–एकदेश–संदिग्ध–वृत्यसिद्ध
12. व्यर्थ–विशेषण–असिद्ध
13. व्यर्थ–विशेष्य–असिद्ध
14. संदिग्ध–असिद्ध
15. संदिग्ध–विशेष्य–असिद्ध
16. संदिग्ध–विशेषण–असिद्ध
17. एकदेश–असिद्ध
18. विशेषण–एकदेश–असिद्ध
19. विशेष्य–एकदेश–असिद्ध
20. संदिग्ध–एकदेश–असिद्ध
21. संदिग्ध–विशेषण–एकदेश–असिद्ध
22. संदिग्ध–विशेष्य–एकदेश–असिद्ध
23. व्यर्थ–एकदेश–असिद्ध
24. व्यर्थ–विशेषण–एकदेश–असिद्ध
25. व्यर्थ–विशेष्य–एकदेश–असिद्ध

इस प्रकार, बौद्धों ने ऐसे पच्चीस प्रकार के असिद्ध–हेत्वाभास का उल्लेख किया है। रत्नाकरावतारिका में बौद्धों के असिद्ध–हेत्वाभासों के पच्चीस भेदों का मात्र सामान्य रूप से विवरण दिया गया है। इनमें से

केवल विशेषण–एकदेश–असिद्ध और विशेष्य–एकदेश–असिद्ध– इन दो असिद्धों की समीक्षा करते हुए यह कहा गया है कि ये दोनों प्रकार के असिद्ध–हेत्वाभास जैनों की दृष्टि में संभव ही नहीं हैं। इसके साथ ही, रत्नप्रभसूरि का यह भी कहना है कि किसी भी प्रकार का असिद्ध–हेत्वाभास हो, वह उभय–असिद्ध अथवा अन्यतर–असिद्ध–हेत्वाभास के इन दो भेदों में अन्तर्भूत हो ही जाता है, क्योंकि कोई भी असिद्ध–हेत्वाभास या तो वादी और प्रतिवादी– दोनों को अमान्य होगा, अथवा प्रतिवादी आदि किसी एक को अमान्य होगा, अतः, असिद्ध–हेत्वाभास के उभय–असिद्ध और अन्यतरासिद्ध– इन दोनों भेदों में सभी प्रकार के असिद्ध–हेत्वाभास समाहित हो जाते हैं। यद्यपि हेत्वाभास के इस प्रसंग में बौद्धों के साथ–साथ नैयायिकों के मत की भी विस्तार से समीक्षा की गई है, किन्तु प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध बौद्ध–मत की समीक्षा तक ही सीमित होने के कारण हम यहाँ उसकी चर्चा नहीं कर रहे हैं।[579]

बौद्धों के असाधारणानेकान्तिक (अनेकान्तिक)–हेत्वाभास की समीक्षा

बौद्धों के अनुसार, हेत्वाभास का नौवाँ प्रकार असाधारण अनेकान्तिक–हेत्वाभास है, जो उनकी बुद्धिमत्ता को दर्शाने वाला नहीं है, अर्थात् अनावश्यक है।

बौद्ध – बौद्ध–दार्शनिकों के कथन का आशय यह है कि 'शब्दः नित्यः श्रावणत्वात्'– इस अनुमान में श्रावणत्वात् हेतु असाधारण अनेकान्तिक–हेत्वाभासरूप है। जिस अनुमान में हेतु सपक्ष में और विपक्ष में– दोनों में सर्वथा व्यावृत्त (निषेधरूप) हो और मात्र पक्ष में ही रहता हो, तो वह हेतु असाधारण अनेकान्तिक–हेत्वाभास कहलाता है। तर्कसंग्रह में भी 'सपक्ष विपक्ष व्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तिः असाधारणः'– ऐसा सूत्र है, परन्तु इसके बारे में बौद्धदर्शन में सूक्ष्मता से विचार नहीं किया गया है।[580]

जैन – इस अनुमान में यह प्रश्न उठता है कि क्या 'श्रावणत्व' हेतु 'एकांततः–नित्य' ऐसे साध्य की सिद्धि करता है ? या 'कथंचित्–नित्य' ऐसे साध्य की सिद्धि करता है ? यदि श्रावणत्व–हेतु सर्वथा नित्य–साध्य की सिद्धि करता हो, तो वह विरुद्ध–हेत्वाभास है और यदि वह 'कथंचित्–नित्य' साध्य की सिद्धि करता हो, यह हेतु सम्यक्–हेतु ही है,

[579] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 64

[580] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 124

हेत्वाभास नहीं है, इसलिए हेत्वाभास का असाधारण अनेकान्तिक–हेत्वाभास नामक भेद करने की आवश्यकता ही नहीं है।[581]

वस्तुतः, शब्द कथंचित्–नित्य हैं। जब तक शब्द को भाषा के रूप में परिणत करके बोला नहीं जाता है, तब तक वह अश्रावणत्व–स्वभाव वाला रहता है, किन्तु वे ही शब्द जब भाषा के रूप में परिणत करके बोले जाते हैं, तो इसमें पूर्वकालीन अश्रावणत्व–स्वभाव का त्याग (व्यय) होने से और उत्तरकालीन श्रावणत्व–स्वभाव की उत्पत्ति होने से उसे कथंचित्–अनित्य माने बिना शब्द की उत्पत्ति ही संभव नहीं होगी, अतः, अश्रावणत्व और श्रावणत्व– दोनों हेतु ध्वनिरूप पर्याय की अपेक्षा से कथंचित्–अनित्य हैं और शब्दरूप ज्ञान की अपेक्षा से कथंचित्–नित्य हैं। शब्द का स्वरूप ऐसा ही है। यदि बौद्धों के अनुसार श्रावणत्व–हेतु सर्वथा नित्यत्व ही सिद्ध होता हो, तो श्रावणत्व–हेतु की मात्र कथंचित्–नित्य नामक विपक्ष में वृत्ति होने से वह विरुद्ध–हेत्वाभास ही होगा, अनेकान्तिक–हेत्वाभास नहीं होगा।[582]

वस्तुतः, जिस हेतु से कथंचित्–नित्यत्व सिद्ध होता हो, तो वह हेतु विपक्षव्यावृत्ति वाला ही होने से, जैनों के अनुसार, सम्यक्–हेतु है, हेत्वाभास नहीं हैं, क्योंकि कथंचित्–नित्यत्व के साथ ही उस हेतु में अन्यथानुपपत्ति–रूप व्याप्ति बराबर संभव है, जिसके कारण यह हेतु अनेकान्तिक–हेत्वाभास नहीं होता है, इसलिए अन्य–दार्शनिकों ने अनेकान्तिक–हेत्वाभास नामक जिस भेद का प्रतिपादन किया है, वह निरर्थक है।[583]

बौद्ध–दार्शनिक 'विरुद्ध–व्यभिचारी' नामक जिस हेत्वाभास का हम प्रतिपादन करते हैं, वह इस प्रकार, है– शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कृतक है, घट के समान। शब्द–नित्य है, क्योंकि वह श्रावणत्व–स्वभाव वाला है (ज्ञातव्य है कि स्वभाव नित्य होता है)। ये दो प्रकार के अनुमान हैं, जिसमें से प्रथम में हेतु उसी पक्ष में स्वयं की सिद्धि करता है, साथ ही उसी पक्ष में उसी साध्य के विरुद्ध ऐसे साध्य को सिद्ध करने वाला यदि दूसरा हेतु भी अव्यभिचारित्व को प्राप्त होता है, तो वह हेतु भी विरुद्ध–व्यभिचारी हेतु कहलाता है। जो हेतु साध्य की भी सिद्धि करता हो और साध्य से विरुद्ध

---

[581] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 124

[582] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 125

[583] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 125

की भी सिद्धि करता हो– ऐसे हेतु को बौद्ध–दार्शनिक हेत्वाभास मानते हैं।[584]

उपसंहार –

बौद्धों के उपर्युक्त कथन की समीक्षा करते हुए ग्रन्थकर्त्ता आचार्य रत्नप्रभसूरि लिखते हैं– शब्द नामक पक्ष में नित्यत्व और अनित्यत्व की सिद्धि करने वाले हेतु के बारे में आप बौद्ध जो यह कथन करते हैं कि जो कथंचित्–नित्य और कथंचित्–अनित्य, अर्थात् नित्यानित्य–स्वरूप वाले अनेकान्तिक–साध्य की सिद्धि करता हो, तो वह सम्यक्–हेतु ही है, वह हेत्वाभास नहीं है, इस प्रकार, जिन हेतुओं से अनेकान्तिक–साध्य की सिद्धि होती है, वे सम्यक्–हेतु हैं। उसी प्रकार, नित्यानित्य शब्द से परिणामी साध्य की सिद्धि करने वाले हेतुओं के समान यह हेतु भी सम्यक्–हेतु है, जिस प्रकार जो परिणामी होता है, वह कथंचित्–नित्य और कथंचित्–अनित्य ही होता है। घट–पट आदि जो–जो पदार्थ कृतक होते हैं, वे सभी पदार्थ परिणामी होते हैं। यहाँ पर जिस प्रकार कृतकत्व–हेतु से परिणामी–साध्य की सिद्धि होती है, उसी प्रकार कृतकत्व–हेतु से कथंचित्–नित्य या कथंचित्–अनित्य साध्य की सिद्धि हो, तो वह हेतु अनुचित नहीं है। इस प्रकार, के हेतु सम्यक्–हेतु ही होते हैं,[585] परन्तु जो हेतु सर्वथा एकान्त–नित्य अथवा एकान्त–अनित्य की सिद्धि के लिए ही प्रस्तुत किया गया हो, वह विरुद्ध–हेत्वाभास है, अथवा संदिग्ध विपक्षव्यावृत्ति नाम का अनेकान्तिक–हेत्वाभास है, परन्तु इनसे पृथक् कोई विरुद्ध–व्यभिचारी नाम का हेत्वाभास नहीं है। यदि आप बौद्ध कृतकत्व–हेतु से एकान्त–अनित्य पदार्थ को सिद्ध करना चाहते हैं, तो यह कृतकत्व–हेतु जहाँ–जहाँ है, वहाँ–वहाँ एकान्त–नित्य (आकाशादि) कुछ भी नहीं हैं, अपितु पर्याय से अनित्य और द्रव्य से नित्य– ऐसे कथंचित्–नित्य और कथंचित्–अनित्य घट–पटादि पदार्थ ही हैं, जिससे हेतु साध्य के अभाव में होने के कारण विरुद्ध–हेत्वाभास होगा।[586]

इसी प्रकार, यदि श्रावणत्व–हेतु शब्द में एकान्त–नित्यत्व या एकान्त–अनित्यत्व सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किए गया हो, तो वह हेतु

---

[584] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 125
[585] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 126
[586] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 126

शब्द के अश्रावणत्व और श्रावणत्व– दोनों पर्यायवाला होने से, अर्थात् विपक्ष–वृत्ति होने से विरुद्ध–हेत्वाभास में ही अन्तर्भूत होता है।

इसी प्रकार, कृतकत्व–हेतु भी आप बौद्धों द्वारा मान्य साध्य (सपक्ष) से विपरीत, कथंचित्–अनित्य और कथंचित्–नित्य– ऐसे घट–पट आदि साध्याभावरूप पदार्थों में, अर्थात् विपक्ष में और शब्द के शब्दत्व में भी हो सकता है, इसलिए हेतु की विपक्ष की व्यावृत्ति में शंका होने के कारण संदिग्ध विपक्ष–व्यावृत्ति नामक हेत्वाभास भी अनेकान्तिक–हेत्वाभास में अन्तर्भूत हो जाता हैं। इसी प्रकार, विरुद्ध–व्यभिचारी नामक अनेकान्तिक–हेत्वाभास का पृथक् अस्तित्व नहीं है।[587]

[587] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 126

अध्याय–16

बौद्धों के बाह्यार्थ–निषेध एवं प्रमाण तथा प्रमाणफल की अभिन्नता की समीक्षा

बाह्यार्थ–निषेध की समीक्षा –

बौद्ध–पूर्वपक्ष – बौद्ध–धर्म–दर्शन सामान्यतः दो सम्प्रदायों में विभक्त हुआ– 1. हीनयान और 2. महायान। इसी महायान–सम्प्रदाय में दार्शनिक–दृष्टि से पुनः दो भेद हुए– 1. योगाचार (विज्ञानवाद) और 2. शून्यवाद। इस योगाचार या विज्ञानवाद में अनेक आचार्य हुए। इनमें असंग, वसुबन्धु आदि प्रसिद्ध हैं। बौद्धदर्शन के विज्ञानवादी–सम्प्रदाय की यह मान्यता है कि ज्ञान तो मात्र स्वप्रकाशक है, अतः, ज्ञेय की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। एकमात्र विज्ञान (चित्तधारा) ही सत्य है, बाह्यार्थ विज्ञान का ही प्रतिबिम्ब है। लंकावतारसूत्र में कहा गया है– दृश्यं न विद्यते बाह्यं चित्तं चित्रं हि दृश्यते, देहयोग प्रतिष्ठानं चित्तमात्रं वदाम्यहम् (लंकावतारसूत्र 3/33)।, अर्थात् चित्त की ही एकमात्र सत्ता है। विज्ञानवादी बौद्ध–दार्शनिक धर्मकीर्त्ति का मानना है कि चित्त ही एकमात्र सत्ता है। दृश्यमान् जगत् उसका विकार है, वह उससे भिन्न नहीं है। नीलवर्ण और उसके ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है।[588] यह संसार उस विज्ञान से पृथक् पदार्थ नहीं है, बल्कि उसी का परिणाम है।

रत्नप्रभसूरि की समीक्षा – बौद्धों के इस ज्ञानाद्वैत या बाह्यार्थ निषेधवाद की समीक्षा करते हुए रत्नप्रभसूरि लिखते हैं– यदि ज्ञान से ज्ञेय पृथक् नहीं है, तो ज्ञान निर्णय किसका करेगा ? क्योंकि प्रमाण तो निर्णयात्मक ही होता है। यदि हम एकान्तरूप से यह मानेंगे कि ज्ञान ही प्रमाण है और ज्ञेय की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं है, तो ज्ञान अनिर्णयात्मक और मात्र काल्पनिक ही होगा और अनिर्णयात्मक या काल्पनिक ज्ञान

---

588 सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः। – उद्धृत बौद्ध–प्रमाण–मीमांसा की जैन–दृष्टि से समीक्षा पृ. 356

प्रमाण की कोटि में नहीं आ सकता। इस आधार पर प्रमाण अनिर्णयात्मक होगा, क्योंकि विषय के ज्ञान के बिना सन्निकर्ष आदि भी अज्ञानरूप ही होते हैं और जिस प्रकार अपरिचित मनुष्य के साथ चक्षु का सन्निकर्ष होने पर भी, वह कौन है— ऐसा बोध नहीं होता है, उसी प्रकार मात्र स्वप्रकाशक ज्ञान से ज्ञेय का बोध ही नहीं होगा और ज्ञेय के अभाव में ज्ञान अप्रमाणरूप हो जाएगा।

दूसरे, यदि हम एकान्तरूप से ज्ञान को पर–प्रकाशक मानेंगे और स्व–प्रकाशक नहीं मानेंगे, तो भी ज्ञान ज्ञेय का बोध कराने में समर्थ नहीं रहेगा। वस्तुतः, ज्ञान न केवल स्वप्रकाशक है और न केवल पर–प्रकाशक है, अपितु स्व–पर–प्रकाशक है, अतः, ज्ञान से भिन्न ज्ञेय की सत्ता का सर्वथा निषेध भी उचित नहीं है। ज्ञेय के अभाव में ज्ञान किसका होगा ? दूसरे, ज्ञेय के अभाव में होने वाला ज्ञान मात्र स्वैर (स्वयं की) कल्पना होगा, जिसे प्रमाणरूप नहीं कहा जा सकता है, अतः, बाह्यार्थ की सत्ता स्वीकार करना होगी।[589]

बौद्धों के प्रमाण और प्रमाणफल की एकान्त–अभिन्नता के सिद्धांत की समीक्षा

बौद्धों का पूर्वपक्ष – भारतीय–दर्शन में जहाँ नैयायिक–दर्शन प्रमाण और प्रमाणफल में एकान्तभेद मानता है, वहीं सामान्यतः बौद्धदर्शन और विशेष रूप से बौद्ध–विज्ञानवाद प्रमाण और प्रमाणफल को एकान्तरूप से अभिन्न मानता है। बौद्ध–विज्ञानवादी दार्शनिकों का कथन है कि अज्ञान–निवृत्तिरूप जो प्रमाण का साक्षात् फल या अनन्तर फल है, वह प्रमाण से अभिन्न ही है।[590] इस प्रकार,, बौद्ध–दार्शनिक जैन–दर्शन की इस मान्यता की आलोचना करते हैं कि प्रमाण और प्रमाणफल कथंचित्–भिन्न और कथंचित्–अभिन्न, अर्थात् भिन्नाभिन्न है।[591]

जैन – जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि का कहना है कि प्रमाण और प्रमाणफल की एकान्त–भिन्नता और एकान्त–अभिन्नता– दोनों ही साध्य के अभावरूप हेतु की वृत्ति के कारण व्यभिचार–दोष से युक्त हैं। रत्नप्रभसूरि बौद्धों की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि अज्ञाननिवृत्तिरूप जो प्रमाण का

---

589 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 29

590 प्रमाणवार्त्तिक 2/320–325

591 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 11, 12

अनन्तर या साक्षात् फल है, वह प्रमाण के साथ ही प्रकट होने से अभिन्न है– ऐसा बौद्धों का मत भी व्यभिचार–दोष से युक्त है।[592]

बौद्ध – यहाँ बौद्ध अपने पक्ष में यह तर्क देते हैं कि जिस समय चित्त में प्रमाण–ज्ञान प्रकट होता है, उसी समय अज्ञान की निवृत्ति भी हो जाती है। बौद्ध–दार्शनिक अपने पक्ष की पुष्टि में कहते हैं कि जिस समय यह सर्प है, रस्सी नहीं– ऐसा प्रमाण–ज्ञान प्रकट होता है, उसी समय सर्प संबंधी अज्ञानता का निवारण भी हो जाता है, अतः, अज्ञान–निवृत्तिरूप प्रमाणफल प्रमाण के साथ अभिन्न ही है, क्योंकि ज्ञान और अज्ञान की निवृत्ति– दोनों एक ही काल में होती है। यदि प्रमाण और प्रमाणफल भिन्न हो, तो उन दोनों को भिन्न–भिन्न काल में होना चाहिए और यदि दोनों का काल भिन्न–भिन्न हो, तो उसमें व्यभिचार–दोष आता है।

जैन – बौद्धों के इस मंतव्य की समीक्षा करते हुए जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि लिखते हैं कि अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमाण का साक्षात् फल आदि एकान्त–अभिन्न न माना जाएगा, तो व्यभिचार–दोष आएगा– ऐसी बौद्धों की शंका उचित नहीं है, क्योंकि यह सर्प है– ऐसा प्रमाणभूत ज्ञान सर्प के अज्ञान की निवृत्तिरूप प्रमाणफल होने से कथंचित्–भिन्न भी है, सर्वथा अभिन्न नहीं है, क्योंकि ज्ञान के होने और अज्ञान की निवृत्ति में कार्य–कारण–संबंध है। कार्य–कारण–संबंध होने से सर्वथा अभिन्न नहीं, अपितु वे कथंचित्–भिन्न और कथंचित्–अभिन्न हैं, क्योंकि यह सर्प है– ऐसा ज्ञान प्रकट होने पर सर्प संबंधी अज्ञान की जो निवृत्ति होती है, वह कार्य है और कार्य–कारण अवश्य ही परस्पर कथंचित्–भिन्न होते हैं, जैसे– कुल्हाड़ी और उसके द्वारा होने वाली छेदन–क्रिया– दोनों साधन–साध्य रूप होती हैं, किंतु वे परस्पर भिन्न होती हैं। इसी प्रकार से, प्रमाणभूत ज्ञान और प्रमाण के फलरूप अज्ञान की निवृत्ति साध्य–साधनरूप होने से वे कथंचित्–भिन्न भी हैं। जैन–दार्शनिक बौद्धों से कहते हैं कि हम जैन प्रमाण और प्रमाणफल में एकान्त–भिन्नता या एकान्त–अभिन्नता नहीं मानते हैं, अपितु उनमें कथंचित्–भिन्नता और कथंचित्–अभिन्नता मानते हैं।[593]

बौद्ध – इसके प्रत्युत्तर में, बौद्ध–दार्शनिकों का कहना है कि प्रमाण और प्रमाणफल में जो आप जैन साध्य–साधन–भाव मानते हैं, वह युक्ति से सिद्ध होना चाहिए। यदि आप इस संबंध में कोई भी युक्ति

---

592 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 12

593 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 13

प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं, तो फिर आप जैनों का सिद्धान्त असिद्ध–हेत्वाभास से ग्रसित होगा।[594]

जैन – जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि बौद्ध–दार्शनिकों द्वारा आरोपित किए गए इस असिद्ध–हेत्वाभास के दोष का निराकरण करने हेतु कहते हैं कि प्रमाण साधकतम कारण होने से साधन ही है, साध्य नहीं है, क्योंकि कोई भी क्रिया किसी कार्य की साधक होती है और जो क्रिया साधक होती है, उसे साधन ही कहते हैं, जैसे– छेदन की क्रिया में छुरी साधन होती है और छेदन साध्य होता है, किन्तु इसके साथ ही छेदन–क्रिया भी तो साधन होती है, इसी प्रकार से प्रमाण साधन है और अज्ञान–निवृत्ति साध्य है। प्रमाण को साधन और अज्ञान–निवृत्तिरूप प्रमाणफल को साध्य मानने पर साध्य में हेतु की वृत्ति सिद्ध होती है, अतः, यहाँ सिद्ध–हेत्वाभास की संभावना नहीं है। प्रमाण और प्रमाणफल एकान्त–अभिन्न नहीं हैं, क्योंकि यदि वे एकान्त–अभिन्न हों, तो उनमें कार्य–कारण–भाव या साध्य–साधन–भाव संभव ही नहीं होगा। यदि प्रमाण और प्रमाणफल में पूर्ण रूप से तादात्म्य माना जाएगा, तो उनमें कार्य–कारण–भाव नहीं रहेगा और ऐसी स्थिति में अतिव्याप्ति–दोष होगा।[595]

बौद्ध – इस पर, बौद्ध–दार्शनिकों का कहना है कि एक ही वस्तु व्यावृत्ति की अपेक्षा से उभयरूप हो सकती है और इस प्रकार, प्रमाण–ज्ञान को भी व्यावृत्ति की अपेक्षा से प्रमाणरूप और प्रमाणफल रूप माना जा सकेगा, क्योंकि व्यावृत्ति की अपेक्षा से अभेदरूप मानने पर भी कार्य–कारण–भाव घटित हो सकता है। उदाहरण के रूप में, घट में अघट (पटादि) और अमृद (जलादि) की व्यावृत्ति होने पर भी घट घटरूप और मृत्तिकारूप– दोनों हो सकता है, उसी प्रकार से प्रमाण और प्रमाणफल में व्यावृत्ति की अपेक्षा से अभेद होने पर भी कार्य–कारण–भाव की अपेक्षा से भेद हो सकता है, जैसे– मृत्तिका–पिण्ड घट का कारण है और घटरूपता, अर्थात् घट कार्य है।[596]

जैन – बौद्धों के इस तर्क पर जैन–दार्शनिक रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि मिट्टी के बने घट में अघट की व्यावृत्ति से घटपना (घटत्व) और अमृद् की व्यावृत्ति से मृद्पना (मृत्तिका रूप) होने पर भी जो अभेद देखा जाता है,

---

594 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 14

595 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 14, 15

596 रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 15, 16

वह स्वभाव-भेद के कारण है, क्योंकि मृत्तिका कारणरूप है और घट कार्यरूप, मृत्तिका व्यापक है और घट व्याप्य है। इस प्रकार, इनमें स्वभाव-भेद होने के कारण कथंचित्-भेद भी है, सर्वथा अभेद नहीं है, क्योंकि घट का नाश होने पर मृत्तिका का नाश नहीं होता है। इस प्रकार,, इनमें स्वभाव-भेद है, अतः, प्रमाण और प्रमाणफल में भी इसी आधार पर कथंचित्-भेद मानने में कोई आपत्ति नहीं आती है, क्योंकि इसमें प्रमाण कारणरूप है और अज्ञान-निवृत्ति कार्यरूप या फलरूप है। इस प्रकार, कार्य-कारण की अपेक्षा से इनमें कथंचित्-भेद भी है, कथंचित्-अभेद भी है, अतः, बौद्धों का प्रमाण और प्रमाणफल की एकान्त-अभेदता का सिद्धांत समुचित नहीं है। प्रमाण से प्रमाणफल कथंचित्-भिन्न और कथंचित्-अभिन्न है। उनमें एकान्त-भिन्नता या एकान्त-अभिन्नता नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि हम जैनों के इस सिद्धान्त में असिद्ध-हेत्वाभास अथवा व्यभिचारी-हेत्वाभास का दोष नहीं आता है, क्योंकि अज्ञाननिवृत्ति- यह प्रमाण का अनन्तर फल है तथा हेय, ज्ञेय, उपादेय और बुद्धि का होना- यह परम्परा-फल है, अतः, प्रमाण और प्रमाणफल में कथंचित्-भेद और कथंचित्-अभेद मानना ही युक्तिसंगत है।[597]

---

[597] रत्नाकरावतारिका, भाग III, रत्नप्रभसूरि, पृ. 16, 17

अध्याय 17
उपसंहार

भारतीय–संस्कृति के दो प्रमुख अंग हैं – 1. वैदिक और 2. श्रमण। भारतीय–दर्शन में जैन और बौद्ध–दर्शन श्रमण–संस्कृति के दर्शन हैं। इन दोनों दर्शनों का तुलनात्मक–अध्ययन युग की आवश्यकता है। इन दोनों दर्शनों में आचारशास्त्र के सिद्धांत–पक्ष की अपेक्षा से बहुत कुछ समानताएँ परिलक्षित होती हैं, किन्तु जहाँ तक दोनों की तत्त्व–मीमांसा और ज्ञान–मीमांसा का प्रश्न है, दोनों में हमें कुछ समानताएँ और कुछ भिन्नताएँ परिलक्षित होती हैं। अपनी तत्त्व–मीमांसा में जैन–दर्शन और बौद्ध–दर्शन– दोनों एकान्तवाद के विरोधी हैं– इस तथ्य को पं. दलसुखभाई मालवणिया ने अपने शोध–आलेख स्याद्वाद और शून्यवाद में बहुत प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया। इसी प्रकार, डॉ. सागरमल जैन ने भी अपने आलेख बौद्ध और जैन–मीमांसा : एक तुलनात्मक अध्ययन में भी प्रस्तुत किया। इस प्रकार,, जैन और बौद्ध–दर्शन– दोनों ही दर्शन एकान्तवादी–तत्त्वमीमांसीय और ज्ञान–मीमांसीय अवधारणाओं का विरोध करते हैं, किन्तु फिर भी दोनों के एकान्तवाद के विरोध में एक महत्वपूर्ण अन्तर परिलक्षित होता है, वह यह है कि जहाँ बौद्ध–दर्शन एकान्तवाद का निषेध करके मध्यम प्रतिपदा की बात करता है, वहीं जैन–दर्शन एकान्तवाद का निषेध करके भी अपने अनेकान्तवाद के सिद्धान्त के आधार पर उन परस्पर विरोधी एकान्तवादों में समन्वय प्रस्तुत करता है। बुद्ध का कहना है– "मैं न तो शाश्वतवाद का प्रतिपादन करता हूँ और न उच्छेदवाद का।" इस प्रकार, भगवान् बुद्ध का दृष्टिकोण प्रमुख रूप से एकान्तवाद को अस्वीकार करने का रहा है। उन्होंने यद्यपि मध्यम प्रतिपदा की बात कही है, फिर भी उनकी भाषा एकान्तवाद के सन्दर्भ में निषेधपरक ही रही है, वहीं जैन–दर्शन ने अपने अनेकान्तवाद के आधार पर एकान्तवाद के मध्य समन्वय करने का प्रयत्न किया। बुद्ध का कहना था कि सत्ता न तो नित्य है और न अनित्य है, जबकि जैन–दर्शन का कहना था कि सत्ता नित्यानित्य है। इस प्रकार, हम देखते हैं कि जैन–दर्शन और बौद्ध–दर्शन में मूलभूत दृष्टि की अपेक्षा

प्रस्तुतिकरण की शैली में भिन्नता रही है। भगवान् बुद्ध ने मध्यम प्रतिपदा का उद्घोष करते हुए उसे एकान्तवाद के निषेध के रूप में प्रस्तुत किया, जबकि भगवान् महावीर ने उन एकान्तवाद के मध्य समन्वय करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार, दोनों दर्शनों में प्रस्तुतिकरण की शैली का अन्तर होने से कहीं समानताएँ और कहीं विरोध परिलक्षित होता है, किन्तु इस सन्दर्भ में पं. दलसुखभाई मालवणिया, डॉ. सागरमल जैन आदि की मान्यता यह रही है कि अधिकांश विरोध शैलीगत रूप में ही है, तात्त्विक–रूप में अधिक विरोध नहीं है। हमने इसी दृष्टि को लेकर प्रस्तुत शोध–ग्रन्थ में, रत्नाकरावतारिका में बौद्ध–दर्शन की जो समीक्षा प्रस्तुत की गई है, उसके मूल्यांकन का प्रयत्न किया। अपने अध्ययन में मैंने यह पाया है कि बौद्ध–दर्शन की समीक्षा करते हुए रत्नाकरावतारिका में आचार्य रत्नप्रभसूरि ने भी बौद्धों को एकान्त–क्षणिकवादी, विज्ञानाद्वैतवादी, शून्याद्वैतवादी, बाह्यार्थ–निषेधवादी मानकर ही उनकी समीक्षा की है। मेरे शोध–निर्देशक डॉ. सागरमल जैन की भी मान्यता यही है कि जैन और जैनेतर आचार्यों ने बौद्ध–दर्शन को उसके सम्यक् परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयत्न नहीं किया और उसके सिद्धान्तों को एकान्तवादी मानकर ही उनकी समीक्षा की है, किन्तु मेरे अध्ययन का विषय रत्नप्रभसूरि की रत्नाकरावतारिका में प्रस्तुत बौद्ध–दर्शन की समीक्षा रहा है, इसलिए उनके इस ग्रन्थ में प्रस्तुत दृष्टिकोण को ही आधार बनाकर मुझे उन समस्याओं का प्रस्तुतिकरण करना पड़ा है। यद्यपि अनेक प्रसंगों में मैंने यह निर्देशित करने का प्रयत्न किया है कि बौद्ध–दर्शन के इन सिद्धान्तों को एकान्तवादी मानकर ही समीक्षाएं की गई हैं, जबकि वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है, फिर भी ग्रन्थगत अध्ययन होने से ग्रन्थ के प्रति प्रामाणिकता को लक्ष्य में रखकर ही प्रस्तुत अध्ययन किया गया है, क्योंकि मेरा लक्ष्य यही रहा है कि ग्रन्थकार ने उसे जिस रूप में प्रस्तुत किया है, उसे उसी रूप में प्रस्तुत किया जाए और इसी दृष्टि को लक्ष्य में रखकर मैं इस शोधकार्य में प्रवृत्त हुई हूँ, क्योंकि मेरा लक्ष्य यही बताना रहा है कि रत्नप्रभसूरि रत्नाकरावतारिका में बौद्ध–दर्शन को किस रूप में प्रस्तुत कर उसकी समीक्षा करते हैं।

रत्नप्रभसूरि ने रत्नाकरावतारिका की रचना प्रमाणनयतत्त्वालोक के मूलभूत सिद्धान्तों को स्पष्टीकरण करने के लिए ही की थी। इसका रचनाकाल लगभग बारहवीं शताब्दी है। यह युग दर्शनों के परस्पर खंडन–मंडन का रहा है, अतः, यह सौभाग्य था कि रत्नप्रभसूरि ने बौद्ध–दर्शन के खंडन की दृष्टि से ही इस ग्रन्थ की रचना की थी।

भारतीय–दार्शनिक– चिन्तन में लगभग पाँचवीं शताब्दी से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी का काल मुख्य रूप से परस्पर खंडन–मंडन का ही रहा है। यद्यपि इस काल में हरिभद्र जैसे कुछ ऐसे दार्शनिक भी हुए हैं, जिन्होंने इस खंडन–मंडन में भी समन्वयात्मक–दृष्टिकोण को अपनाया है, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ रत्नाकरावतारिका में समन्वय की अपेक्षा समीक्षा ही मुख्य लक्ष्य रहा है, अतः, रत्नप्रभसूरि ने बौद्ध–अवधारणाओं की समीक्षा को ही अपना लक्ष्य बनाया था। रत्नप्रभसूरि की रत्नाकरावतारिका लगभग बारहवीं शती की रचना होने के कारण इसमें, बौद्ध–दर्शन का भारत में ग्यारहवीं–बारहवीं शताब्दी तक जो भी विकास हुआ था, उसी को आधार बनाया गया है और इस दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ में वसुबन्धु, दिङ्नाग आदि की अपेक्षा धर्मकीर्त्ति, धर्मोत्तर, अर्चट् आदि के मतों को ही विशेष रूप से उल्लेखित किया गया है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में हमने जैन–प्रमाणशास्त्र की विकास–यात्रा को निर्देशित करते हुए जैन–दर्शन के विकास के चार युगों का विशेष रूप से उल्लेख किया है– 1. आगम–युग, 2. अनेकान्तस्थापना–युग या दर्शन–युग 3. न्याययुग और 4. नव्यन्याय–युग। यद्यपि इस अध्याय में हमें अपने अध्ययन के दौरान यह ज्ञात हुआ है कि बौद्ध–दर्शन के निर्देश और समीक्षा तो आगम–युग से ही प्रारंभ हो जाती है, किन्तु आगम–युग में प्रारंभिक बौद्ध–दर्शन के संदर्भ, यथा– क्षणिकवाद, पंचस्कन्धवाद, सन्तानवाद आदि सिद्धान्तों के ही निर्देश हैं। पुनः, आगमों में इनकी कोई गहन समीक्षा भी हमें नहीं मिलती है। मात्र, ये सिद्धान्त उचित नहीं हैं– ऐसा कहकर ही उनको अस्वीकृत कर दिया गया है। उसके पश्चात्, जब हम अनेकान्तस्थापनयुग या दर्शनयुग में आते हैं तो उस काल के ग्रन्थों में यद्यपि बौद्ध–दर्शन को एकान्त–क्षणिकवादी, अनात्मवादी आदि मानकर ही उसकी समीक्षा करते हुए अनेकान्त की दृष्टि से उन्हें कैसे सुसंगत बनाया जा सकता है, उसकी चर्चा की है। आचार्य सिद्धसेन, समन्तभद्र, हरिभद्र आदि ने बौद्ध–दर्शन के इन सिद्धान्तों को एकान्तवादी मानकर, अनेकान्त की दृष्टि से उन्हें किस प्रकार सुसंगत बनाया जा सकता है, उसकी चर्चा की है। उदाहरण के रूप में, आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से बौद्ध–दर्शन के क्षणिकवाद का स्थान स्वीकार करते हुए भी उसे ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा उचित कहा है। इसी प्रकार, आचार्य हरिभद्र ने बौद्ध–दर्शन के क्षणिकवाद, अनात्मवाद आदि की शास्त्रवार्त्ता–समुच्चय में समीक्षा करते हुए उसे तृष्णा के उच्छेद का उचित

मार्ग बताया है। अनेकान्तस्थापनयुग या दर्शनयुग के ग्रन्थों में बौद्ध–दर्शन के सर्वास्तिवादी, विज्ञानवादी, शून्यवादी आदि मतों का निर्देश तो हुआ है और क्वचित् रूप से उनकी समीक्षा की गई, फिर भी उन समीक्षाओं में दार्शनिक–गहराई अपेक्षाकृत कम प्रतीत होती है। वस्तुतः, गहन दार्शनिक–समीक्षाएं तर्कयुग या न्याययुग का ही कार्य रहा है। इस काल में पूर्वपक्ष को समीक्षा की दृष्टि से ही स्थापित करके उसका खंडन किया गया है। वस्तुतः, यह कार्य उस युग की भारत की सभी दार्शनिक–परंपराओं ने समीक्षात्मक–ग्रन्थों को लिखकर किया है। हमारा समीक्ष्य–ग्रन्थ रत्नाकरावतारिका भी इसी का ग्रन्थ है और इसीलिए इसमें बौद्ध–दर्शन की विभिन्न मान्यताओं की उनके पूर्वपक्ष को स्थापित करते हुए गहराई से समीक्षा की गई है। प्रस्तुत अध्याय में बौद्ध–दर्शन की समीक्षा के विकास–क्रम को स्पष्ट करते हुए यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि सिद्धसेन के न्यायावतार में तथा कुछ द्वात्रिंशिकाओं में, मल्लवादिकृत द्वादशारनयचक्र में, तत्त्वार्थसूत्र की पूज्यपाद देवनंदी, सिद्धसेनगणि, अकलंक, विद्यानंदी आदि की टीकाओं में, समन्तभद्र की आप्तमीमांसा, हरिभद्र के अनेकान्त–जयपताका, षड्दर्शन–समुच्चय, अकलंक के लघीयस्त्रय–न्यायविनिश्चय, विद्यानंदी की अष्टसहस्री, पात्रकेसरी के त्रिलक्षणकदर्थ, वादिराजसूरि के न्यायविनिश्चय–निर्णय, प्रभाचंद के प्रमेयकमल–मार्त्तण्ड, हेमचंद्र की प्रमाणमीमांसा एवं अन्ययोगव्यवच्छेदिका, मल्लिषेण की स्याद्वादमंजरी नामक टीका और गुणरत्न की षड्दर्शनसमुच्चय की टीका आदि में बौद्ध–दर्शन की समीक्षा किस रूप में प्रस्तुत है, इसका संक्षिप्त उल्लेख करते हुए यह बताया गया है कि आगमयुग से लेकर तर्कयुग तक जैन–दार्शनिक किस प्रकार बौद्ध–दर्शन की समीक्षा करते रहे हैं।

प्रस्तुत कृति के द्वितीय अध्याय में हमने रत्नप्रभकृत रत्नाकरावतारिका और उसके कर्त्ता का परिचय दिया है। इस अध्याय में हमने सर्वप्रथम यह बताने का प्रयास किया है कि जैन–न्याय के ग्रन्थों में रत्नाकरावतारिका का क्या स्थान है। संक्षेप में यदि हम कहें, तो दिगम्बर–परम्परा में प्रमेयकमल–मार्त्तण्ड और श्वेताम्बर–परम्परा में स्याद्वादरत्नाकर को छोड़कर जैन–न्याय की जो भी श्रेष्ठतम कृतियाँ निर्मित हुई हैं, उनमें रत्नाकरावतारिका को सर्वोपरि कहा जा सकता है। इसी क्रम में, प्रस्तुत अध्याय में हमने रत्नाकरावतारिका के कर्त्ता रत्नप्रभसूरि, उनकी गुरु–परम्परा और उनके काल का निर्धारण करने का प्रयत्न किया है और

यह सुनिश्चित किया है कि रत्नाकरावतारिका ईस्वी–सन् की बारहवीं शताब्दी का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसी क्रम में, हमने आगे रत्नाकरावतारिका की विषय–वस्तु का भी संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है और उसमें हमने यह देखने का प्रयत्न किया है कि रत्नाकरावतारिका अपने युग के सभी दार्शनिक–प्रस्थानों, यथा– न्याय–वैशेषिक, मीमांसा, वैयाकरणिक, बौद्ध एवं वेदांतों के मतों की समीक्षा प्रस्तुत करती है, फिर भी इतना तो निश्चित है कि बौद्ध–दर्शन की विभिन्न अवधारणाओं की दार्शनिक–समीक्षा हमें रत्नाकरावतारिका में जितने विस्तार से मिलती है, वैसी अन्यत्र अल्प ही है। अग्रिम अध्यायों में हमने क्रमशः बौद्ध–दर्शन के क्षणिकवाद, सन्ततिवाद, अनात्मवाद, शब्दार्थ–संबंध, अपोहवाद, निर्विकल्प–प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञा एवं तर्क की अप्रमाणता, श्रवणेन्द्रिय की अप्राप्यकारिता, प्रत्यक्ष की निर्विकल्पता, सामान्य की काल्पनिकता, हेतु के त्रिलक्षण, शून्यवाद, विज्ञानवाद की बाह्यार्थ के निषेध आदि अवधारणाओं की समीक्षा की है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि प्रस्तुत कृति में विभिन्न भारतीय–दर्शनों की दार्शनिक–अवधारणाओं का जहाँ भी जैन–दर्शन से मतभेद रहा है, वहाँ उनके पूर्वपक्ष को विस्तार के साथ उपस्थित करके उनकी समीक्षा की है। इस प्रकार, यह ग्रन्थ न केवल जैन–दर्शन के संबंध में हमें जानकारी प्रदान करता है, अपितु विविध भारतीय–दार्शनिक–अवधारणाओं और दार्शनिक–मतों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत कर उनकी समीक्षा भी करता है। रत्नाकरावतारिका की यह भी विशेषता रही है कि इसमें अन्य दर्शनों के पूर्वपक्ष को स्थापित करते हुए पूरी प्रामाणिकता का ध्यान रखा गया है, साथ ही उनके पूर्वपक्ष की स्थापना में संभावित और भी क्या तर्क हो सकते हैं, उन्हें भी विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार, यह ग्रन्थ न केवल जैन–न्यायशास्त्र बन गया है, अपितु समग्र भारतीय–न्यायशास्त्र का भी एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ बन गया है।

प्रस्तुत शोधग्रन्थ के तृतीय अध्याय में बौद्धों के क्षणिकवाद की समीक्षा की गई है तथा क्षणिकवाद और संतानवाद को एक–दूसरे का पूरक बताया गया है। जहाँ क्षणिकवाद नदी की धारा की तरह वस्तु की परिवर्तनशीलता को बताता है, वहीं संतानवाद पूर्वक्षण और उत्तरक्षण की वस्तु के सापेक्षिक–सादृश्य को भी स्पष्ट करता है। बौद्धों का संतानवाद तो उनके क्षणिकवाद का ही एक पूरक पक्ष है, जो परिवर्तन के बीच भी

सादृश्यता की स्थापना करता है। रत्नाकरावतारिका में क्षणिकवाद और संतानवाद– इन दोनों सिद्धान्तों की जो समीक्षा की गई है, वह वस्तु को एकांत क्षणिक मानकर ही की गई है। यह सत्य है कि क्षणिकवाद संतानवाद के साथ मिला हुआ है, लेकिन ज्ञातव्य तो यह है कि जहाँ क्षणिकवाद वस्तु की परिवर्तनशीलता को सूचित करता है, वहीं संतानवाद इस परिवर्तनशीलता के बीच रही हुई सदृशता को प्रस्तुत और स्पष्ट भी करता है, जिससे वस्तु जैसी है वैसी ही अर्थात् 'वही' प्रतीत होती है। इन दोनों सिद्धान्तों को जब हम एक साथ देखते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे जैन–दर्शन द्वारा मान्य वस्तु की उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मकता को ही प्रस्तुत कर रहे हैं। उनका सन्तान की सादृश्यता का सिद्धान्त वस्तुतः सापेक्षिक–ध्रौव्यात्मकता का ही सूचक है। यद्यपि उनके अनुसार यह सादृश्यता पूर्ण सादृश्यता न होकर मात्र सादृश्यता का आभास ही है, फिर भी पूर्वक्षण और उत्तरक्षण को जोड़ने वाला बौद्ध–दर्शन में यदि कोई आधार है, तो वह संतानवाद ही है। इस प्रसंग में जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि ने बौद्धों की आलोचना एकान्त–क्षणिकवाद मानकर ही की है, जबकि बौद्ध एकान्त–क्षणिकवादी नहीं हैं, किन्तु फिर भी यह सत्य है कि बौद्ध–ग्रन्थों में वस्तु की क्षणिकता की यह धारणा अधिक मुखर होकर प्रकट हुई है और यही कारण है कि अन्य दार्शनिकों ने उन्हें एकान्त–क्षणिकवादी या उच्छेदवादी मानकर ही उनकी आलोचना की है। भगवान् बुद्ध ने सदैव ही एकान्त–उच्छेदवाद का विरोध किया था। वे स्पष्ट रूप से कहते थे कि मैं न तो उच्छेदवादी हूँ और न शाश्वतवादी, अतः, बौद्धों के क्षणिकवाद और संततिवाद को मिलाकर देखना होगा। यदि हम ऐसा करेंगे, तो जैन–दर्शन और बौद्ध–दर्शन में वह दूरी नहीं रह जाएगी, जैसी सामान्यतया समझी जाती है। बौद्धों का सन्ततिवाद वस्तुतः जैनों के उत्पाद–व्यय के मध्य रहे हुए सापेक्षिक–ध्रौव्य का अपनी दृष्टि से किया हुआ रूपान्तरण ही है।

इस शोध–प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में त्रिपिटक–साहित्य में प्रस्तुत अनात्मवाद के स्वरूप को सूचित करते हुए यह दर्शाने का प्रयास किया है कि बौद्ध–अनात्मवाद उनकी दृष्टि से समीचीन है। बौद्ध–अनात्मवाद का अर्थ आत्मा नहीं है– यह मान्यता उचित नहीं है। भगवान् बुद्ध ने 'कूटस्थनित्य आत्मा' का निषेध किया था। वे परिणामी या तरल आत्मा को तो स्वीकार करते ही हैं। बुद्ध का स्पष्ट निर्णय था– आत्मा के संबंध में न मैं शाश्वतवाद को मानता हूँ और न ही उच्छेदवाद को मानता हूँ। अनात्मा का अर्थ आत्मा नहीं है– ऐसा कहना वस्तुतः उच्छेदवाद का समर्थन करना

ही है, जो भगवान् बुद्ध को मान्य नहीं था, क्योंकि उनके अनुसार आत्मा सतत परिवर्तनशील है। जहाँ जैन–दर्शन परिवर्तनशील आत्मपर्यायों की बात करता है, वहीं बौद्ध–दर्शन चित्तधारा को स्वीकार करता है, जो सतत परिवर्तनशील है। जैन–दर्शन के समान ही बौद्ध–दर्शन भी यह तो मानता ही है कि पर्याय की चित्तधारा से पृथक् आत्मद्रव्य की कोई सत्ता नहीं है। इसे बौद्ध–दर्शन इस प्रकार, कहता है कि चित्त–पर्यायों अर्थात् चैत्तसिक–अवस्थाओं से भिन्न आत्मा नामक कोई तत्त्व नहीं है। उनके दर्शन में परिवर्तनशील सन्ततिरूप चित्त्धारा से पृथक् कोई आत्मा न्हीं है।

इस प्रकार,, बौद्धों के अनात्म का अर्थ कूटस्थनित्य आत्मा का निषेध है। डॉ. सागरमल जैन ने 'अनात्म' का अर्थ 'संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे अपना माना जा सके' किया है, जो समत्व या तृष्णा के उच्छेद के लिए आवश्यक है, किन्तु यहाँ हम यह देखते हैं कि बौद्ध–दार्शनिकों की 'आत्मा' की अवधारणा को रत्नप्रभसूरि आदि जैन–दार्शनिकों ने उनके मूल अर्थ में ग्रहण न कर आत्मोच्छेदवाद या अनात्मवाद के रूप में ग्रहण करके ही उसकी विस्तृत समीक्षा की है। जैन–दर्शन और बौद्ध–दर्शन में मात्र अन्तर यह है कि बौद्धों ने जिसे चित्तधारा कहा है, उसे जैनों ने आत्मपर्याय माना है। जैन–दर्शन आत्मा को नित्यानित्य मानता है, जबकि बौद्ध–दर्शन उसे अनित्य कहकर सन्तोष कर लेता है, यही दोनों का अन्तर है। रत्नप्रभसूरि ने उसे आत्म–निषेध के अर्थ में जो ग्रहण किया, वह समुचित तो नहीं था, किन्तु समीक्षा हेतु उसके पास यही एकमात्र विकल्प था, जिसकी विस्तृत चर्चा हमने प्रस्तुत अध्याय में की है।

रत्नाकरावतारिका में बौद्ध–दर्शन की समीक्षा नामक प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के पंचम अध्याय में सर्वप्रथम आदि–वाक्य के प्रयोजन में निहित शब्दार्थ–संबंध को लेकर रत्नप्रभसूरि ने एक ओर बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर द्वारा स्थापित शब्द और अर्थ में सम्बन्ध के अभाव की चर्चा की है, वहीं मीमांसकों के शब्द और अर्थ के तादात्म्य–संबंध की भी समीक्षा की है, साथ ही नैयायिकों के तदुत्पत्ति–संबंध की भी समीक्षा की है, वहीं इस ग्रन्थ में बौद्धों के अनुसार शब्द और अर्थ में कोई संबंध नहीं होने की बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर की मान्यता को पूर्वपक्ष बनाकर उसकी समीक्षा की गई है। रत्नप्रभ धर्मोत्तर की मान्यता का भी खण्डन करते हैं कि शब्द और अर्थ में जैनों द्वारा मान्य वाच्य–वाचक–संबंध भी नहीं है, किन्तु रत्नप्रभसूरि ने उसका खण्डन कर जैनों को मान्य वाच्य–वाचक–संबंध की पुष्टि की है

और इस संबंध में धर्मोत्तर की सभी शंकाओं का समाधान भी किया है और यह बताया है कि शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचक–संबंध माने बिना परपक्ष का खण्डन एवं स्वपक्ष का मण्डन भी सम्भव नहीं होगा।

शब्द और अर्थ के मध्य तादात्म्य–संबंध और तदुत्पत्ति–संबंध की समीक्षा में जहाँ रत्नप्रभसूरि बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर के तर्कों का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं, वहीं वाच्य–वाचक–संबंध की समीक्षा में रत्नप्रभ बौद्ध–दार्शनिक धर्मोत्तर को ही पूर्वपक्ष बनाकर तथा स्वयं जैन–दर्शन को उत्तरपक्ष बनाकर वाच्य–वाचक–संबंध की सिद्धि करते हैं। वे कहते हैं कि किसी भी ग्रन्थ की रचना का प्रयोजन शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचक–संबंध माने बिना सिद्ध नहीं होगा, अतः, शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचक–संबंध मानना तो आवश्यक ही है, अन्यथा आप बौद्ध–दार्शनिकों ने जो अपने दर्शन के ग्रन्थ बनाए हैं और जैन तथा अन्य–दार्शनिकों का जो खण्डन किया है, उसकी भी कोई सार्थकता नहीं होगी।

इस शोधग्रन्थ के षष्ठ अध्याय में रत्नाकरावतारिका के चतुर्थ परिच्छेद में शब्दार्थ–संबंध को लेकर विभिन्न दार्शनिक–मतों (नैयायिकों, बौद्धों और जैनों) में जो मतभेद हैं, उन्हें स्पष्ट करते हुए बौद्ध–दर्शन के अपोहवाद की समीक्षा की गई है। यह स्पष्ट है कि बौद्ध–दार्शनिकों द्वारा अपोहवाद मुख्यतः शब्द और उसके वाच्यार्थ को स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही प्रस्तुत किया गया है, अतः, रत्नाकरावतारिका में आचार्य रत्नप्रभसूरि ने बौद्धों के अपोहवाद का तार्किक–दृष्टि से प्रस्तुतिकरण करके उसका खंडन किया है। रत्नाकरावतारिका में रत्नप्रभसूरि सर्वप्रथम नैयायिकों के शब्दार्थ–संबंध की समीक्षा के पश्चात् बौद्धों के अपोहवाद की समीक्षा करते हैं। बौद्धों के समक्ष मीमांसा का शब्द और अर्थ के तादात्म्य–संबंध का सिद्धान्त और नैयायिकों का तदुत्पत्ति का सिद्धान्त उपस्थित था, किन्तु बौद्धों की कठिनाई यह थी कि शब्द और अर्थ में न तो वे तादात्म्य–संबंध को स्वीकार कर सकते थे और न ही तदुत्पत्ति–संबंध को स्वीकार कर सकते थे, क्योंकि ये दोनों ही संबंध तार्किक–दृष्टि से उन्हें सदोष ही प्रतीत हो रहे थे। यह भी निश्चित ही है कि धर्मोत्तर, प्रज्ञाकर आदि बौद्ध–चिन्तकों के समक्ष जैनों का वाच्य–वाचक–संबंध भी उपस्थित रहा ही होगा, किन्तु उनका क्षणिकवाद का सिद्धान्त इसके भी विरोध में जाता था। यदि बौद्धों के अनुसार सत्ता क्षणिक है, तो ऐसी स्थिति में शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचक–संबंध भी संभव नहीं है। यदि शब्द किसी 'जाति'

(सामान्य) का वाचक है, तो उस जाति को तो क्षणजीवी नहीं माना जा सकता, अतः, शब्द सामान्य या जाति का वाचक है– यह कहना भी बौद्ध–दार्शनिकों के लिए अयुक्तिसंगत था। उनकी दृष्टि में सामान्य या 'जाति' भी काल्पनिक ही है, वह भावात्मक नहीं हो सकती है, अतः, उनके लिए निषेध–रूप अपोह की कल्पना ही समुचित थी। यद्यपि बौद्ध–दार्शनिक शब्द में वाचक–शक्ति को चाहे अव्यक्त रूप से स्वीकार भी कर लें, किन्तु उनकी समस्या यह है कि शब्द का वाच्य–विषय तो क्षणिक, निरंश और स्वलक्षणरूप है, जिसे किसी भी स्थिति में वाचक नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि जिस शब्द द्वारा उसे वाच्य बनाया जाएगा, उसके उच्चारणकाल में ही वह तो नष्ट हो जाएगा, अतः, क्षणिक और निरंश स्वलक्षण में संकेत ग्रहण होना संभव नहीं है, साथ ही जब बौद्धों के अनुसार सामान्य भी काल्पनिक है, तो काल्पनिक सामान्य में भी शब्द–संकेत का ग्रहण संभव नहीं है, क्योंकि सामान्य अवस्तुरूप होने से अर्थक्रिया में समर्थ नहीं है। यदि यह माना जाए कि शब्द असंकेतिक–अर्थ को वाच्य बनाते हैं, तो यह कथन भी आत्मविरोधी सिद्ध होगा। ऐसी स्थिति में, बौद्धों की यह मजबूरी थी कि वे केवल यह मानें कि शब्द अन्य का अपोह या निषेध–मात्र करता है। वस्तुतः, बौद्धों का यह अन्यापोह का सिद्धांत उनके क्षणिकवाद का ही तार्किक–प्रतिफलन था। यही कारण था कि जैन–दार्शनिक अकलंक, विद्यानंदी, वादिदेवसूरि, रत्नप्रभसूरि आदि ने अपोहवाद का निरसन कर यह बताने का प्रयास किया है कि शब्द 'गो' 'अगो' की निवृत्ति करने के साथ ही उसके गोत्व का प्रतिपादन भी करता है, इसलिए शब्द का वाच्य–विषय सामान्य–विशेषात्मक परिणामी–नित्य वस्तु ही है– ऐसा मानना ही उचित होगा। जैसा कि हम पूर्व में संकेत कर चुके हैं कि रत्नकीर्त्ति आदि कुछ बौद्ध–दार्शनिकों ने भी अन्यापोह को केवल निषेधरूप न मानकर विधि–निषेधरूप माना है, क्योंकि यदि अन्यापोह को एकान्तरूप से निषेधपरक ही माना जाएगा, तो शब्द से जन–साधारण की अर्थ में प्रवृत्ति भी संभव नहीं होगी, अन्यथा शब्द का उच्चारण जिस अर्थ में प्रवृत्ति करने के लिए किया गया, उसके नष्ट हो जाने से उसकी प्रवृत्ति अन्य अर्थ में होगी, इसीलिए जैन–दार्शनिकों ने शब्द और अर्थ में वाच्य–वाचक–संबंध मानते हुए यह माना है कि शब्द अपने अर्थ के प्रतिपादन में विधि–निषेधरूप होता है। इस संदर्भ में, डॉ. धर्मचंद जैन का निम्न कथन ही हमें अधिक उपयुक्त जान पड़ता है, वे लिखते हैं कि "यह मानना उपयुक्त होगा कि प्रत्येक शब्द जिस प्रकार विधि–अर्थ का वाचक होता है,

उसी प्रकार वह उससे अन्य का अपोह भी करता है, या अन्य का अपोह या अतद् की व्यावृत्ति करता हुआ विधि या तद् का वाचक भी होता है, क्योंकि मात्र अन्यापोह से शब्द द्वारा विवक्षित वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता है। अन्यापोह में अनवस्था–दोष आता है और कहीं न कहीं जाकर शब्द का कोई वाच्य–अर्थ मानना आवश्यक हो जाता है। केवल शब्द का विधिपरक अर्थ ही मानना भी पर्याप्त नहीं है, क्योंकि तद्भिन्न की व्यावृत्ति करके ही कोई शब्द अपने वाच्य–अर्थ का सम्यक् ज्ञान करा सकता है, अन्यथा नहीं।

इस प्रकार, प्रस्तुत अध्याय में अन्यापोहवादी समीक्षा करते हुए शब्द का सम्यक् वाच्यार्थ क्या हो सकता है– इसका निर्देश किया गया है।

इस शोधग्रन्थ के सप्तम अध्याय में बौद्धों के निर्विकल्प–प्रत्यक्ष की अवधारणा की समीक्षा की गई है, क्योंकि बौद्ध प्रत्यक्ष को निर्विकल्प स्वीकार करते हैं। इसका कारण यह है कि **उनके यहाँ** जैन–दर्शन के समान 'दर्शन' अर्थात् निर्विकल्प अनुभूति का और ज्ञान अर्थात् सविकल्प वस्तु–बोध का– ऐसा द्विविध–वर्गीकरण नहीं था, इसलिए उन्होंने प्रत्यक्ष को निर्विकल्प और अनुमान को सविकल्प माना। जिस प्रकार जैन–दार्शनिक 'दर्शन' को मात्र अनुभूतिरूप तथा अनभिलाप्य मानते हैं, उसी प्रकार बौद्धों ने भी प्रत्यक्ष को निर्विकल्प और अनभिलाप्य माना है। वस्तुतः, बौद्ध–दर्शन का 'प्रत्यक्ष' जैन–दर्शन का 'दर्शन' ही है। अन्तर यह है कि जहाँ जैन–दर्शन 'दर्शन' को सामान्य या जाति की अनुभूतिरूप मानता है, वहीं बौद्ध–दार्शनिक उसे जाति आदि की कल्पना से भी रहित मानते हैं। बौद्ध–दार्शनिक प्रत्यक्ष को मात्र निर्विकल्प ही कहते हैं, जबकि जैन–दार्शनिक 'दर्शन' को सामान्य की अनुभूतिरूप मानते हैं, किन्तु बौद्धों के अनुसार तो सामान्य मात्र काल्पनिक है, अतः, उनके अनुसार प्रत्यक्ष मात्र निर्विकल्प अनुभूति से अन्य कुछ भी नहीं है।

जैन–दार्शनिकों ने बौद्धों के प्रत्यक्ष की अवधारणा की समीक्षा इसलिए की कि यदि प्रत्यक्ष निर्विकल्प है और नाम, जाति आदि की कल्पना से रहित है, तो फिर वह निश्चयात्मक या व्यवसायात्मक नहीं होगा और जो बोध व्यवसायात्मक या निश्चयात्मक नहीं होता है, ऐसे बोध को प्रमाण की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। बौद्धों के समक्ष कठिनाई यह भी थी कि क्षणिकवाद की मान्यता के अनुसार, सम्पूर्ण सत्ता तो क्षणिक है और क्षणिक होने के कारण जब तक उसके स्वरूप का निश्चय होगा, तब

तक तो वह बदल जाएगी। प्रत्यक्ष को तो मात्र वर्त्तमानकालीन ही कहा गया है, अतः, जो क्षणिक है, उसकी मात्र वर्त्तमान क्षण में अनुभूति ही संभव हो सकती है और उसके स्वरूप का निर्णय तो कालान्तर में ही होता है और इसीलिए स्वरूप–निर्णय तो मात्र अनुमानरूप ही हो सकता है। विकल्प मात्र अनुमान में ही संभव है, क्योंकि बौद्ध–दर्शन का मानना है कि विकल्प तो आरोपित हैं, अतः, वे क्षणिक वस्तु या सत्ता का स्पर्श नहीं कर सकते हैं। बौद्ध–दर्शन में जो प्रत्यक्ष को निर्विकल्प माना गया है, उसका मूल आधार उनका वस्तुसत् को निःस्वभाव मानना ही है। जो निःस्वभाव है, उसमें नाम, जाति आदि की कल्पना संभव ही नहीं है। बौद्धों ने अपनी ज्ञान–मीमांसा को तत्त्व–मीमांसा पर ही आधारित रखा था और इसलिए उनके पास प्रत्यक्ष को निर्विकल्प मानने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प भी नहीं था, जबकि जैन–दर्शन के अनुसार, वस्तुसत् सामान्य–विशेषात्मक होता है, साथ ही परिणामी (परिवर्तनशील) होकर भी नित्य होता है, अतः, उनके लिए प्रत्यक्ष को निश्चयात्मक माना जा सकता था। यही कारण था कि जैनों ने प्रत्यक्ष को निश्चयात्मक मानकर बौद्धों के निर्विकल्प–प्रत्यक्ष की समालोचना की है। वस्तुतः, जैन–दर्शन और बौद्ध–दर्शन की तत्त्व–मीमांसीय अवधारणाएँ भिन्न–भिन्न हैं, अतः, उनकी प्रमाण–मीमांसा में ऐसा अंतर आना स्वाभाविक है, तो भी यदि हम बौद्धों की तत्त्व–मीमांसा को आधार मानकर प्रमाण–मीमांसीय निर्णय लेंगे, तो वे चाहे उनकी दृष्टि से सत्य हों, तार्किक–दृष्टि से निर्दोष होंगे, जबकि जैन–दार्शनिकों के प्रमाण–मीमांसीय निर्णय भी सम्यक् तत्त्व–मीमांसीय आधार पर खड़े होने के कारण अधिक समीचीन प्रतीत होते हैं। जैन–दर्शन और बौद्ध–दर्शन के तत्त्वमीमांसीय आधार भिन्न–भिन्न हैं, अतः, उनकी प्रमाण–मीमांसा में जो अन्तर देखा जाता है, वह स्वाभाविक ही है। वस्तुतः, बौद्धों ने जिस निर्विकल्प–प्रत्यक्ष की अवधारणा को प्रस्तुत किया है, वह उनकी तत्त्व–मीमांसा की ही परिणति है, जबकि जैनों ने जो उनके निर्विकल्प–प्रत्यक्ष की समालोचना की है, वह जैनों की तत्त्व–मीमांसीय अवधारणा पर आधारित है, अतः, दोनों को अपने–अपने परिप्रेक्ष्य में ही समझने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

इस संदर्भ में डॉ. धर्मचंद जैन का मंतव्य विशेष रूप से दृष्टव्य है। वे लिखते हैं– 'शुद्ध प्रत्यक्ष की दृष्टि से यदि विचार किया जाए, तो बौद्ध–सम्मत निर्विकल्प–प्रत्यक्ष समीचीन प्रतीत होता है, किन्तु प्रमाण द्वारा अर्थक्रिया में प्रवृत्ति या हेयोपादेय के ज्ञान की दृष्टि से यदि विचार किया

जाए, तो वह सर्वथा अनुपयोगी एवं अव्यवहार्य है तथा जैनसम्मत सविकल्प–प्रत्यक्ष उपयोगी एवं व्यवहार्य प्रतीत होता है। बौद्धदर्शनसम्मत प्रत्यक्ष इसलिए अव्यवहार्य एवं काल्पनिक सिद्ध होता है, क्योंकि उसका विषय स्थूल एवं स्थिर दृष्टिगोचर होने वाले पदार्थ नहीं, अपितु निरंतर गतिशील एवं सूक्ष्म व असाधारण स्वलक्षण परमाणु हैं, जिनका किसी भी पुरुष को प्रत्यक्ष होता हुआ दिखाई नहीं देता है। इस प्रकार, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निर्विकल्प–प्रत्यक्ष, जिसे जैनों ने दर्शन कहा है, वह निश्चय ही प्रमाण–ज्ञान का पूर्वतत्त्व है और उसके बिना सविकल्प और व्यवसायात्मक–प्रत्यक्ष संभव भी नहीं होता है, फिर भी यदि, निश्चयात्मक–ज्ञान ही प्रमाण है– ऐसा माना जाए, तो फिर हमें निर्विकल्प–प्रत्यक्ष को अव्यवहार्य या अप्रमाणरूप मानना ही होगा, क्योंकि प्रमाण निश्चयात्मक होता है और ऐसा निश्चयात्मक–निर्णय सविकल्प या विशेष ज्ञान के द्वारा ही संभव है।

रत्नाकरावतारिका में बौद्ध–दर्शन की समीक्षा नामक प्रस्तुत शोधग्रन्थ के अष्टम अध्याय में सर्वप्रथम यह बताया गया है कि प्रमाण की संख्या को लेकर जैन–दर्शन और बौद्ध–दर्शन में मतभेद हैं। जहाँ बौद्ध–दर्शन, प्रत्यक्ष और अनुमान– ऐसे दो प्रमाण मानता है, वहीं जैन–दर्शन प्रारम्भिक–काल में, प्रत्यक्ष और परोक्ष– ऐसे दो प्रमाण ही मानता है, किन्तु परवर्तीकाल में प्रमाणों की संख्या छह मानी गई है– 1. प्रत्यक्ष 2. स्मृति 3. प्रत्यभिज्ञा 4. तर्क 5. अनुमान और 6. आगम (शब्द)। इसी प्रकार, बौद्ध–दर्शन में जैनों द्वारा स्वीकृत स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क और आगम (शब्द) को प्रमाणरूप नहीं माना गया है। प्रस्तुत अध्याय में हमने इस बात को विस्तार से जानने का प्रयत्न किया है कि बौद्ध–दार्शनिक क्यों स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को प्रमाणरूप में स्वीकार नहीं करते हैं ? हमारी दृष्टि में इसका स्पष्ट कारण तो बौद्ध–दर्शन की तत्त्व–मीमांसा ही है। बौद्ध–दार्शनिक अपनी ज्ञान–मीमांसा को अपनी तत्त्व–मीमांसा के आधार पर ही उपस्थित करते हैं। जब उनके अनुसार, सत्ता क्षणिक ही है, तो ऐसी स्थिति में स्मृति और प्रत्यभिज्ञा कैसे प्रमाण हो सकते हैं ? जिसकी सत्ता एक क्षण से अधिक नहीं है, उसकी स्मृति कैसे प्रमाणरूप हो सकती है ? इसी प्रकार, प्रत्यभिज्ञा–प्रमाण में 'यह वही है'– ऐसा जो बोध होता है, वह तभी संभव हो सकता है, जब सत्ता में किसी रूप में स्थायित्व को माना जाए। जो उत्पन्न होते ही विनष्ट हो गया, 'वह वही' कैसे हो सकता है ? वह तो अन्य ही होगा, अतः, स्मृति और प्रत्यभिज्ञा– ये दोनों

प्रमाण सत्ता में ध्रौव्य–पक्ष को माने बिना संभव नहीं होते हैं। जिसे जैन–दार्शनिक स्मृति कहते हैं, बौद्धों के अनुसार वह तो मात्र चित्त–संतति का प्रवाह है। दूसरे, जब बौद्ध–विज्ञानवादी–दर्शन बाह्यार्थ की सत्ता का ही निषेध करता है अथवा जब शून्यवादी वस्तुसत् को निःस्वभाव और क्षणिक मानता है, तो फिर उसके दर्शन में स्मृति और प्रत्यभिज्ञा प्रमाणरूप नहीं हो सकते है। स्मृति का अर्थ है– किस सत्–तत्त्व की स्मृति; किन्तु जब सत् स्वतः ही परिवर्तनशील हो और उसकी सत्ता क्षणिक हो, तो उसकी स्मृति कैसे हो सकती है ? विशेष रूप से, जो ज्ञाता चित्त है, यदि वह भी दूसरे क्षण वही नहीं रहता हो, ऐसी स्थिति में बौद्धों के लिए यह संभव ही नहीं था कि वे स्मृति को प्रमाणरूप स्वीकार करें। इसी प्रकार, जब सत्ता दो समय भी एकरूप नहीं होती है, तो फिर 'यह वही है'– ऐसी प्रत्यभिज्ञा भी कैसे संभव होगी ? प्रत्यभिज्ञा में तो भूतकाल में अनुभूत सत् की ही वर्त्तमान में अनुभूत सत् के साथ समानता आदि का अनुभव किया जाता है, अतः, बौद्धों के क्षणिकवाद और संततिवाद में स्मृति और प्रत्यभिज्ञा प्रमाणरूप नहीं हो सकते। चूँकि इस प्रकार, प्रमाण–चर्चा में बौद्ध–दार्शनिक तत्त्व–मीमांसा के प्रति सत्यनिष्ठ रहे और उन्होंने स्मृति और प्रत्यभिज्ञा को प्रमाणरूप मानने से इंकार कर दिया, इसके विरुद्ध जैन–दार्शनिक सत् को उत्पाद–व्ययरूप मानने के साथ–साथ ध्रौव्यात्मक भी मानते हैं, इसलिए उनके यहाँ ये दोनों प्रमाण स्वीकृत किए गए। जहाँ तक तर्क की प्रमाणता का प्रश्न है, बौद्ध–दार्शनिक उसे भी एक स्वतंत्र प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते। सच तो यह है कि तर्क–प्रमाण किसी सार्वकालिक और सार्वदेशिक–तथ्य की कल्पना करता है, जिसके आधार पर व्याप्ति–सम्बन्ध का बोध होता है। दूसरे शब्दों में, वह सामान्य को स्वीकार करता है और वह सामान्य ही व्याप्ति का आधार होता है, जबकि बौद्ध दर्शन में सामान्य को केवल विकल्परूप ही माना गया है। उसे वे परमार्थ–सत् के रूप में स्वीकार ही नहीं करते हैं। यदि सामान्य को ही स्वीकार नहीं किया जाएगा, तो फिर व्याप्ति–सम्बन्ध के सूचक तर्क या ऊह को प्रमाणरूप कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? यही कारण है कि बौद्धों ने तो अनुमान को भी केवल व्यवहार के स्तर पर ही प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। जब वे सामान्य को ही स्वीकार नहीं करते हैं, तो फिर उनके लिए व्याप्ति–सम्बन्ध, जो कि सामान्य ही है, वह कैसे प्रमाण हो सकता है और ऐसी स्थिति में व्याप्ति को स्थापित करने वाले तर्क या ऊह की प्रमाणता को भी कैसे स्वीकार किया जा सकता है ? अतः, बौद्ध–दार्शनिकों ने

स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को जो प्रमाणरूप नहीं माना है, उसका मुख्य कारण उनकी तत्त्व–मीमांसा ही है। पुनः, जैनों के लिए स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को प्रमाण मानने का कारण यह था कि नैयायिकों के समान जैनों ने प्रत्यक्ष–प्रमाण के भेद के रूप में सामान्य–लक्षणा प्रत्यासत्ति को नहीं माना था, इसलिए व्याप्ति की स्थापना के लिए उनको तर्क को अलग से प्रमाण स्वीकार करना पड़ा और तर्क को प्रमाणरूप स्वीकार करने के लिए स्मृति और प्रत्यभिज्ञा की प्रमाणरूपता आवश्यक थी, क्योंकि स्मृति की प्रमाणता के अभाव में प्रत्यभिज्ञा प्रमाणरूप नहीं हो सकती और प्रत्यभिज्ञा को प्रमाणरूप हुए बिना तर्क या व्याप्तिबोध प्रमाणरूप नहीं होता और बिना व्याप्ति–स्थापन के अनुमान भी प्रमाण नहीं होगा, इसलिए हमारी दृष्टि में जैनों द्वारा स्मृति, प्रत्यभिज्ञा और तर्क को प्रमाणरूप मानना आवश्यक था।

प्रस्तुत शोधग्रन्थ के नौवें अध्याय में भारतीय–दर्शन में प्राप्यकारित्व की समस्या की समीक्षा में प्रो. अम्बिकादत्त शर्मा लिखते हैं कि प्राप्यकारित्व और अप्राप्यकारित्व को लेकर भारतीय–दर्शन के जैन, बौद्ध और न्याय–वैशेषिक प्रस्थानों के सिद्धान्त में भिन्नता है। यद्यपि सामान्यतया सभी दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि इन्द्रियाँ अपने–अपने विषय को ग्रहण करके ही जानती है, किन्तु फिर भी यह मूल प्रश्न रहा है कि क्या इन्द्रियों का अपने विषयों से निकटस्थ रूप में संस्पर्श होता है ? या वे दूर से ही उन्हें ग्रहण कर लेती हैं ? जहाँ एक ओर न्याय–दर्शन पाँचों इन्द्रियों और मन को प्राप्यकारी मानता है, वहीं जैन–दर्शन भी मन एवं चक्षु के अतिरिक्त शेष चारों इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानता है, अतः, जैन–दार्शनिकों ने नैयायिकों की समीक्षा मात्र चक्षु–इन्द्रिय की प्राप्यकारिता के संबंध में की है, किन्तु दूसरी ओर बौद्ध चक्षु–इन्द्रिय के साथ–साथ श्रोत्रेन्द्रिय को भी अप्राप्यकारी ही मानते हैं, अतः, जैनों ने बौद्धों की समीक्षा श्रोत्रेन्द्रिय की अप्राप्यकारिता के सम्बन्ध में की और यह सिद्ध किया कि घ्राणेन्द्रिय एवं स्पर्शनेन्द्रिय के समान श्रोत्रेन्द्रिय भी प्राप्यकारी है।

इस संदर्भ में, रत्नप्रभसूरि का तर्क यह है कि शब्द लोक में प्रसारित होते हैं, अतः, शब्द ही श्रोत्रेन्द्रिय से सम्बधित होकर अपनी अनुभूति कराते हैं। ध्वनि–तरंगों का आगमन श्रोत्रेन्द्रिय तक होता है और इसीलिए श्रोत्रेन्द्रिय भी प्राप्यकारी ही है। रत्नप्रभ ने यह तर्क दिया है कि जिस तरह से सुगन्धित द्रव्य एक स्थान पर होकर भी उसकी गंध का प्रसारण चारों ओर होता है, उसी प्रकार उच्चरित शब्द भी अपने उच्चारण–स्थान से आगे–आगे ध्वनि–तरंगों के रूप में जाते हैं और श्रोता

की श्रोत्रेन्द्रिय का स्पर्श करके ही अपनी अनुभूति कराते हैं। संयोग से, आज विज्ञान ने भी ध्वनि–तरंगों के प्रसरित होने की बात को स्वीकार कर लिया है, अतः, जैनों का यह कथन कि श्रोत्रेन्द्रिय प्राप्यकारी है, वैज्ञानिक–दृष्टि से सिद्ध हो जाता है।

प्रस्तुत शोधग्रन्थ के दसवें अध्याय में रत्नप्रभसूरि ने बौद्ध–दर्शन के सामान्य के स्वरूप तथा उसे काल्पनिक मानने और सामान्य का निषेध करके विशेष की सत्ता को स्वीकार करने की समीक्षा की है। बौद्ध–दर्शन सामान्य की सत्ता को स्वीकार नहीं करता तथा यह मानता है कि सामान्य मात्र काल्पनिक है, अनुभव में हमें केवल विशेष ही परिलक्षित होता है, अतः, वे सामान्य को काल्पनिक मानकर उसकी सत्ता को अस्वीकार करते हैं और मात्र विशेष की सत्ता को ही मानते हैं। इसके विपरीत, जैन–दार्शनिकों की मान्यता यह रही है कि प्रत्येक वस्तु सामान्य–विशेषात्मक ही रही है। वह जाति या समष्टि के रूप में सामान्य है और व्यक्ति (व्यष्टि) के रूप में विशेष है। प्रस्तुत अध्याय में रत्नप्रभसूरि ने पहले जाति या सादृश्य के आधार पर सामान्य की सत्ता को स्वीकार किया है और उसके पश्चात् बौद्धों के द्वारा सामान्य को काल्पनिक मानने की समीक्षा की है और यह बताया है कि जाति या सामान्य आकाश–पुष्प के समान नास्तिरूप नहीं है। 'यह गाय है, यह गाय है'– इस प्रकार, के अनुगत–आकाररूप सामान्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वस्तु में जो जातिगत गुण–धर्म है, वही सामान्य है और वह मात्र काल्पनिक नहीं है। वस्तु में जो सादृश्यता का बोध होता है, वह सामान्य के कारण ही होता है, अतः, सामान्य को काल्पनिक नहीं माना जा सकता। मनुष्यत्व गोत्व आदि मात्र काल्पनिक नहीं हैं। प्रस्तुत अध्याय में बौद्ध–दार्शनिकों ने वस्तु के क्षणिक होने के कारण जो सामान्य की सत्ता का निषेध किया, वह वस्तुतः उचित नहीं है। परिवर्तनों के मध्य भी एक ऐसा तत्त्व रहता है, जो उस जाति की सभी वस्तुओं में पाया जाता है। चाहे कोई मनुष्य दूसरे मनुष्य से कितना ही भिन्न क्यों न हो, उनमें कहीं न कहीं आकारगत सादृश्यता होती ही है, अतः, सामान्य का न तो अन–अस्तित्व है और न वह काल्पनिक है।

इसी प्रकार, बौद्ध–दार्शनिक विशेष की सत्ता को स्वीकार करते हैं, किन्तु जैन–दार्शनिकों का कहना है कि सामान्य और विशेष– दोनों सापेक्ष हैं। वस्तु सामान्य–विशेषात्मक है। वस्तु में सामान्य और विशेष– दोनों प्रकार के गुणधर्म पाए जाते हैं। एक ही वर्ग की वस्तुओं में कुछ सादृश्य

और कुछ वैदृश्य होता है, यह सादृश्य ही सामान्य है और वैदृश्य ही विशेष है, अतः, वस्तु को सामान्य–विशेषात्मक मानना ही उचित है।

प्रस्तुत शोधग्रन्थ के ग्यारहवें अध्याय में बौद्धों के त्रिलक्षण हेतु एवं नैयायिकों के पंचलक्षण हेतु की विवेचना है। भारतीय–दर्शन में अनुमान के पाँच अंग माने जाते हैं– 1. साध्य 2. हेतु 3. दृष्टांत 4. उपनय 5. निगमन। अनुमान के इन पाँच अंगों में सबसे प्रमुख अंग हेतु को माना गया है। वस्तुतः, साध्य की सिद्धि के लिए हेतु ही सबसे महत्वपूर्ण अंग होता है। उदाहरण के रूप में, पर्वत पर अग्नि को सिद्ध करने के लिए यह कहा जाता है कि पर्वत पर धुआँ है। धूम के होने पर ही अग्नि की सिद्धि संभव है, अतः, इस उदाहरण में पर्वत पक्ष है, अग्नि साध्य है और धुआँ हेतु है। प्रायः सभी भारतीय–दार्शनिक अनुमान के लिए हेतु की उपलब्धि आवश्यक मानते हैं, किन्तु उस हेतु का स्वरूप या लक्षण क्या है, इसको लेकर भारतीय–दर्शन में विवाद देखा जाता है। न्याय–दर्शन हेतु के पाँच लक्षण मानता है। उसके अनुसार, हेतु के पाँच लक्षण निम्न हैं– 1. पक्ष–धर्मत्व 2. सपक्षसत्व 3. विपक्षासत्व 4. असत्–प्रतिपक्षत्व और 5. अबाधित–विषयत्व। नैयायिकों के विरुद्ध बौद्ध–दार्शनिक हेतु को त्रैरूप्य लक्षण वाला मानते हैं। बौद्ध–दार्शनिकों के अनुसार हेतु में पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व और विपक्षासत्व– ये तीन लक्षण ही आवश्यक हैं। वैशेषिक–दर्शन और सांख्यदर्शन में भी हेतु के इन्हीं तीन लक्षणों को स्वीकार किया गया है। यद्यपि यह बात विवादास्पद ही है कि त्रैरूप्य हेतु की अवधारणा सर्वप्रथम किसने प्रस्तुत की ? श्वैरवात्स्की के अनुसार, वैशेषिकों की अपेक्षा बौद्धों के त्रैरूप्य–लक्षण की कल्पना प्राचीन है, जबकि इसके विरुद्ध पं. सुखलाल संघवी का कहना है कि त्रैरूप्य लक्षण का प्रतिपादन वैशेषिकों ने ही किया था, फिर भी इतना तो निश्चित है कि हेतु के त्रैरूप्य लक्षण की प्रसिद्धि मुख्यतः बौद्धों के संदर्भ में ही है। नैयायिकों के पँचरूप हेतु बौद्धों के त्रैरूप्य हेतु के विरुद्ध जैनों ने हेतु का एक ही लक्षण माना है। जैन–दर्शन के अनुसार, अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का एकमात्र लक्षण है। जैन–दर्शन में सर्वप्रथम सिद्धसेन ने अपने जैन–न्याय के प्रथम ग्रंथ न्यायावतार में अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का लक्षण बताया है। जैनों ने अपने अन्यथानुपपत्तिरूप हेतु की सिद्धि के लिए बौद्धों के त्रैरूप्यलक्षण का खंडन किया है। सर्वप्रथम, जैन–दार्शनिक पात्रस्वामी ने बौद्धों के त्रैरूप्यलक्षण हेतु के खंडन के लिए त्रिलक्षणकदर्शन नामक एक स्वतंत्र ग्रंथ ही लिखा था। यद्यपि यह ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं है, किन्तु ऐसा लगता है कि उनके परवर्ती जैन–न्याय

के आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में उसी ग्रन्थ का आधार लेकर बौद्धों के त्रैरूप्य लक्षण का खंडन किया होगा।

जैन–दर्शन में हेतु को **अन्यथानुपपन्न**–लक्षण वाला बताने की परंपरा अत्यन्त प्राचीन है। जैसा हमने पूर्व में उल्लेख किया, यह परंपरा सिद्धसेन दिवाकर के न्यायावतार से प्रारंभ होती है। उसके पश्चात् अकलंक, विद्यानंद, कुमारनंदी, माणिक्यनंदी, वादिदेवसूरि आदि ने भी इसी का अनुसरण किया। हमारे समीक्ष्य ग्रंथ रत्नाकरावतारिका में भी रत्नप्रभसूरि ने विस्तार से बौद्धों के त्रैरूप्यहेतु–लक्षण की समीक्षा की है, किन्तु इस समीक्षा के पूर्व बौद्धों के त्रैरूप्यहेतु–लक्षण का पूर्वपक्ष के रूप में स्पष्टीकरण आवश्यक है।

बौद्धदर्शन में हेतु की त्रैरूप्यता का सर्वप्रथम प्रतिपादन दिङ्नाग ने न्याय–प्रवेश में किया है। दिङ्नाग अपनी रचना न्याय–प्रवेश में लिखते हैं कि हेतु त्रिरूप लक्षण वाला होता है। हेतु के त्रैरूप्य–लक्षण कौनसे हैं, इसको स्पष्ट करते हुए वे पुनः लिखते हैं कि पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्षासत्व– ये ही हेतु के तीन लक्षण हैं। धर्मकीर्त्ति ने हेतुलक्षण में स्पष्ट किया है कि जिसका विशेष धर्म जानना इष्ट हो, वह अनुमेय ही हेतु कहा जाता है।

न्यायबिन्दु में इसे स्पष्ट करते हुए पुनः कहा गया है कि साध्य धर्म की समानता रखने वाले अर्थ को सापेक्ष कहा जाता है। सपक्ष अनुमेय होता है। इसके विरुद्ध, जो सपक्ष एवं अनुमेय नहीं होता है, उसे विपक्ष कहा जाता है। धर्मकीर्त्ति के अनुसार, सपक्ष से विरुद्ध या सपक्ष के अभाव वाला जो अन्य है, वह विपक्ष कहलाता है। धर्मकीर्त्ति के पश्चात् धर्मोत्तर और अर्चट् आदि ने भी इसी मत की पुष्टि की। धर्मोत्तर ने धर्मकीर्त्ति के न्याय–बिन्दु की टीका में इस संबंध में विस्तार से प्रकाश डाला है। उन्होंने धर्मकीर्त्ति के न्याय–बिन्दु के द्वितीय परिच्छेद के सूत्र क्रमांक 4, 5, 6 और 7 की टीका में इसे स्पष्ट किया है। यहाँ संक्षेप में– 1. पक्षधर्मत्व का अर्थ है कि हेतु को पक्ष में उपस्थित होना चाहिए। जैसे पर्वत पर अग्नि है, इस साध्य की सिद्धि के लिए जो धूम हेतु दिया जाता है, वह हेतु भी पर्वत पर उपस्थित होना चाहिए। अगर पर्वत पर धुआँ नहीं होगा, तो पर्वत पर अग्नि की सिद्धि नहीं होगी, इसलिए बौद्ध–दार्शनिकों का कहना है कि जहाँ अनुमेय की सिद्धि की जाती है, वहाँ हेतु की सिद्धि आवश्यक है। यदि पर्वत पर अग्नि की उपस्थिति को सिद्ध करना है, तो उसकी सिद्धि के

लिए जो धूम हेतु है, उसे भी पर्वत पर होना चाहिए। यदि पर्वत पर धूम नहीं होगा, तो उससे पर्वत पर अग्नि की सिद्धि नहीं होगी– यही पक्षधर्मत्व है। 2. दूसरा, हेतु सपक्षसत्व है। इसका अर्थ है कि हेतु को सपक्ष अर्थात् साध्य के साथ ही अविनाभावरूप से होना चाहिए। साध्य के अभाव में उसे न होना चाहिए। यदि हेतु सपक्ष अर्थात् अग्नि के अतिरिक्त भी अन्यत्र पाया जाता है, तो वह हेतु सपक्ष में न होने के कारण साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ होता है। 3. तीसरे, हेतु का विपक्ष में अभाव होना चाहिए। यदि हेतु विपक्ष में भी उपस्थित रहता है, तो वह हेतु साध्य की सिद्धि करने में असमर्थ है। यदि धूम नामक हेतु अग्नि के साथ–साथ तालाब में भी पाया जाए, तो वह अग्नि की सिद्धि करने में समर्थ नहीं माना जा सकता है।

बौद्ध–मत में जो हेतु के त्रैरूप्य लक्षण बताए गए हैं, वे वस्तुतः असिद्ध, विरुद्ध और अनेकान्तिक–हेत्वाभास के निराकरण के लिए आवश्यक माने जाते हैं। इसी दृष्टि से, बौद्धों ने हेतु को त्रैरुप्य लक्षण वाला बताया था, वैसे जैनों के हेतु के 'अन्यथा–अनुपपत्ति' नामक लक्षण से उनका कोई विरोध नहीं है।

प्रस्तुत शोधग्रन्थ के बारहवें अध्याय में अनुमान में पक्ष को अनावश्यक मानने के सन्दर्भ में बौद्धमत की समीक्षा की गई है। जैनाचार्य रत्नप्रभसूरि ने रत्नाकरावतारिका में पक्ष की अनावश्यकता के संबंध में बौद्धमत की समीक्षा करते हुए यह बताने का प्रयत्न किया है कि सामान्य व्यक्ति के लिए अनुमान में पक्ष को मानना आवश्यक है। इस संदर्भ में उनका यह कहना है कि पक्ष के नहीं मानने पर साध्य की सिद्धि कहाँ पर होगी। रसोईघर में धुएँ की उपस्थिति को देखकर पर्वत पर अग्नि की कल्पना नहीं की जा सकती। वस्तुतः, जिस पक्ष में हेतु की उपस्थिति देखी जाती है, वहीं साध्य की सिद्धि होती है, अतः, साध्य की सिद्धि के लिए पक्ष को मानना आवश्यक है। जैन–दार्शनिक भी यह मानते हैं कि प्रबुद्ध व्यक्तियों के लिए अनुमान में प्रतिज्ञा और हेतु– ये दो अवयव मानना ही पर्याप्त है, किन्तु यहाँ भी हमें यह तो स्वीकार करना ही होगा कि प्रतिज्ञा में उद्देश्य–पद के रूप में पक्ष तो निहित होता ही है। दूसरे, जहाँ तक सामान्य बुद्धि के व्यक्तियों का प्रश्न है, उनके लिये तो अनुमान में पाँचों ही अवयव मानना आवश्यक है और यह बताना भी आवश्यक है कि साध्य की सिद्धि कहाँ, अर्थात् किस पक्ष में हो रही है, अतः, पक्ष को अनावश्यक मानकर नकार देना उचित नहीं है। सामान्य बुद्धि के व्यक्ति के लिए पक्ष

का स्पष्टीकरण आवश्यक है, क्योंकि जिस स्थान (पक्ष) में हेतु होता है, वहीं साध्य की सिद्धि होती है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के तेरहवें अध्याय में रत्नप्रभसूरि द्वारा बौद्धों के शून्यवाद का प्रस्तुतिकरण और उसकी समीक्षा विस्तार से की गई है। उन्होंने इस तथ्य को भी ध्यान में रखा है कि शून्यवादी अपने पक्ष के समर्थन में किस–किस प्रकार के तर्क उपस्थित कर सकते हैं, उन्होंने उनको भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, किन्तु यदि हम गहराई से चिंतन करें, तो रत्नप्रभसूरि ने शून्यवाद के खंडन के लिए उसी शैली का सहारा लिया है, जिस शैली के आधार पर शून्यवादी अपने मत का प्रस्तुतिकरण करते हैं। जिस प्रकार शून्यवादी अपने पक्ष के समर्थन में यह कहते हैं कि वस्तु न सत्‌रूप हो सकती है, न असत्‌रूप, न उभयरूप हो सकती है, न अनुभयरूप, उसी प्रकार रत्नप्रभसूरि भी उसी शैली का आश्रय लेते हुए उसका खंडन निम्न रूप में करते हैं। वे कहते हैं कि आपका यह शून्यवाद प्रमाण से सिद्ध है ? या अप्रमाण से सिद्ध है ? या प्रमाण और अप्रमाण– दोनों से सिद्ध है ? या प्रमाण और अप्रमाण–दोनों से सिद्ध नहीं है? यदि आप यह कहते हैं कि प्रमाण से सिद्ध है, तो प्रमाण की सत्ता को स्वीकार करने से आपका शून्यवाद खंडित हो जाता है। यदि आप यह कहते हैं कि अप्रमाण से सिद्ध हैं, तो अप्रमाण से तो कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता, अतः, शून्यवाद भी सिद्ध नहीं होगा। यदि आप कहें कि प्रमाण और अप्रमाण– दोनों से ही सिद्ध है, तो आपके अनुसार ही परस्पर विरोध होगा, क्योंकि प्रमाण और अप्रमाण– दोनों परस्पर विरोधी हैं और यदि आप यह कहें कि प्रमाण और अप्रमाण– दोनों से सिद्ध नहीं है, तो इसका अर्थ तो यही हुआ कि आपका शून्यवाद दोनों से सिद्ध नहीं है। इस प्रकार,, हम देखते हैं कि जहाँ–जहाँ शून्यवादियों ने उभयतोपाश खड़ा करके जैनों का खंडन किया है और शून्यवाद को पुष्ट करने का प्रयत्न किया है, वहाँ–वहाँ रत्नप्रभसूरि ने भी उस उभयतोपाश को निरस्त करने के लिए उसका विरोधी उभयतोपाश खड़ा करके शून्यवाद का खंडन कर दिया है। इस प्रकार,, हम देखते हैं कि शून्यवादी अपने पक्ष को सिद्ध करने में जिस उभयतोपाश को उपस्थित करते हैं, उसके ठीक विरोधी उभयतोपाश को प्रस्तुत करके रत्नप्रभसूरि उसका खंडन कर देते हैं। इससे यह फलित होता है कि रत्नप्रभसूरि बौद्धों के सिद्धांतों की समीक्षा के लिए उसी शैली का अनुसरण करते हैं, जो शैली बौद्ध–दार्शनिक अपने पक्ष की पुष्टि के

लिए प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार,, सिद्धांतगत विरोध होते हुए भी दोनों में शैलीगत समानता प्रतीत होती है।

पुनः, जैसा हमने पूर्व में संकेत किया था कि प्रायः सभी भारतीय–दार्शनिक शून्यवाद की समीक्षा करते हुए उसे अभावरूप मानकर ही समीक्षा करते हैं, जबकि शून्यवाद में शून्यता शब्द अनस्तित्व या अभाव का सूचक न होकर भाव, अभाव, उभय और अनुभय– इन चारों कोटियों से रहित माना गया है। हमें यह स्वीकार करने में कोई भी आपत्ति नहीं है कि जिस प्रकार अन्य भारतीय–दार्शनिकों ने शून्यता का अर्थ अभाव या अस्तित्व का निषेध माना है, उसी प्रकार रत्नप्रभसूरि ने भी शून्यता का ग्रहण अनस्तित्व या अभाव के रूप में ही किया है, जबकि सत्य यह है कि बौद्ध–दार्शनिक उसे भाव और अभाव– दोनों से परे मानते हैं। माध्यमिक–कारिका के प्रारंभ में ही बुद्ध की वंदना करते हुए कहा गया है कि तत्त्व न शाश्वत है, न उच्छेदरूप है, न वह एक है, न वह अनेक है, न वह नित्य है, न वह अनित्य है। इस प्रकार,, यह तो स्पष्ट ही है कि शून्यवाद एकान्त–शाश्वतवाद या एकान्त–उच्छेदवाद को स्वीकार नहीं करता है। दुर्भाग्य यही रहा है कि जिस प्रकार अन्य भारतीय–दार्शनिकों ने स्याद्वाद या अनेकान्तवाद को सम्यक् प्रकार से न समझकर पागलों का प्रलाप कहा है, उसी प्रकार से बौद्धों के शून्यवाद को भी सम्यक् प्रकार से न समझकर उच्छेदवाद के अर्थ में ही ग्रहण कर लिया गया है, जबकि अनेकान्तवाद और शून्यवाद– किसी अन्य स्थिति के द्योतक हैं। यह सत्य है कि स्याद्वाद और शून्यवाद दोनों ही एकान्तवाद के निषेधक होकर अनेकान्त–दृष्टि के समर्थक हैं, फिर भी जैन–दार्शनिक इसके हेतु जहाँ सकारात्मक भाषा का उपयोग करते हैं, वहीं बौद्ध–दार्शनिक नकारात्मक भाषा का उपयोग करते हैं। वे केवल इतना ही कहते हैं कि सत्ता न सत् है, न असत् है, न उभय है, न अनुभय है, जबकि जैन–दार्शनिक सत्ता को अपेक्षाभेद से सत्, असत्, उभय और अनुभय– इन चारों पक्षों से स्वीकार करते हैं। संक्षेप में कहें, तो तत्त्व के स्वरूप के संदर्भ में बौद्ध और जैन–दोनों किसी सीमा तक साथ–साथ खड़े हुए प्रतीत होते हैं, किन्तु जैनों की सकारात्मक भाषा और बौद्धों की नकारात्मक भाषा उन दोनों को एक–दूसरे से विमुख बना देती है।

इस संदर्भ में, बौद्ध–दार्शनिक मध्यम–मार्ग का अनुसरण करते हैं और यह मानते हैं कि सत्ता अस्तित्व, नास्तित्व, उभय और अनुभय– इन चारों कोटियों से परे है। इस प्रकार, शून्यवाद भी सभी एकान्त–दृष्टियों का

निषेध करता है। एकान्तिक–दृष्टियों का निषेध ही शून्यवाद का मूल उत्स (सार–तत्त्व) है। शून्यवादी दार्शनिक भी जैनों के समान ही एकान्तवाद के विरोधी हैं, फिर भी जैन–दर्शन और शून्यवाद में यह अन्तर है कि जैन–दार्शनिक सत्ता के सत्, असत्, उभय और अनुभय– इन चारों पक्षों को स्वीकार करते हैं, जबकि शून्यवादी इन चारों पक्षों का निषेध करते हैं। शून्यवाद कहता है कि परम–तत्त्व न सत् है, न असत् है, न उभय है, न अनुभय है। इसके विपरीत, जैन–दर्शन सत्ता को सत्, असत्, उभय और अनुभय– इन चारों रूपों में स्वीकार करता है। वस्तुतः, निषेधात्मक भाषा के प्रयोग के कारण बौद्धदर्शन का चरम विकास शून्यवाद के रूप में हुआ, तो विधानात्मक–भाषा को महत्त्व देने के कारण जैन–दर्शन का विकास अनेकान्तवाद या स्याद्वाद के रूप में हुआ। संक्षेप में कहें, तो जहाँ शून्यवाद सत्ता को चतुष्कोटि विनिर्मुक्त कहता है, वहीं जैन–दर्शन सत्ता को चतुष्कोटि या सत्व–कोटि से युक्त मानता है– यही दोनों का मुख्य अन्तर है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के चौदहवें अध्याय में बौद्ध–दर्शन की समीक्षा करते हुए रत्नप्रभसूरि कहते हैं कि चाहे विज्ञानवादी बौद्धों की तरह विज्ञानाद्वैत को स्वीकार किया जाए, या शून्यवादी–माध्यमिकों की तरह शून्याद्वैत को स्वीकार किया जाए, दोनों ही स्थितियों में क्रिया और क्रियावान् का भेद समाप्त हो जाएगा। इसी प्रकार, यह भी सत्य है कि क्रिया के बिना कर्त्ता और कर्त्ता के बिना क्रिया संभव नहीं है, क्रिया और कर्त्ता एक ही हैं, यह मान्यता भी उचित नहीं है, किन्तु कर्त्ता के अभाव में क्रिया कैसे होगी ? इसी प्रकार, बिना क्रिया किए कर्त्ता कैसे होगा? अतः, क्रिया और कर्त्ता के एकान्त–अभेद का पक्ष या एकान्तभेद का पक्ष समुचित नहीं है। क्रिया और कर्त्ता– दोनों कथंचित्–भिन्न हैं और कथंचित्–अभिन्न हैं– यही मान्यता जैन–दर्शन के अनेकान्तवाद–सिन्द्धांत के आधार पर तर्कसंगत सिद्ध होती है।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध के पन्द्रहवें अध्याय में पक्षाभास और हेत्वाभास के सम्बन्ध में मंतव्यों की समीक्षा की गई है। वस्तुतः, पक्षाभास, हेत्वाभास और दृष्टांताभास– इन तीनों के संदर्भ में बौद्ध–दार्शनिकों ने पर्याप्त गंभीरता से विचार किया है, विशेष रूप से हेत्वाभासों के प्रकारों के संदर्भ में तो जैन–दार्शनिक बौद्ध–दार्शनिकों के ऋणी हैं। इस अध्याय में जहाँ एक ओर दृष्टांताभास के संदर्भ में भगवान् बुद्ध की आप्तता की समीक्षा की गई है, वहीं विरुद्धहेत्वाभास, असिद्धहेत्वाभास, अनेकान्तिकहेत्वाभास के

संदर्भ में बौद्ध और जैन–मतों की विभिन्नता की चर्चा करते हुए बौद्ध–मंतव्यों की समीक्षा की गई है। इस चर्चा में सामान्यतया पूर्वपक्ष की 'बाल की खाल' निकालने का ही प्रयत्न किया गया है। हमारी दृष्टि में हेत्वाभासों को लेकर दोनों में मौलिक अन्तर नहीं है। अनेकांतिकहेत्वाभास का बौद्धों ने जो अर्थ ग्रहण किया है, वह जैनों के अनेकांतवाद की सम्यक् समझ के अभाव के कारण ही है।

जहाँ तक प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के सोलहवें अध्याय का प्रश्न है, इसमें एक ओर, बौद्ध–विज्ञानवादियों के बाह्यार्थ के निषेध की समीक्षा की गई है, तो दूसरी ओर, बौद्ध–विज्ञानवादियों की प्रमाण और प्रमाणफल की अभिन्नता की भी समीक्षा की गई है। यह सत्य है कि यदि बाह्यार्थ की सत्ता ही नहीं मानेंगे, तो फिर प्रमाण और प्रमाणफल में अभिन्नता स्वीकार करनी होगी, किन्तु जैन–दार्शनिकों का कहना है कि बाह्यार्थ केवल स्वप्न या काल्पनिक नहीं है, यह यथार्थ में है, क्योंकि स्वप्न भी उन्हीं के सम्भव होते हैं, जिनका अनुभव होता है और अनुभव केवल कल्पनाजन्य नहीं होता है, अतः, बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार करना आवश्यक है। हमारे ज्ञान का विषय तो बाह्यार्थ है। यदि हम उनकी सत्ता को अस्वीकार करेंगे तो फिर ज्ञान भी नहीं होगा। ज्ञान केवल चैत्तसिक कल्पनाजन्य नहीं है, उसका बाह्य विषय मानना आवश्यक है।

इसी प्रकार रत्नप्रभ के अनुसार, प्रमाण और प्रमाणफल भी एकान्तरूप से अभिन्न नहीं हैं। जहाँ बौद्ध–दार्शनिक प्रमाण और प्रमाणफल में अभिन्नता स्वीकार करते हैं, वहीं जैन–दार्शनिक प्रमाण और प्रमाणफल में कथंचित्–अभेद और कथंचित्–भेद मानते हैं, यद्यपि बौद्ध और जैन–दोनों ही दार्शनिक प्रमाण को ज्ञानरूप मानते हैं और यदि प्रमाण ज्ञानरूप ही है, तो यह भी मानना होगा कि प्रमाण का फल भी ज्ञानरूप है और ऐसी स्थिति में दोनों में अभिन्नता होगी, किन्तु प्रमाण के माध्यम से न केवल बाह्य–वस्तु का ज्ञान होता है, अपितु उस वस्तु के सम्बन्ध में अज्ञान का भी निवारण ही होता है, अतः, जैनों का कहना यह है कि अनेकान्त की दृष्टि से प्रमाण और प्रमाणफल में कथंचित्–भेद और कथंचित्–अभेद है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के सत्रहवें अध्याय में हमने इस शोधप्रबन्ध के विभिन्न अध्यायों के सारतत्त्व को ही प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, जिससे यह ज्ञात हो सके कि जैन और बौद्धों की परम्पराओं में किस प्रकार की भिन्नता और किस प्रकार की अभिन्नता रही हुई है, साथ ही

समर्पण



पू. आनन्दऋषिजी म.सा.



पू. रत्नकुंवरजी म.सा.



पू. कुशलकुँवरजी म.सा.



साध्वी ज्योत्सनाजी

जीवन परिचय

(अ)	सांसारिक परिचय		
	नाम	:	हेमलता सिंघवी
	जन्म	:	26 जून, 1963 ई.
	पिता	:	श्री झूमरलालजी सिंघवी, चैन्नई
	माता	:	श्रीमती कमलाबाई सिंघवी
	भाई	:	श्री मदनलालजी सिंघवी
	बहन	:	श्रीमती विमलाबाई मूथा
(ब)	दीक्षित जीवन का परिचय	:	
	दीक्षा स्थल	:	बड़गाँव मावल
	दीक्षा तिथि	:	15 जून, 1980 ई.
	गुरु	:	आचार्य सम्राट पू. श्री आनन्द ऋषिजी
	गुरुणी	:	साध्वीवर्या श्री कुशलकुँवरजी म.सा.
	धार्मिक शिक्षा	:	अनेक आगम ग्रन्थ एवं थोकडे जैन दर्शन शास्त्री और जैन दर्शनाचार्य
	अकादमिक शिक्षा	:	बी.ए., एम.ए. दर्शनशास्त्र (गोल्ड मेडलिस्ट) पीएच.डी.
	विचरण क्षेत्र	:	तमिलनाडु, कर्नाटक, आन्ध्र, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, दिल्ली, पंजाब, जम्मू आदि।

प्राच्य विद्यापीठ : एक परिचय



डॉ. सागरमल जैन पारमार्थिक शिक्षण न्यास द्वारा सन् 1997 में संचालित प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर आगरा–मुम्बई राष्ट्रीय राजमार्ग पर स्थित है । इस संस्थान का मुख्य उद्देश्य भारतीय प्राच्य विद्याओं के उच्च स्तरीय अध्ययन, प्रशिक्षण एवं शोधकार्य के साथ–साथ भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना है। इस विद्यापीठ में जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्म आदि के लगभग 10,000 दुर्लभ ग्रन्थ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त 700 हस्त लिखित पाण्डुलिपियाँ है। यहाँ 40 पत्र–पत्रिकाएँ भी नियमित आती है।

मुद्रक : आकृति आफसेट, उज्जैन फोन : 0734-2561720, 96300-77780, 98272-42489